अर्थशास्त्र का परिचय

अमर नारायण अग्रवाल

की ३५ टन, और छठवां को २० टन है। इन परिणामों को हम नीचे के कोष्टक में दिखाते हैं :

श्रम और पूँजी की इकाई	कुल उपज (टनों में)	प्रत्येक इकाई की निजी उपज (टनों में)
पहली	९०	९०
दूसरी	१६०	७०
तीसरी	२२०	६०
चौथी	२६५	४५
पाँचवीं	३००	३५
छठवीं	३२०	२०

रेखा-चित्र द्वारा निरूपण

ऊपर का उदाहरण एक रेखा-चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ा-चित्र २४ में अक रेखा पर श्रम और पूँजी की इकाइयाँ नापी गई हैं, अ
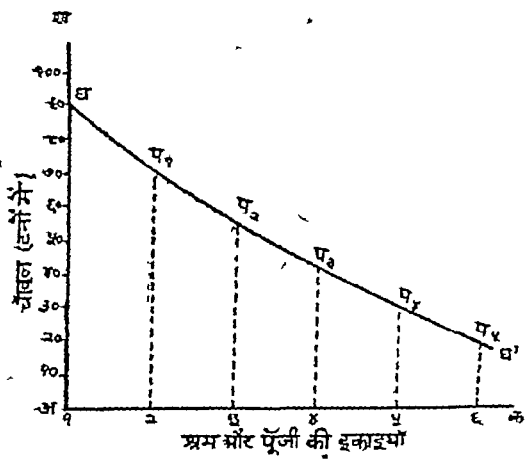
चित्र ४३. सीमान्त उपज के क्रमशः घटने का नियम

. कोई यह नियम, । यह अर्थ सर्वदा

ा रेखा पर चावल के टन। ऊपर के कोष्टक में दी गई विभिन्न इ... ... उपज के ...को के बिन्दु ग्राफ पर अंकित कर लिये गये हैं, बिन्दुओं को ... दिया गया है। इस प्रकार घघ' वक्र-रेखा प्राप्त

है। यह क्रमश. घटती हुई सीमान्त उपज की वक्र-रेखा है। यह वक्र-रेखा आधार-रेखा (अक) की ओर झुकती चली गई है जिससे यह प्रकट होता है कि प्रत्येक अगली इकाई की उपज क्रमशः घटती चली जाती है।। अध रेखा पहली इकाई की उपज बताती है, २प१, दूसरी इकाई की उपज, ३प२ तीसरी इकाई की उपज ; आदि। ये रेखायें घटती चली जाती हैं और यह स्पष्ट करती हैं कि प्रत्येक अगली इकाई की उपज क्रमशः घटती जाती है।

नियम की सीमायें (Limitations)

इस नियम की जो परिभाषा मार्शल ने दी है उसमें दो वाक्यांश बहुत सार-गर्भित हैं : (१) सामान्यतया, और (२) यदि कृषि-कला में साथ ही साथ उन्नति न हो। इस नियम की ये दो सीमायें हैं और इनका हम नीचे वर्णन करते हैं

(१) सामान्यतया—सीमान्त-उपज के क्रमश. घटने का नियम साधारणतय य है, किन्तु यदि भूमि की जुताई कम हुई हो, अर्थात् यदि उस टुकड़े पर लगा श्रम और पूंजी की मात्रा उसकी समस्त उत्पादन-शक्ति के पूर्ण शोषण के ये पर्याप्त न हो, तो यह नियम क्रियाशील नहीं होगा। उदाहरण के लिये, यदि एक किसान के पास १००० एकड़ भूमि हो किन्तु वह श्रम और पूँजी की अकिंचित् मात्रा का उस पर प्रयोग करे, तो इतनी बड़ी भूमि की उत्पादन-शक्ति का पूर्ण शोषण नहीं हो सकेगा। और यदि वह उसी टुकड़े पर श्रम और पूँजी की दूसरी इकाई लगाये, तो दूसरी इकाई की निजी उपज बढ़ सकती है क्योंकि उसके प्रयोग से भूमि की उत्पादन-शक्ति का और अच्छी तरह शोषण हो सकेगा। किन्तु जब पूरी जुताई की सीमा आ जायगी, अर्थात् भूमि की समस्त उत्पादन-शक्ति का प्रयोग हो चुकेगा, तब क्रमशः घटती हुई उपज होने लगेगी। भूमि की पूरी जुताई हो चुकने श्चात् ही यह नियम लागू होगा। यदि हम भूमि के किसी टुकड़े की उपज को से देखें, तो हमें मालूम होगा कि इकाइयों के लगाने से सबसे पहले हमें उपज प्राप्त होगी, उसके पश्चात् स्थिर उपज, और सबके अंत में घटती । चित्र ५४ में इन विभिन्न प्रवृत्तियों को चित्रित किया गया है : संछ उपज दिखाती है, छज स्थिर उपज और जम घटती हुई उपज। पूरी । अवस्था ज बिन्दु पर पहुँचती है, और उसके पश्चात् घटती हुई उपज ती है जैसा कि जम वक्र-रेखा से स्पष्ट है। 'सामान्यतया" शब्द वक्र खा पर बिन्दुवाली रेखा (जत) का परदा डाल देती है ; और हमारी

दृष्टि के सामने केवल जझ वक्र-रेखा, जो कि घटती हुई उपज की रेखा है, रह जाती है।[५]

(६) कृषि-कला में उन्नति—यह नियम तभी लागू होगा जब कि अगली इकाइयों के लगाते समय कृषि-कला की उन्नति न हो। अतः यह अचलावस्था का नियम (Static Law) है और उन्नति-शील कृषि पर नहीं लागू होता। यदि उत्पत्ति के साधन और तरीकों में कोई परिवर्तन न हो, तो यह नियम अवश्य लागू होगा। कृषि कला की उन्नति जैसे सुधरे हुए औजारों और मशीनों का प्रयोग, श्रेष्ठतर खाद की सप्लाई और अच्छी सिंचाई का आयोजन, भूमि की थकावट (exhaustion) को रोकते हैं, कभी-कभी तो वे उत्पादन-शक्ति में वृद्धि तक कर देते हैं—चाहे भूमि पर कितनी ही इकाइयाँ लगाई जा चुकी हों—और इसके परिणामस्वरूप अगली इकाइयों की उपज क्रमशः बढ़ने की प्रवृत्ति दिखाती है।
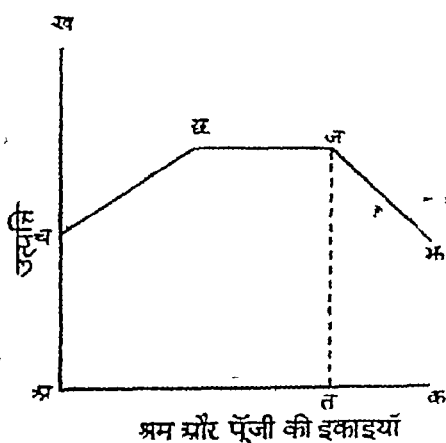
चित्र ४४—उत्पत्ति के नियमों की प्रवृत्तियाँ दिखानेवाली वक्र-रेखा

अतः यह नियम तभी लागू होता है जब कि कृषि-कला में इस प्रकार की कोई उन्नति न हो।

---

[५] कुछ लेखकगण "सामान्यतया" शब्द का यह अर्थ निकालते हैं कि यह नियम, कुछ अपवादों (exceptions) को छोड़कर, अधिकांश में लागू होता है। यह अर्थ त्रुटिपूर्ण है क्योंकि यह नियम बिना किसी अपवाद के सर्वत्र और सर्वदा क्रियाशील होता है।

इस नियम की ऊपर बताई गई ये दो सीमाएँ हैं। इस नियम की एक और सीमा कही जा सकती है—वह यह कि इस नियम का सम्बन्ध उपज की मात्रा से है; उसके मूल्य से नहीं। उत्पन्न की जाने वाली फसल के मूल्य से हमारा यहाँ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। हमें केवल उपज की मात्रा को ध्यान में रखना है।

उपज का क्रमश घटना और लागत का बढ़ना

हमने ऊपर प्रत्येक अगली इकाई की निजी उपज पर ध्यान केंद्रित किया है, और स्पष्ट किया है कि उपज घटती जाती है। किन्तु इसका उत्पन्न की हुई वस्तु की प्रति इकाई लागत पर क्या प्रभाव होता है? जब उपज घटती है, तब क्या लागत बढ़ती है? हाँ, होता यही है। इसका कारण समझना आसान है। कल्पना (assumption) के अनुसार, वस्तु की प्रत्येक इकाई की लागत बराबर और अपरिवर्तनशील है, अत. जब श्रम और पूँजी की इकाइयों की उपज कम होती जाती है, तो इसका अर्थ यह होता है कि उतनी ही लागत से हमें कम उपज प्राप्त होती है। अत उपज या वस्तु की प्रति इकाई की लागत बढ़ती जाती है। यह नीचे की तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये श्रम और पूँजी की प्रति इकाई की लागत १०० रुपये है। अत. वस्तु की प्रति इकाई की लागत, श्रम पूँजी की केवल एक इकाई लगाने पर, १००/९० रु० = १·११ रुपये हुई। वस्तु की प्रति इकाई लागत, श्रम-पूँजी की दूसरी इकाई लगाने पर, २००/१६० रु० = १·२५ रुपये हो जाता है। लागत इसी प्रकार बढ़ती चली जाती है। नीचे के कोष्टक में यह स्पष्ट रूप से दिखाया गया है.

श्रम पूँजी की इकाई	कुल लागत (रु०)	कुल उपज (टन)	वस्तु की प्रति इकाई लागत
१ ली	१००	९०	१·११
२ री	२००	१६०	१·२५
३ री	३००	२२०	१·३६
४ थी	४००	२६५	१·५०
५ वीं	५००	३००	१·६६
६ वीं	६००	३२०	१·८७

यदि हम लागत की वक्र-रेखा रेखा-चित्र पर बनावें, तो यह ऊपर चढ़ने की प्रवृत्ति दिखाती है। सस' वक्र-रेखा, जो कि लागत की रेखा है, ऊपर उठती हुई है।

चित्र ४५

अतः यह स्पष्ट है कि यदि हम वस्तु की प्रति इकाई लागत पर ध्यान दें (श्रम-पूँजी की प्रति इकाई उपज पर नहीं), तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे हम श्रम और पूँजी की क्रमश. इकाइयाँ लगाते हैं, वैसे-वैसे (यदि साथ ही साथ कृषि कला में उन्नति न होती जाय) वस्तु की प्रति-इकाई लागत भी साधारणतया बढ़ती जाती है। इस नियम को लागत के क्रमशः बढ़ने का नियम कहते हैं। अन्य शब्दों में, सीमान्त उपज के क्रमशः घटने के नियम को ही लागत के क्रमशः बढ़ने का नियम कहते हैं।

नियम का सामान्य निरूपण

यह नियम कृषि पर विशेष रूप से लागू होता है, अत. हमने इसकी विवेचना ऊपर कृषि के सम्बन्ध में की है। किन्तु यह अन्य क्षेत्रों में भी लागू होता है। सामान्य शब्दों में इसका इस प्रकार कथन किया जा सकता है : यदि और बातें समान रहें और उत्पत्ति का एक साधन स्थिर रक्खा जाय, तो अन्य साधनों की प्रत्येक अगली इकाई का परिणाम क्रमशः घटती हुई उपज होगा।

नियम का प्रयोग

नियम की ऊपरी विवेचना खेती के सम्बन्ध मे की गई है, जहाँ यह ससार-व्यापी है। यदि किसी खेत को बराबर जोता जाय, तो कालान्तर में ऐसी अवस्था आ जायगी कि श्रम और पूँजी की प्रत्येक अगली इकाई की उपज क्रमशः घटती जायगी। यह नियम अन्य उद्यमों पर भी लागू होता है। उदाहरण के लिये, यह चरागाह, खान खोदना, बन और समुद्र पर भी लागू होता है; यह मछली और ह्वेल के तेल की उत्पत्ति को शासित करता है, और इसी प्रकार पक्का माल बनाने

यदि हम लागत की वक्र-रेखा रेखा-चित्र पर बनावें, तो यह ऊपर चढ़ने की प्रवृत्ति दिखाती है। सस' वक्र-रेखा, जो कि लागत की रेखा है, ऊपर उठती हुई है।

चित्र ४५

अतः यह स्पष्ट है कि यदि हम वस्तु की प्रति इकाई लागत पर ध्यान दें (श्रम-पूँजी की प्रति इकाई उपज पर नहीं), तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे हम श्रम और पूँजी की क्रमश इकाइयाँ लगाते हैं, वैसे-वैसे (यदि साथ ही साथ कृषि कला में उन्नति न होती जाय) वस्तु की प्रति-इकाई लागत भी साधारणतया बढ़ती जाती है। इस नियम को लागत के क्रमशः बढ़ने का नियम कहते हैं। अन्य शब्दों में, सीमान्त उपज के क्रमश. घटने के नियम को ही लागत के क्रमशः बढ़ने का नियम कहते हैं।

नियम का सामान्य निरूपण

यह नियम कृषि पर विशेष रूप से लागू होता है, अत. हमने इसकी विवेचना ऊपर कृषि के सम्बन्ध में की है। किन्तु यह अन्य क्षेत्रों में भी लागू होता है। सामान्य शब्दों में इसका इस प्रकार कथन किया जा सकता है : यदि और बातें समान रहें और उत्पत्ति का एक साधन स्थिर रक्खा जाय, तो अन्य साधनों की प्रत्येक अगली इकाई का परिणाम क्रमशः घटती हुई उपज होगा।

नियम का प्रयोग

नियम की ऊपरी विवेचना खेती के सम्बन्ध में की गई है, जहाँ यह संसार-व्यापी है। यदि किसी खेत को बराबर जोता जाय, तो कालान्तर में ऐसी अवस्था आ जायगी कि श्रम और पूँजी की प्रत्येक अगली इकाई की उपज क्रमशः घटती जायगी। यह नियम अन्य उद्यमों पर भी लागू होता है। उदाहरण के लिये, यह चरागाह, खान खोदना, वन और समुद्र पर भी लागू होता है, यह 'मछली और ह्वेल के तेल की उत्पत्ति को शासित करता है, और इसी प्रकार पक्का माल बनाने

इस नियम की ऊपर बताई गई ये दो सीमाएँ हैं। इस नियम की एक और सीमा कही जा सकती है—वह यह कि इस नियम का सम्बन्ध उपज की मात्रा से है, उसके मूल्य से नहीं। उपज को जाने वाली फसल के मूल्य से हमारा यहाँ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। हमें केवल उपज की मात्रा को ध्यान में रखना है।

उपज का क्रमशः घटना और लागत का बढ़ना

हमने ऊपर प्रत्येक अगली इकाई की निजी उपज पर ध्यान केंद्रित किया है और स्पष्ट किया है कि उपज घटती जाती है। किन्तु इसका उत्पन्न की हुई वस्तु की प्रति इकाई लागत पर क्या प्रभाव होता है? जब उपज घटती है, तब क्या लागत बढ़ती है? हाँ, होता यही है। इसका कारण समझना आसान है। कल्पना (assumption) के अनुसार, वस्तु की प्रत्येक इकाई की लागत बराबर और अपरिवर्तनशील है, अतः जब श्रम और पूँजी की इकाइयों की उपज कम होती जाती है, तो इसका अर्थ यह होता है कि उतनी ही लागत से हमें कम उपज प्राप्त होती है। अतः उपज या वस्तु की प्रति इकाई की लागत बढ़ती जाती है। यह नीचे की तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये श्रम और पूँजी की प्रति इकाई को लागत १०० रुपये है। अतः वस्तु की प्रति इकाई की लागत, श्रम पूँजी की केवल एक इकाई लगाने पर, १००/९० रु० = १·११ रुपये हुई। वस्तु की प्रति इकाई लागत, श्रम पूँजी की दूसरी इकाई लगाने पर, २००/१६० रु० = १·२५ रुपये हो जाता है। लागत इसी प्रकार बढ़ती चली जाती है। नीचे के कोष्टक में यह स्पष्ट रूप से दिखाया गया है।

श्रम पूँजी की इकाई	कुल लागत (रु०)	कुल उपज (टन)	वस्तु की प्रति इकाई लागत
१ ली	१००	९०	१ ११
२ री	२००	१६०	१·२५
३ री	३००	२२०	१·३६
४ थी	४००	२६५	१ ५०
५ वीं	५००	३००	१ ६६
६ वीं	६००	३२०	१ ८७

इस नियम की ऊपर बताई गई ये दो सीमाएँ हैं। इस नियम की एक और सीमा कही जा सकती है—वह यह कि इस नियम का सम्बन्ध उपज की मात्रा से है, उसके मूल्य से नहीं। उत्पन्न को जाने वाली फसल के मूल्य से हमारा यहाँ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। हमें केवल उपज की मात्रा को ध्यान में रखना है।

उपज का क्रमश घटना और लागत का बढ़ना

हमने ऊपर प्रत्येक अगली इकाई की निजी उपज पर ध्यान केंद्रित किया है, और स्पष्ट किया है कि उपज घटती जाती है। किन्तु इसका उत्पन्न की हुई वस्तु की प्रति इकाई लागत पर क्या प्रभाव होता है? जब उपज घटती है, तब क्या लागत बढ़ती है? हाँ, होता यही है। इसका कारण समझना आसान है। कल्पना (assumption) के अनुसार, वस्तु की प्रत्येक इकाई की लागत बराबर और अपरिवर्तनशील है, अत जब श्रम और पूँजी की इकाइयों की उपज कम होती जाती है, तो इसका अर्थ यह होता है कि उतनी ही लागत से हमें कम उपज प्राप्त होती है। अत॰ उपज या वस्तु की प्रति इकाई की लागत बढ़ती जाती है। यह नीचे की तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये श्रम और पूँजी की प्रति इकाई की लागत १०० रुपये है। अत. वस्तु की प्रति इकाई की लागत, श्रम-पूँजी की केवल एक इकाई लगाने पर, $\frac{१००}{९०}$ रु० = १·११ रुपये हुई। वस्तु की प्रति इकाई लागत, श्रम पूँजी की दूसरी इकाई लगाने पर, $\frac{२००}{१६०}$ रु० = १·२५ रुपये हो जाता है। लागत इसी प्रकार बढ़ती चली जाती है। नीचे के कोष्टक में यह स्पष्ट रूप से दिखाया गया है ·

श्रम पूँजी की इकाई	कुल लागत (रु०)	कुल उपज (टन)	वस्तु की प्रति इकाई लागत
१ ली	१००	९०	१·११
२ री	२००	१६०	१ २५
३ री	३००	२२०	१·३६
४ थी	४००	२६५	१·५०
५ वीं	५००	३००	१·६६
६ वीं	६००	३२०	१·८७

यदि हम लागत की वक्र-रेखा रेखा-चित्र पर बनावें, तो यह ऊपर चढ़ने की प्रवृत्ति दिखाती है। सस' वक्र-रेखा, जो कि लागत की रेखा है, ऊपर उठती हुई है।

चित्र ४५

अतः यह स्पष्ट है कि यदि हम वस्तु की प्रति इकाई लागत पर ध्यान दें (श्रम-पूँजी की प्रति इकाई उपज पर नहीं), तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे हम श्रम और पूँजी की क्रमश. इकाइयाँ लगाते हैं, वैसे-वैसे (यदि साथ ही साथ कृषि कला में उन्नति न होती जाय) वस्तु की प्रति-इकाई लागत भी साधारणतया बढ़ती जाती है। इस नियम को लागत के क्रमशः बढ़ने का नियम कहते हैं। अन्य शब्दों मे, सीमान्त उपज के क्रमशः घटने के नियम को ही लागत के क्रमशः बढने का नियम कहते हैं।

नियम का सामान्य निरूपण

यह नियम कृषि पर विशेष रूप से लागू होता है, अत. हमने इसकी विवेचना ऊपर कृषि के सम्बन्ध में की है। किन्तु यह अन्य क्षेत्रों में भी लागू होता है। सामान्य शब्दों में इसका इस प्रकार कथन किया जा सकता है: यदि और बातें समान रहें और उत्पत्ति का एक साधन स्थिर रक्खा जाय, तो अन्य साधनो की प्रत्येक अगली इकाई का परिणाम क्रमशः घटती हुई उपज होगा।

नियम का प्रयोग

नियम की ऊपरी विवेचना खेती के सम्बन्ध में की गई है, जहाँ यह ससार-व्यापी है। यदि किसी खेत को बराबर जोता जाय, तो कालान्तर में ऐसी अवस्था आ जायगी कि श्रम और पूँजी की प्रत्येक अगली इकाई की उपज क्रमशः घटती जायगी। यह नियम अन्य उद्यमों पर भी लागू होता है। उदाहरण के लिये, यह चरागाह, खान खोदना, वन और समुद्र पर भी लागू होता है, यह मछली और ह्वेल के तेल की उत्पत्ति को शासित करता है, और इसी प्रकार पक्का माल बनाने

में जैसे पक्का लोहा और कपड़ा बनाने पर भी घटता है। इस नियम के कुछ मुख्य प्रयोगों का वर्णन नीचे दिया जाता है :

(१) **मछली का व्यवसाय**—तालाब और झील में रहने वाली मछलियाँ पकड़ने में इस नियम का अनुभव होता है। जिस प्रकार श्रम और पूँजी की नई-नई इकाइयों के प्रयोग से भूमि की उत्पादन-शक्ति का उत्तरोत्तर उपयोग होता जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक पकड़ (Catch) के बाद तालाब या झील में मछलियाँ भी कम हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप अगली पकड़ उतनी सफल नहीं होती।

सामुद्रिक मछलियों के विषय में कदाचित् ऐसा नहीं है। सामुद्रिक मछलियाँ इतनी तेजी से बढ़ती हैं कि मनुष्य की पकड़ से उनकी कुल संख्या घटने नहीं पाती। लांग (Long) नामक मछली एक साल में १,८५,००,००० अंडे देती है, अर्थात् प्रतिदिन ५०,००० या ६०,०००। अन्य प्रकार की मछलियों की भी उत्पादन-शक्ति आश्चर्यजनक होती है। किन्तु कुछ लेखकों का मत है कि सामुद्रिक मछलियों पर भी यह नियम लगता है।

(२) **खानें**—खान खोदने में भी यह नियम क्रियाशील होता है। खान खोदने में जैसे-जैसे श्रम और पूँजी का उपयोग बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे नीचे स्तर खोदने पड़ते हैं। गहरी खुदाई में प्रकाश का प्रबन्ध करने में, खान के अन्दर शुद्ध हवा पहुँचाने में और धातु को ऊपर लाने में बहुत व्यय करना पड़ता है। अतः श्रम और पूँजी पर व्यय किये जाने वाले रुपये की हर इकाई अनुपात से कम धातु उत्पन्न करती है।

(३) **घर और दूकानें बनवाना**—घर और दूकानों के निर्माण करने में भी यह नियम लागू होता है। यदि एक इमारत के बनवाने में अधिक श्रम और पूँजी लगाई जाय, तो अधिक ऊँची मंजिलें बनानी पड़ेंगी। मंजिल जितनी ऊँची होती जाती है उसकी बनवाने की लागत उतनी ही बढ़ती जाती है क्योंकि निर्माण सामग्री अधिक ऊँचे ले जानी पड़ती है, उसकी बर्बादी अधिक होती है और बनाने में समय भी अधिक लगता है। अतः श्रम और पूँजी की प्रत्येक अगली इकाई पिछली इकाई के बराबर सफल नहीं होती।

(४) **मिट्टी के बर्तन बनाना**—यह नियम मिट्टी के बर्तन बनाने में भी लागू होता है। बर्तन बनाने के लिये मिट्टी खोदकर प्राप्त की जाती है। जितने नीचे से मिट्टी खोदकर निकाली जाती है, उतनी ही अधिक श्रम और समय की आवश्यकता होती है। अतः मिट्टी के बर्तन बनाने के व्यवसाय में श्रम और पूँजी की अधिक इकाइयाँ लगाने से सीमान्त-उपज घटने लगती है।

(५) पक्का माल बनाना—यह कहा जाता है कि खेती पर तो सीमान्त-उपज के क्रमशः घटने का नियम लागू होता है, किन्तु पक्का माल बनाने अथवा उद्योग पर सीमान्त उपज के क्रमशः बढ़ने का नियम लागू होता है। यह सच है। किन्तु जिन दशाओं में इस नियम के लागू होने का विचार किया जाता है, यदि वे ही दशायें किसी उद्योग में वर्तमान हों तो यह नियम उस उद्योग पर भी अवश्य लागू होगा। खेती में हम भूमि को स्थिर मानकर अन्य साधनों की मात्रा को बढ़ाते जाते। यदि उसी प्रकार उद्योग में भी हम एक साधन स्थिर रखकर अन्य साधनों की मात्रा बढ़ाते जायँ, तो घटती हुई उपज का प्राप्त करना अवश्यम्भावी है।

§ ३. सीमान्त उपज के क्रमशः बढ़ने का नियम

जिस प्रकार कि खेती पर सीमान्त-उपज के क्रमशः घटने का नियम लागू होता है, उसी प्रकार उद्योगों (Manufactures) पर सीमान्त-उपज के क्रमशः बढ़ने का नियम घटता है। यदि हम किसी पक्के माल बनाने वाले उद्योग में श्रम और पूँजी की इकाइयाँ बराबर लगाते ही चले जायँ, तो हर अगली इकाई की उपज बढ़ती चली जायगी। बढ़ती हुई उपज के इस नियम का कथन मार्शल ने इन शब्दों में किया है, "श्रम और पूँजी में वृद्धि करने से सामान्यतया संगठन अधिक श्रेष्ठ हो जाता है जिसके फल-स्वरूप श्रम पूँजी की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है।"

चित्र ४६. सीमान्त उपज के क्रमशः बढ़ने का नियम

यदि हम रेखा-चित्र में उत्पत्ति के साधनों की इकाइयाँ अक रेखा पर नापें और उपज अख रेखा पर, तो वम वक्र-रेखा बढ़ती हुई उपज का निरूपण करेगी जैसा कि बगल के चित्र में देखा जा सकता है।

वम वक्र-रेखा ऊपर उठती जाती है और बिन्दुओं से बनी रेखायें लम्बी होती जाती हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक अगली इकाई की उपज बढ़ती जाती है।
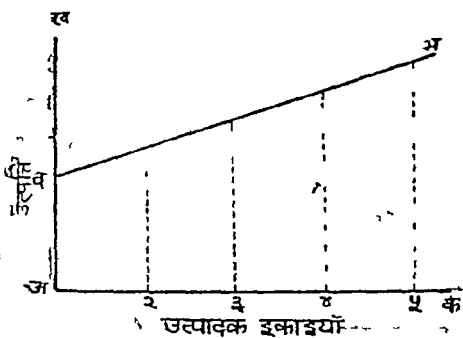
उद्योग में बढ़ती हुई उपज क्यों प्राप्त होती है, इसके अनेक कारण हैं। उत्पत्ति के साधनों की नई इकाइयों के प्रयोग से उत्पत्ति का पैमाना बढ़ जाता है, जिसके फल-स्वरूप बड़े पैमाने की उत्पत्ति सम्बन्धी समस्त भीतरी और बाहरी

मितव्ययतायें (economies) प्राप्त होने लगती हैं। दूसरे, उद्योग में उत्पत्ति के विविध साधन आदर्श अनुपात में आसानी से मिलाये जा सकते हैं। खेती में ऐसा होता है कि भूमि लगभग स्थिर रहती है और अन्य साधनों की मात्रायें बढ़ा दी जाती हैं किन्तु उद्योग में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं क्योंकि इसमें प्रत्येक साधन की पूर्ति (supply) लोचदार (elastic) होती है, अतः उत्पत्ति के विविध साधनों को अधिकतम लाभदायक अनुपात में मिलाया जा सकता है। तीसरे, उद्योगों के क्षेत्र में नये-नये आविष्कार और उत्पत्ति की नई-नई रीतियों की खोज इतनी प्रगति के साथ होती रहती है कि वह बिंदु जहाँ से घटती हुई उपज आरम्भ हो जाती है बराबर पीछे हटता जाता है। किसी खास समय एक उद्योग को उत्पत्ति की कुछ रीतियों से जानकारी होती है और उसकी उत्पादन-शक्ति उससे सीमित होती है; इसलिये यदि उसी रीति का उपयोग करते रहकर साधनों की मात्रा बराबर बढ़ाई जाय तो कालान्तर में सीमांत उपज के क्रमशः घटने का नियम अवश्य क्रियाशील हो जायगा। किन्तु इस क्षेत्र में उत्पत्ति की नई रीतियों का आविष्कार इतनी शीघ्रता से हुआ है कि घटती हुई उपज के प्रारम्भ-बिन्दु के पहुँचने के पहले ही वह बिन्दु और दूर हट जाता है। यह बिन्दु बार-बार और लगातार इतना पीछे हटता जाता है कि उद्योग में इसका स्पर्श ही नहीं होने पाता।

उपज का बढ़ना और लागत का घटना

यह ध्यान रखना चाहिये कि ऊपर की विवेचना में बढ़ती हुई सीमान्त उपज, श्रम और पूँजी की नई-नई इकाइयाँ लगाने से प्राप्त होती है, और क्योंकि प्रत्येक इकाई की लागत, कल्पना के अनुकूल, वही रहती है, इसलिए बढ़ती हुई उपज घटती लागत पर प्राप्त होगी। अन्य शब्दों में, वस्तु की प्रति-इकाई लागत घटती जाती है। (पाठक को चाहिये कि वह एक उदाहरण लेकर इस नियम का स्पष्टीकरण कर ले और रेखा-चित्र पर लागत की वक्र-रेखा बनावे। यह वक्र-रेखा नीचे की ओर झुकती चली जायगी।) अतः इस नियम को लागत के क्रमशः घटने का नियम कहते हैं।

§ ४. क्रमशः उपज के स्थिर रहने का नियम

जब कि साधनों की नई इकाइयों के लगाने पर, प्रत्येक इकाई की उपज बराबर रहती है तब कहा जाता है कि क्रमशः उपज के स्थिर रहने का नियम लागू हो रहा है। उदाहरण के लिये, यदि पहली इकाई की उपज ५० मन गल्ला हो, दो इकाइयों की १०० मन, तीन की १५० मन और चार की २०० मन, तो प्रत्येक इकाई की
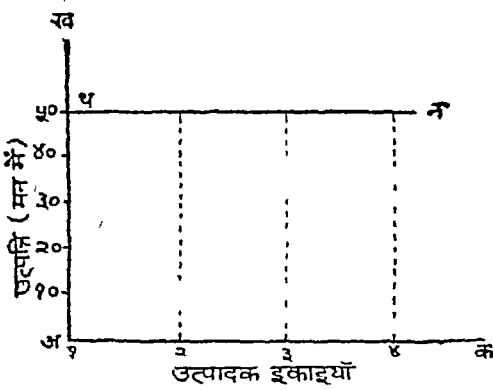
चित्र ४७. क्रमशः उपज की स्थिरता का नियम

उपज ५० मन हुई। यदि हम साधनों की इकाइयाँ अक रेखा पर नापें और उपज अख रेखा पर, जैसा कि नीचे के रेखा-चित्र में किया गया है, तो हमें घन वक्र-रेखा प्राप्त होगी जो क्रमशः उपज की स्थिरता का निरूपण करेगी। सब विन्दु-वाली रेखाओं की लम्बाई बराबर है, जिसका यह आशय होता है कि प्रत्येक इकाई की उपज समान है।

यह नियम क्रियाशील इस कारण होता है कि उपज के घटने की प्रवृत्ति और उपज के बढ़ने की प्रवृत्ति का ठीक-ठीक सन्तुलन हो जाता है। उदाहरण के लिये, ऐसा उस कारखाने में हो सकता है जो कि अपना गन्ना स्वयं उगाता हो और उससे स्वयं ही चीनी बनाता हो। गन्ना उगाने में उपज के क्रमशः घटने का नियम लागू होगा और चीनी बनाने में उपज के क्रमशः बढ़ने का नियम। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि इन दोनों प्रवृत्तियों का ठीक-ठीक सन्तुलन हो जाय और इसके फलस्वरूप स्थिर उपज मिलती जाय। यह नियम सम्भावनामूलक (relating to probability) है और यह अधिकतर अध्ययन और सिद्धान्त की ही वस्तु है।

क्योंकि इस अवस्था में प्रत्येक अगली इकाई की उपज स्थिर रहती है, इसलिये वस्तु की प्रति इकाई की लागत भी स्थिर रहती है। अत. इस नियम को **लागत की स्थिरता का नियम** भी कहते हैं।

§ ५. उपज के नियम और प्रकृति

मार्शल का मत

ऊपर उपज के नियमों की विवेचना करते समय हमने प्रत्येक नियम के लागू होने के कारण अलग-अलग बता दिये हैं। मार्शल ने इसी समस्या को एक नये दृष्टिकोण से समझाया है। उत्पत्ति में मनुष्य और प्रकृति जो काम करती हैं, वे उसी को लेकर चले हैं। प्रकृति सर्वदा और सब स्थान पर मितव्ययी होती है। अतः उत्पत्ति में, जहाँ प्रकृति का प्राधान्य होता है, जैसे कृषि में, वहाँ घटती हुई उपज

प्राप्त की जाती है। मनुष्य आदि से ही प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की, और उसकी इस प्रवृत्ति को रोकने की चेष्टा करता रहा है। जहाँ वह प्रधानता प्राप्त कर लेता है जैसे कि पक्का माल बनाने के उद्योगों में वहाँ बढ़ती हुई उपज प्राप्त की जाती है। मार्शल के शब्दों में, "उत्पत्ति में जितना काम प्रकृति का होता है वह घटती हुई उपज की प्रवृत्ति दिखाता है, और जो काम मनुष्य करता है वह बढ़ती हुई उपज की प्रवृत्ति दिखाता है। यदि बढ़ती हुई उपज और घटती हुई उपज के नियमों के कार्यों का सन्तुलन हो गया, तो उपज की स्थिरता का नियम लागू हो जाता है।" कच्चे माल के व्यवसायों में, जैसे खेती और खान खोदने में, प्रकृति का काम प्रधान होता है और इसलिये घटती हुई उपज मिलती है। इसके विपरीत उद्योगों में मनुष्य का प्रधान अधिकार होता है, इसलिये बढ़ती हुई उपज मिलती है।

क्या उपज का नियम एक ही है?

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि उपज का नियम केवल एक है और वह है क्रमशः घटने वाली उपज का नियम। अन्य दो नियम, अर्थात् उपज के बढ़ने और स्थिर रहने के नियम, क्रमश. घटने वाली उपज के नियम के पूर्व के किन्तु आवश्यक पहलू हैं। ये पहलू क्षणिक हैं, अन्त में क्रमशः घटनेवाली उपज का नियम ही लागू होता है।

यह मत पूर्णतया ठीक नहीं। यह तीन प्रवृत्तियाँ अलग-अलग किस्म की हैं और इनको एक दूसरे से भिन्न रखना चाहिये। किसी समय किसी खास कारखाने में बढ़ती हुई उपज का नियम या घटने वाली उपज का नियम लागू हो सकता है और उस समय यह कहना कि वहाँ घटने वाली उपज का नियम लागू हो रहा है स्पष्ट मूर्खता होगी। हाँ, यह ठीक है कि इन तीनों नियमों का घनिष्ठ सम्बन्ध है वास्तव में यही घनिष्ठता कुछ अर्थशास्त्रियों को ऊपर बताई हुई त्रुटि की ओर प्रेरित करती है।

§ ६. प्रतिस्थापन का नियम या सम-सीमान्त उत्पत्ति का नियम

हम उत्पत्ति के तीनों नियमों का वर्णन ऊपर कर चुके हैं। इस अध्याय में उत्पत्ति के एक और नियम को सम्मिलित करना आवश्यक है। इसे प्रतिस्थापन का नियम या सम-सीमान्त उत्पत्ति का नियम कहते हैं।

संगठन-कर्ता विभिन्न साधनों को इस प्रकार मिलाता है कि उन साधनों से अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त की जा सके। अधिकतम उत्पत्ति अथवा न्यूनतम लागत

यही उसका उद्देश्य होता है। विविध साधनों में आदर्श अनुपात स्थापित करना कठिन काम है, और इसी में संगठन-कर्ता की चतुराई की परीक्षा होती है। यह आदर्श लम्बे अनुभव के पश्चात्, गलतियाँ करके और उन्हें सुधारकर तथा उनसे शिक्षा ग्रहणकर, स्थापित हो पाता है। संगठनकर्ता हमेशा इस चेष्टा में रहता है कि प्रत्येक साधन को उससे कम लागत वाले साधन या उससे अधिक कार्य-कुशल साधन से स्थानापन्न कर दे। यदि उसकी चेष्टाओं को सफलता मिलती जाय, तो प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पत्ति लगभग समान हो जायगी। इसी नियम को प्रतिस्थापना का नियम अथवा सम, सीमान्त उत्पत्ति का नियम कहते हैं। प्रतिस्थापना के नियम को जब उपभोग के क्षेत्र में लागू करते हैं तो उसे सम-सीमान्त उपयोगिता का नियम कहते हैं, और जब उसे उत्पत्ति के क्षेत्र में लागू करते हैं तब उसे सम-सीमान्त उत्पत्ति का नियम कहते हैं।

एक साधन की अन्य साधन द्वारा प्रतिस्थापना बहुधा हुआ करती है। नीचे इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

(१) यदि किसी संगठनकर्ता को उत्पत्ति बढ़ाने के लिये अधिक स्थान की आवश्यकता पड़े, तो या तो वह और भूमि खरीद सकता है अथवा वह वर्तमान इमारत पर एक और मंजिल बनवा सकता है। यदि वह पहला मार्ग ग्रहण करे तो वह पूँजी की भूमि द्वारा प्रतिस्थापना करेगा, और यदि वह पिछला मार्ग ग्रहण करे, तो वह भूमि की पूँजी-द्वारा प्रतिस्थापना करेगा। वह उस मार्ग को ग्रहण करेगा जो सस्ता हो।

(२) यदि संगठन-कर्ता उत्पत्ति बढ़ाना चाहे, तो वह या तो अधिक मजदूर लगा दे और या अधिक मशीन खरीदे। पहले मार्ग ग्रहण करने से वह पूँजी को श्रम द्वारा स्थानापन्न करेगा, और दूसरे मार्ग ग्रहण करने पर, श्रम को पूँजी द्वारा स्थानापन्न करेगा।

अभ्यास के प्रश्न

१. सीमान्त उपज के क्रमशः घटने के नियम को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये। इस नियम की सीमाएँ भी बतलाइये।

२. क्या सीमान्त उपज के क्रमशः घटने का नियम इन पर लागू होता है? (क) कृषि, (ख) मत्स्य-क्षेत्र, (ग) मिट्टी का बर्तन बनाना, (घ) खान खोदना, (ङ) पक्का माल तैयार करना?

३. सीमान्त उपज के क्रमशः बढ़ने के नियम को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये। यह क्यों विशेष रूप से पक्का माल तैयार करने वाले कारखानों पर ही लागू होता है ?

४. क्रमश उपज के स्थिर रहने के नियम को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये। यह कब लागू होता है ?

५. मनुष्य, प्रकृति तथा उपज के नियमों के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण कीजिये।

६. 'उपज का केवल एक ही नियम है और वह उपज की क्रमशः घटती का नियम है।' इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

७. उत्पत्ति पर लागू होने वाले प्रतिस्थापना के नियम का निरूपण कीजिये।

परीक्षा प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. उपज के क्रमशः घटने के नियम का निरूपण करते हुए उसकी पूर्ण व्याख्या कीजिए। (१६४७)

२. उपज के क्रमशः बढ़ने का नियम पक्का माल तैयार करने वाले कारखानों पर किस प्रकार लागू होता है ? बड़े पैमाने का उत्पादन किन दिशाओं में मितव्ययता सम्भव बनाता है ? (१६४१)

३. आभ्यंतरिक तथा बाह्य मितव्ययता का अन्तर स्पष्ट कीजिये। वे एक कारखाने में किस प्रकार उपज को क्रमशः बढ़ाती हैं ? (१६४०)

४. उपज के क्रमशः घटने तथा बढ़ने के नियम की यथा-सम्भव स्पष्ट तथा पूर्ण व्याख्या कीजिये। (१६३६)

५. उपज के क्रमशः बढ़ने के नियम का स्पष्ट निरूपण कीजिए। उसकी कौन सी सीमाएँ हैं ? (१६३१)

६. उपज के क्रमशः घटने के नियम की विवेचना कीजिये। क्या यह खानों, नदियों व मत्स्यक्षेत्र तथा मिट्टी के बर्तन बनाने पर लागू होता है ? (१६२६)

७. उपज के क्रमशः बढ़ने तथा घटने के नियम की यथासम्भव स्पष्ट व्याख्या कीजिये तथा कारखानों में उपज को क्रमशः बढ़ाने में आभ्यांतरिक तथा बाह्य मितव्ययता का क्या हाथ रहता है, इस पर विचार कीजिए। (१६२५)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

८. उपज के क्रमशः घटने के नियम का निरूपण तथा व्याख्या कीजिए। किन प्रकार के उद्योगों में इस नियम के लागू होने की सम्भावना है ? (१६४७)

९. उपज के क्रमशः बढ़ने के नियम का निरूपण तथा व्याख्या कीजिए। यह पक्का माल तैयार कारखानों में ही विशेषतया क्यों लागू होता है? (१९४६, १९४४)

१०. उपज के क्रमशः घटने के नियम की विवेचना कीजिए। (१९४३)

११. उत्पत्ति के क्रमशः बढ़ने के नियम का वर्णन कीजिए और बताइये कि यह कृषि तथा उद्योग में किस प्रकार लागू होता है? (१९४०)

१२. उपज के क्रमशः घटने के नियम की विवेचना कीजिए। (१९३८)

१३. उपज के नियमों का उदाहरण सहित निरूपण कीजिए। (१९३६)

१४. उपज के क्रमशः घटने के नियम की स्पष्ट व्याख्या कीजिए। क्या कोई ऐसी बातें हैं जो इसकी गति में बाधा डालती हैं? (१९३५)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

15. Explain fully the laws of increasing and diminishing returns. (1949)

16 Explain the law of increasing returns, and show how the law of diminishing cost follows from it (1944)

17 State and explain fully the law of diminishing returns (1940)

18 Explain the law of Diminishing Returns both in its intensive and extensive forms Explain what you understant by the marginal dose of labour and capital as applied in cultivation (1938)

19 State and explain the law of diminishing returns. (1937, 1935)

20 State and explain the law of diminishing returns. In what kinds of industries will you expect this law to operate? (1933)

21 The return to capital and labour of which the law of diminishing returns speaks, is measured by the amount of produce raised, independent of any changes that may meanwhile take place in the price of produce Analyse carefully the limitations of the law of diminishing returns with reference to this statement (1932)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

22. State clearly the law of diminishing returns. What are its limitations? (1949)

23. State and explain the law of diminishing returns. Why is it found operating more in agriculture than in manufactures? (1947)

24 State precisely the law of increasing and diminishing returns and explain the circumstances under which their operation may be withheld or postponed (1943)

25 State and explain fully the law of Diminishing Returns (1940)

पटना, इन्टर आर्ट्स

26 State and explain the Law of Diminishing Returns. What are its limitations? (1948, Annual)

27, Explain the Law of Diminishing Returns and the circumstances in which it can be held in check (1940, Supp)

पटना, इन्टर कामर्स

28. Explain the Law of Diminishing Returns Are there any exceptions to this law? (1948, Annual).

29. Explain the Law of Diminishing Returns with reference to agriculture and mention the conditions under which it operates (1944, Supp)

30 State and discuss the Laws of Increasing and Diminishing Returns (1942, Ann)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

31. Briefly answer the following —What is law of increasing returns? (1948)

32 Does the law of diminishing returns apply (*a*) to the value of a product or its quantity, (*b*) to total returns or marginal returns and (c) from the very start or after sometime? Give reasons for your answers (1947)

नागपुर, इन्टर कामर्स

३३. उपज के क्रमशः घटने का नियम किसमें लागू होता है (क) कुल उपज अथवा सीमान्त उपज में (ख), किसी उत्पादित वस्तु के अर्थ या उसके परिमाण में तथा (ग), आरम्भ से ही अथवा कुछ समय बाद? (१९४७)

३४. उपज के क्रमशः घटने तथा बढ़ने के नियमों की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। (१९४६)

३५. उपज के क्रमशः घटने का नियम क्या है ? यह कृषि को किस प्रकार प्रभावित करता है ? (१९५१)

सागर, इन्टर आर्ट्स

36. Explain fully the Law of Diminishing Returns. (1949 supp.)

सागर, इन्टर कामर्स

37. Carefully explain the law of Diminishing Returns. Is it applicable to mines and forestry. (1949)

अध्याय २७

प्रकृति के उपहार या भूमि

§ १. भूमि (Land) का अर्थ

भूमि की परिभाषा

शब्दकोष के अनुसार भूमि का अर्थ जमीन का तल (Surface) होता है। अर्थशास्त्र में यह शब्द अधिक व्यापक रूप में प्रयुक्त किया जाता है और इसमें समस्त प्राकृतिक उपहार (जिनमें से भूमि भी एक) है सम्मिलित किये जाते हैं। इसमें सम्मिलित की जाने वाली वस्तुएँ निम्नलिखित हैं :

(१) भूमि का सतह जिस पर हम रहते और घूमते-फिरते हैं।

(२) उस सतह को ढकने वाला जल, जैसे समुद्र और नदियाँ।

(३) उस सतह के नीचे छिपी हुई धातुएँ जैसे कोयला, सोना, आदि।

(४) वायु, गर्मी, प्रकाश और वर्षा का जल।

मिट्टी और उप मिट्टी (sub-soil) जिस पर फसलें उगाई जाती हैं, प्राकृतिक बनावट, भौगोलिक स्थिति, जलवायु, समुद्र-मार्ग, झरने, हवाएं, प्राकृतिक बन्दरगाह—ये सब भूमि शब्द के अन्तर्गत आते हैं। अन्य शब्दों में, भूमि शब्द का आशय पृथ्वी की सतह, उसके ऊपर पाये जाने वाले पदार्थों तथा उसके नीचे विद्यमान पदार्थों से है। मार्शल ने उचित ही कहा है कि, "भूमि का अर्थ केवल भूमि ही नहीं है, प्रत्युत उसमें वे समस्त सामग्रियाँ एवं शक्तियाँ सम्मिलित की जाती जिन्हें प्रकृति निर्मूल्य मनुष्य की सहायता के लिये भूमि में और जल में, वायु में, प्रकाश में और गर्मी में प्रदान करती है।"[१]

"भूमि", "प्रकृति" और "प्राकृतिक उपहार"

उपरोक्त अर्थ में 'भूमि', शब्द का प्रयोग करना भ्रमोत्पादक और अस्पष्ट हो सकता है। विशेषतया काम आयु के विद्यार्थियों को, जो अर्थशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ कर रहे हों, इस शब्द के अर्थ को समझने और स्मरण रखने में कठिनाई हो सकती है। यह सम्भव है कि अर्थशास्त्र की पुस्तक पढ़ते समय जब उसे भूमि शब्द मिले, तब वह उसका शाब्दिक अर्थ लगा ले और उसका वास्तविक व्यापक अर्थ

---

[१] Marshall, *Principles of Economics*

विस्मृत कर दे। इस प्रकार की त्रुटि के निवारण के लिये, कुछ अर्थशास्त्रियों ने भूमि शब्द के स्थान पर प्राकृतिक उपहार प्रयोग में लाना आरम्भ कर दिया है। प्राकृतिक उपहार हमारे इस उत्पत्ति के साधन का क्षेत्र और अर्थ स्पष्ट कर देता है और इसलिये यह वाक्यांश भूमि शब्द से श्रेष्ठ है। कुछ अर्थशास्त्री भूमि के स्थान पर प्रकृति शब्द का भी प्रयोग करते हैं। किन्तु प्रकृति शब्द कई अर्थों में आता है। इसलिये इसे भूमि शब्द से श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता।

तथापि हम इस अध्याय मे भूमि शब्द का ही प्रयोग किया है—प्राकृतिक उपहार नहीं—क्योंकि यह शब्द बहुत समय से प्रचलित है। आर्थिक साहित्य में इसका अपना निजी स्थान है और अधिकाश अर्थशास्त्रियों ने इसी का प्रयोग भी किया है। अतः अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो के लिये यह आवश्यक है कि वे इससे परिचय प्राप्त कर लें। इसके अतिरिक्त, जैसा कि प्रोफेसर एली ने कहा है, "अर्थशास्त्र मे हमें सबसे अधिक काम, बाह्य-प्रकृति की समस्त वस्तुओं में से, भूमि से ही पड़ता है।" इस कारण भी भूमि शब्द का प्रयोग करना वाछनीय है।

§ २. भूमि के लक्षण

भूमि के कुछ विशेष लक्षण हैं जिनका वर्णन नीचे किया जाता है

(१) मात्रा की स्थिरता—भूमि की मात्रा स्थिर है और उसे कोई बढा नहीं सकता। भारतवर्ष का क्षेत्रफल (पाकिस्तान मिलाकर) १५ लाख वर्गमील है और इसे कोई बढा नहीं सकता। यदि किसी खान में १० करोड़ टन कोयला हो, तो उसमें से २० करोड़ टन कोयला निकालना असम्भव है। हमें बहुत-से सूर्य-प्रकाश या वर्षा जल की चाहे कितनी ही आवश्यकता क्यों न हो, हमें स्रोतों द्वारा जितना भी प्रकाश या जल प्राप्त होता है, उसी पर सतोष करना पडेगा। कभी-कभी हम प्राप्य कृषि-योग्य भूमि की मात्रा दलदल भरकर या पहाड़ों पर सीढियाँ बनाकर बढा सकते हैं, किन्तु इस प्रकार हम कुल भूमि की मात्रा नहीं बढाते कुछ कृषि-अयोग्य भूमि को कृषि-योग्य बना देते हैं। मात्रा की स्थिरता केवल भूमि का ही गुण है : उत्पत्ति के अन्य साधन घटाये-बढाये जा सकते हैं।

(२) भूमि उत्पन्न नहीं की जाती—भूमि प्रकृति का उपहार है और इसे मनुष्य पैदा नहीं करता। अत. सामाजिक दृष्टि से, भूमि की कोई लागत नहीं, और इसलिये उसका कोई मूल्य भी नहीं, किन्तु व्यक्तिगत दृष्टि से भूमि का मूल्य होना है और उसका क्रय-विक्रय होता है।

(३) निश्चेष्टता (Passivity)—भूमि उत्पत्ति का निश्चेष्ट (Passive) साधन है। यह उत्पत्ति की क्रिया में कोई सचेष्ट भाग नही लेता,

प्रत्युत स्वयं उसके ऊपर मनुष्य और मशीन काम करते हैं। उत्पत्ति में मनुष्य निर्देशक और सचेष्ट साधक है, प्रकृति केवल आज्ञाकारिणी एवं निश्चेष्ट साधक है।

(४) विभिन्न उपयुक्तता (variable suitability)—समस्त भूमि किसी एक काम के लिये समान रूप से उपयुक्त नहीं होती। शहर के मध्य में स्थित भूमि घर आदि बनाने के उपयुक्त होती है, किसी गाँव का नम खेत गन्ना या कपास उत्पन्न करने के लिये ठीक होता है, और ठंडी जलवायु वाला शुष्क खेत गेहूँ उत्पन्न करने के उपयुक्त होता है।

(५) स्थिति का महत्व—बहुत बड़ी सीमा तक भूमि का मूल्य उसकी स्थिति तथा उसे अन्य स्थानों से मिलाने वाले यातायात के साधनों पर निर्भर होता है। शहर के समीप की भूमि का किराया शहर से दूर की भूमि के किराये से अधिक होता है। श्रम और पूँजी का मूल्य भी दूरी से प्रभावित होता है, किन्तु इस सीमा तक नहीं।[२]

§ ३. उत्पत्ति में भूमि का काम

भूमि उत्पत्ति का प्राथमिक और अत्यावश्यक साधन है। बिना भूमि के उत्पत्ति असम्भव है। चाहे मनुष्य कितना ही प्रयास करे और वह जितनी भी चतुराई तथा यन्त्रादि सचय कर सकता है सब का प्रयोग करे, तब भी वह बिना भूमि के कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। वे अगणित वस्तुएँ और शक्तियाँ जो हमारा जीवन सुखी और सम्पूर्ण बनाती हैं, हमें भूमि से ही प्राप्त होते हैं। जो खाद्य-सामग्रियाँ हमें जीवित रखती हैं और जो कच्चा माल हमारे कारखानों को चालू रखता है, वे सब भूमि की देन हैं। लोहा, कोयला, ताँबा आदि, जिन्हें कारखानों में उपयोगी वस्तुओं के स्वरूप में परिवर्तित किया जाता है और जो फिर विभिन्न मानवी आवश्यकताओं को सतुष्ट करती हैं, खानों से निकाले जाते हैं। जंगल हमें लकड़ी देते हैं और समुद्र मछली। जल और विद्युत ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ भी मनुष्य की उत्पत्ति में काम में लाता है। भूमि के तल पर ही हमारे यातायात का जाल बिछा रहता है, और वायुमंडल तक में हम वायुयानों पर घूमते रहते

[२] पुस्तकों में भूमि के दो और लक्षण दिये रहते हैं (१) भूमि अविनाशी (Permanent) है। यह घिसती नहीं। किन्तु यह भूमि के क्षेत्रफल के विषय में ही सत्य है पर भूमि के उपजाऊपन अथवा प्रकृति के अन्य पदार्थों के विषय में नहीं। (२) भूमि की स्थिति स्थिर है। यह भी केवल भूमि की सतह के विषय में ही घटता है।

है ।[3] अत. उत्पत्ति में भूमि का कार्य महान् है। भूमि का महत्व इसी से जाना जा सकता है कि संसार के समस्त धनी देशों में उन्हीं देशों की गिनती है जिन्हे प्रकृति ने प्रचुर उपहार प्रदान किये हैं।[4] यदि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका धनी देशों में अग्रगण्य है, तो इसी कारण कि इसकी कृषि और उद्योग की सामग्रियाँ तथा धातु, आदि प्रचुर हैं। ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, जापान आदि के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। भारतवर्ष भी प्राकृतिक उपहारों से भरा-पूरा है, तथापि यह एक निर्धन देश है क्योंकि ब्रिटेन ने इसका जी भरकर शोषण किया है। किन्तु हम आशा करते हैं कि अब स्वतंत्रावस्था में, हमारी आर्थिक व्यवस्था दिन पर दिन उन्नति करती जायगी और हमारी निर्धनता शनै.-शनै. भूतकाल की सामग्री हो जायगी।

§ ४. भूमि की कार्यक्षमता

हम देख चुके हैं कि किसी व्यापारिक इकाई की कार्यक्षमता उसके द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले प्रत्येक साधन की निजी कार्यक्षमता पर निर्भर होती है। भूमि उत्पत्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है, इसलिए समस्त उत्पादन-चक्र की कार्यक्षमता के लिए यह आवश्यक है कि भूमि मे कार्यक्षमता हो। जिस उद्देश्य के लिये भूमि का प्रयोग किया जाता है, उसके लिये भूमि की उपयुक्तता

---

३ भूमि उत्पत्ति में इन प्रधान रीतियों द्वारा सहायता पहुंचाती है · (१) यह मनुष्यों के लिये तथा इमारतों के लिये ठहराने का स्थान प्रदान करती है। (२) इसका विस्तार मनुष्यों तथा वस्तुओं का आवागमन सम्भव बनाती है। (३) इसके भौगोलिक अंग, जैसे पहाड़ और नदियाँ, अनेक प्रकार सहायता पहुँचाती है। (४) यह वनस्पति-समाज तथा पशु समाज की समस्त सामग्रियाँ देती हैं जिनसे विभिन्न व्यापारिक वस्तुएँ बनाई जाती हैं। (५) इसका प्रत्येक भाग शीतकाल में ठंड और गर्मी के दिनों में गर्मी पाता है तथा वायु, सूर्य या प्रकाश और वर्षा-जल प्राप्त करता है जिसकी अनुपस्थिति में किसी भी प्रकार का जीवन सम्भव ही नहीं। देखिये Seager, *Op. cit.*

४ प्रकृति के विशेष कृपा-पात्र देश वे हैं जो भूमि से अधिकतम मात्रा में और सर्वश्रेष्ठ किस्म की जीवन की सामान्य आवश्यकताओं को संतुष्ट करने वाली वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं। इन देशों में पक्के माल के उद्योग विशेष उन्नति करते हैं, जिनके द्वारा जाति मानसिक एवं सामाजिक उन्नति तथा राजनीतिक शक्ति के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाती है। List, *The System of National Economy*, p 131.

को ही भूमि की कार्यक्षमता कहते हैं। यदि अन्य बातें समान हों, तो जिस भूमि की अधिक पैदावार होगी वह कम पैदावार वाली भूमि की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल मानी जायेगी। भूमि की कार्य-क्षमता निम्नलिखित बातों पर निर्भर होती है.

(१) प्राकृतिक दशा—बहुत कुछ सीमा तक प्राकृतिक अवस्था भूमि की कार्य क्षमता निर्धारित करती है। इन अवस्थाओं में से भूमि का स्वभाव, जलवायु, और उप-भूमि का पानी अधिक महत्वपू है। इनमें से कुछ बातें मनुष्य के वश में हैं। उदाहरण के लिए भूमि का स्वभाव खाद और सिंचाई द्वारा बदला जा सकता है। जलवायु बदली तो नहीं जा सकती किन्तु जगल उगाकर, काँच के घर बनाकर तथा नमी की मशीन (Humidifiers) के प्रयोग द्वारा उसमें कुछ सुधार किया जा सकता है। कृत्रिम सिंचाई द्वारा उप-भूमि के जल की कमी दूर की जा सकती है। किन्तु इन सब बातों में भूमि पर श्रम और पूँजी के प्रयोग द्वारा ही परिवतन या सुधार किया जाता है, और उसे प्रकृति का दान नहीं कहा जा सकता।

(२) सगठन की योग्यता—भूमि की कार्यक्षमता उसके उत्पत्ति में प्रयोग किये जाने के ढग तथा अन्य साधनों के सगठन की दशा पर भी निर्भर होती है।

(३) बाहरी बातें—कुछ बाह्य दशाए भी, जो बाहर से अपना प्रभाव डालती हैं, भूमि की का क्षमता पर असर डालती हैं। बाजार का सामीप्य, सस्ते और शीघ्र यातायात के साधन तथा अन्य ऐसी ही बातें इस श्रेणी मे आती हैं। भूमि की कार्य क्षमता के निर्धारण मे बाह्य दशाओं का बहुत महत्व होता है। सम्भव है कि आप कोई खेत बाजार से दूर होने और यातायात के साधनों के अभाव के कारण का कुशल न हो, किन्तु यदि यातायात के साधन इतनी मात्रा में स्थापित किये जा सकें कि वह खेत वस्तुत बाजार के समीप आ जाय, तो उस खेत में भी कार्यक्षमता आ जायगी।

§ ५. विस्तृत (Extensive) और गहरी (Intensive) खेती

किसी खेत का जोतने वाला किसी विशेष समय में उस खेत से कुछ निश्चित पैदावार प्राप्त करता है। यदि वह पैदावार बढाना चाहे तो (१) या तो वह खेत का क्षेत्रफल बढाये, और (२) या उसी खेत पर अधिक श्रम और पूजी का प्रयोग करे। ये दोनों ही रीतियाँ पैदावार बढाने मे सफल होंगी।

पहली रीति के अनुसार जोते जाने वाले खेत का क्षेत्रफल पहले से अधिक विस्तृत हो जाता है, अत इसे विस्तृत खेती कहते हैं। दूसरी रीति के अनुसार

उसी खेत पर पहले से अधिक श्रम और पूँजी का प्रयोग किया जाता है, अन्य शब्दों में गहरी खेती की जाती है।[५]

पैदावार बढ़ाने के लिये किसान इन दोनो में से किसी भी रीति का पालन कर सकता है। किन्तु वह इन दोनों में से किस रीति को चुने, यह बहुत-कुछ लागत का प्रश्न है। यदि वह और पैदावार विस्तृत खेती के द्वारा, गहरी खेती की अपेक्षा, कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है, तो निस्सदेह वह विस्तृत खेती की रीति को ही अपनावेगा, किन्तु यदि उसे गहरी खेती की रीति सस्ती प्रतीत होगी, तो वह उसी का प्रयोग करेगा। जब भूमि की मात्रा इतनी प्रचुर होती है कि और भूमि कम मूल्य पर प्राप्त की जा सकती है परन्तु श्रम और पूँजी की सापेक्षिक कमी होती है, तब विस्तृत खेती का प्रयोग किया जाता है। समस्त देशों के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रत्येक देश को जब प्रारम्भिक समय में अधिक कृषि-जन्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ी, तो उसने विस्तृत खेती की रीति को अपनाया क्योंकि उस समय भूमि की मात्रा इतनी प्रचुर थी कि जो जितनी भूमि चाहता वह उसे वस्तुत. निमूल्य ले सकता था। अमेरिका में आदि निवासी एक खेत को जोतते और जब उसकी उर्वरा शक्ति का ह्रास होने लगता तो वे आगे बढ जाते और नयी भूमि का जोतना आरम्भ कर देते। इस रीति को "भूमि-वध" (Earth butchery) कहकर निन्दित किया गया है, और यह विस्तृत खेती की अच्छी मिसाल है। किन्तु जब जन-संख्या का दबाव तीव्र हो जाने पर भूमि दुर्लभ होने लगती है किन्तु श्रम और पूँजी सापेक्षिक रूप से सस्ते होते हैं, तब गहरी खेती का आश्रय लिया जाता है। आधुनिक काल में जनसंख्या की बहुत वृद्धि हुई है और जमीन का मूल्य बहुत बढ गया है, जिसके परिणामस्वरूप संसार के प्रायः प्रत्येक देश में गहरी खेती ने बहुत शीघ्र उन्नति की है। विशेषत. डैनमार्क और हालेंड में, जहाँ जोती जाने वाली जमीन के क्षेत्रफल के मुकाबले में जनसंख्या बहुत घनी है, गहरी खेती की जाती है। संसार के सबसे अधिक जनसंख्या वाले देश—चीन और भारत—में किसानों की अशिक्षा और निर्धनता के कारण अभी गहरी खेती की उन्नति नहीं हुई है, पर इसका चलन बढ अवश्य रहा है।

---

[५] यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जब हम पैदावार बढ़ाना चाहते हैं तो हमें उत्पत्ति के समस्त साधनों की मात्रा बढ़ानी पड़ती है, किन्तु विस्तृत खेती में हम प्रधानतया भूमि की मात्रा बढ़ाते हैं, अन्य साधन अनुपात से कम मात्रा में बढ़ाये जाते है। इसके विपरीत गहरी खेती में, भूमि की मात्रा स्थिर रहती है किन्तु अन्य साधनों की मात्रा बढ़ा दी जाती है।

यह सोचना गलत है कि कोई देश या तो विस्तृत खेती की प्रणाली का प्रयोग करता है या गहरी खेती की प्रणाली का। वास्तव में कुछ काल तक प्रत्येक देश में विस्तृत और गहरी खेती साथ-साथ चलती हैं, पश्चात् को गहरी खेती का महत्व बढ़ जाता है पर विस्तृत खेती भी धीरे-धीरे चलती रहती है और यह अदृश्य तो शायद कभी भी नहीं होती। गहरी खेती का प्रयोग (१) जनसंख्या की वृद्धि, और (२) विशिष्ट (technical) आविष्कारों या सुधारों पर निर्भर होता है। आदिकाल में जनसंख्या और टेक्निकल ज्ञान दोनों थोड़े होते हैं, अतः विस्तृत खेती की जाती है। किन्तु जैसे जैसे जन संख्या में वृद्धि होती जाती है, गहरी खेती की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है, और टेक्निकल आविष्कार या सुधार गहरी खेती को सम्भव बनाते हैं। इस अवस्था में गहरी खेती का लोकप्रिय हो जाना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं किसानो के पिछड़े हुए होने के कारण, हो सकता है कि वे गहरी खेती न कर सकें। इसका भारतवर्ष अच्छा उदाहरण है। ऐसी दशा में गहरी खेती के प्रसार की गति धीमी होगी। तथापि गहरी खेती की ओर प्रवृत्ति अवश्य होगी और अधिकाधिक बढ़ती जायगी, और जनसंख्या में जितनी वृद्धि होगी तथा टेक्निकल सुधार जितने अधिक होंगे, उतना ही इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। अन्ततोगत्वा देश गहरी खेती वाला देश बन जायगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विस्तृत खेती का पूर्णतया लोप हो जायगा, क्योंकि संसार के अधिकांश देशों में विस्तृत और गहरी खेती की रीतियाँ साथ-ही-साथ चलती हैं।

भारतवर्ष मे खेती का स्वभाव

हमारे देश में जनसंख्या की वृद्धि तीव्रगति से हो रही है। सन् १९२१ ई० और १९३१ ई० के बीच में जनसंख्या ५ करोड़ बढ़ गई, और १९३१ और १९४१ के बीच में भी लगभग उतनी ही वृद्धि हुई। इस वृद्धि के परिणाम-स्वरूप जोते जा सकने वाली समस्त भूमि अब जोती जा चुकी है, और अब अधिक पैदावार केवल गहरी खेती द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

जनसंख्या के दबाव की वृद्धि के अतिरिक्त, पुरानी दस्तकारी का विनाश भी गहरी खेती का एक कारण है। इस विनाश के कारण बहुत से दस्तकार और कारीगर बेकार हो गये, और देश में किसी और पेशे की अनुपस्थिति में, वे सब खेती पर ही निर्भर रहने लगे।

अंत में, यातायात और संदेशवाहन के साधन इतने उन्नत हो चुके हैं कि भारतीय खेतों और विदेशी बाजारों के बीच की दूरी अब काफी संक्षिप्त हो गई

§ १. भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा और स्थिति

मारतवर्ष भूमध्य रेखा के उत्तर में ८° अक्षांश से लेकर ३७° अक्षांश के भीतर फैला हुआ है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग १२,००,००० वर्ग मील है। यह क्षेत्रफल, रूस को छोड़कर समस्त योरुप के क्षेत्रफल से कुछ ही कम है, और युनाइटेड किंगडम का १० गुना है। संसार की जन-संख्या का १/६ भाग भारत में पाया जाता है।

चित्र ४८ नवीन भारत का रेखाचित्र

देश की सीमा स्पष्ट और निश्चित है। देश के उत्तर में हिमालय पर्वत हैं जिन्हें समस्त संसार में सबसे ऊँचे होने का गौरव प्राप्त है और जो सदैव हिम से ढके रहते हैं। देश के उत्तर पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम की ओर भी पहाड़ों की श्रेणियाँ विद्यमान हैं। इन पर्वतों के कारण मनुष्य और पशु उत्तरी देशों से न तो भारत में आ सकते हैं और न यहाँ से उन देशों को जा ही सकते हैं। हाँ केवल कुछ दर्रे हैं जिनके द्वारा आवागमन होता है। देश का उत्तरी भाग जिस प्रकार पर्वतों द्वारा सुरक्षित है उसी प्रकार देश का पश्चिमी पूर्वी और दक्षिणी भाग समुद्रों से घिरा हुआ है। पूर्वी ओर बंगाल की खाड़ी है, पश्चिमी ओर अरब सागर, और दक्षिण में हिन्द महासागर। भारतवर्ष का सामुद्रिक तट ६,००० मील लम्बा है। यह अधिक कटा-फटा नहीं है। प्रत्युत लगभग पूर्णतया सीधा है। जहाजों के आवागमन के योग्य नदियों के मुहाने थोड़े से ही हैं और हमारे पास अच्छे बन्दरगाह भी थोड़े हैं। कलकत्ता, मद्रास, बम्बई और विशाखापटन ही अच्छे बन्दरगाह हैं। अतः यदि भारतवासियों का ध्यान समुद्र की ओर नहीं जाता अथवा वे अच्छे सामुद्रिक नहीं बन सकते तो इसमें आश्चर्य

ही क्या ? किन्तु इस शोचनीय दशा ने हमारे देशवासियों की आँखें खोल दी हैं और अब देश में सामुद्रिक दिलचस्पी पैदा करने की चेष्टा की जा रही है। प्राचीन काल में भारतवर्ष संसार की सामुद्रिक शक्तियों में अग्रगण्य देश था, और कोई कारण नहीं कि वह अपना प्राचीन गौरव पुनः प्राप्त करने में असफल रहे।

भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये बहुत अच्छी है। हमारा देश पूर्वी भू मंडल के ठीक मध्य में स्थित है। वास्तव में हमने संसार के समस्त देशों के साथ बहुत अच्छे व्यापारिक संबन्ध स्थापित कर लिये हैं। किन्तु स्वयं अपना जहाजी बेड़ा न होने के कारण भारत अपनी भौगोलिक स्थिति का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा रहा है। यदि यह कमी दूर कर दी जाय--हमें आशा है ऐसा शीघ्र ही हो जायगा—तो भारतवर्ष संसार का एक प्रमुख और अगुआ व्यापारिक देश बन जायगा।

§ २. भारतवर्ष की मिट्टी की बनावट

यदि हम भूगर्भ-शास्त्र की दृष्टि से अपने देश के इतिहास पर दृष्टि डाले तो हमें पता चलेगा कि लगभग एक हजार वर्ष पूर्व भारतवर्ष की वह बनावट नहीं थी जो आज है। उस समय हमारा देश अफ्रीका से मिला हुआ था और दोनों के बीच में समुद्र था ही नहीं। जहाँ आजकल राजपूताना और पंजाब है वहाँ तब समुद्र हिलोरें मारा करता था। जैसे-जैसे समय बीतता गया, भयानक भूचाल आये, विस्फोट हुए और अन्य भू-गर्भ सम्बन्धी परिवर्तन भी होते गये। इन सब के परिणाम-स्वरूप हमारे देश ने वर्तमान स्वरूप धारण किया। हम नीचे भारत की मिट्टी की बनावट का वर्णन करेंगे।

भारतवर्ष में मिट्टियाँ

प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था के स्वरूप-निर्धारण में उसकी मिट्टियों के स्वभाव का बड़ा हाथ रहता है। हमारा देश कृषि प्रधान है, और खेती की सफलता या असफलता मिट्टी की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता पर निर्भर रहती है। भाग्यवश भारतवर्ष में काफी अच्छी और उर्वरा मिट्टी पाई जाती है। किन्तु यह अधिकतर सूखी होती है और पर्याप्त मात्रा में जल मिलने पर ही यह अच्छी पैदावार उगाती है, चाहे यह पानी बरसात के द्वारा मिले अथवा कृत्रिम साधनों द्वारा।

भारतवर्ष की मिट्टियों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है :

(१) नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी

(२) लाल मिट्टी

(३) काली मिट्टी
(४) रवादार मिट्टी

(१) नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी या दुमट मिट्टी—विस्तार मे तथा खेती की दृष्टि से, दुमट मिट्टी भारतवर्ष में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसकी बनावट तथा इसके लक्षण स्थिर नहीं रहते, प्रत्युत उनमे काफी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। देश के उत्तरी भागों में यह मिट्टी शुष्क और छेददार (porous) होती है, बङ्गाल में यह नम और घनी (compact) होती है, दक्षिणी भारत में यह बहुत घनी और गीली होती है—वास्तव मे यह चिकनी मिट्टी की भाँति और रग में काली होती है। यह पजाब, यू० पी०, राजपूताना, पश्चिमी बगाल, आसाम और गुजरात में पाई जाती है। यह मद्रास और दक्षिणी पेनिशुला के कुछ भागो मे भी मिलती है। दुमट मिट्टी मे बहुत सी फास्फोरिक एसिड, पोटाश, चूना और मेग्नीशिया मिला रहता है और इसमे रबी और खरीफ फसल बहुत अच्छी तरह उत्पन्न होती हैं।

(२) लाल मिट्टी—मिट्टी की दूसरी किस्म लाल मिट्टी की है। ढालू स्थानों और पहाड़ी प्रदेशों पर पाई जाने वाली लाल मिट्टी हल्की और छेदवाली होती है और बहुधा अनुपजाऊ होती है। किन्तु मैदान में यह अधिक मोटी और शुष्क होती है और इसी कारण अच्छी फसल उगाने के योग्य होती है। यह पूरे दक्षिण में और सी० पी०, काठियावाड़ और हैदराबाद के बहुत से भागो मे पाई जाती है। यह कपास, गेहूँ, मोटे अनाज और दाल उत्पन्न करने के लायक होती है।

(३) काली मिट्टी—यह मिट्टी दक्षिणी भारत मे पाई जाती है। बम्बई, हैदराबाद, सी० पी० और मध्य भारत इसके लिये प्रसिद्ध हैं। मिट्टी का रग काला होता है और यह कपास की पैदावार के लिये बहुत उपयुक्त होती है। इसीलिये इसे काली कपास वाली मिट्टी कहते हैं। यह मिट्टी बहुत घनी होती है और इसमें चिकनाहट भी बहुत होती हैं। इसमें गीलापन (या जल) रक्खे रहने की सामर्थ्य होती है, इसमे कैमीकल भी बहुत होते हैं, अतः यह बहुत उपजाऊ होती है। यह कपास की पैदावार के लिये तो विशेषतया उपयुक्त है ही, पर इस पर गेहूँ और मोटे अनाज भी पैदा किये जा सकते हैं। साधारणतया इस पर रबी की फसलें अच्छी तरह उगती हैं।

(४) रवादार मिट्टी—देश के अवशेष प्रदेशो मे—सी० पी०, उड़ीसा, छोटा नागपुर, पश्चिमी बगाल, यू० पी० आदि में—रवादार मिट्टी पाई जाती है। यह भौतिक और रसायन तत्वों मे एक-सी नहीं होती प्रत्युत विभिन्न स्थानों पर यह विभिन्न प्रकार की होती है। यह पहाड़ी प्रदेशों में अनुपजाऊ होती है किन्तु

मैदान मे, जहाँ इसका रंग कुछ भूरा-सा होता है, यह काफी उपजाऊ होती है जिन फसलों के पैदा करने के यह योग्य है उनमे धान सबसे महत्वपूर्ण है।

मिट्टी का कटाव (Erosion)

मिट्टी संबंधी दो समस्यायें बहुत महत्वपूर्ण हैं. मिट्टी के कटाव की और उसकी थकावट की। वर्षा के जल अथवा वायु द्वारा भूमि के महीन कणों के हटाये जाने को ही मिट्टी का कटाव कहते हैं। कटाव का प्रमुख कारण वर्षा का जल है। मिट्टी के ऊपरी कण मुलायम, हीले और उपजाऊ होते हैं, वर्षा का जल इन्हें अपने साथ बहा ले जाता है। अत. यह भूमि की उर्वरा शक्ति को बहुत हानि पहुँचाता है। इस कटाव को एक-सा कटाव (sheet erosion) कहते हैं। जब पानी मूसलाधार गिरता है, तब वह नदी नालियों के रूप में बहने लगता है और मिट्टी को काट देता है। इस प्रकार गहरे गहरे गड्ढे हो जाते हैं जिन्हें कछार (ravines) कहते हैं। कछार खेती के पूर्णतया अयोग्य हो जाते हैं। इस प्रकार के कटाव को कछारवाला कटाव (gully erosion) कहते हैं।

मिट्टी के कटाव ने हम बहुत हानि पहुँचाई है। विशेषतया मूसलाधार वर्षा के पानी ने हमारी बहुत ही क्षति की है। बिहार के बड़े भाग में तथा यू० पी० मे जमुना और चम्बल नदियों के दोनों ओर बहुत से बड़े बड़े भू-भाग खेती के लिये अनुपयुक्त हो गये हैं। इस समस्या पर हमारे देश मे अब तक कोई विशेष ध्यान ही नहीं दिया गया। हर्ष का विषय है कि अब इस ओर ध्यान आकर्षित होने लगा है। इसे रोकने के लिये कुछ उपाय भी प्रयोग में लाये गये हैं।

मिट्टी की थकावट (Exhaustion)

मिट्टी की थकावट की समस्या भी बहुत चिन्ताजनक है। अत्यधिक फसलों के उगाने से मिट्टी की उर्वरा शक्ति के ह्रास अथवा लोप हो जाने को ही मिट्टी की थकावट कहा जाता है। भूमि पर एक फसल के बाद दूसरी फसल उगाते रहने किन्तु उसमें खाद न देने या उसे कुछ अवकाश न देने से मिट्टी थक जाती है। यह एक महत्वपूर्ण कारण है जिसके परिणामस्वरूप हमारी भूमि की प्रति एकड़ पैदावार इतनी कम है और संसार के अन्य देशों की अपेक्षा कुछ भी नहीं है। हमारे किसानों की यह शिकायत कि मिट्टी अब पहले के बराबर उपजाऊ नहीं रही पूर्णतया ठीक है। जनसंख्या की लगातार वृद्धि और निर्विघ्न शांति ने हमारी मिट्टी को कुछ आराम लेने ही नहीं दिया, और उपभोग कर ली जानेवाली उर्वरा शक्ति को लौटाने के लिये उचित खादों अथवा रसायनों का प्रयोग भी नहीं किया

गया। यह समस्या हमारे कृषि विशेषज्ञों और विद्वानों की चिन्ता का कारण बन गई है, किन्तु अब तक इसके रोकने के लिये कुछ भी नहीं किया गया।[1]

§ ३ भारतवर्ष की जलवायु

यदि आप भारतवर्ष का मान चित्र (map) देखें, तो आपको पता चलेगा कि वह भूमध्य रेखा के उत्तर में ८° से ३७°, अक्षांश के अन्दर फैला हुआ है। मकर रेखा हमारे देश को दो भागों में विभाजित कर देती है, उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत में। उत्तरी भारत की जलवायु शीतोष्ण है। ठंड और गर्मी की तीव्रता तथा वातावरण की नमी प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न है। सामान्यतया उत्तरी और पश्चिमी प्रदेशों की जलवायु उग्र होती है। और हम जितने पूर्व की ओर बढ़ते जाते हैं। उतनी ही जलवायु सम होती जाती है। उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश और पंजाब जाड़ों में बहुत ठंडे रहते हैं और गर्मी में बहुत गर्म रहते हैं।

किन्तु बंगाल और आसाम में ठंड और गर्मी की उग्रता कम हो जाती है। इसी प्रकार सिन्ध, राजपूताना और पंजाब की जलवायु शुष्क है किन्तु आसाम और बंगाल का वातावरण नम है। उत्तरी भारत के पहाड़ी प्रदेशों में जाड़े बहुत ठंडे होते हैं और गर्मी में सुहावनी सरदी।

दक्षिणी भारत भूमध्य रेखा की पेटी में आता है। अतएव यहाँ तापक्रम साल भर ऊँचा रहता है और जाड़ों में तथा गर्मियों के तापक्रम में बहुत कम अन्तर होता है। तटीय प्रदेशों की शीतोष्ण जलवायु होती है।

भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर जलवायु का प्रभाव

आर्थिक जीवन के स्वभाव के निर्धारण में जलवायु का बड़ा हाथ रहता है। हमने पहली पुस्तक में यह बताया था कि देश की भौगोलिक तथा आर्थिक दशाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आर्थिक-व्यवस्था पर जलवायु का प्रभाव इसका अच्छा उदाहरण है। हम नीचे भारतवर्ष की जलवायु का उसकी आर्थिक-व्यवस्था पर प्रभाव बतायेंगे :—

(१) मनुष्यों के पेशे जलवायु निर्धारित करते हैं। हमारे देश में जितनी गर्मी और नमी होती है, वह खेती के लिए उपयुक्त है। भारत के कृषि-प्रधान होने का यह प्रमुख कारण है।

---

[1] भारतीय मिट्टी की उर्वरा शक्ति कम हुई है या नहीं, इस विवाद के लिये देखिये R. C. Datta, *Report on High Prices.*

(२) जलवायु में भिन्नता होने के कारण धातुओं, वनस्पति तथा जीव-जन्तु सम्बन्धी पदार्थों मे भी भिन्नता हो जाती है जिसके फलस्वरूप जीवन में पूर्णता, भिन्नता तथा सुख का समावेश हो जाता है। इसी कारण हमारे यहा लगभग सभी वनस्पति-पदार्थ, पजाब के गेहूँ से लेकर बगाल के धान और तटीय प्रदेशों के गोले तक, उत्पन्न होते हैं। हमारे देश मे सब प्रकार की धातुएँ भी मिलती हैं :—हमारे यहाँ पजाब की नमक की श्रेणियों से लेकर बगाल, बिहार तथा उडीसा की कोयले और लोहे की खानें तथा मैसूर की सोने की खानें तक विद्यमान हैं। यहा काश्मीर की पहाडी भेडों से लेकर सिन्ध के ऊँट और बगाल के चीते तक भी मिलते हैं। इसी जलवायु को भिन्नता के आधार पर भारतवर्ष आत्म-निर्भर हो सकता है।

(३) जलवायु मनुष्यो को कार्यक्षमता भी निर्धारित करती है क्योंकि वह उनकी शारीरिक शक्ति व कार्य करने की योग्यता निर्धारित करती है। ठडी जलवायु में मनुष्य तगडे, स्वस्थ और अधिक मिहनती हो जाते हैं। और गर्म जलवायु में अशक्त और आलसी। उदाहरण के लिये गरम और नम जलवायु मे रहने वाले बङ्गाली ठडी जलवायु में रहने वाले नैपाली की अपेक्षा अशक्त होते हैं।

(४) जलवायु शरीर के साथ-साथ मस्तिष्क को भी बनाती है। गर्म जलवायु में रहने वाले लम्बी अवधि तक मस्तिष्क-सम्बन्धी काम नहीं कर सकते। विशेषज्ञों का कहना है कि ६०° फा० का तापक्रम शारीरिक काम के लिए आदर्श है और ३०° फा० का तापक्रम मस्तिष्क-सम्बन्धी काम के लिये।

(५) जलवायु मनुष्यों की वेशभूषा भी निर्धारित करती है। ठडे प्रदेशों में मनुष्य ऊनी और तग वस्त्र धारण करते हैं और गर्म प्रदेशों में सूती और ढीले-ढाले कपडे पहनते हैं। इससे मनुष्यों के रहन-सहन के स्तर एव उनकी कार्यक्षमता पर भी प्रभाव पड़ता है।

(६) घरों की बनावट तथा शहर और सड़कों की योजना भी जलवायु के अनुकूल होती है। हमारे देश मे गर्म जलवायु के प्रदेशों में घरो मे आँगन का होना आवश्यक समझा जाता है किन्तु ठंडी जलवायु में आँगन आवश्यक नहीं रगों का चुनाव भी जलवायु के अनुसार किया जाता है। गर्म जलवायु में जहाँ धूप की मात्रा अधिक होती है, चमकीले रग पसद किये जाते हैं, किन्तु ठडे और घनाच्छादित प्रदेशों में हलके और सादा रग अच्छे लगते हैं।

इससे स्पष्ट है कि जलवायु का प्रभाव देश की आर्थिक व्यवस्था पर तात्विक होता है। वास्तव में इस कथन में कि स्वय सभ्यता जलवायु की उपज है, सत्य का बहुत बड़ा अश विद्यमान है।

§ ४. जल-वृष्टि (Rainfall)

किसी भी देश की जलवायु को दो प्रमुख कारण निर्धारित करते हैं : जल-वृष्टि और तापक्रम। भारतवर्ष में जल-वृष्टि मानसून के द्वारा होती है। यह प्रधानतया जुलाई, अगस्त और सितम्बर के महीनों में केन्द्रित होती है। इसका साल में समान प्रसार नहीं होता और इसकी मात्रा तथा समय भी अनिश्चित होता है। कभी-कभी मूसलाधार वर्षा होती है और कभी तनिक भी नहीं होती, तथा इसमें रह-रह कर अनिश्चित रूप से घट-बढ भी होती रहती है।

देश की अधिकाश जल-वृष्टि गर्मी के ऋतु में होती है जब कि सूर्य भूमध्य रेखा के उत्तर में होता है। सूर्य की इस स्थिति के कारण भारतवर्ष का भू-भाग गरम हो जाता है और उसके ऊपर की वायु हल्की होकर ऊपर उठ जाती है। वायु अधिक दबाव के क्षेत्र से कम दबाव के क्षेत्र की ओर बहती है : अत: दक्षिणी समुद्रों से वायु भारतवर्ष की ओर चलने लगती है। यह हजारों मीलों तक समुद्र के ऊपर चलकर आती है और मार्ग में बड़ी मात्रा में जल सोख लेती है। जब यह वायु पहाड़ से टकराती है, तब यह अपनी नमी बाहर निकाल देती है जो वर्षा का रूप धारण कर लेती है। इस वायु के गरमी के दिनों में चलने के कारण इसे गरमी का मानसून कहते हैं। इसकी दो शाखायें हैं : अरब सागर की शाखा और बङ्गाल की खाड़ी की शाखा।

अरब सागर की शाखा—मानसून की अरब सागर वाली शाखा दक्षिण-पश्चिम की ओर से तेजी के साथ आती है और पश्चिमी घाट से टकराती है, जहाँ बहुत जल-वृष्टि होती है। यह उत्तर की ओर भी बढती है और देश के अन्य भागों को भी जल पहुँचाती है। यह औसतन १००" जल बरसाती है। यह पानी जून, जुलाई, अगस्त और सितम्बर में बरसाती है।

बङ्गाल की खाड़ी की शाखा—गर्मी के मानसून की बङ्गाल की खाड़ी वाली शाखा जल से भरी हुई होती है और सबसे पहले पूर्वी पर्वत-श्रेणियों से टकराती है। इससे बहुत मूसलाधार पानी बरसता है। चेरापूँजी में सबसे अधिक—लगभग ४८०"—जल-वृष्टि होती है। सन् १८६१ ई० में यहाँ ८००" से अधिक वर्षा हुई। यह मानसून उत्तर की ओर भी बढता है और हिमालय पर्वत

से टकराकर गंगा की घाटी में, जो देश का सबसे उपजाऊ तथा सबसे घना बसा हुआ भाग है, पानी बरसाता है।
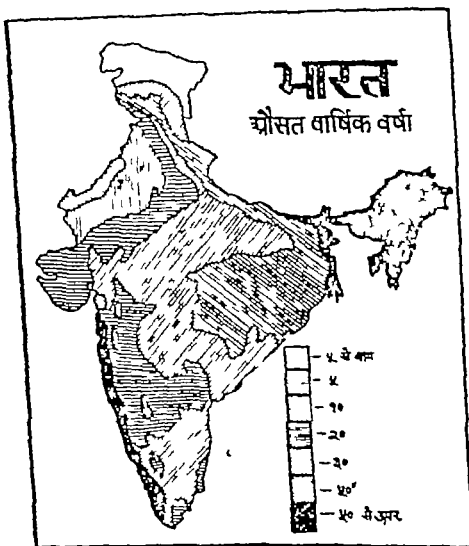
चित्र ४६—भारतवर्ष मे जल-वृष्टि

देश में जितनी भी जल-वृष्टि होती है उसका प्रायः ६०% भाग गर्मी के मानसून की उपरोक्त दो शाखाओं द्वारा प्राप्त होता है। अत. देश के उन्नति के लिये उनका महत्व आसानी से समझा जा सकता है।

थोड़ी सी वर्षा जाड़ों मे भी होती है और उस समय के मानसून को जाडे का मानसून कहते हैं। गर्मी का मानसून सितम्बर तक चलता है। सितम्बर के बाद सूर्य भू-मध्य-रेखा के दक्षिण की ओर प्रस्थान करने लगता है। अतः उत्तरी भारत के वातावरण का दबाव बढ़ जाता है, और दक्षिणी भारत में हवा का दबाव कम हो जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप गर्मी के मानसून की बङ्गाल की खाड़ी वाली शाखा अधिक दबाव वाले प्रदेशों में अब प्रवेश नहीं कर पाती और दक्षिण की ओर मुड़ जाती है। यह पश्चिमी तट की ओर आती है और पेनिन्शुला के दक्षिणी किनारे पर टकराती है। इससे मद्रास के उत्तरी और दक्षिणी जिलों को जल प्राप्त होता है।

§ ५. वनस्पति और जीव-जन्तु

किसी देश की भौगोलिक, भू-गार्भिक एवं जलवायु-सम्बन्धी अवस्था ही उसकी वनस्पति और जीव-जन्तु निर्धारित करती है। भारतवर्ष में ये दशाएँ इतनी विभिन्न हैं कि हमारे यहाँ की वनस्पति और जीव-जन्तु भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। भारतवर्ष में ट्रापीकल वस्तुएँ जैसे धान, कहवा, गन्ना, सन और केले उत्पन्न होते हैं, यहाँ कपास, तम्बाकू, गाँजा और चाय जैसी उप-ट्रापीकल वस्तुएँ भी उत्पन्न होती हैं, और यहाँ टेम्परेट (Temperate) वस्तुएँ, जैसे गेहूँ, मक्का, जौ और आलू भी पाये जाते हैं।

हमारे यहाँ अनेक प्रकार के जीव-जन्तु पाये जाते हैं। इनमें से बैल और भैंस सबसे महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये खेत जोतने, पानी खींचने और माल ढोने के काम आते हैं। गाय और भैंस का भी महत्त्व कुछ कम नहीं क्योंकि देश में बड़ी मात्रा में उपभोग किये जाने वाले पौष्टिक पदार्थ—घी और दूध—इन्हीं की देन है। हमारे देश में भेड़, बकरी, गधे, ऊँट आदि पशु भी पाये जाते हैं जिनकी अपनी-अपनी अलग-अलग उपयोगिता है।

§ ६. भारतवर्ष के भौगोलिक भाग

भौगोलिक दृष्टिकोण से भारतवर्ष को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :

(१) हिमालय प्रदेश ;
(२) गंगा का मैदान ,
(३) दक्षिणी पठार, और
(४) तटीय प्रदेश।

हिमालय प्रदेश

इस भाग में देश के उत्तरी पहाड़ी स्थान सम्मिलित किये जा सकते हैं। इस भाग के उत्तर में जोजीला दर्रा है जो काश्मीर से बाहर जाने का मार्ग है और शिपकी दर्रा है जो पूर्वी पंजाब से बाहर जाने का मार्ग है।

इस भाग के सबसे आकर्षक अंग हिमालय पर्वत हैं। इन्हे संसार में सबसे ऊँचे पर्वत होने का गौरव प्राप्त है और ये देश की आर्थिक अवस्था के निर्धारण में बहुत बड़ा काम करते हैं। ये जल-वृष्टि, हवाएँ, गर्मी, ठंडी और नमी निर्धारक

प्रभाव डालते हैं, और इनके द्वारा ये खाद्य-पदार्थ और कच्चे माल की उपज को भी प्रभावित करते हैं। उनके प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :

(१) अरब सागर तथा बङ्गाल की खाड़ी से आने वाले मानसून को ये पर्वत रोक कर जल-वृष्टि प्रदान करते हैं जो भारत ऐसे कृषि-प्रधान देश की प्राण है। यदि बादलों का पानी वृष्टि के रूप में नहीं आता तो हिम के रूप में जम जाता है और फिर यह पिघल-पिघल कर समस्त वर्ष भर हमारी नदियों को पानी देता रहता है।

(२) ये तिब्बत की ओर से आने वाली ठंडी हवाओं को रोक लेते हैं और वे भारतवर्ष में प्रवेश नहीं करने पातीं। यदि हिमालय पर्वत न होते तो हमारा देश एक रूखा और अनुपजाऊ प्रदेश बन जाता।

(३) देश की सबसे महत्त्वपूर्ण नदियाँ—गंगा, सिंधु आदि—हिमालय पर्वत से ही निकली हैं और इन पर्वतों का हिम वर्ष भर पिघल-पिघल कर इन नदियों को पानी देता रहता है। भारतवर्ष का कृषि-सम्बन्धी महत्त्व बहुत-कुछ इन्हीं नदियों की देन है।

(४) हिमालय पर्वत की गोदी में बहुत से जल-प्रपात भी हैं जिनसे "श्वेत कोयला" (अर्थात् विद्युत-शक्ति) उत्पन्न किया जा सकता है और औद्योगिक उन्नति की जा सकती है।

(५) हिमालय पर्वत के दक्षिणी ढाल पर जंगल है। पेड़ों की जड़ें और भूमि पर बिछे हुए पत्ते वर्षा के जल का बड़ा भाग रोक लेते हैं। शुष्क ऋतु में यह पानी धीरे-धीरे हमारी नदियों में आता रहता है और उन्हें सूखने नहीं देता। अतः हिमालय पर्वत जल को एकत्रित कर लेते हैं और उसको इस गति से देते हैं कि देश को साल भर लगातार पानी मिलता रहे।[२]

(६) हमारी विभिन्न प्रकार की जलवायु बहुत कुछ हिमालय पर्वत की देन है। इसी जलवायु की विभिन्नता के कारण हम प्राय सभी प्रकार के अनाज रेशेदार पदार्थ और पेय पदार्थ अपने देश में भी उत्पन्न कर लेते हैं।

(७) हिमालय पर्वत अभेद्य हैं। इस कारण वे भारतवर्ष को उत्तरी आक्रमण से सुरक्षित रखते हैं और देश में शान्ति स्थापित करने में सहायता पहुँचाते जिनके बिना आर्थिक उन्नति असम्भव है।

---

२ Sarkar, Economics of British India

(८) पर्वतों में स्वास्थ्यवर्धक स्थान भी बहुत से होते हैं जहाँ मनुष्य गर्मी में या स्वास्थ्य बनाने के लिये जाते हैं। उनमें बहुमूल्य सुन्दर दृश्य भी देखने को मिलते हैं। ये हमारी अमूल्य राष्ट्रीय निधि हैं।

हिमालय प्रदेश आर्थिक दृष्टि से उन्नत नहीं। इसका प्रधान कारण यातायात और सदेशवाहन के साधनों की कमी है। किंतु, यह प्रदेश आत्म-निर्भर है और अपनी आवश्यकता की प्रायः सभी वस्तु—केवल नमक और पेट्रोल को छोड़कर—स्वयं ही उत्पन्न कर लेता है।

इस प्रदेश में अनेक घाटियाँ हैं जो वृष्टि-रक्षित क्षेत्र में आ जाती हैं और जहाँ खेती की जाती है। पूर्व की ओर पानी काफी मात्रा में प्राप्त होता है और यहाँ रसदार फल जैसे नीबू और नारंगियाँ उत्पन्न होती हैं। पश्चिमी भाग सूखे हैं और वहाँ सेव और अखरोट आदि फल पाये जाते हैं।

इस प्रदेश में जंगल भी बहुत हैं। यहाँ पाइन, ओक और साल के प्रसिद्ध वृक्ष पाये जाते हैं। किंतु इन जंगलों का अभी शोषण नहीं किया गया क्योंकि यातायात एव सदेशवाहन के साधनों की अनुपस्थिति में इन तक पहुँचना टेढ़ी समस्या है। वर्तमान समय मे यहाँ से केवल कत्था या ताड़पीन का तेल ही निकाला जाता है।

इस प्रदेश में बहुमूल्य चरागाह भी हैं जहाँ भेड़ और बकरी रक्खी जाती हैं। इनसे ऊन प्राप्त किया जाता है। कुछ धातुएँ जैसे सोना भी यहाँ खोदा जाता है।

गंगा का मैदान

यह भारतवर्ष का दूसरा भौगोलिक विभाग है और दक्षिण में विंध्याचल पर्वत से लेकर उत्तर में पर्वत श्रेणियों तक विस्तृत है। यह बगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में पाकिस्तान की सीमा तक फैला है, और १,५०० मील लम्बा तथा १५० से २०० मील चौड़ा है। इसमें बहुत से बड़े-बड़े मैदान शामिल जिनमें कई नदियाँ बहती हैं और दोमट मिट्टी ला-लाकर मैदान को उर्वरा बना देती हैं। इसके पश्चिम में व्यास तथा सतलज नदियाँ बहती हैं और अरब सागर में जाकर गिरती हैं। नदियों का एक दूसरा समूह, जिनमें गंगा और यमुना प्रमुख हैं, संयुक्त प्रान्त, बिहार और बगाल में होकर गुजरती हैं। इन सब में गंगा सबसे महत्त्वपूर्ण नदी है, और इसीलिए इस मैदान को गगा का मैदान कहते हैं।

इन नदियों का आर्थिक महत्त्व बहुत ऊँचा है : (१) उन्होंने सारे मैदान में मुलायम, गहरी और उपजाऊ दुमट मिट्टी बिछा दी है। उन्होंने इस मैदान को अद्वितीय उर्वराशक्ति प्रदान की है जिसके लिये यह संसार भर में विख्यात है। (२)

ये नदियाँ जल की स्रोत हैं और इन्होंने आश्चर्यजनक कृत्रिम सिंचाई के साधनों को सम्भव बनाया है। (३) वे समय-समय पर अपना मार्ग हटाती रहती हैं और इसके परिणाम-स्वरूप उन्होंने ऊँचे नीचे धरातल बना दिये हैं। इसीलिये उन्हें "भूमि-निर्माणक" कहते हैं। (४) वे कुछ दूर खेई भी जा सकती हैं और उन्होंने इस विभाग के आर्थिक एकाकीपन के निवारण में सहायता पहुँचाई है।

अतः ये नदियाँ आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभदायक हैं। किन्तु ये गहरी और चड़ी नहीं हैं, इस कारण इनमें अधिक दूर तक जहाज नहीं आ-जा सकते। इनका मार्ग भी जल्दी-जल्दी बदलता रहता है जिस कारण इसके किनारे व्यापारिक केन्द्र भी उन्नत नहीं हो पाते।

महान नदियों और उर्वरा भूमि के कारण यह मैदान आदि काल में ही आर्य-सभ्यता का घर और धर्म एव साम्राज्यों की जन्म-भूमि बन गया। आजकल संसार के सबसे महत्वपूर्ण कृषि-सम्बधी भागों में इसकी गिनती है। सब प्रकार के अनाज, जैसे गेहूँ और चावल, सब तरह के कच्चे माल जैसे कपास और सन् और पेय पदार्थ जैसे चाय और कहवा इस मैदान में उत्पन्न होते हैं। यह बहुत प्रगति से औद्योगिक क्षेत्र भी बनता जा रहा है। प्रचुर कच्चे माल, सस्ती और पर्याप्त श्रम और विस्तृत बाजार औद्योगिक उन्नति के बहुमूल्य कारण होते हैं।

दक्षिणी पठार

विंध्याचल पर्वत के दक्षिण में दक्षिणी पठार स्थित हैं जिनका स्वरूप त्रिकोण के समान है। विंध्याचल पर्वत इस त्रिकोण का आधार, कुमारी अंतरीप इसका सिरा, तथा पूर्वी और पश्चिमी घाटी इसकी भुजाएँ हैं। यह प्रदेश टेब्रिल-लैंड (Table-land) है और इसकी ऊँचाई समुद्र से १,५०० फीट है। देश का यह सबसे प्राचीन भाग है, इसमें अनेक घाटियाँ हैं जिनमें बहुत सी नदियाँ प्रवाहित होती हैं। महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं तथा नर्वदा और तासी नदियाँ पश्चिम की ओर। ये नदियाँ बहुत तेजी से बहती हैं, इनमें कई प्रपात हैं तथा इनकी तलैटी पथरीली है, इस कारण इनमें जहाज नहीं चल सकते।

इस प्रदेश में अनेक प्रकार की मिट्टी पाई जाती है—नम कपास की काली मिट्टी से लेकर सूखे और अनुपजाऊ जगल तक जलवृष्टि थोड़ी और अनिश्चित होती है और समस्त प्रदेश में अकाल का भय लगा रहता है। पठार में बहुत से

जंगल, गोले के वृक्ष, ताड़, और अन्य उपयोगी वृक्ष पाये जाते हैं। यहाँ गन्ना, तिलहन, मोटे अनाज और तम्बाकू भी खूब उत्पन्न होते हैं। मद्रास में चावल पैदा होता है और दक्षिणी भागों में चाय और कहवा। इन सब में कहवा सबसे मूल्यवान फसल है।

तटीय प्रदेश

इन तीनों विभागों के अतिरिक्त, पश्चिमी और पूर्वी घाटों के किनारे के प्रदेश भी हैं। बंगाल की खाड़ी तथा दक्षिणी पठार का मध्यस्थ प्रदेश "पूर्वी तट" या "कारोमंडल तट" कहलाता है। अरब सागर तथा दक्षिण-पठार का मध्यस्थ प्रदेश 'पश्चिमी तट" या "मलाबार तट" कहलाता है। मलाबार तट की अपेक्षा कारोमण्डल तट अधिक विस्तृत है। इन तटीय प्रदेशों में दुमट मिट्टी पाई जाती है जो बहुत उपजाऊ होती है। इनमें कोई पहाड़ अथवा चट्टान नहीं पाई जातीं।

पश्चिमी तट गोले के पेड़, कपास और मसालों (जैसे गोल मिर्च और इलायची) के लिये प्रसिद्ध है, सुप्रसिद्ध भड़ोंच की रुई, जो देश भर में विख्यात है, इसी प्रदेश मे पैदा होती है। पूर्वी तट की सबसे महत्वपूर्ण उपज चावल है। जहाँ कपास और गन्ने भी उत्पन्न होते हैं और यहाँ कपास तथा गन्ने की फसलें लोकप्रिय बनती जा रही हैं। विद्युत-शक्ति (Hydro-electricity) के उत्पन्न करने का भी आयोजन किया जा रहा है और यहाँ विभिन्न उद्योग-धंधे आरम्भ करने का और उन्नतिशील करने की भी चेष्टा हो रही है।

अभ्यास के प्रश्न

१. भारत की भौगोलिक सीमाओं तथा स्थिति का वर्णन कीजिये।

२. 'भारत की मिट्टियाँ' विषय पर एक लेख लिखिये।

३. भारत की जलवायु का निरूपण कीजिये और उसके वनस्पति और जीव-जन्तुओं का वर्णन कीजिये।

४. भारत में वर्षा कैसे होती है? इसकी क्या-क्या विशेषताएँ हैं?

५. भारत के भौगोलिक विभागों का वर्णन कीजिये।

६. हिमालय का आर्थिक महत्त्व क्या है?

७. गंगा की नहरी-प्रणालियों से क्या-क्या लाभ हैं तथा उनमें कौन-कौन कमियाँ हैं।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इंटर आर्ट्स

१. भारत की जलवायु तथा मिट्टियों का वर्णन कीजिये और देश की आर्थिक व्यवस्था पर उनके प्रभाव को समझाइये। (१९३३)

२. उत्तर प्रदेश की मुख्य मिट्टियाँ तथा जलवायु संबंधी दशाओं का वर्णन कीजिये। ये किस प्रकार प्रांत की आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करती हैं ? (१९२९)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

3. Explain fully the ways in which monsoons offect the economic well-being of people of India. (1937).

4 Wheat are monsoons ? How do they arise ? Explain the economic effects of the monsoons in India (1935)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

5. Write a short note on extensive and intensive cultivation. (1949),

नागपुर, इन्टर कामर्स

६. भारत में पाई जानेवाली मिट्टियों का वर्णन कीजिये तथा उनका आर्थिक महत्त्व बतलाइये। (१९४६)

अध्याय २६

भारतवर्ष में वन और खनिज पदार्थ

§ १. वन (Forests)

प्रकृति ने वनो के रूप में एक बहुमूल्य उपहार भारतवर्ष को प्रदान किया है। वन या जंगल देश की प्राकृतिक वनस्पति होते हैं। प्रारम्भ मे पृथ्वी का एक बड़ा भाग जगलों से ढका हुआ था, किन्तु जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गई, वैसे ही वैसे जंगल काट डाले गये जिससे कि मनुष्यों के लिये निवास-स्थान प्राप्त किया जा सके। हमारे देश का इतिहास बताता है कि किस प्रकार बहुत काल बीते हमारी भूमि घने और भयानक वनो से ढकी हुई थी और किस प्रकार धीरे-धीरे भूमि को खती के काम में लाया गया। गगा के मैदान में तो कोई जंगल रह ही नहीं गया, यद्यपि कि पहाड़ी और कम घने प्रदेशों मे वे अब भी पाये जाते हैं। देश का लगभग एक चौथाई क्षेत्रफल जङ्गलों से ढका हुआ है और उनका आर्थिक महत्व बहुत है।

भारतीय जंगल

भारतीय वनों को कई भागो में बाँटा जा सकता है। नीचे हम एक वर्गीकरण देते हैं :

(१) ज्वार-प्रान्तिक वन (Tidal Forests)

(२) सदाबहार वन (Evergreen Forests)

(३) पतझड़ वाले (या मानसून) वन (Monsoon Forests)

(४) पहाड़ी वन (Mountain Forests)

(१) ज्वार-प्रान्तिक वन—ज्वार-प्रान्तिक वन (जो पृष्ठ २९८ के मानचित्र । ठोस काले रंग से दिखाये गये हैं) उन प्रदेशों में पाये जाते हैं जहाँ कि समुद्र का ज्वार चढ़ आता है। ये नदी के उन डेल्टाओं में पाये जाते हैं जो कुछ काल के लिये नमकीन पानी में डूबे रहते हैं। "सुन्दर वन" इसी प्रकार के हैं।

(२) सदाबहार वन—सदाबहार वन (जो मानचित्र में खड़ी लकीरों से दिखाये गये हैं) उन प्रदेशों में पाये जाते जहाँ अधिक जलवृष्टि होती है। अतः

उनका पश्चिमी घाट और हिमालय प्रदेश में पाया जाना स्वाभाविक ही है। इन पेड़ों की लकड़ी बहुत कड़ी होती है। उनका अभी तक कोई खास रूप से व्यापारिक शोषण नहीं हुआ।
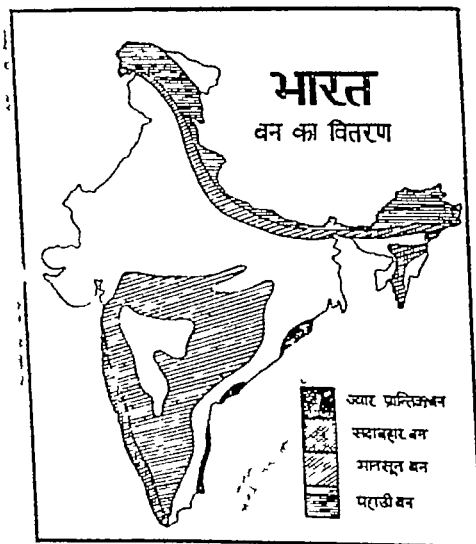
चित्र ५०—भारत मे वनों का वितरण

(३) **मानसून वन**—मानसून वन (जो मानचित्र में तिरछी रेखाओं से दिखाये गये हैं) कम जलवृष्टि के प्रदेशों में पाये जाते हैं। दक्षिणी पठार और उत्तरी-पूर्वी भारत में ये बहुतायत से पाये जाते हैं। मानसून के महीनों में, जब जल-वृष्टि बहुत होती है, तब ये खूब उत्पन्न होते हैं। गर्मी के महीनों में ये अपनी पत्तियाँ गिरा देते हैं और इस प्रकार जल को उड़ने नहीं देते।[1] इनमें टीक और साल के वृक्ष सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका महत्व इस बात से भली भाँति जाना जा सकता है कि सरकार ने इनकी रक्षा करने के उद्देश्य से इन्हें "रक्षित वन" की श्रेणी में सम्मिलित कर दिया है।

(४) **पहाड़ी वन**—पहाड़ी प्रदेशों में पहाड़ी वन पाये जाते हैं (जो कि मानचित्र में लेटी हुई रेखाओं द्वारा दिखाये गये हैं)। इनमें से ओक (Oak) की

[1] जल का उड़ना या भाप बनना पत्तियों के द्वारा होता है। अतः यदि पत्तियाँ गिर जायँ, तो जल उड़ नहीं सकता।

भाँति के पेड़ों की पत्तियाँ चौड़ी होती हैं, और पाइन आदि पेड़ों की पत्तियाँ नुकीली होती हैं। पहाड़ी वन हिमालय प्रदेश में बहुत मिलते हैं।

वनों का आर्थिक महत्व

वनों का आर्थिक महत्व बहुत ऊँचा है और वे देश के धन तथा कल्याण की वृद्धि में बहुत सहयोग देते हैं। वे किसानों को वर्षा देते हैं; सरकार को कर; कारखानों को कच्चा माल; ग्रामीणों को ईंधन और चरागाह। उनके लाभ प्रत्यक्ष (direct) और परोक्ष (indirect) दोनो हैं।

प्रत्यक्ष लाभ—वनों का प्रत्यक्ष लाभ यह है कि वे बहुत सी प्रधान (minor) और छोटी-छोटी (major) वस्तुएँ दान करते हैं।

वनों की **प्रधान उपजों** में लकड़ी, ईंधन और चारा सम्मिलित किये जाते हैं। वनों में कड़ी और मुलायम लकड़ी उत्पन्न होती है। कड़ी लकड़ी सुदृढ़ वस्तुएं जैसे जहाज बनाने के काम आती हैं; और मुलायम लकड़ी प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तुएँ बनाने के काम। हमारे कृषि-प्रधान देश में ईंधन की पूर्ति (supply) और भी महत्वपूर्ण है। ईंधन के अभाव मे हमारे किसान उपले या कंडे जलाते हैं जो बहुमूल्य खाद का काम दे सकते हैं। यह सच है कि उपले जलाते समय किसान अपनी समृद्धि जलाते हैं। अभी तक जंगलों में जो कुछ भी ईंधन पैदा होता है, उसे सुसंगठित रूप से एकत्रित और वितरित नहीं किया जाता। वनों से पशुओं का चारा भी मिलता है। अनुमान लगाया गया है कि भारतीय वनों में प्रति वर्ष लगभग १½ करोड़ पशु चरते हैं। जंगलों में उत्पन्न होने वाली घास के गट्ठर (bales) भी बनाये जाते हैं जो आसानी से लाये-लेजाये जा सकते हैं और जो अकाल के समय बहुत काम आते हैं।

जंगलों में उत्पन्न होने वाली **छोटी-मोटी वस्तुएं** अनेक उद्योगों की आधार हैं। हमारे वनों में बाँस, भावर और सवाई घास पैदा होती है जो कागज बनाने के काम आती हैं। Pine resin, चपड़ा, साबुन, चिकना कपड़ा और ग्रामोफोन रेकार्ड के बनाने में काम आता है। तारपीन, वार्निश और पालिश बनाने में प्रयुक्त होता है।

परोक्ष लाभ—वनों के परोक्ष लाभ उनके प्रत्यक्ष लाभ से भी अधिक उपयोगी हैं।

(१) जंगलों के द्वारा बहुत सी नमी निकलकर वातावरण में फैल जाती है जिसके परिणाम-स्वरूप उसका तापक्रम कम हो जाता है। इस प्रकार जलवायु सम

(equable) हो जाती । इसके अतिरिक्त, जब जल से भरी हवाएं जंगल के ऊपर वाले ठंडे वातावरण में होकर निकलती हैं, तब वे भी ठंडी हो जाती हैं और जल की वर्षा करती हैं।

(२) जंगल वनस्पति का मोल्ड (mould) उत्पन्न करके तथा खाद्य-सामग्री-प्रयुक्त पत्तियाँ गिराकर मिट्टी को उपजाऊ बना देते हैं।

(३) वे गतिशील हवाओं को रोककर बहुत से प्रदेशों को तेज हवाओं के भय से मुक्त करते हैं।

(४) जंगल पानी के आगमन को समान बनाने, तेज बाढ़ की गति को कम करने तथा नदियों में जल के आगमन को निर्विरोध बनाने का भी काम करते हैं।

(५) वे देश की रक्षा में सहयोग देते हैं और साथ ही साथ मनोहर दृश्य प्रदान करके मनुष्यों की सौंदर्य-संज्ञा को तेज बनाते हैं।

वन-शासन

वनों के लाभ इतने तात्विक और महान् हैं कि प्रत्येक देश की सरकार उन्हें बहुमूल्य राष्ट्रीय सम्पत्ति मानती है और उनकी रक्षा के लिये विशेष प्रयत्न करती है। सरकार वनो के शासन में जंगलो के अबाधुंध काटे-जाने से रक्षा करने, वैज्ञानिक नियमों के पालन करने और दोबारा जंगल लगाने का ध्यान रखती है। कुछ काल पूर्व भारत सरकार जंगलो की ओर ध्यान भी नहीं देती थी और गाँववाले तथा जंगली जातियाँ उनका जी भरकर विनाश किया करती थीं। किन्तु गत ७० वर्षों में सरकार ने उनको अपने अधिकार में ले लिया है और उनकी रक्षा तथा उनके व्यवस्थित शोषण की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाने लगा है। सरकार ने सन् १८९४ ई० में अपनी वन सबन्धी नीति का प्रतिपादन करते समय वनों को निम्नलिखित चार विभागों बाँटा था—

(१) वे वन जिनकी रक्षा करना जलवायु सम्बन्धी तथा भौतिक दृष्टिकोणों से आवश्यक है।

(२) वे वन जो व्यापारिक कामो के लिये बहुमूल्य लकड़ी उत्पन्न करते हैं।

(३) छोटे-मोटे जंगल जो मामूली लकड़ी उत्पन्न करते हैं और जो ईंधन, चारा, चरागाह और स्थानीय उपभोग के योग्य वस्तुएं प्रदान करते हैं।

(४) चरागाह जो वन मे शामिल नहीं किये जा सकते।

हमारी सरकार ने जगलों की अधाधुन्ध विनाश से रक्षा करने का पूरा आयोजन कर लिया है और उनकी उत्पादन-शक्ति बढाने का भी प्रयत्न हो रहा है।

हमारे वन उद्योग की पिछड़ी हुई दशा

हमारे देश का वन उद्योग बहुत पिछड़ी हुई अवस्था में है। यह इससे जाना जा सकता है कि हमारी सरकार समस्त वनों से केवल ५ करोड रु० प्रति वर्ष कमाती है जब कि जर्मनी की सरकार अपने बहुत थोड़े से वनों से ६ करोड रुपया प्रति वर्ष कमाती है।

इस पिछडी हुई अवस्था के कई कारण हैं। स्वय उपभोक्ता विभिन्न प्रकार की लकडियों के मूल्य, गुण और उपयोगिता से अनभिज्ञ हैं। सरकार ने भी हमारे वनों की रक्षा की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। उनके उचित शोषण की ओर कम। पतित अवस्था का एक बडा कारण यातायात और सदेशवाहन के साधनों का अभाव भी है। ट्रामवे और सडकों की जंगली प्रदेशों में बहुत कम उन्नति हुई है। फिर, वन विज्ञान के नियमों का पालन बहुत कम किया जाता है, और दुबारा जगल लगाने का काम भी उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। यह भी शिकायत की जाती है कि फारेस्ट सर्विस में बहुत कम और कम वेतन वाले व्यक्ति हैं और व्यापारिक पहलू को सर्वदा सन्मुख नहीं रक्खा जाता।

यदि हमारे वन-उद्योग को अपना उचित स्थान ग्रहण करना है, तो यह आवश्यक है कि इन समस्त दोषों का निवारण किया जाय। यदि आवागमन के साधनों को उन्नत किया जाय, वन-विज्ञान का पालन किया जाने लगे, जंगलों को दुबारा लगाने की नीति को क्रियात्मक रूप दे दिया जाय और फारेस्ट सर्विस में सुधार कर दिया जाय, तो बहुत-कुछ हो सकता है। रायल कमीशन आव एग्रीकल्चर ने यह सिफारिश की थी कि प्रत्येक प्रान्त में वन-उपयोग अफसर (Forest Utilization Officers) नियुक्त किये जाने चाहिये और वनों के उचित शोषण का उत्तरदायित्व इन्हीं का होना चाहिये।

यह भी आवश्यक है कि वन-विभाग और कृषि-विभाग में घनिष्ठ सम्बन्ध हो। रायल कमीशन ने यह भी सिफारिश की थी कि जंगलों को प्रधान और छोटे-मोटे की श्रेणियों में विभाजित कर देना चाहिये। प्रधान वन वे होने चाहिये जो व्यापारिक वन हों और छोटे-मोटे वन वे होने चाहियें जो ईंधन और लकड़ी प्रदान करते हों। छोटे-मोटे वन पचायतों के सुपुर्द कर देने चाहियें। कृषि-कालेजों में वन-सम्बन्धी कोर्सों की पढाई होनी चाहिये जिससे फारेस्ट सर्विस के लिये सकुशल अफसरों को तैयार किया जा सके।

§ २. खनिज पदार्थ

खनिज पदार्थों का आर्थिक महत्व आधुनिक काल में दिन प्रतिदिन प्रायः प्रत्येक देश में बढता जा रहा । उद्योगों में तो क्या, हमारे रहन-सहन में भी खनिज पदार्थों का उपयोग अधिक होता जा रहा । आधुनिक औद्योगिक उन्नति के मूल आधार यंत्र और शक्ति हैं जो क्रमश लोहे और कोयले से उत्पन्न होती हैं। हमारा देश विभिन्न खनिज पदार्थों में धनी है। खनिज पदार्थ पुरानी चट्टानों में मिलते हैं। स्वाभाविक रूप से दक्षिणी भारत में, जहाँ देश की सबसे प्राचीन चट्टानें स्थित हैं, खनिज पदार्थों का बाहुल्य है, और उत्तरी भारत, जो कि अभी हाल का ही है, खनिज पदार्थों में इतना धनी नहीं।

कोयला

हमारे देश में कोयला सबसे महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ है। हमारे देश में प्रतिवर्ष लगभग २ करोड़ टन कोयला निकाला जाता है। यह मात्रा ग्रेट ब्रिटेन में उत्पन्न होने वाले कोयले की मात्रा (५० करोड़ टन) के मुकाबले तो कुछ भी नहीं है, किन्तु यदि ग्रेट ब्रिटेन को छोड़ दिया जाय तो भारत ब्रिटिश एम्पायर में सबसे अधिक कोयला उत्पन्न करता है।

लगभग सभी, भारतीय कोयला, चट्टानों की गोंडवाना प्रणाली से आता है। यह दक्षिणी भारत में फैली हुई है और बंगाल तथा बिहार तक पहुँचती है। कोयला उत्पन्न करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र झरिया है जो समस्त भारत में निकाले जाने वाले कोयले का ५० प्रतिशत भाग स्वयं उत्पन्न करता है। इसके बाद रानीगंज क्षेत्र आता है, जो समस्त देश की उत्पत्ति का २५ प्रतिशत भाग उत्पन्न करता है। इनके अतिरिक्त मध्य-प्रान्त और हैदराबाद में भी कोयले की छोटी-मोटी खानें हैं। चट्टानो की टैर्टियारी (Tertiary) प्रणाली में भी कोयला मिलता है, किन्तु कुल उत्पत्ति का केवल २ प्रतिशत भाग ही इन चट्टानों से मिलता है। यह कोयला देश के दोनों किनारों—बंगाल और पंजाब—में पाया जाता है।

भारतवर्ष में कोयले की खान खोदने का व्यवसाय उन्नतिशील नहीं। इनके मार्ग में अनेक बाधायें उपस्थित हैं। भारत की जलवायु गर्म होने के कारण जमीन के नीचे काम करने में बहुत कठिनाई होती है। हमारे यहाँ के मजदूर भी बहुत कार्य-कुशल नहीं। कोयले काटने की मशीनों का प्रयोग भी हमारे यहाँ बहुत कम है। इसके अतिरिक्त, अधिकांश कोयले की खानें बंगाल और बिहार में केन्द्रित हैं, और उपभोग के स्थानों तक पहुँचने के लिये कोयले को रेल यातायात

का उपयोग करका पड़ता है जिससे लागत बढ़ जाती है। वास्तव में, इसी कारण देशी कोयला हमारे देश में आयात किये गये आस्ट्रलिया तथा अफ्रीका के कोयले से स्पर्धा नहीं कर पाता। यदि रेलें कोयले का महसूल घटा दें, तो यह कठिनाई दूर हो सकती है। भारतीय कोयला अधिकाश में मुलायम (Soft) होता है जो घरों मे जलाने के बहुत उपयुक्त है। अतः यदि हमारे यहाँ 'सोफ्ट कोक' (Soft Coke) लोकप्रिय बन जाय, तो भारतीय कोयले के उद्योग को बहुत प्रोत्साहन मिले।
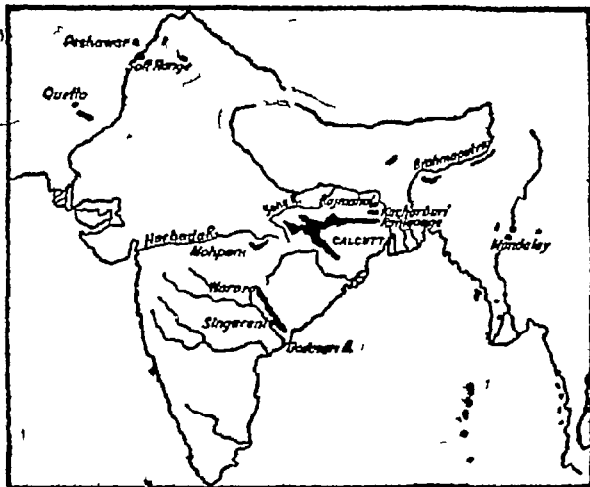
COAL DISTRIBUTION

चित्र ५१ कोयला

लोहा

यह हमारा सौभाग्य है कि हमारा देश लोहे में बहुत धनी है। हमारे देश में लोहे की मात्रा तो प्रचुर है ही, साथ ही साथ उसमे मिलावट बहुत कम होती है। सबसे अधिक लोहा उड़ीसा उत्पन्न करता है। सिंहभूमि का जिला और मयूरभज, बोनई और केओन्झर की रियासतें लोहे के लिये विख्यात हैं। उड़ीसा में लोहे को खोदकर निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती; इसे केवल भूमि से बटोर लिया जाता है। लोहे के लिये दूसरा महत्वपूर्ण प्रान्त मध्य-प्रान्त है जिसमें बालघाट, दुर्ग और चाँदा के जिले लोहे के लिये प्रसिद्ध हैं। मैसूर में भी लोहा मिलता है।

भारतीय लोहे का महत्व इसलिये और भी अधिक है कि समस्त एशिया में भारतीय लोहा ही सुविधापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। लोहे को कच्ची अवस्था में निर्यात करना अनार्थिक हो जाता है, और इसलिये उसे 'पिग आयरन' (pig iron) के स्वरूप में बाहर भेजा जाता है। हमारा 'पिग आयरन' दूसरे देशों से खूब मुकाबला करता रहा है। जापान में हमारा ही 'पिग आयरन' खपता है और हमने अमेरिका में और इंग्लैंड में सस्ते दामों पर 'पिग आयरन' बेचकर वहाँ के लोहे के उद्योगपतियों के हृदय में चिन्ता उत्पन्न कर दी है।

पैट्रोल

कोयले की भाँति पैट्रोल भी विविध उद्योगों को शक्ति प्रदान करता है। भारतवर्ष पैट्रोल मे निर्धन है। हमारे देश में पैट्रोल केवल आसाम में ही पाया जाता है। आसाम प्रान्त में, डिगबोई में 'शेल' (shale) से कुछ पैट्रोल निकाला जाता है। हमारे देश में तेल साफ करना भी ठीक ढग से नहीं होता और सारी उप-वस्तुएँ (by-products) प्राप्त नहीं की जातीं।

मैंनगेनीज़

बहुत अच्छे और अधिक काम करने वाले लोहे को बनाने के लिये मैंनगेनीज का उपयोग किया जाता है। एक समय भारतवष ससार में मैंनगेनीज़ का सबसे बड़ा उत्पादक था। किन्तु योजनात्मक उन्नति के फलस्वरूप, रूस अब हमसे कहीं आगे बढ चुका है। मैंनगेनीज़ मध्य-प्रान्त में सबसे अधिक पाया जाता है। बालघाट और नागपुर इसके लिये विशेषतया विख्यात हैं। बम्बई में भी रत्नागिरि के समीप मैंनगेनीज पाई जाती है। हम पहले अमेरिका को बड़ी मात्रा में मैंनगेनीज़ भेजते थे, किन्तु अब वह रूस से मैंनगेनीज़ खरीदता है। अब हम केवल इंगलैंड और फ्रांस को ही मैंनगेनीज़ का निर्यात करते हैं।

अबरख (Mica)

अबरख पर गर्मी और बिजली का प्रभाव नहीं होता। अत. यह बिजली-सम्बन्धी सामग्री बनाने के लिये काम आती है। समस्त ससार में, भारतवर्ष अबरख का उत्पन्न करनेवाला सबसे महत्वपूर्ण देश है। बिहार प्रान्त इसके लिये सबसे अधिक प्रसिद्ध है। ट्रावनकोर में कुछ नीला अबरख मिलता है।

सोना

ससार को सोने की वार्षिक उत्पत्ति का ५% भाग भारतवर्ष से प्राप्त होता है। भारतीय सोना, लगभग सारा का सारा, मैसूर रियासत में स्थित कोलार की

खानों से निकाला जाता है। किन्तु उनमें से बहुत काल से सोना निकाला जाता रहा है; और इसलिये बहुत गहरी खुदाई करनी पड़ती है। फिर भी सोना बहुत कम मात्रा मे निकलता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. भारत की वन-सम्पत्तियाँ क्या हैं? भारतीय वनों की किस्मों का विवेचन कीजिये।

२. वनों का आर्थिक महत्व बतलाइये। वन शासन का क्या उद्देश्य है?

३. क्या भारतीय वन-उद्योग पिछड़ा हुआ है? यदि ऐसा है, तो क्यों? क्या आप इस उद्योग की उन्नति के कुछ उपाय सुझा सकते हैं?

४. "भारत की खनिज सम्पत्ति" के विषय पर एक निबन्ध लिखिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

(१) भारत की खनिज सम्पत्ति का एक संक्षिप्त वर्णन दीजिये और देश के भावी आर्थिक विकास में उसमें महत्व की विवेचना कीजिये। (१९४८)

(२) भारत की खनिज सम्पत्ति पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४७)

(३) भारतवर्ष का एक चित्र तैयार कीजिये और उसमें प्रधान फसलों, खनिज पदार्थों तथा आधुनिक उद्योगों का समुचित विभाजन दिखाइये। (१९४१)

(४) 'भारत की प्राकृतिक सम्पत्तियाँ अत्यंत महान् है। प्रधान आवश्यकता इस बात की है कि उनकी समुचित रक्षा, विकास तथा उपयोग किया जाय।' इस कथन की विशेषतया जलशक्ति, वनों तथा खनिज पदार्थों के सन्दर्भ में व्याख्या कीजिये। (१९४०)

राजपूताना, इंटर आर्ट्स

(5) What is the importance of forests in the national economy of this country? Describe the policy pursued by the Government to develop forests (1939)

(6) Describe the distribution of raw materials in the different parts of India and state their importance in the development of our industries. (1932)

अध्याय ३०

भारतवर्ष की कृषि-सम्बन्धी सम्पत्ति

भारतवर्ष की भौगोलिक अवस्था ने इसे ससार का एक महत्त्वपूर्ण कृषि-प्रधान देश बना दिया है। हमारे देश के प्रत्येक चार व्यक्तियो मे से तीन व्यक्ति कृषि पर निर्भर हैं। प्रत्येक वर्ष लगभग २२ करोड एकड भूमि जोती जाती है। वार्षिक कृषि-सम्बन्धी उत्पत्ति का मूल्य लगभग १,००० करोड रुपया है। भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाली फसलों को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) खाद्य-फसले जैसे गेहू, चावल, दाल, आदि, और

(२) अन्य फसले जैसे चाय और कहवा आदि पेय पदार्थ तथा कपास और सन आदि कच्चा माल।

खाद्य फसलें अन्य फसलों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कुल जोते जाने वाले क्षेत्रफल का ६०% भाग (२० करोड एकड) खाद्य फसले उत्पन्न करने में प्रयुक्त होता है और शेष १०% भाग (२ करोड एकड) अन्य फसले पैदा करने में।

मौसम के हिसाब से फसलों को खरीफ और रबी में बाँटा जा सकता है। खरीफ फसल को बहुत सा पानी चाहिये और यह वर्षा ऋतु के आरम्भ में बोई जाती है। यह सितम्बर, अक्टूबर या नवम्बर में तैयार हो जाती है। रबी की फसल को अधिक पानी की आवश्यकता नहीं होती। यह अक्टूबर या नवम्बर में बोई जाती है और मार्च या अप्रैल में काटी जाती है।

§ १. खाद्य-फसलें

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, हमारे किसान अधिकतर खाद्य-फसले ही उत्पन्न करते हैं। इनमें से चावल और गेहूँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं और उनके पश्चात् जौ, मक्का, मोटे अनाज तथा दालों का नम्बर आता है। फल और तरकारियों की खेती अधिक लोकप्रिय होती जा रही है, तथा गन्ने ने अब एक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है।

चावल

साधारणतया साल में लगभग ६ करोड एकड भूमि (अर्थात् जोती जाने वाली भूमि के २८% भाग) पर चावल उगाया जाता है और उत्पन्न किये हुए चावल

की मात्रा लगभग १७२ लाख टन होती है। इतना बड़ा क्षेत्रफल और किसी फ़सल के उगाने में नहीं लगाया जाता। भारतवर्ष की जन-संख्या के एक बड़े भाग के भोजन में चावल का प्रधान स्थान है। इसलिये हमारी अपनी पैदावार इतनी अधिक होने पर भी हमें बाहर से काफी चावल आयात करना पड़ता है। यह आयात १० लाख टन के लगभग होता है।

चित्र ५२

चावल को बहुत सी गर्मी और बहुत से पानी की आवश्यकता होती है। अतः यह देश के गर्म और नम भाग में बहुतायत से उत्पन्न किया जाता है जैसा कि बगल वाले चित्र से स्पष्ट है। पश्चिमी बगाल, बिहार और उड़ीसा चावल के लिये सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। चावल उत्तर प्रदेश और मद्रास में भी उत्पन्न होता है।

चावल विभिन्न मिट्टियों और विभिन्न जलवायुओं में उत्पन्न किया जाता है। इसलिये इसकी किस्मे भी अनेक होती हैं। अन्य देशों की अपेक्षा, हमारे देश में चावल की प्रति एकड़ पैदावार बहुत कम होती है। चावल की खेती मे बहुत उन्नति की आवश्यकता है। यह आवश्यकता अब समझी जाने लगी है। हाल में चावल सम्बन्धी अनुसधान की एक स्कीम प्रारम्भ की गई है जिसका व्यय-सम्बन्धी भार इडियन काउसिल आव एग्रीकल्चरल रिसर्च तथा एम्पायर मार्केटिंग बोर्ड ने लिया है।

गेहूँ

भारतवर्ष का दूसरा महत्वपूर्ण अनाज गेहूँ है। गेहूँ की उत्पत्ति के लिये लगभग २२ करोड़ एकड़ भूमि (अर्थात् जोती जाने वाली भूमि का, १०% भाग) प्रति वर्ष प्रयुक्त होती है और वार्षिक पैदावार लगभग ७० लाख टन होती है। गेहूँ को कम पानी और ठंडी जलवायु चाहिये। ...

उत्पन्न होता है जब कि ये अवस्थाये विद्यमान होती हैं। जैसा कि नीचे के चित्र में दिखाया गया है, पूर्वी पजाब और उत्तर प्रदेश गेहूँ उत्पन्न करने वाले सबसे प्रमुख प्रान्त हैं। समस्त देश में उत्पन्न होने वाले गेहूँ का ७५% भाग इन दोनो प्रान्तों में पैदा होता है। मध्य-प्रान्त में भी गेहूँ उत्पन्न होता है।

चित्र ५३
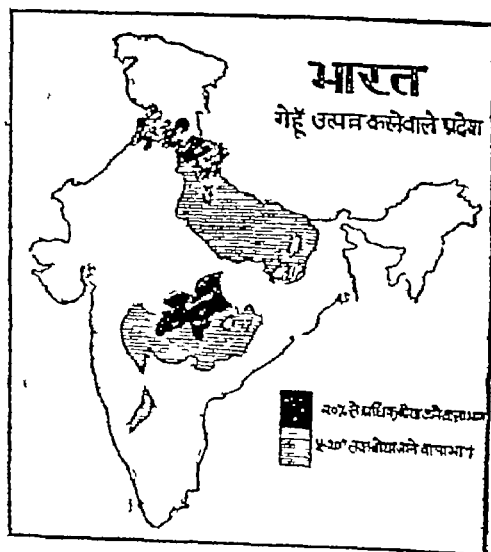
देशी गेहूँ की किस्म खराब होती है। गेहूँ काटने-पछारने आदि की रीतियाँ इतनी खराब होती हैं कि उसमें मिट्टी तथा अन्य मोटे अनाज मिले रहते हैं। गेहूँ की किस्म मे सुधार करने की चेष्टा की जा रही है। कई कृषि कालेजों तथा इडियन रिसर्च इस्टीट्यूट में इस उद्देश्य से प्रयोग किये जा रहे हैं। सरकार ने भी गेहूँ सबधी समस्या पर सोच-विचार करने के लिये एक स्थायी कमेटी नियुक्त कर दी है। अच्छी प्रकार का गेहूँ अब उत्पन्न किया जाने लगा है और लगभग ५० लाख एकड़ भूमि अच्छा गेहूँ उत्पन्न करनी है। गेहूँ के वर्गीकरण (grading) मे भी उन्नति की गई है और पूसा ८, लायलपुर ५ तथा कानपुर ४ काफी प्रसिद्ध हो चुके हैं।

स्वेज नहर खुलने के पश्चात् भारतवर्ष से गेहूँ का काफी निर्यात होने लगा। पर धीरे-धीरे प्रत्येक देश ने गेहूँ उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया और भारतवर्ष की स्वय जनसख्या बढती गई। अतः कुछ काल बाद भारतवर्ष गेहूँ का निर्यात तभी करता था जब कि विदेशी मूल्य बहुत ऊँचा होता। कुछ वर्षों से भारत ने बराबर गेहूँ का आयात करना आरम्भ कर दिया है। बिना आयात किये अब हमारे देश-वासियों का जीवित रहना कठिन है। आवश्यकता इस बात की है कि गेहूँ की खेती में सुधार और वृद्धि की जाय जिससे कि हम गेहूँ में आत्म-निर्भर हो जायँ।

जौ (Barley)

जौ भी, गेहूँ की भाँति, जाड़े की फसल है और गेहूँ के साथ-साथ ही उत्पन्न किया जाता है। यह सस्ता अनाज है और इसे गरीब लोग खाते हैं। अतः यह सभी प्रान्तों में उत्पन्न किया जाता है। फिर भी, उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा इसके लिये सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। जौ का निर्यात नहीं होता।

मक्का

मक्का, चावल की भाँति, गर्म और नम जलवायु में उत्पन्न होता है। यह उत्तरी भारत में—मुख्यतः उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में—उत्पन्न होता है। यह खाया जाता है और अधिकतर जहाँ उत्पन्न किया जाता है वहीं इसका उपभोग भी किया जाता है।

मोटे अनाज (Millets)

मोटे अनाजों को गरीब लोग और जानवर खाते हैं। इनमें जुआर और बाजरा मुख्य हैं। जुआर को बाजरे की अपेक्षा अधिक उपजाऊ भूमि चाहिये। इनकी उत्पत्ति भूमि की किस्म पर बहुत निर्भर होती है। इन अनाजों के सस्ते होने के कारण इनकी खेती लापर्वाही से की जाती है। न अच्छी भूमि में ये पैदा ही किये जाते हैं और न खाद का ही ध्यान रक्खा जाता है। इनकी उत्पत्ति के लिये बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश प्रसिद्ध हैं, पंजाब में बाजरा तो होता है पर जुआर नहीं। इसके विपरीत, मध्य प्रांत में जुआर उत्पन्न होता है और बाजरा बिल्कुल नहीं। एक और मोटा अनाज रागी कहलाता है जो दक्षिणी भारत (मैसूर, हैदराबाद और मद्रास) में पैदा होता है। इसे सिंचाई की आवश्यकता होती है और यह कीमती अनाज है। निर्धन व्यक्ति इसे विलासिता की वस्तु समझते हैं।

दालें (Pulses)

भारत में अनेक प्रकार की दालें उत्पन्न होती हैं। कृषि तथा स्वास्थ्य, दोनों की दृष्टियों से ही दालों का महत्त्व बड़ा है। दालों की फसल, भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिये फसल की हेर-फेर (Rotation of crops) में भी प्रयुक्त की जाती है। कभी-कभी दालें मोटे अनाजों से मिला-जुलाकर भी उत्पन्न की जाती हैं और इस प्रकार भी वे भूमि की उत्पादक-शक्ति को बढ़ाती हैं। दालों के उपभोग से प्रोटीन प्राप्त होती है। हमारे ऐसे शाकाहारी देश के निवासियों के लिये प्रोटीन केवल दाल द्वारा ही प्राप्त हो सकती है इसलिये इसका महत्त्व स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत ऊँचा है। दालें पशुओं के स्वास्थ्य के लिये भी बहुत आवश्यक हैं, और

दालों की भूसी, उनके बीज तथा उनके पेड़ों के हरे भाग जानवर बड़े चाव से खाते हैं। उनकी पैदावार भी बहुत अच्छी होती है। दाल की प्रधान किस्में अरहर और चना हैं। उर्द, मूँग और मसूड़ की दालें इतनी महत्वपूर्ण नहीं।

फल और तरकारी

आज-कल हमारे देश में फल और तरकारी की खेती बहुत लापरवाही से की जाती है। किन्तु उनकी माँग बढ़ती जा रही है और धीरे-धीरे वैज्ञानिक ढग लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

फल—भारतवर्ष मे अनेक प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं। इनमें से केले, अमरूद, अनार, जामुन, लीची, तरबूज, खरबूजा और गोले प्रसिद्ध हैं। हमारे देश, में फलों का उपभोग बढ रहा है और कुछ फल जैसे आम का निर्यात भी होने लगा है। यह भी समझा जाने लगा है कि फलों की कृषि खेतों के अनार्थिक (uneconomical) होने की सफल औषधि है। इन दो कारणों से हम आशा करते हैं कि फल की कृषि निकट भविष्य में हमारे देश में उन्नति करेगी। किन्तु फलों की किस्म और कृषि के तरीकों मे काफी सुधार की आवश्यकता है। इस ओर सरकार के कृषि-विभागों (Agricultural Departments) और इंडियन काउन्सिल आव एग्रीकल्चरल रिसर्च ने ध्यान देना आरम्भ कर दिया है।

तरकारी—भारतवर्ष में तरकारियों का उपभोग बड़ी मात्रा मे होता है। तरकारियाँ सब गाँवों और शहरों के समीप वाली बस्तियों में उत्पन्न की जाती हैं। तरकारियों का बिक्री के लिये कुछ दूर तक तो यातायात किया जा सकता है, किन्तु अधिक दूर तक ले जाने में वे सड़ने लगती हैं। आलू, गोभी, टमाटर, गाजर, भाटा तथा मटर इस देश की कुछ सुप्रसिद्ध तरकारियाँ हैं। आशा की जाती है कि यातायात के शीघ्र साधनों की उन्नति एव शीतागार (cold storage) के चल जाने के परिणामस्वरूप तरकारी तथा फलों की कृषि को समुचित प्रोत्साहन मिलेगा।

मसाले

भारतवासियों को मसालेदार वस्तुएँ खाने की आदत है। इस कारण हमारे देश में मसालों का उपभोग बड़ी मात्रा में होता है। हल्दी और मिर्चा प्रायः सभी जगह पाई जाती हैं। इलायची, लौंग, काली मिर्च और अदरक मलाबार और ट्रावनकोर के तटों पर उत्पन्न होती हैं।

गन्ना या ईख

संसार में भारतवर्ष सबसे बड़े ईख पैदा करने वाले देशों की गिनती में आता है। क्यूबा को छोड़कर, वह संसार में सबसे अधिक ईख उत्पन्न करता है। गन्ना उपजाऊ भूमि पर उत्पन्न होता है और उसे ऊँचा तापक्रम और एक-सा किन्तु काफी पानी चाहिये। सिंचाई से इसकी उत्पत्ति में बहुत सहायता मिलती है। भारतवर्ष में सबसे अधिक गन्ना उत्तर प्रदेश उत्पन्न करता है। उसके पश्चात् पंजाब, बिहार और बंगाल का नाम आता है।

हमारे देश में चीनी के उद्योग को सन् १९३२ ई० में संरक्षण (Protection) मिला है, और तब से चीनी के उद्योग ने बहुत उन्नति की है। इसके परिणाम-स्वरूप गन्ने की खेती को भी बहुत प्रोत्साहन मिला है। गन्ने की मात्रा में तो वृद्धि हुई ही है, साथ ही साथ उसकी किस्म में भी उन्नति हुई है। गन्ना उत्पन्न करने वाले समस्त क्षेत्रफल का लगभग ३/४ भाग अब सुधरी हुई किस्म के गन्ने उत्पन्न करने में लगाया जाता है। भारत भर में अनेक अन्वेषण-स्टेशनें खुली हुई हैं जहाँ गन्ने की खेती में सुधार करने, इसके कीड़े और रोगों का अध्ययन करने और इसके सम्बन्ध की अन्य वैज्ञानिक समस्याओं पर विचार करने के लिये बराबर काम होता रहता है। इंडियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली, में भी इसी प्रकार का काम होता है। कानपुर में स्थित इंडियन इंस्टीट्यूट आव सुगर टेक्नालाजी भी अच्छा काम कर रही है।

हमारे देश में उत्पन्न होने वाले गन्ने की पूरी मात्रा का केवल १५ प्रतिशत भाग चीनी बनाने के काम आता है। लगभग २० प्रतिशत भाग खाने तथा अन्य कामों में लगाया जाता है। शेष ६५ प्रतिशत भाग गुड़ बनाने के काम आता है जिसे निर्धन किसान खाते हैं।

§ २. अन्य फसलें : पेय पदार्थ और नशे की वस्तुएँ

हमारे देश में उत्पन्न होने वाली पेय पदार्थ तथा नशीली वस्तुओं की फसलें मुख्यतया चार हैं : चाय, कहवा, तम्बाकू तथा अफीम (opium)।

चाय

हमारा देश संसार भर में सबसे प्रमुख चाय उत्पन्न करने वाला देश है। गर्म जलवायु में उत्पन्न होने वाली एक झाड़ी से चाय बनाई जाती है। चाय की झाड़ी गरमी और पानी की शौकीन होती है। जड़ के पास रुका हुआ पानी चाय को नुकसान पहुँचाता है। इसीलिये चाय बहुधा पहाड़ के ढालों पर उत्पन्न

की जाती है जिससे कि पानी बह जाय। भारतवर्ष मे आसाम सबसे अधिक चाय उत्पन्न करने वाला प्रान्त है। कुल भारतीय पैदावार का आधा भाग आसाम में उत्पन्न होता है। बगाल भी काफी चाय पैदा करता है। उसके पश्चात् मद्रास का नाम आता है पर उसका महत्व बहुत कम है।

हमारे देश के अन्दर चाय का उपभोग बहुत नहीं होता। अतः हमारी उत्पत्ति का बड़ा भाग निर्यात के लिये प्राप्त हो जाता है। ससार में जितनी भी चाय का उपभोग किया जाता है उसका ४०% भाग भारतवर्ष उत्पन्न करता है। इगलैंड हमारी चाय का सबसे महत्वपूर्ण खरीदार है। कुछ काल बीते जावा और सुमात्रा की चाय ने हमारे लिये कठिन समस्या उत्पन्न कर दी थी। हमारे चाय के व्यवसाय में सकट (crisis) सा आ गया था। किन्तु चाय की पैदावार कम करके और भारतवर्ष के अन्दर चाय के उपभोग के लिये प्रचार करके इस सकट का सामना किया गया।

कहवा

कहवा भी चाय की तरह पेय पदार्थ है और इसको भी चाय की तरह की जलवायु चाहिये। भारतवर्ष में यह मुख्यत. दक्षिणी पठार पर ही उगता है। मैसूर, कुर्ग और ट्रावनकोर इसके लिये प्रसिद्ध हैं। भारतवर्ष से कहवे का काफी मात्रा में निर्यात होता है। हम जावा और लका से कहवे का आयात भी करते हैं, जिससे फिर निर्यात कर दिया जाता है। हमारा स्वय अपना उपभोग तो बहुत ही कम है।

तम्बाकू

भारतवासियों के उपभोग पदार्थों में तम्बाकू का एक महत्वपूर्ण स्थान है। तम्बाकू भारतवर्ष मे कसरत से उत्पन्न होता है। मद्रास, बगाल, बिहार और उड़ीसा इसके लिये प्रसिद्ध हैं। वैसे यह गुजरात और बम्बई में भी पैदा किया जाता है। तम्बाकू की फसल दिसम्बर से जून तक रहती है।

हमारे देश में उत्पन्न होने वाला तम्बाकू लगभग सारा का सारा देश में भ प्रयुक्त कर लिया जाता है। यह हुक्का या बीड़ी पीने में काम आता है। कुछ लोग इसे पान के साथ भी खाते हैं। भारतीय तम्बाकू की किस्म बहुत अच्छ नहीं होती। इस बात का उद्योग हो रहा है कि हम अच्छी किस्म की तम्बाक उत्पन्न करने लगें जो कि सिगार और सिगरेट बनाने के काम आ सके।

अफीम

अफीम एक पेड़ के फल का सूखा हुआ रस होता है। लगभग ४० वर्ष पीछे, इसे "रुपये की फसल" (Money crop) कहा जाता था। सन् १९११ ई० में भारत सरकार ने चीन से एक राजीनामा कर लिया जिसके अनुसार भारतवर्ष ने अफीम का निर्यात चीन को बंद कर दिया। देश के अन्दर भी अफीम का उपभोग बहुत कम हो गया है। इन दोनों कारणों से अब अफीम का व्यापार नष्टप्राय हो चुका है। बिहार और उत्तर प्रदेश में अफीम कड़े सरकारी निरीक्षण में उत्पन्न की जाती है। इन्दौर, ग्वालियर और भोपाल भी अफीम की उत्पत्ति के लिये प्रसिद्ध हैं।

§ ३. अन्य फसलें : कच्चा माल

भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाले मुख्य कच्चे माल कपास, सन, तिलहन और नील हैं।

कपास :

व्यापारिक फसलों में सर्वप्रथम स्थान कपास का है। इस फसल में लगभग ११ करोड़ एकड़ भूमि लगाई जाती है। देश के विभाजन के पहले संसार भर में प्रमुख कपास पैदा करने वाले देशों में पहला नाम यू० एस० ए० का था और दूसरा भारतवर्ष का। किन्तु पाकिस्तान के पास बहुत सा कपास उत्पन्न करने वाला भाग चला गया है और अब भारत केवल २४ लाख गाँठ कपास पैदा करता है जब कि विभाजन के पहले यह पैदावार ३५ लाख गाँठ थी। अतः अब हमें कपास का आयात करना पड़ता है। इसके लिये सूखी भूमि, सिंचाई, गर्मी और काफी धूप चाहिये। भारतवर्ष में यह काली मिट्टी के प्रदेश में पैदा की जाती है जो हमारी कुल पैदावार का ५०% भाग उत्पन्न करता है। कपास के लिये बम्बई और मध्य-प्रान्त सबसे प्रमुख प्रान्त हैं। पञ्जाब, मद्रास और उत्तर प्रदेश में भी कपास पैदा होता है।

भारतीय कपास छोटे रेशे का होता है। अत यह खराब क़िस्म का होता है और अच्छे महीन वस्त्र बनाने के लिये अनुपयुक्त है। साथ ही साथ, कपास की प्रति-एकड़ पैदावार भी बहुत कम है। कपास की क़िस्म तथा प्रति-एकड़ पैदावार में उन्नति करने के लिये उद्योग किये जा रहे हैं। इस संबन्ध में कृषि-विभागों तथा इंडियन सेंट्रल काटन कमिटी ने सराहनीय कार्य किया है। इस कमिटी की सिफारिशों के अनुसार, सरकार ने मिलावट रोकने तथा कपास की बिक्री में सुविधाएँ प्रदान करने के लिये कई कानून (Cotton Acts) भी बनाये हैं।

सन या जूट

देश के विभाजन के पहले भारतवर्ष संसार भर में सबसे अधिक सन उत्पन्न करता था। जूट को नम और गरम जलवायु तथा उपजाऊ और नर्म भूमि की आवश्यकता होती है। बंगाल में इसकी उत्पत्ति के लिये आदर्श दशाएँ विद्यमान थीं जिनके फलस्वरूप वह भारतवर्ष का सबसे महत्वपूर्ण सन उत्पन्न करने-वाला प्रान्त बन गया था। हमारी पैदावार का ९०% बंगाल से आता था और शेष १०% बिहार, उड़ीसा और आसाम से आता था। किन्तु विभाजन होने के कारण अधिकांश जूट उत्पन्न करने वाला प्रदेश अब पाकिस्तान में चला गया है, और अब भारत में केवल १५ लाख गाँठ जूट पैदा होता है और पाकिस्तान में ६५ लाख गाँठ।

विभाजन के पहले से ही जूट की उत्पत्ति आसाम आदि में बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा था। विभाजन के बाद से अन्य प्रान्त भी जूट उत्पन्न करने लगे है जिनमें मद्रास का नाम उल्लेखनीय है। अत १९४८ में भारत में लगभग ८ लाख एकड़ भूमि पर जूट उत्पन्न किया गया, और कुल उत्पत्ति बढ़ कर २० लाख गाँठ हो गई। पर यह हमारी मिलों के लिये बहुत थोड़ा है और हमें बहुत सा जूट अब पाकिस्तान से आयात करना पड़ता है। आशा है कि बहुत शीघ्र जूट की पैदावार हमारे देश मे काफी बढ़ जायगी और इस दिशा मे जो प्रयत्न किये जा रहे हैं वे सफल होंगे।

सिल्क

भारतवर्ष सिल्क भी उत्पन्न करता है। सिल्क का कीड़ा शहतूत के पेड़ पर रहता है। हमारे देश में सिल्क आसाम, बंगाल और कुछ पहाड़ी प्रदेशों में उत्पन्न होती है।

तिलहन

तिलहन को "निर्यात-फसल" (export crop) कहा जाता है। इनमें मूँगफली, अलसी, सरसों, तिल और अरंडी शामिल हैं। तिलहन की फसलें जोखिम की वस्तु हैं क्योंकि तिलहन के दाम बहुत उतरते चढ़ते रहते हैं। फिर भी, तिलहन सारे देश में खूब पैदा किये जाते हैं।

मूँगफली—मूँगफली भारतवर्ष की आदि फसल नहीं : यह कुछ काल से ही भारतवर्ष में उत्पन्न की जाने लगी। किन्तु अब भारतवर्ष की कृषि व्यवस्था में इसने महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है। मुख्यत सन् १९२२ ई० से इसका प्रसार शीघ्रता के साथ हुआ है। यह दक्षिणी भारत में—मुख्यतः मद्रास, बम्बई

और हैदराबाद में—उत्पन्न होती है। द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप विदेशी बाजारों का लोप हो गया और मूँगफली की कीमतें बहुत गिर गई।

अलसी—अलसी मुख्यतः निर्यात के लिये उत्पन्न की जाती है। इस शताब्दी के आरम्भ में भारतवर्ष अकेला ही संसार भर की अलसी की माँग संतुष्ट करता था, किन्तु अब विदेशों से स्पर्द्धा होने लगी है और हमारे विदेशी बाजार सिकुड़ गये हैं। अलसी उत्पन्न करने के लिये मध्य-प्रान्त, संयुक्त-प्रान्त, बिहार और उड़ीसा प्रमुख हैं। वैसे अलसी देश भर में पैदा की जाती है। सन् १९३४ की क्राप प्लानिंग कान्फ्रेंस ने अलसी की पैदावार बढ़ाने की सिफारिश की थी।

सरसों—सरसों ऐसे स्थान पर होती है जहाँ वर्षा और ताप दोनों अधिक हों। यह अधिकतर उत्तर प्रदेश, बंगाल, पंजाब, बिहार आदि में पैदा होती है। यह यू० के०, इटली, बेल्जियम आदि को जाती थी।

तिल—तिल प्रायः सभी प्रान्तों में बोई जाती है। पर बम्बई, मद्रास, सी० पी० आदि इसके लिये प्रसिद्ध हैं। संसार की एक-चौथाई पैदावार हमारे देश में होती है।

अरंडी—अरंडी के लिये अधिक वर्षा चाहिये। यह मद्रास, हैदराबाद, बम्बई और सी० पी० में पैदा होती है। यह यू० के०, फ्रांस, संयुक्तराष्ट्र और जर्मनी आदि को जाती थी।

तिलहन के निर्यात की समस्या—हमारे देश में तिलहन के निर्यात की समस्या एक बड़ी आर्थिक समस्या रही है। यदि भारतीय तेल उद्योग की यथेष्ट उन्नति हो जाय तो सारा तिलहन हमारे देश में ही काम आने लगे। तब हमें तेल तो मिलने ही लगे, साथ ही साथ खली, जो बहुमूल्य खाद है, वह भी प्राप्त हो जाय। अब तक हम तिलहन का निर्यात करते रहे हैं। और उसके बदले में तेल का आयात करते रहे हैं। खली विदेश में ही रह जाती है। यह हमारी बड़ी हानि है। अतएव बहुत से अर्थशास्त्रियों का मत है कि तिलहन के निर्यात का निषेध कर देना चाहिये।

नील

कुछ काल पूर्व नील भारतवर्ष की एक महत्वपूर्ण फसल थी। यह मद्रास, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और पंजाब में उत्पन्न होती थी। किन्तु कृत्रिम नील के चल जाने से, जो बहुत सस्ता होता है, इस फसल का विनाश हो गया। इस फसल का भविष्य बहुत ही चिन्ताजनक है।

अभ्यास के प्रश्न

१. भारत की महत्वपूर्ण फसलें कौन हैं ? अधिक महत्वपूर्ण फसलों पर विस्तृत टिप्पणियाँ लिखिये।

२. गेहूँ, चावल, रुई, जूट और चाय पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये।

३. पेय पदार्थों और नशीली वस्तुओं के वर्ग की महत्वपूर्ण फसलें कौन सी हैं ? उनकी उत्पत्ति तथा उपयोग की विवेचना कीजिये।

४. इस देश में उत्पन्न होने वाले कृषि संबंधी कच्चे माल पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इंटर आर्ट्स,

१. विस्तृत और गहरी खेती पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१६४८, १६४६)

२. "विस्तृत और गहरी खेती हर देश में साथ ही साथ चलती है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिये। (१६४५)

३. 'भारतवर्ष' का एक चित्र बनाइये और इसमें प्रधान फसलों, खनिज पदार्थों तथा आधुनिक उद्योगों को दिखाइये। (१६४१)

राजपूताना, इंटर आर्ट्स

4 What are the main agricultural products of India? Account for their geographical distribution (1940)

5 Describe the distribution of raw materials in the different parts of India and state their importance in the development of our industries (1932)

नागपुर, इंटर आर्ट्स

6 Write a note on Intensive Cultivation (1949)

7 Write short notes on (a) food crops and cash crops, and (b) causes of Indian Famines (1947)

8 What reasons would you adduce to explain the low yields of Indian crops as compared with those of other countries? (1945)

9 Explain fully what is meant by saying that there are two margins of cultivation, the extensive and the intensive (1945)

नागपुर, इंटर कामर्स

१० निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखिये : (क) विस्तृत तथा गहरी खेती, (ख) खाद्य तथा नकद फसलें, (ग) भारतीय अकालों के कारण (१६४७)

११. "अकाल से रक्षा" पर एक टिप्पणी लिखिये। (१६४६)

अध्याय ३१

भारतवर्ष में सिंचाई

कृषि की सफलता के लिये पर्याप्त मात्रा में जल की प्राप्ति नितांत आवश्यक है। यही कारण है कि भारतवर्ष की कृषि-प्रधान आर्थिक व्यवस्था में वर्षा का इतना ऊँचा स्थान है। किन्तु हमारे देश मे वर्षा की मात्रा, समय और स्थान, सभी अनिश्चित होते हैं। अतः उसके आधार पर स्थायी कृषि की नींव नहीं डाली जा सकती। इस कमी को दूर करने के लिये प्राचीन काल से ही मनुष्य खेतों की कृत्रिम रीतियो द्वारा सिंचाई करते रहे हैं, और अब सारे देश भर में खेतों की सिचाई एक सामान्य बात हो गई है। सिचाई के महत्व के निम्नलिखित कारण हैं :

(१) भारतवर्ष मे बरसात केवल तीन ही महीनों तक सीमित होती है ; और इसके अतिरिक्त उसका समय और स्थान भी अनिश्चित होता है। कुछ क्षेत्र तो ऐसे हैं जहाँ वर्षा सर्वदा ही बहुत कम होती है और बिना कृत्रिम खेती करना असम्भव है। सिन्ध और राजपूताना ऐसे ही प्रान्त हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ किसी-किसी वर्ष वर्षा कम होती है और जिन्हे अकाल का भय बना रहता है। संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, मध्य भारत और मद्रास अकाल-क्षेत्र में आते हैं। ऐसे सारे प्रान्तों मे कृषि के लिये या मनुष्यों को अकाल से बचाने के लिये सिचाई नितांत आवश्यक है।

(२) हमारे देश मे कुछ फसलें ऐसी भी हैं जिन्हे काफी पानी काफी समय तक बराबर चाहिये। इतना पानी वर्षा द्वारा प्राप्त नहीं हो पाता और सिचाई का आश्रय लेना पड़ता है। उदाहरण के लिये धान और गन्ना सिंचाई द्वारा उत्पन्न होते हैं।

(३) भारतवर्ष की जनसख्या तेजी से बढ रही है। और अब दूसरी या जाडे की फसल उत्पन्न करना आवश्यक हो गया है। किन्तु भारतवर्ष में जाड़ों में पानी नहीं बरसता। अतः सिंचाई का उपयोग आवश्यक हो गया है।

भारतवर्ष मे सिंचाई के कारण

यदि हम इलाहाबाद को छूती हुई एक रेखा उत्तर से दक्षिण तक खींच दें तो भारतवर्ष पूर्वी और पश्चिमी विभागों में बट जाता है। पश्चिमी भाग में

सिंचाई बहुत महत्वपूर्ण है और पूर्वी भाग में अपेक्षाकृत बहुत कम। पश्चिमी भारत में जहाँ भी पानी की कमी है और बड़ी-बड़ी नदियाँ विद्यमान हैं, वहाँ नहरें
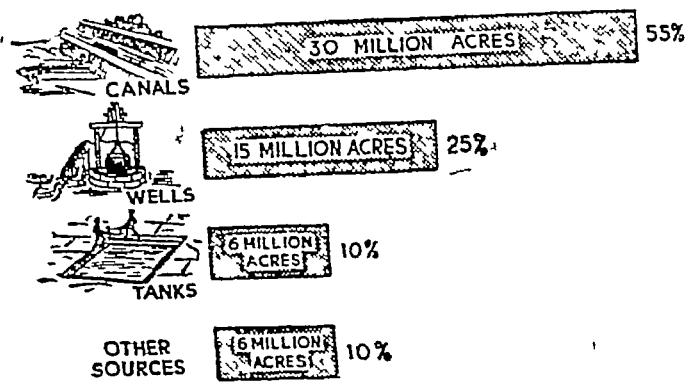
चित्र ५४—भारतवर्ष में सिंचाई के साधन

बना ली गई हैं। और भी कई नई-नई नहरें बनाने का आयोजन किया जा रहा है। किन्तु नहर के बनाने के लिये बहुत सा धन चाहिये तथा पानी भी बराबर मिलते रहना चाहिये, और जहाँ भी यह दोनों बातें नहीं पाई जातीं वहाँ कुए बना लिये गये हैं। नहरों की अपेक्षा कुएँ बनाने तथा चालू रखने में बहुत कम खर्च होता है। जहाँ नहरें और कुएँ, दोनों में से एक भी नहीं बन सकते, वहाँ तालाब बना दिये गये हैं जिनमें पानी बरसात में भर जाता है और फिर आवश्यकतानुसार उसको काम में लाया जाता है। अतः भारतवर्ष में सिंचाई के तीन प्रमुख साधन हुये—नहर, कुएँ और तालाब। भारतवर्ष में सिंचाई का लाभ उठाने वाला क्षेत्रफल केवल ५ करोड़ एकड़ है, जो कुल जोते जाने वाले क्षेत्रफल का पाँचवाँ भाग है। विभाजन के पहले सींचे जाने वाले क्षेत्रफल का ५५% नहरों द्वारा, २५% कुओं द्वारा, १०% तालाबों द्वारा तथा शेष १०% अन्य साधनों द्वारा सींचा जाता है।
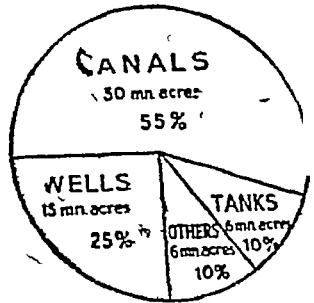
चित्र ५५—सिंचाई के साधनों का सापेक्षिक महत्व

§ १. भारतवर्ष में कुँए द्वारा सिंचाई

वैसे तो कुँए द्वारा सिंचाई समस्त भारतवर्ष में की जाती है, पर उत्तर प्रदेश में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उत्तर प्रदेश में ११ लाख से अधिक कुँए काम में लाये जाते हैं। दूसरा नम्बर मद्रास का आता है जिसमें ६½ लाख कुए पाये जाते है। पूर्वी पजाब, बम्बई, मध्य-प्रान्त और राजपूताना क्रमशः इसके बाद आते हैं।

हमारे देश में जहाँ भी अनुकूल दशाएँ विद्यमान हैं, वहीं पर कुँए खोद दिये गये हैं। जहाँ भी भूमि मुलायम है और पानी कम निचाई पर है, वहीं पर कुँए पाये जाते हैं। पानी के कम निचाई पर मिलने से यह लाभ होता है कि कुँआ कम गहरा होता है और उसके खोदने तथा बनने में कम खर्चा होता है, इसके अतिरिक्त, पानी खींचने में भी कम समय लगता है। मुलायम मिट्टी आसानी और शीघ्रता से खोदी जा सकती है। इन दोनों दृष्टिकोणों से दोमट मिट्टी (alluvial soil) बहुत अच्छी है। इसे आसानी से खोदा जा है सकता और इसमें पानी थोड़ी ही निचाई पर मिल जाता है। कपास वाली काली मिट्टी बहुत घनी होती है, इस कारण उसके अन्दर खोदे गये कुँओं की बहुत समय तक मरम्मत नहीं करानी पड़ती।

कुँए बनाने की आदर्श अवस्थायें गंगा के मैदान मे मिलती हैं और इसीलिये यह क्षेत्र कुँओं के लिये भारतवर्ष में सबसे प्रमुख क्षेत्र है। मुख्यतया पश्चिमी उत्तर प्रदेश में बहुत-से कुँएँ हैं। बनारस से लेकर दिल्ली तक का सारा क्षेत्रफल कुओं से चलनी की तरह छिदा हुआ है। कपास की काली मिट्टी वाला क्षेत्र भी कुँओं के लिये प्रसिद्ध है। बिहार और आसाम मे भी काफी कुँए है।

उत्तर प्रदेश में कुँए

ऊपर बताया जा चुका है कि उत्तर प्रदेश में कुँए अन्य प्रान्तों के मुकाबले में सबसे अधिक हैं।

ट्यूब के कुँए—हाल में ही ट्यूब के कुँए चल जाने से उत्तर प्रदेश में कुँए द्वारा सिंचाई को बहुत प्रोत्साहन मिला है। बहुत से कुँओं को बडे-बडे ट्यूब के कुँओ में परिणत कर दिया गया है और उनमें बिजली के पम्प लगा दिये गये हैं। बहुत से नये ट्यूब के कुँए भी बनाये गये हैं। उत्तर प्रदेश में इतने ट्यूब के कुँओं का बनाना सरकारी दिलचस्पी तथा सहायता का ही फल है।

उत्तर प्रदेश में सरकार ने ट्यूब के कुओं की एक स्कीम (Ganges State Tubewell Scheme) चलाई है जिसका उद्देश्य पश्चिमी उत्तर प्रदेश का भूमि के नीचे एकत्रित जल को (ट्यूब के कुओं द्वारा) सिंचाई के काम में लाना है। जिस क्षेत्र में होकर "गंगा की जल-विद्युत् वाली ग्रिड" (Ganges Hydro-Electric Grid) गुजरती है, वहाँ बहुत से उपजाऊ खेत हैं। किन्तु नदियों में पानी सीमित होने के कारण नहरों द्वारा उनमें पानी नहीं पहुँचाया जा सकता। पर काम करने के लिये ही ट्यूब के कुओं की स्कीम का श्रीगणेश किया गया। इस स्कीम के अन्तर्गत १,५०० ट्यूब के कुँए बन चुके हैं और वे लगभग ७ लाख एकड़ भूमि सींचते हैं।

कुँए द्वारा सिंचाई का भविष्य

कुँए द्वारा सिंचाई का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। कुओं की सबसे बड़ी अच्छाई उनका सस्तापन है, और बहुत से किसान स्वय अपने खर्च से कुँए बना सकते हैं। फिर सरकार उन किसानों को जो कुँए बनवाना चाहते हैं धन-सम्बन्धी सहायता भी देती है, इससे भी कुँए की सिंचाई को प्रोत्साहन मिल रहा है। ट्यूब के कुँए काम में बहुत अच्छे होते हैं और सस्ते भी होते हैं।

§ २. तालाब द्वारा सिंचाई

भारतवर्ष में अनेक जगह बरसात का पानी तालाबों में एकत्रित कर लिया जाता है, और फिर बाद को सूखे मौसम में इस पानी का सिंचाई के लिये प्रयोग किया जाता है। तालाब द्वारा सिंचाई की प्रथा हमारे देश मे प्राचीन काल से चली आई है। मध्य और दक्षिणी भारत में बहुत से तालाब मिलते हैं। इन क्षेत्रों मे नहरें नहीं बनाई जा सकतीं क्योंकि एक तो वहाँ की नहरें गर्मी में सूख जाती हैं और दूसरे वहाँ चट्टानों और पथरीली भूमि होने के कारण खुदाई करने में बहुत कठिनता होती है। वहाँ कुँए भी नहीं खोदे जा सकते क्योंकि भूमि पथरीली होती है और पानी की निचाई गहरी। भाग्यवश पहाड़ी और टूटी-फूटी भूमि में तालाब आसानी से बन सकते हैं। बहुत से पुराने तालाब प्रयोग में न होने के कारण टूटे-फूटे पड़े हैं, जिनका पुनरुद्धार किया जा रहा है। यह नीति बहुत अच्छी है और इसका पालन करना आवश्यक है।

§ ३. नहरों द्वारा सिंचाई

देश मे सिंचाई का सर्व-प्रमुख साधन नहरें हैं। नहरें बनाने में बहुत धन लगाना पड़ता है जो किसानों के वश की बात नहीं। अत. नहरें सरकार स्वय

बनवाती है। ब्रिटिश सरकार को हमारे देश में सबसे पहले नहरें बनवाने का श्रेय प्राप्त नहीं क्योंकि हमारे हिन्दू और मुसलमान राजाओं ने भी कुछ नहरें बनवाई थीं, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने नहरों पर विशेष जोर दिया और आज भारतवर्ष में संसार में सबसे शानदार नहर-प्रणाली पाई जाती है। भारतवर्ष की सब नहरों की लम्बाई ७५,००० मील है। इतनी लम्बी नहरें अन्य किसी देश में नहीं।

बरसाती (Inundation) तथा अक्षय (Perennial) नहरें—नहरें दो प्रकार की होती हैं : बरसाती और अक्षय। बरसाती नहरें नदियो में से निकाली जाती हैं और उनके उद्गम स्थान पर कोई बाँध नहीं बनाया जाता। अतः जब तक नदी मे पानी की सतह एक खास ऊँचाई तक नहीं पहुँचती, तब तक ऐसी नहरो में पानी नहीं आता। उनमे पानी तभी आता है जब नदियो में बाढ़-सी आ गई हो, कम पानी होने पर नहीं। अक्षय नहरे उन नदियों से निकाली जाती हैं जिनमे वर्ष पर्यन्त पानी भरा रहता है और इन नहरों के उद्गम-स्थान पर एक बाँध बना दिया जाता है। पानी, जब भी आवश्यकता हो, नदियों से नहरो में लाया जा सकता है, और जितने पानी की जरूरत हो उतना पानी लिया जा सकता है। अतः यदि नदी मे पानी की सतह कम भी हो तब भी नहर में पानी की सतह ऊँची हो सकती है। उत्तर प्रदेश और पूर्वी पंजाब की नहरें इसी प्रकार की हैं।

नहरों का वितरण (Distribution)

भारतवर्ष की अधिकाश नहरें पूर्वी पंजाब या उत्तर प्रदेश मे पाई जाती हैं। इसके निम्नलिखित भौगोलिक कारण हैं :

(१) सिन्धु और गंगा तथा उनकी सहायक नदियों में, पर्वतों पर जमे हुये बर्फ के पिघलने से, साल भर पानी आता रहता है। अतः वे नहरों को सर्वदा पानी दे सकती हैं।

(२) इन प्रान्तों की नहरों का वितरण (distribution) भी बहुत अनुकूल है। उदाहरण के लिये, पंजाब की नदियाँ खुले हुये हाथ की पाँच उँगलियों की भाँति फैली हुई हैं, अतः पंजाब के किसी भी भाग मे आसानी से सिंचाई की जा सकती है। इन प्रान्तों में भूमि की सतह एक-सी और मिट्टी मुलायम होने के कारण, नहरो के बनाने मे बहुत सुविधा भी होती है।

(३) दोमट मिट्टी पानी की प्यासी तो अवश्य होती है पर यदि इसे पानी मिल जाय तो यह उपजाऊ होने के कारण अच्छी फसलें उत्पन्न करती है। वास्तव में, नहरों की लागत व्यापारिक फसलों पर पानी का कर लगाकर बहुत अच्छी तरह वसूल की जा सकती है।

उत्तर प्रदेश की नहरें

नहरों के दृष्टिकोण से पंजाब के बाद उत्तर प्रदेश का नम्बर आता है। उत्तर प्रदेश की समस्त नहरें अक्षय (perennial) हैं। उनका वितरण नीचे के चित्र में दिखाया गया है। मुख्य नहरें पूर्वी जमुना नहर (Eastern Jamuna-Canal), आगरे की नहर (Agra Canal), अपर गंगा नहर (Upper
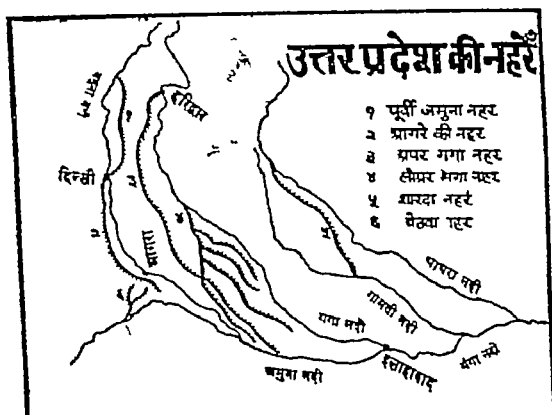
चित्र ५६

Ganges Canal), लोअर गंगा नहर (Lower Ganges Canal), बेतवा नहर और शारदा नहर (जो गोमती और घाघरा को मिलाती है) हैं।

शारदा नहर—यह नहर सन् १९२८ ई० में खोली गई और नहर इंजीनियरिंग का कुशल नमूना है। इसके खुल जाने से अवध के अधिकांश जिलों में सिंचाई होने लगी है। इसके द्वारा लगभग १० लाख एकड़ भूमि सींची जाती है और इस भूमि पर अधिकतर गन्ने की खेती होती है। यह नहर सन् १९३० ई० में बनकर पूरी हुई और इसके बनाने में लगभग १० करोड़ रुपये खर्च हुए।

पूर्वी पंजाब की नहरें

देश के विभाजन के पहले देश भर में सबसे अच्छी नहर प्रणाली पंजाब में थी। किन्तु विभाजन होने के कारण अब पूर्वी पंजाब में केवल चार नहरें शेष बची हैं :

(१) पश्चिमी जमुना नहर—यह नहर सन् १८०० में बनी और यह दक्षिणी पंजाब को पानी देती है।

(२) अपर बारी दोआब नहर—यह सन् १८५० में बनाई गई। यह रावी नदी से निकाली गई है और अमृतसर आदि जिलों को पानी देती है।

(३) सरहिंद नहर—यह सन् १८८८ में बनाई गई और सतलज नदी से निकली है। यह लगभग दो लाख एकड़ भूमि सींचती है।

(४) सतलज घाटी की नहर—यह सन् १९३२-३३ में बन कर तैयार हुई। भारत सरकार और बीकानेर तथा भागलपुर की रियासतें इस नहर में साझेदार थीं। इसकी लागत २१ करोड़ रुपये हुई जिसमें से ९ करोड़ रुपये भारत सरकार ने दिया।

चित्र ५७

चित्र ५८-पूर्वी पंजाब की नहरों का आसान स्केच

मद्रास मे नहरें

सामान्यतया दक्षिणी भारत नहरों में गरीब है। इस भाग की सबसे पुरानी और बड़ी नहरें मद्रास प्रेसिडेंसी में पाई जाती हैं। मद्रास प्रान्त के उत्तरी भाग में कुछ छोटी-छोटी (Tidal) नहरे अकाल के समय मनुष्यों की सहायता करने की दृष्टि से बनाई गई हैं। पैरियर नहर-प्रणाली (Periyar System), इस भाग की एक महत्वपूर्ण प्रणाली है। पैरियर नदी पहले अरब सागर में जाकर गिरती थी। किन्तु अब एक सुरंग बनाकर इस नदी का पानी पूर्वी किनारे की ओर मोड़ दिया गया है और अब यह मदुरा के जिले को पानी देती है। इसके द्वारा

लगभग १० लाख एकड भूमि जोती जाती है। सन् १९३४ ई० मे एक दूसरी नहर, कावेरी मेटर प्रोजेक्ट (Kaveri Mettur Project) बनकर समाप्त हुई। इसका उद्देश्य है कि कावेरी डेल्टे मे अपर्याप्त पानी की मात्रा मे वृद्धि की जाय।

बम्बई प्रान्त के बाँध

बम्बई प्रात में दो महत्वपूर्ण बाँध हैं :

(१) भदरदारा बाँध (Bhandardara Dam)—इस बाँध को भारतवर्ष में सबसे बडा बाँध होने की ख्याति प्राप्त है। यह गोदावरी की एक सहायक नदी का पानी लेता है और अहमदनगर जिले में लगभग ६०,००० एकड़ भूमि की सिचाई करता है।

(२) लायड बाँध (Lloyd Dam)—यह कृष्णा नदी की एक सहायक नदी पर बना है और पूना तथा शोलापुर जिलों की सिंचाई करता है।

§ ४. भविष्य का कार्यक्रम

भारत के जल-सबधी साधन महान् और विस्तृत हैं। कुल साधन का लगभग ६ प्रतिशत भाग ही अब तक काम में लाया गया है, नदियों का शेष पानी बेकार समुद्र में चला जाता है और बहुधा बाढ के रूप में जीवन और सम्पत्ति का बहुत नुकसान करता है। अतः हाल में इस बात की चेष्टा की गई है कि इस पानी का सिंचाई के लिये उपयोग किया जाय। अत हाल में बहुत से नए-नए काम शुरू किये गये हैं। इन नए कामों के कुछ विशेष लक्षण हैं। एक तो ये बडे पैमाने पर किए जा रहे हैं। दूसरे, अक्षय पानी के स्रोत अब सब काम में लाये जा चुके हैं, इस कारण इस बात की चेष्टा की जा रही है कि बरसात में पानी एकत्रित कर लिया जाय और उसे बाद को काम मे लाया जाय। तीसरे नई योजनाएँ बहु-उद्देश्यवाली हैं और इनका काम सिचाई करना, पानी से बिजली पैदा करना, बाढ को रोकना, मनोरजन के स्थान प्रदान करना आदि हैं।

दामोदर घाटी की योजना (बंगाल और बिहार)—बगाल और बिहार की सरकारों ने, भारत सरकार की सहायता से, एक नया काम आरम्भ किया है जिसे "दामोदर घाटी की सयुक्त तथा बहु-उद्देश्य-वाली उन्नतिकारी योजना" (Unified and Multipurpose Damodar Valley Development Project) कहते हैं। विचार यह है कि दामोदर घाटी पर एक बाध बनाया जाय जो तीन काम करे : (१) बाढ को रोकना, (२) सिचाई के लिये पानी देना, और (३) जल-विद्युत सृजन करना। इसलिये इसे "बहु-उद्देश्य-

वाली उन्नतिकारी योजना" कहते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में पहले टेनेसी की घाटी एक सूखा क्षेत्र था, किन्तु वहाँ अब टी० वी० ए० की योजना ने नई जान फूँक दी है और अब वही घाटी बहुत उपजाऊ खेती के प्रदेश में परिणत हो गई है। टी० वी० ए० (Tennessey Valley Authority) ने ही हमारे देश मे इस नई योजना की प्रेरणा दी है। इस योजना को क्रियात्मक रूप देने के लिये एक नया संगठन—डी० वी० ए० (Damodar Valley Authority) —बनाया गया है।

इस योजना से लगभग ८ लाख एकड़ भूमि को साल भर सिंचाई के लिये पानी मिलता रहेगा। साथ में, इससे पानी की बिजली भी उत्पन्न होगी और दामोदर की घाटी जो बाढ़े आती थीं, वे भी अब रुक जायँगी। इस योजना पर लगभग ५५ करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे।

भाकरा-ननगाल योजना (पूर्वी पंजाब)

इस योजना के अंतर्गत सतलज नदी पर भाकरा नामक गाँव में एक बाँध बनाया जायगा जिसमे पानी एकत्रित किया जायगा। इससे ३५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी भाकरा बांध से ८ मील दूर पर ननगाल बाँध भी बनाया जा रहा है। इस योजना पर १३० करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे।

कोसी योजना (बिहार और नैपाल)

इस योजना के अनुसार नैपाल में ७५० फीट ऊँचा बाँध बनाया जायगा जिसमे से दो नहरें निकाली जायँगी जो नैपाल और बिहार में २० लाख एकड़ से अधिक भूमि की सिंचाई करेंगी। इस योजना पर १०० करोड़ रुपये लगेंगे।

हीराकुड योजना (उड़ीसा)

महानदी नदी पर सभलपुर शहर से ६ मील उत्तर की ओर यह बाँध बनाया जा रहा है जो लगभग ११ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई कर सकेगा। इसकी लागत ५० करोड़ रुपये के लगभग होगी।

रामपद सागर योजना मद्रास

मद्रास मे यह सबसे बड़ी बहु-उद्देश्यवाली योजना है। गोदावरी नदी पर जो बाँध बनाया जा रहा है, वह संसार में सबसे बड़ा होगा। इसमें से तीन नहरें निकाली जायँगी जो २३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेंगी। इस योजना के संपूर्ण होने में १२ साल लगेंगे और इस पर लगभग ६० करोड़ रुपये व्यय करने होंगे। तैयार होने पर यह क्षेत्रफल १० लाख टन चावल प्रति वर्ष उत्पन्न कर सकेगा जिसका मूल्य २४ करोड़ रुपये वार्षिक होगा।

अन्य योजनाएँ

उपरोक्त योजनाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित योजनाओं को रचनात्मक रूप दिया जा रहा है : नर्बदा-ताप्ती योजना (सी. पी. और बम्बई में), रेहन्ड बाँध योजना (उत्तर प्रदेश में), तुंगभद्रा योजना (हैदराबाद और मद्रास में), गोंडक घाटी की योजना (बिहार, उत्तर प्रदेश और नैपाल में) और जवाई नदी की योजना (राजस्थान में)

५. सिंचाई के लाभ और हानियाँ

सिंचाई के लाभ

(१) सिंचाई मानसून के चापल्य (vagaries) के समय कृषक की सहायता करती है और अकाल की अचूक रोकने वाली औषधि है।

(२) इसने बहुत से सूखे और रेगिस्तानी प्रदेश को हँसते हुए खेतिहर प्रदेश में बदल दिया है। उदाहरण के लिये, पंजाब और सिन्ध के बसने और समृद्धि होने का सारा श्रेय सिंचाई को ही है। यह मानवी निवास के नये केन्द्र स्थापित करती है और जनसंख्या का वितरण बदल देती है।

(३) सिंचाई के साधन बन जाने से उप-मिट्टी का पानी (sub-soil water) ऊपर आ जाता है और भूमि इस प्रकार उपजाऊ हो जाती है। साथ ही, कुँओं का बनाना सहल, सस्ता और आर्थिक (economical) हो जाता है।

(४) सिंचाई ने हमारे देश में दो फसलें उत्पन्न करना सम्भव कर दिया है जो कि हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण के लिये बहुत बड़ी बात है।

(५) सिंचाई ने प्रति-एकड़ पैदावार बढ़ा दी है, और क्योंकि खेतों की पैदावार एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जाती है, इसलिए इसने यातायात के साधनों को भी प्रोत्साहन दिया है, और खेती के लाभ (profits) को तो बढ़ाया ही है। सिंचाई ने राष्ट्रीय आय की वृद्धि की है और हमारे देशवासियों की उन्नति में सहायता पहुँचाई है। सिंचाई का शिक्षा-मूल्य भी बहुत है क्योंकि यह बताती है कि मनुष्य प्रकृति पर किस प्रकार विजय प्राप्त कर सकते हैं।

(६) सिंचाई ने सरकारी आय बढ़ा दी है। जो भूमि अब तक बेकार पड़ी थी, उसकी अब जुताई होने लगी है और सरकार को अब उससे मालगुजारी, पानी के टैक्स तथा अन्य व्यापारिक एवं औद्योगिक करों के रूप में आय मिलती है॥

सिंचाई से हानियाँ

सिंचाई से हानियाँ भी होती हैं। ये हानियाँ नहरों के बनने से विशेषकर प्रकट होती हैं। नहरों के बनने से कभी-कभी मिट्टी में पानी की अधिकता (water-

logging) हो जाती है और कभी-कभी भूमि में कुछ रासानिक प्रतिक्रियाए होने लगती हैं। इनके फलस्वरूप बहुत-सी भूमि बेकार हो गई है। पानी की अधिकता हो जाने से मलेरिया तथा अन्य बीमारियाँ फैलने लगती हैं जो सहस्रों व्यक्तियों को मौत के मुँह में ढकेलतीं और उनसे भी अधिक को अशक्त और अकुशल बना देती

सरकारी साधन

देश के प्रमुख सिंचाई के साधन सरकारी सम्पत्ति हैं। सरकारी साधनों को उत्पादक साधन और अनुत्पादक साधनों की श्रेणियों में विभाजित किया जाता । दोनों प्रकार के साधन मिलकर लगभग ३ करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई करते हैं। उत्पादक साधन वे कहलाते हैं जो बनने से दस साल के अन्दर ही अन्दर अपनी लागत पर ८ आने वाली ब्याज तथा अपने चालू खर्चे (working expenses) देने लायक आय उत्पन्न करने लगते हैं। अनुत्पादक साधन इतनी आय उत्पन्न करने में सफल नहीं होते। वे उन क्षेत्रों में बनाये जाते हैं जहाँ सूखे और अकाल का भय बना रहता है, जिससे कि अकाल न पडे और अकाल के समय सहायता-संबधी व्यय बच जाय। उत्पादक साधन ऋण से बनाये जाते हैं, किन्तु अनुत्पादक साधन वार्षिक आय तथा अकाल के समय सहायता करने के लिये सालाना ग्राट से बनाये जाते हैं। हमारे देश के अधिकाश बडे बडे सिंचाई के साधन उत्पादक हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१. भारत की आर्थिक व्यवस्था के लिये सिंचाई की क्या आवश्यकता है? इस देश में पाये जानेवाले सिंचाई के महत्वपूर्ण साधन कौन हैं?

२. सिन्ध-गगा का मैदान कुओं के लिये अधिक प्रसिद्ध है तथा दक्षिणी भारत तालाबों के लिये। ऐसा क्यों है? सिंचाई के इन दोनों साधनों के विषय में आप जो कुछ जानते हैं लिखिये।

३. बरसाती तथा अक्षय नहरों में क्या अन्तर है? इसका क्या कारण है कि अधिकतर नहरें पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में पाई जाती हैं?

४. "भारत में नहरों का काम और उनका वर्तमान और भविष्य" पर एक निबन्ध लिखिये।

५. साधारण रूप में सिंचाई के तथा विशेषतया नहर की सिंचाई के लाभ तथा हानियाँ बतलाइये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इंटर आर्ट्स

१. भारतीय कृषि को सिंचाई के साधनों से क्या लाभ हुआ है? भारत के विभिन्न भागों में सिंचाई के कौन-कौन विभिन्न साधन काम में लाये जाते हैं? उनका सापेक्षिक महत्त्व बताइये। (१६४७)

२. भारत को सिंचाई के साधनों से क्या लाभ हो सकते हैं और उनके विकास के लिये क्या क्षेत्र है? भारत में अकाल से रक्षा प्राप्त करने के लिये आप सिंचाई के साधनों को आप बढ़ावेंगे या रेलों को? (१६४५)

३. भारत में प्रयुक्त होने वाली सिंचाई की विभिन्न रीतियाँ कौन सी हैं? नहर की सिंचाई के लाभ तथा हानियाँ बतलाइये। (१६४२)

४. भारत में कृत्रिम सिंचाई के क्या प्रधान साधन हैं? उत्तर प्रदेश को नहर द्वारा सिंचाई से क्या लाभ होते हैं? यह कैसे होता है कि कुछ नहरों से सरकार को लाभ होता है और कुछ से हानि। (१६३५)

राजपूताना, इंटर आर्ट्स

5 What are the principal ways in which irrigation is practised in India? Explain the many advantages of such irrigation. (1941)

नागपुर, इंटर आर्ट्स

6 Briefly show the importance of irrigation in India (1948)

सागर, इंटर आर्ट्स

7. Discuss the need of irrigation in India and briefly describe the main types of irrigation works in the country (1949)

अध्याय ३२

भारतवर्ष में शक्ति (Power) के साधन

जिस प्रकार कृषि के उन्नति के लिए सिंचाई आवश्यक है, उसी प्रकार औद्योगिक उन्नति के लिए शक्ति आवश्यक होती है। 'शक्ति' का शाब्दिक आशय ताकत या जोर से है, किन्तु अत्र इसका प्रयोग मशीन चला सकने वाली यत्र-जन्य शक्ति के अर्थ में होने लगा है। उद्योगो की उन्नति दो तात्विक पदार्थों पर निर्भर होती है : शक्ति और कच्चे माल पर। बहुत सी बडी-बडी मशीनें, जो मनुष्य या पशु नही चला सकते, वे शक्ति द्वारा चालू की जाती हैं। आधुनिक उद्योगो के लिये शक्ति का क्या महत्व है, यह इस बात से जाना जा सकता है कि जिन स्थानों में शक्ति सस्ते दर पर और आसानी से प्राप्य होती है वहाँ उद्योगों का स्थानीयकरण (Localisation) होने लगता है। शक्ति की प्राप्ति केवल बडे पैमाने के उद्योगो के लिये ही नहीं, प्रत्युत घरेलू उद्योगों के लिये भी बहुत आवश्यक हो गई है। जर्मनी, जापान, स्विटजरलैंड आदि देशों में सहस्रों घरेलू मजदूर, शक्ति के प्रताप से, अपनी झोंपड़ियो मे, स्त्री-बच्चो के बीच, स्वास्थ्यपूर्ण, खुले और सस्ते वातावरण में, अपनी जीविका कमाते हैं। कृषि मे भी, अनेकों यंत्र—जैसे ट्रैक्टर, ऐलीवेटर, आदि—शक्ति द्वारा ही चलाये जाते हैं। यातायात के क्षेत्र मे भी शक्ति ही चालक बल (Motive Force) प्रदान करती है। हम अपनी आर्थिक-प्रणाली मे चाहे जिस पहलू पर दृष्टि डालें, हमे शक्ति का महत्व सब ओर महान् ही दिखाई देगा।

हमारे देश में शक्ति के साधन कई हैं। शायद ही शक्ति का कोई ऐसा साधन हो जो भारत में विद्यमान् न हो। शक्ति के प्रधान साधन निम्नलिखित हैं : (१) मनुष्य, (२) पशु, (३) वायु, (४) ईंधन, (५) कोयला, (६) तेल, और (७ पानी।

§ १. मनुष्य, पशु, कोयला, आदि

मानवी-शक्ति

मनुष्य स्वयं शक्ति का साधन है, यद्यपि मनुष्य-जन्य शक्ति की मात्रा बहुत सीमित होती है। किसी भी देश की कुल मानवी शक्ति का संबंध उस देश की जन-संख्या और वहाँ के निवासियो की कार्यक्षमता से होता है। भारत की जनसंख्या

तो बहुत अधिक है, पर भारतवासी कमजोर होते हैं, अन्य शब्दों में, हमारे देश की मानवी-शक्ति गणना के हिसाब से तो महान् है किन्तु कार्यक्षमता की दृष्टि से गई-बीती है। हमारे देशवासी इतने निर्धन होते हैं कि उन्हें स्वास्थ्य-वर्धक भोजन, स्वास्थ्यप्रद घर और जीवन की अन्य आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त नहीं होतीं, अतः वे शरीर से बहुत अशक्त होते हैं। देश में फैलने वाले छोटे और बड़े रोगों के वे आसानी से शिकार भी बन जाते हैं और ये रोग उन्हें और भी अशक्त बना देते हैं। शारीरिक अशक्ति के साथ ही साथ, हमारे देशवासी अशिक्षित भी होते हैं और इसलिये उनका बौद्धिक स्तर नीचा होता है। यदि भारतवासी पेट भर भोजन प्राप्त करने मे असमर्थ हैं, तो वे शिक्षा प्राप्त करने में और भी असमर्थ हैं। किन्तु जनसख्या के आधिक्य तथा रहन-सहन के नीचे स्तर के परिणाम-स्वरूप भारत में श्रम सस्ता है, और यह यत्रों के प्रयोग में अवश्य बाधक होगा।

पशु-शक्ति

पशु भी शक्ति के साधन हैं, और वे बहुत से काम--जो मानवी-शक्ति के परे हैं—सम्पन्न कर सकते हैं। हमारे, देश में पशु-शक्ति का बड़ी मात्रा में प्रयोग होता है। देश की कृषि व्यवस्था में, गाय-बैलों का महत्त्वपूर्ण स्थान है . वे पानी खींचने, खेत जोतने, वस्तुएँ लाने-ले जाने तथा अन्य कामों के लिये शक्ति प्रदान करते हैं। हमारे देश में ६ करोड़ बैल हैं जो ३० करोड एकड़ भूमि की सिंचाई करते हैं, अनाज को कूटते हैं और उसे बाजार तक पहुँचाते है। ऊँट, गधे और खच्चर भी अपने-अपने क्षेत्र में बहुत काम आते हैं।

हमारे देश में पशुओं की सख्या तो बड़ी अवश्य है किन्तु उनकी अकुशलता भी उतनी ही अधिक है। रायल कमीशन आव एग्रीकल्चर ने ठीक लिखा था कि भारतवर्ष के गाय-बैल और चाहे किसी बात में पीछे हों, किन्तु सख्या के हिसाब स पीछे नहीं। हमारे पशुओं की अकुशलता के कई कारण हैं। इनमें से प्रमुख हैं खाद्य-सामग्री की कमी, नस्ल के सम्बन्ध में असावधानी, तथा उनके रहने तथा चिकित्सा आदि के मामलों में अनुपयुक्त प्रबंध। यदि इन बाधाओं को दूर कर दिया जाय, तो हमारे पशुओं की कुशलता काफी बढ़ जायगी।

वायु-शक्ति

मनुष्यों और पशुओं के अतिरिक्त, वायु भी चालक शक्ति का साधन है पहाड़ के निवासी बहुधा वायु को चालक-शक्ति प्रदान करने के लिये प्रयुक्त करते हैं, और मैदान में रहने वाले भी इसका ऐसा ही प्रयोग करते हैं। पहाड़ी प्रदेशों में

अनाज पीसने तथा पानी उठाने के लिये पवन-चक्की का बहुत प्रयोग होता है। मैदानों में किसान हवा से ही अनाज साफ करते हैं व ऊपर से अनाज गिराते जाते हैं और हवा स्वयं उसमें से भूसा आदि अलग करती जाती है

ईंधन-शक्ति

ईंधन या लकड़ी जलाकर भी बहुधा शक्ति उत्पन्न की जाती है। आजकल हमारे देश में जंगल काफी होने पर भी, इस काम के लिये ईंधन का अधिक प्रयोग नहीं होता, क्योंकि यातायात तथा संदेश-वाहन के साधनों का अभाव तथा अन्य कारण जंगलों का पूर्णरूप से शोषण नहीं होने देते। यदि यातायात के साधन पर्याप्त मात्रा में मिल भी जावें, तब भी शायद ईंधन द्वारा हम अपनी आवश्यकता के अनुकूल काफी शक्ति उत्पन्न न कर पावें। आजकल ईंधन अधिकतर घरेलू काम में प्रयुक्त की जाती है।

इण्डस्ट्रियल कमीशन (Industrial Commission) ने यह सिफारिश की थी कि लकड़ी के द्रवण (distillation) करने के व्यवसाय को उन्नत करना चाहिये जिससे कि हमें लकड़ी का कोयला तथा साथ ही साथ कई उप-वस्तुएँ (by-products) जैसे मद्य, टार आदि प्राप्त हो सकें। ये उप-वस्तुएँ अच्छे दाम पर बिक सकती हैं, और इसके परिणामस्वरूप कोयले पैदा करने की लागत कम हो सकती है।

कोयले की शक्ति

कोयला शक्ति का मूल्यवान साधन है। हम पिछले एक अध्याय में अपने देश में पाये जाने वाले कोयले के विषय में जिक्र कर चुके हैं। भारतीय कोयले की किस्म खराब होती है और यह कारखानों में प्रयुक्त नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, अधिकांश कोयला पूर्वी भारत में पाया जाता है। अतः यातायात की दर ऊँची होने के कारण देश के बहुत से भाग में यह कोयला बहुत तेज पड़ता है। अत. हम कोयले द्वारा काफी मात्रा में अथवा प्रतिस्पर्धित (Competitive) लागत पर शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते।

तेल-शक्ति

तेल से भी शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। जैसा पहले बताया जा चुका है, हमारे देश में तेल बहुत कम मिलता है। तेल केवल पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रांत तथा आसाम में मिलता है, और वह भी बहुत सीमित मात्रा में। अतः शक्ति उत्पन्न करने की दृष्टि से हमारे देश में तेल का कुछ भी महत्व नहीं।

§ २. जल-शक्ति या बिजली (Hydro-Electric Power)

हमारी आर्थिक-व्यवस्था मे यह एक कमी है कि उपरोक्त साधनों द्वारा हम पर्याप्त मात्रा में शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। किन्तु जल-शक्ति के साधनों की महान् सम्भाव्य (Potential) मात्रा इस कमी को दूर कर देती है। पानी शक्ति उत्पन्न करने के लिये प्रयोग में लाया जा सकता है, इसे जल-शक्ति या बिजली कहते हैं। जल-शक्ति को बहुत दूर तक ले जाया जा सकता है और इसका आवश्यकतानुसार इच्छित मात्रा में प्रयोग किया जा सकता है। समस्त ससार में बिजली की बहुत उन्नति हुई है, यहाँ तक कि किसी भी देश मे उत्पन्न की जाने वाली जल-शक्ति की मात्रा को उस देश के औद्योगिक विकास का सकेतक (Index) माना जा सकता है। भारतवर्ष में बिजली के साधनो की मात्रा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये इडस्ट्रियल कमीशन (Industrial Commission) के कहने के अनुसार एक हाइड्रोग्राफिक सर्वे (Hydrographic Survey) किया गया। इस सर्वे से पता चला कि बिजली उत्पन्न करने के साधन हमारे देश मे प्रचुर हैं। वास्तव में, भारतवर्ष बिजली के मामले में ससार के अग्रगण्य देशों में से एक हो सकता है।

जल-शक्ति के अनेक गुण हैं। पहले, यह सबसे सस्ती शक्ति होती है। कोयले, ईंधन या तेल की अपेक्षा, इसकी लागत ७५ प्रतिशत कम होती है। दूसरे, पीछे रह जाने वाला जल (tail water) सिंचाई के काम आ सकता है। तीसरे, तारों द्वारा बिजली दूर-दूर तक आसानी से और सस्ती दर पर पहुँचाई जा सकती है।

वैसे प्रतीत तो यह होता है कि जल-शक्ति की स्कीमें भारतवर्ष में कठिनता से ही कार्यात्मक हो सकती हैं, क्योंकि उनकी सफलता के लिये यह आवश्यक है कि बिजली बराबर उत्पन्न होती रहे और मिलती रहे और यह तभी हो सकता है जब कि जलवृष्टि बराबर और लगातार होती रहे, जैसा कि हमारे देश में नहीं होता। भारतवर्ष में लगभग समस्त वर्षा कुछ ही महीनों मे केन्द्रित होती है, और ऐसी नदियाँ जिनमें साल भर पर्याप्त जल रहता हो कम हैं। किन्तु यह कठिनाई वर्षा-ऋतु में जल एकत्रित करके दूर की जा सकती है। विशेषतया पहाड़ी प्रदेशों में, जहाँ पानी बड़ी मात्रा बरसता है, पानी एकत्रित करने के लिये अनुकूल स्थान आसानी से मिल सकते हैं। इनमें से कई स्थानों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा चुका है। जल-शक्ति, जहाँ भी प्राप्त हो चुकी है, बहुत सुविधापूर्ण सी प्रमाणित हुई है। अत जल-शक्ति का भविष्य भारत में निस्सदेह

उज्ज्वल है। जल-शक्ति की स्कीमों को सिचाई के साधनों से संयुक्त किया जा सकता है : क्योंकि बिजली की मशीन चला चुकने के पश्चात् जल का सिंचाई के लिये उपयोग हो सकता है।

अब हम नीचे अपने देश के प्रमुख बिजली के कारखानों का वर्णन करेंगे।

मैसूर मे विजली के कारखाने

पूर्व मे सबसे पहले मैसूर दरबार ने कावेरी नदी पर बिजली के कारखाने बनाने की योजना की। इसका प्रधान उद्देश्य कोलार की सोने की खानों को बिजली पहुँचाना था। बिजली उत्पन्न करने का स्टेशन शिवसुन्दरम है जो कोलार से ९२ मील दूरी पर है। बहुत समय तक, बिजली ले जाने के लिये यह एशिया भर मे सबसे लम्बी लाइन रही। सबसे पहले मशीन मे इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वह प्राप्य जल से उत्पन्न की जा सकने वाली अधिकतम शक्ति उत्पन्न कर सके। किन्तु अब नये यंत्र मे इतनी सामर्थ्य है। किन्तु इस क्षेत्र मे बिजली का उपभोग तेजी से बढ रहा है। अतः हाल मे ही मैसूर दरबार ने रियासत के बिजली उत्पन्न करने के साधनों की खोज की है और अब एक उचित स्थान पर दूसरे बिजली के कारखाने खोलने की आयोजना की जा रही है।

काश्मीर में विजली के कारखाने

भारतवर्ष मे काश्मीर दरबार ने दूसरा बिजली का कारखाना खोला। बिजली उत्पन्न करने का स्टेशन बारामूला (Barhmulla) मे है जो झेलम नदी के किनारे स्थित है। अब बारामूला मे बिजली है। वहाँ से बिजली श्रीनगर तक ले जायी गई है और बिजली के तार सरकारी सिल्क फैक्टरी में जाकर समाप्त होते हैं जहाँ बिजली द्वारा मशीन चलाई जाती है और बिजली प्रकाश करने तथा गर्म करने के काम भी आती है।

बम्बई में बिजली के कारखाने

बम्बई मे बिजली उत्पन्न करने के लिये पश्चिमी घाट सबसे अधिक उपयुक्त है। अतः बम्बई प्रेसीडेंसी के सबसे प्रमुख बिजली के कारखाने इसी क्षेत्र मे स्थित हैं। इस क्षेत्र में टाटा ऐण्ड सन्स, लिमिटेड, ने तीन बिजली के कारखाने स्थापित किये हैं। पहला कारखाना टाटा हाइड्रो-एलेक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी ने सन् १९१५ ई० मे चलाया। यह कारखाना भोरघाट के ऊपर लोनावाला (Lonavalla) मे स्थित है। वर्षा का पानी कई झीलों में एकत्रित किया जाता है और फिर खोपाली को, जहाँ शक्ति-गृह (Power House) है, ले जाया जाता है।

टाटा ऐण्ड सन्स ने फिर अनुसंधान के पश्चात् पता लगाया कि आन्ध्र नदी पर एक ऐसा उपयुक्त स्थान है जहाँ बिजली उत्पन्न की जा सकती है। अतः उन्होंने सन् १६२२ ई० में आन्ध्रा वैली एलैक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी स्थापित की।

टाटा ऐण्ड सन्स की तीसरी योजना का केन्द्र नीलामूला नदी पर स्थित है। यह बिजली उत्पन्न करने के लिये सन् १६२७ ई० में टाटा पावर कम्पनी चलाई गई। यहाँ बिजली उत्पन्न करके, ८० मील तार द्वारा होती हुई, बम्बई तक पहुँचाई जाती है। यही योजना कारखानों, मिलों, रेलों आदि को बिजली प्रदान करती है।

ये तीनों कम्पनियाँ एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत, एक इकाई की भाँति, काम कर रही हैं। ये मिलकर समस्त ट्रामवेज, मिलों, बम्बई, बड़ौदा ऐण्ड सेन्ट्रल इण्डिया रेलवे, ग्रेट इंडियन पेनिनशुला रेलवे तथा पूना, थाना, कल्यान और बम्बई के उपनगरों (suburbs) के निवासियों को बिजली पहुँचाती हैं। मिलों, कारखानों और रेलों को शक्ति दो पैसा प्रति इकाई की दर से दी जाती है, जो बहुत सस्ती है। जैसे जैसे बिजली का अधिक प्रचार होता गया और माँग बढ़ती गई, वैसे-वैसे बिजली का मूल्य और भी कम होता जायगा।

मद्रास मे बिजली के कारखाने

मद्रास सरकार ने पाइकारा हाइड्रो-एलैक्ट्रिक स्कीम सन् १६२६ में चलाई और वह सन् १६३२ ई० में समाप्त हुई। इस स्कीम में बिजली जिस जल से उत्पन्न की जाती है, वह पाइकारा नदी से प्राप्त होता है।

दूसरा महत्वपूर्ण बिजली का कारखाना मेट्टूर हाइड्रो एलैक्ट्रिक स्कीम के नाम से प्रसिद्ध है। मेट्टूर का बाँध अपनी भाँति का संसार में सबसे बड़ा बाँध है और यह १०० अरब क्यूबिक फीट पानी एकत्रित कर सकता है। एकत्रित किया हुआ पानी प्रधानतया सिंचाई के काम आता है, किन्तु इससे बिजली भी उत्पन्न की जाती है।

मद्रास की तीसरी स्कीम पापनासम स्कीम है जो सन् १६४४ में चालू हुई। यह पापनासम से टिनावली और मदुरा तक बिजली पहुँचाती है जहाँ यह पाइकारा स्कीम में मिल जाती है।

उत्तर प्रदेश मे बिजली के कारखाने

उत्तर प्रदेश में हाल में ही स्थापित होने वाली बिजली की आयोजना "हाइड्रो-एलैक्ट्रिक ग्रिड स्कीम" के नाम से प्रसिद्ध है। गंगा नहर पर जो झरने हैं, उनसे बिजली उत्पन्न की जाती है। यह बिजली सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, अलीगढ़, हाथरस, आगरा, एटा आदि जिलों को जाती है। यह आशा की जाती है कि इस

बिजली की सहायता से ग्रामीण प्रदेशों का कई प्रकार से आर्थिक विकास किया जा सकेगा। इसी प्रकार की एक योजना सन् १९२३ ई० में नैनीताल में भी बनकर तैयार हुई है।

पूर्वी पंजाब मे बिजली के कारखाने

पंजाब में सन् १९३३ में "मंडी प्रोजेक्ट" चालू हुआ। उहल नदी में वर्ष भर पिघले हुए वर्फ का पानी भरा रहता है, और यही पानी बिजली उत्पन्न करने के काम आता है। इस योजना की तीन श्रेणियाँ हैं। पहिली श्रेणी जल के साधारण बहाव से ५०,००० अश्व-शक्ति उत्पन्न करती है। दूसरी श्रेणी में जल एकत्रित किया जाता है और यह पहली श्रेणी से दुगनी मात्रा में बिजली पैदा करती है। तीसरी श्रेणी में इसी पानी से ५४,००० अश्व-शक्ति और उत्पन्न की जाती है।

भारत में जल-शक्ति का भविष्य

हमारे देश में जल-शक्ति के साधन इतनी प्रचुर मात्रा में नहीं रहे जितने कि वे विभाजन के पहले थे क्योंकि जल-शक्ति के बहुत से सम्भावित स्रोत अब पाकिस्तान में चले गये हैं। किन्तु फिर भी हमारे देश में जल-शक्ति के बहुत-से साधन हैं और इनसे बड़ी मात्रा में शक्ति तैयार की जा सकती है। वास्तव में, हमारे स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् सरकार ने इस ओर बहुत ध्यान दिया है और कई नई स्कीमें या तो विचाराधीन हैं या वे बनाई जा रही हैं। अमेरिका टी० वी० ए० (Tennesse Valley Authority) के बनने के पश्चात् अब बहु-उद्देश्यवाली स्कीमों (Multi-Purpose Schemes) का चलन हो गया है। अब ऐसी स्कीमों पर विचार किया जाने लगा है जो एक साथ ही बिजली पैदा करे, सिंचाई को पानी दें, बाढ़ों को रोकें, स्वास्थ्य-केन्द्र प्रदान करें आदि। इन स्कीमों का संक्षिप्त वर्णन हम अध्याय ११ में कर चुके हैं। ये निम्नलिखित हैं:

(१) दामोदर घाटी की योजना (बंगाल और बिहार)—इससे ३ लाख किलोवाट बिजली मिलने की आशा की जाती है।

(२) ननगाल योजना (पूर्वी पंजाब)—इससे २ लाख किलोवाट बिजली मिल सकेगी।

(३) कोसी योजना (बिहार और नैपाल)—इससे ८½ लाख किलोवाट बिजली मिलने की आशा है।

(४) हीराकुड योजना (उड़ीसा)—इससे ३½ लाख किलोवाट बिजली मिल सकेगी।

(५) रामपदसागर योजना (मद्रास)—इससे १ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी।

इन स्कीमों से हमारे शहरों को ही नहीं वरन् गाँवों को भी बिजली मिलने लगेगी। इसके अतिरिक्त गाँवों के लिये विशेष योजनाएँ भी विचाराधीन हैं। जब ये स्कीमें बन चुकेंगी, तब निश्चय ही देश की आर्थिक दशा में बहुत सुधार हो जायगा।

बिजली की उन्नति के आर्थिक परिणाम

ऊपर के वृत्तान्त से स्पष्ट है कि हाल में ही हमारे देश में बिजली उत्पन्न करने की दिशा में बहुत उन्नति हुई है। इस सशक्त आर्थिक बात ने हमारे देश की आर्थिक उन्नति पर तात्विक प्रभाव डाला है और कृषि एवं उद्योगों के विकास में काफी सहयोग दिया है। इसमें कोई शंका नहीं कि बिजली की उत्पत्ति जितनी ही बढ़ेगी, हमारी आर्थिक उन्नति उतनी ही अधिक होगी।

बिजली की उन्नति से हमारी कृषि को लाभ अवश्य होगा। यदि सस्ती और अच्छी बिजली मिलने लगे तो वह अशक्त और अकुशल बैलों का स्थानापन्न हो सकती है। बिजली द्वारा कुएँ से पानी भी निकाला जा सकता है जिसके परिणाम-स्वरूप सिंचाई सस्ती और आसान हो सकती है। इस प्रकार के विकास एक ओर तो उत्पत्ति में वृद्धि करते हैं और दूसरी ओर उत्पत्ति की लागत कम करते हैं। इस प्रकार किसानों को दो ओर से लाभ होता है। यह निश्चय है कि बिजली के आ जाने से कुछ मजदूर बेकार हो जायँगे, किन्तु किसानों को जितनी निकट-काल में हानि होगी, उससे कई गुना लाभ उन्हें दीर्घ-काल में हो जायगा।

बिजली के आ जाने से ग्रामीण उद्योगों को भी बहुत लाभ होगा। ऐसे बहुत से उद्योग हैं जो हमारे गाँवों में चलाये जा सकते हैं किन्तु शक्ति के सस्ते और सुविधापूर्ण साधन के अभाव के कारण अभी चलाये नहीं गये हैं। बिजली प्राप्त हो जाने पर ऐसे उद्योगों की उन्नति होने में बहुत सहायता मिलेगी। रुई धुनने, तेल निकालने, मूँगफली छीलने आदि ऐसे अनेक उद्योग स्थापित हो सकेंगे और ग्राम-निवासियों के वे सहायक (subsidiary) एवं वैकल्पिक (alternative) पेशे बन जायँगे। इस प्रकार, भूमि पर से जनसंख्या का दबाव कम हो सकेगा। जब ग्रामीण उद्योग स्थापित होने लगेंगे, तब सामान्य उद्योगों का विकेन्द्रीकरण (decentralisation) किया जा सकेगा और वर्तमान औद्योगिक केन्द्रों की घनत्व (congestion) कम हो सकेगा।

ग्रामीण और घरेलू उद्योगों के अतिरिक्त, बड़े पैमाने के उद्योगों को बिजली से

बहुत लाभ हुआ है और होगा। यदि बिजली प्राप्य न होती, तो बहुत से कारखाने जो हमें आज दीख पड़ते हैं स्थापित ही न हुए होते, और शेष कारखानों की उत्पन्न की हुई वस्तुएँ इतनी सुन्दर और अच्छी न होतीं जितनी कि वे हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१. किसी देश की आर्थिक-व्यवस्था में शक्ति का क्या महत्व है? भारत की शक्ति-साधनों की एक रूप-रेखा प्रस्तुत कीजिए।

२. भारत में मनुष्य, पशु और वायु पर, शक्ति-दाताओं के रूप में, एक टिप्पणी लिखिये। उनमें क्या दोष हैं? यदि उनके दोष दूर कर दिये जायँ, तो क्या वे पर्याप्त मात्रा में हमें शक्ति प्रदान कर सकेंगे?

३. "लकड़ी, कोयला तथा पेट्रोल भारत में पाये जाते हैं और उनके द्वारा बिजली उत्पन्न भी की जा सकती है।" इस कथन की विवेचना कीजिये तथा इसके उचित स्वरूप में इसका विस्तार कीजिये।

४. किसी देश के औद्योगिक जीवन के लिये बिजली क्यों इतनी महत्वपूर्ण समझी जाती है? क्या भारत को प्रचुर मात्रा में बिजली के साधन प्राप्त हैं?

५. भारत में बिजली के मुख्य उद्योग कौन-कौन से हैं? पूर्णतया वर्णन कीजिये।

६. आपकी सम्मति में भारत में बिजली के विस्तार के आर्थिक परिणाम क्या हुए हैं और भविष्य में किन परिणामों की सम्भावना है?

परीक्षा प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. भारत में पाई जानेवाली शक्ति के स्रोत कौन से हैं? इस सम्बन्ध में, जल-शक्ति के विकास की सम्भावनाओं की परीक्षा कीजिये। (१९४८)

२. भारत में शक्ति के प्रमुख साधन कौन से हैं? भारत में जल-शक्ति के विकास से क्या लाभ हो सकते हैं? (१९४६)

३. 'भारत की प्राकृतिक शक्तियाँ अत्यंत ही महान् हैं। मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि उनका उचित विकास तथा प्रयोग किया जाय'। इस कथन की व्याख्या विशेषतया जलशक्ति, वनों तथा खनिज पदार्थों के संदर्भ में कीजिये। (१९४०)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

4 Discuss the principal power resources of India, and enlarge particularly upon the future possibilities of hydro-electricity (1949, 1942)

---

(४) श्रम में रुपया-पैसा लगाया (invest) जा सकता है। चतुराई, शिक्षा एव शारीरिक शक्ति प्राप्त करने में जो रुपया व्यय किया जाता है उसमें और कारखाने और मशीन खरीदने में व्यय किये गये रुपये मे कुछ भी अन्तर नहीं। दोनो से आय प्राप्त होती है। इसीलिये श्रम को कभी-कभी "मानवी पूँजी" कहा जाता है।

भूमि (Land) और श्रम

वैसे तो भूमि और श्रम दोनों ही उत्पत्ति के लिये अत्यावश्यक हैं, किन्तु दोनों मे कुछ विचारणीय अन्तर है। पहले, भूमि उत्पत्ति का निश्चेष्ट साधन है और उस पर मनुष्य तथा यन्त्र काम करते हैं, इसके विपरीत श्रम उत्पत्ति का सचेष्ट साधन है और वह उत्पत्ति में अन्य साधनों का प्रयोग करता है। दूसरे, भूमि की मात्रा सीमित होती है—उसमें घट बढ नहीं हो सकती, किन्तु श्रम की मात्रा घटाई या बढाई जा सकती है। यह जन्म की दर बढाने या कार्यक्षमता बढाने या दोनों ही प्रकार से बढ़ाई जा सकती है, और यह जन्म की दर घटाने, या कार्यक्षमता का ह्रास होने पर, या दोनों ही रीतियों से घट भी सकती है।

श्रम और पूँजी

श्रम और पूँजी में घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूँजी को "घनीभूत श्रम" (crystalised labour) कहा जाता है। यह श्रम द्वारा उत्पन्न किये हुए धन का वह भाग है जो और धन उत्पन्न करने में प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु दोनों में कुछ तात्विक भिन्नता है। पहले, यद्यपि श्रम और पूँजी दोनों ही नाशमान हैं, फिर भी श्रम की पूँजी की अपेक्षा शीघ्रता और आसानी से पुनर्प्राप्ति (recuperation) हो जाती है। दूसरे, श्रम पूँजी की अपेक्षा जल्दी नष्ट होती है। श्रम का यदि हम उपयोग न भी करें, तब भी वह नष्ट हो जायगी। चाहे मजदूर काम करे या बेकार रहे, जैसे ही जैसे वह वृद्ध होता जायगा उसकी कार्य-शक्ति क्षीण होती जायगी। पूँजी का इतनी शीघ्रता से ह्रास नहीं होता। यह सच है कि यदि हम मशीन से काम न भी लें तब भी वह घिसेगी अवश्य, किन्तु बेकार अवस्था में ह्रास बहुत कम होगा। तीसरे, श्रम की अपेक्षा पूँजी आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान को या एक उपयोग से दूसरे उपयोग को हटाई जा सकती है। यदि आपका १ लाख रुपया इम्पीरियल बैंक में जमा है तो आप उसे चाहे लदन भेज दें या न्यूयार्क। यदि आप किसी लोहे के कारखाने के मालक हैं तो आप उसे बेचकर अपनी इच्छानुसार एक कपड़े की मिल अथवा चीनी का कारखाना खरीद सकते हैं। किन्तु उत्तर प्रदेश का मजदूर मद्रास या अफ्रीका जाने के पहले कई बार सोचेगा। चौथे,

मशीन या कारखाने में लगाया हुआ रुपया इनकी विक्री करके निकाला जा सकता है; किन्तु शिक्षा या कुशलता प्राप्त करने में लगाया हुआ रुपया इतनी आसानी से नहीं निकाला जा सकता।

§ ३. श्रम का महत्व

श्रम उत्पत्ति का अत्याज्य साधन है। उत्पत्ति के सरल तथा विषम स्वरूपों में कुछ न कुछ श्रम अवश्य प्रयुक्त होता है। ससार के प्रत्येक भाग में, मनुष्य अपने श्रम से जीविका उपार्जन करता है। जहाँ प्रकृति प्रचुर मात्रा में दान देती है और मानवी आवश्यकताएँ भी थोडी और सरल हैं, वहाँ भी अच्छी वस्तुएँ प्राप्त करने के लिये कुछ न कुछ चेष्टा अवश्य करनी पड़ती है। यदि फल की आवश्यकता है, तो उन्हें तोड़ना होगा, यदि मास की आवश्यकता है, तो पशु का आखेट करना पडेगा। हम जैसे-जैसे उन भाग्यवान प्रदेशों से जहाँ प्रकृति-दत्त पदार्थ प्रचुर और जलवायु अनकूल है उन प्रदेशो की ओर बढते जाते हैं जहाँ प्रकृति कृपण एव जलवायु निर्दय है, वैसे-वैसे श्रम का महत्व भी बढता जाता है।

वास्तव में, श्रम करने की अपरिहार्यता ने ही आधुनिक सभ्यता को जन्म दिया। मनुष्य स्वभाव से ही न्यूनतम कार्य करना चाहता है। प्रारम्भ से ही वह इस चेष्टा में रहा कि किसी न किसी तरह वह श्रम से बचे और इसलिये उसने मशीनो का आविष्कार किया एवं श्रम-विभाजन को कार्यशील बनाया। इसे **न्यूनतम उद्योग का नियम (Law of Least Efforts)** कहते हैं और यही आर्थिक उन्नति की जड़ है।

§ ४. श्रम की किस्म

श्रम का निम्नलिखित श्रेणियों मे वर्गीकरण किया जा सकता है: (१) उत्पादक और अनुत्पादक श्रम, (२) कुशल और अकुशल श्रम, और (३) मानसिक और शारीरिक श्रम।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम

श्रम उत्पादक अथवा अनुत्पादक हो सकता है। उत्पत्ति का अर्थ है उपयोगिता को सृजन करना। अत. वह श्रम जो उपयोगिता को सृजन करने में सफल होती है, उत्पादक श्रम कहलाती है, और जो श्रम उपयोगिता सृजन नहीं कर पाती, वह अनुत्पादक कहलाती है। उदाहरण के लिये, किसी लेखक का श्रम तब उत्पादक कहला सकेगा जब कि पुस्तक प्रकाशित हो जाय और उससे लेखक तथा प्रकाशक को कुछ आय हो। किन्तु यदि पुस्तक प्रकाशित ही न हो, तो उसके लिखने में लगाया गया श्रम व्यर्थ हुआ और वह अनुत्पादक कहलावेगा।

कौन सा श्रम उत्पादक है और कौन-सा अनुत्पादक, इस विषय पर अर्थ-शास्त्रियों में काफी मतभेद रहा है। प्रारम्भिक फ्रांसीसी अर्थशास्त्री, जो फिजियोक्रेट्स (Physiocrats) कहलाते थे, समझते थे कि केवल किसान का श्रम उत्पादक है, शेष सब का अनुत्पादक। उसके पश्चात् एडम स्मिथ ने, जो आधुनिक अर्थ-शास्त्र के जन्मदाता माने जाते हैं, उत्पादक श्रम का क्षेत्र अधिक व्यापक कर दिया और उसमें वह सब श्रम सम्मिलित किया जो कि भौतिक वस्तुएँ (Material goods) बनाने में सफल होता है। एडम स्मिथ के मत में कुम्हार का श्रम उत्पादक है, किन्तु गवैये का नहीं। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि इन दोनों व्यक्तियों का श्रम श्रम है—क्योंकि यह शारीरिक व मानसिक चेष्टा है और आर्थिक उद्देश्य से की जाती है—और दोनों के श्रम का स्वभाव भी समान है। अतः कुछ व्यक्तियों के श्रम को उत्पादक कह देना और कुछ अन्य व्यक्तियों के श्रम को अनुत्पादक कह देना, तर्कहीन और स्वेच्छाचार है। अत आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि उत्पादक श्रम वह है जो कुछ उपयोगिता उत्पन्न करती है, चाहे वह उपयोगिता किसी भौतिक पदार्थ में निहित हो या न हो।

कुशल और अकुशल श्रम

श्रम कुशल अथवा अकुशल हो सकता है। कुशल श्रम वह है जिसके सम्पन्न करने में किसी विशेष चतुराई या शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। जो श्रम बिना किसी चतुराई या विशेष शिक्षा के ही किया जा सकता है, वह अकुशल कहलाती है। घरेलू नौकर और चपरासी का श्रम अकुशल कहा जा सकता है, किन्तु मोटर ड्राइवर, एंजिन ड्राइवर, गायक, नृतक आदि का श्रम कुशल श्रम है।

सामान्यतया कुशल श्रम को ऊँचा पुरस्कार मिलता है क्योंकि कुशल श्रम को विशेष शिक्षा प्राप्त करनी होती है, उसकी पूर्ति थोड़ी होती है और उसकी माँग अधिक होती है। अकुशल श्रम को कम पुरस्कार मिलता है क्योंकि उसे किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह काफी मात्रा में मिलता है और उसकी माँग अधिक नहीं होती।

कुछ सीमा तक कुशल और अकुशल श्रम में स्पर्द्धा होती है। यदि एक कुशल मजदूर बेकार हो जाय, तो वह अकुशल काम लेने की कोशिश करेगा, और इस प्रकार वह अकुशल मजदूर से स्पर्द्धा करेगा। किन्तु अकुशल मजदूर कुशल मजदूर से स्पर्द्धा नहीं कर सकते क्योंकि उनका काम विशिष्ट और कुशल होता है

जैसे-जैसे औद्योगिक, यान्त्रिक और सामान्य ज्ञान का प्रसार होता जाता है

वैसे ही वैसे कुशल और अकुशल श्रम का मध्य स्थान सिकुड़ता जाता है। वास्तव में, कुशलता देश विशेष की वर्तमान अवस्था से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिये, भारतवर्ष में लिखने-पढ़ने की योग्यता को कुशलता कहेंगे, किन्तु अमेरिका में नहीं क्योंकि वहाँ अधिकाश मनुष्य लिखना-पढ़ना जानते हैं। हमारे देश में शिक्षा का प्रसार धीरे-धीरे हो रहा है, और जैसे जैसे अधिकाधिक स्त्री पुरुष शिक्षित होते जायँगे, वैसे ही वैसे शिक्षा को कुशलता में परिगणित करना कम होता जायगा।

मानसिक और शारीरिक कुशलता

श्रम को मानसिक और शारीरिक वर्गों में भी विभाजित किया जाता है। यह बात सच है कि पूर्णतया मानसिक श्रम या पूर्णतया शारीरिक श्रम के उदाहरण हमें शायद ही कहीं मिलें। चाहे हम कितने ही निखालिस मानसिक श्रम को क्यों न ले लें, उसके साथ कुछ न कुछ शारीरिक श्रम अवश्य करना पड़ेगा। इसी प्रकार हर प्रकार के शारीरिक श्रम के साथ-साथ कुछ न कुछ मानसिक श्रम अवश्य करना पड़ता है। बड़े से बड़े तत्वज्ञानी को भी अपने भाव व्यक्त करने के लिये अपनी जिह्वा और अवयव हिलाने पड़ेंगे, और सड़क खोदने वाले तक को कुछ न कुछ मस्तिष्क से काम अवश्य लेना पड़ेगा।

§ ५. श्रम की पूर्ति (Supply)

अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि किसी देश के श्रम की कुल मात्रा से क्या आशय है और उसे कैसे नापा जाता है। वैसे प्रतीत तो यह होता है कि कुल श्रम से आशय कुल मजदूरों की संख्या से है। किन्तु यह कथन सत्य नहीं क्योंकि श्रम-शक्ति दो बातों पर निर्भर होती : है (१) मजदूरों की संख्या पर; और (२) मजदूरों की कार्यक्षमता पर। मान लीजिये एक देश में १० करोड़ मजदूर हैं और दूसरे में २० करोड़। किन्तु यदि पहले देश के मजदूर दूसरे देश के मजदूरों की अपेक्षा दुगने निपुण हैं, तो दोनों देशों में कुल श्रम की मात्रा समान होगी। स्पष्टतया, श्रम की मात्रा नापने के लिये हमें दो वस्तुयें नापनी होंगी : (१) मजदूरों की संख्या, और (२) उनकी कार्यक्षमता। हम अगले दो अध्यायों में इन्हीं दो विषयों की चर्चा करेंगे।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'श्रम' के अर्थ ? परिभाषा तथा व्याख्या कीजिए। क्या निम्नलिखित का काम श्रम है : (क) शौकिया चित्रकार, (ख) गृह-स्वामिनी, (ग) विद्यार्थी, (घ) शिक्षक और (ङ) संगीतज्ञ ?

२. 'श्रम' की महत्वपूर्ण विशेषतायें कौन सी हैं ? वे (१) भूमि तथा (२) पूँजी से किस प्रकार भिन्न हैं ?

३. 'उत्पत्ति' में श्रम का क्या महत्व है ? श्रम की पूर्ति मे आप क्या समझते हैं ?

४. उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम का अन्तर स्पष्ट रूप में समझाइये।

५. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये : कुशल श्रम; शारीरिक तथा मानसिक श्रम।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. निम्नलिखित पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—उत्पादक श्रम। (१६४४)

अध्याय ३४

श्रम की मात्रा : माल्थस का सिद्धान्त

§ १. जनसंख्या का आकार (Size)

जनसंख्या के आकार से आशय उन समस्त स्त्री, पुरुष एवं बच्चों से है जो किसी विशेष समय किसी देश में निवास करते हैं। देश की जनसंख्या का आकार प्राकृतिक कारणों—अर्थात् जन्म एवं मृत्यु—तथा आवागमन द्वारा निर्धारित होता है।

१. प्राकृतिक कारण

जनसंख्या जन्म द्वारा बढ़ती तथा मृत्यु द्वारा घटती है। ये दो प्राकृतिक कारण देश की जनसंख्या के निर्धारण में बड़ा हाथ रखते हैं।

(अ) जन्म-दर

किसी विशेष समय में एक देश के प्रति १,००० निवासियों के पीछे उत्पन्न होने वाले बच्चों की संख्या को ही जन्म-दर (Birth Rate) कहते हैं। यदि अन्य बातें समान रहें, तो जन-संख्या जन्म द्वारा बढ़ती है, अत. जन्म-दर जितनी अधिक होगी, जन-संख्या में उतनी ही वृद्धि होगी। यह स्पष्ट है कि यदि एक देश में प्रति एक हजार व्यक्ति पीछे ३० बच्चे जन्म लें और दूसरे देश में प्रति एक हजार व्यक्ति पीछे केवल १५ बच्चे ही उत्पन्न हों, तो पहले देश की जनसंख्या दूसरे देश की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ेगी। जन्म-दर की वृद्धि किन कारणों का परिणाम होती है, इस विषय में पूरी जानकारी अभी हमें प्राप्त नहीं, किन्तु कुछ महत्वपूर्ण और स्पष्ट कारण नीचे दिये जाते हैं :

(१) **जलवायु**—गर्म देशों मे मनुष्य कम आयु में ही विवाह-योग्य हो जाते हैं और उनका विवाह जल्दी हो जाता है, पर शीत-प्रधान देशों में मनुष्य विवाह-योग्य अधिक आयु में होते हैं और उनका विवाह देर से होता है। स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि एक दम्पति के जीवन-काल मे गर्म देश में अधिक बच्चे उत्पन्न होंगे और ठंडे देश में कम।

(२) **धार्मिक रीतियाँ**—जहाँ भी मानव-समाज धर्म का सम्मान तथा आदेश-पालन करते हैं, वहाँ जन्म-दर के निर्धारण में धर्म का महत्वपूर्ण हाथ होता है। उदाहरण के लिये, हमारे देश में धर्मशास्त्र का आदेश है कि कन्या का पाणिग्रहण

यौवन-प्राप्ति (Puberty) के पूर्व ही हो जाना चाहिये, इसका परिणाम यह होता है कि उसके जीवन काल में उसकी गोद से बहुत-से बच्चे जन्म लेते हैं। अतः जन्म दर बहुत बढ जाती

(३) सामाजिक कारण—सामाजिक रीति-रिवाजें भी जन्म-दर निर्धारित करती हैं। प्राचीन काल मे मनुष्य बडे कुटुम्ब में अभिमान करते थे और बडे कुटुम्ब वाले का समाज में बहुत सम्मान होता था। अतः जन्म-दर बहुत अधिक थी। किन्तु अब हमारे देश में, विशेषकर शिक्षित वर्ग में, देर-से विवाह करने की प्रथा चल निकली है। अब बडे कुटुम्ब को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता और उसे असावधानी का चिन्ह माना जाता है। व , किसी सीमा तक, निर्धनता का भी द्योतक समझा जाता है। यह दृष्टिकोण जन्म दर को रोकने या घटाने का काम करता है।

(४) राजनैतिक अवस्था—किसी किसी देश मे सरकार स्पष्ट और घोषित नीति के अनुसार जन-सख्या की वृद्धि उत्साहित करती है। उदाहरण के लिये, द्वितीय महायुद्ध के पूर्व जर्मनी और इटली की फासिस्ट सरकारों ने अनेक उपायो द्वारा मनुष्यों मे जन-सख्या की वृद्धि के अनुकूल भावना उत्पन्न करने की चेष्टा की और वे उनमें सफल भी हुईं। यदि अन्य बात स्थिर रहें, तो इस प्रकार की सरकारी नीति नि सन्देह जन्म-दर को ऊँचा करने का उद्योग करेगी।

(५) आर्थिक अवस्था—विवाह की इच्छा मनुष्यों के रहन-सहन के स्तर पर निभर होती है शिक्षित, चतुर और दूरदेश नवयुवक अब हमारे देश मे तब तक विवाह नहीं करते जब तक कि वे परिवार का भार स्वय वहन करने के योग्य न हो जाय। उनका जब विवाह हो भी जाता है, तब भी उनका रहन-सहन का ऊँचा स्तर जन्म-दर की वृद्धि को रोकता है। रहन-सहन का स्तर नीचा होने पर इसके विपरीत परिणाम होता है। निधन पिता के पुत्र शिक्षा प्राप्ति के लिये स्कूल नहीं जा पाते, प्रत्युत वे कम आयु में ही कारखानों आदि मे आसानी से नौकरी पा जाते हैं और अपनी जीविका कमाने लगते हैं। आर्थिक स्वतन्त्रता इतनी शीघ्र प्राप्त हो जाने के कारण उनमे शीघ्र विवाह करने और अपना अलग परिवार बसाने की भावना भी कम आयु में ही जाग उठती है। इसके पश्चात्, रहन-सहन का स्तर नीचा होने के कारण, वे विवेकहीनता से और बिना सोचे समझे सतानोत्पत्ति करते हैं।

भारतवर्ष मे अवस्था—हमारे देश मे जन्म दर बहुत ऊँची है। भारत-वर्ष गरम देश है आजन्म अविवाहित रहने की प्रथा का धर्म या सामाजिक

रीति-रिवाजें अच्छी दृष्टि से नहीं देखती। वास्तव में, हिन्दू धर्म के अनुसार यदि किसी दम्पति के कोई पुत्र उत्पन्न न हो, तो उनकी आत्मा उस लोक में अशांत और व्याकुल रहेगी, इसलिए कम से कम एक पुत्र होना तो धार्मिक आवश्यकता समझी जाती है।[1] हमारे देश की आर्थिक अवस्था भी ऊँची जन्म दर के अनुकूल है। भारतवासियों के रहन-सहन का दर्जा नीचा है और वे विवेकहीनतापूर्वक बेरोकटोक संतानोत्पत्ति करते हैं। वे सोचते हैं कि बच्चों का कम या अधिक होना उनके वश की बात नहीं : बच्चे तो उनके भाग्य में लिखे हैं और जितने लिखे हैं उतने अवश्य उत्पन्न होंगे। ईश्वर के निर्णय में हस्तक्षेप करने वाले वे कौन ? एक समय था जब कि प्रत्येक हिंदू युवक २५ वर्ष की आयु तक पूर्ण ब्रह्मचारी रहता था, जिसके परिणामस्वरूप जन्म-दर रुकी रहती थी। किंतु अब यह प्रथा भूतकाल की वस्तु हो गई है। इन सब कारणों ने भारतवर्ष को दूसरा सबसे घना बसा हुआ देश बना दिया है, पहला देश चीन है।

(आ) मृत्यु-दर

किसी देश में किसी विशेष समय के अंदर प्रति एक सहस्र व्यक्ति पीछे मरने वाले व्यक्तियों की संख्या को ही मृत्यु-दर कहते हैं। यदि अन्य बातें स्थिर रहें तो जितनी ऊँची मृत्यु दर होगी, उतनी ही जनसंख्या की वृद्धि की दर नीची होगी। यदि एक देश में प्रति एक सहस्र व्यक्ति में से ३० व्यक्ति मर जाते हैं और दूसरे में केवल १५, तो स्पष्टतया दूसरे देश की जनसंख्या पहले देश की जनसंख्या की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से बढ़ेगी।

मृत्यु-दर का निर्णय करने वाले कारण निम्नलिखित हैं :

(१) सामान्य उन्नति की श्रेणी—समाज की उन्नति मृत्यु दर घटाने में सहायक होती है। शिक्षित और समझदार मनुष्य अपने बच्चों को साफ सुथरे रखते हैं और स्वयं स्वच्छ रहते हैं। वे स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन, साफ कपड़े, खुले हवादार घर तथा स्वस्थ जीवन के अन्य आवश्यक पदार्थों के विषय मे बहुत सावधान रहते

---

१ यदि किसी हिन्दू के कोई पुत्र न हो तो वह नरक को अवश्य जायगा। उसका मन अशांत रहेगा। वह चाहे जितनी स्त्रियों से विवाह करे पर उसे एक पुत्र अवश्य उत्पन्न करना चाहिये। उसकी ...स्त्रियाँ उसकी और शादियों को रोक नहीं सकतीं। यदि उसके पुत्र उत्पन्न न हो तो अकेला वही नहीं वरन् उसके पुरखे भी आध्यात्मिक सुख और आशीर्वाद से वञ्चित हो जाते हैं। लड़के को 'पुत्र' कहते हैं, जिसका अर्थ है पुत नामक नरक से बचाने वाला—Janardan Joshi, *Oriental Astrology, Darwinism and Degeneration*, pp 34-35

हैं। अतः उनकी दीर्घायु होती है और वे छोटी-बड़ी बीमारियों के आसानी से शिकार भी नहीं बनते। अभाग्यवश हमारे देश में अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित और पिछड़े हुए हैं, और वे स्वस्थ जीवन सम्बन्धी बातों पर बहुत कम ध्यान देते हैं। वे स्वास्थ्यपूर्ण जीवन नहीं बिताते, जिसके परिणामस्वरूप उनकी शीघ्र मृत्यु होती है और जीवन-पर्यन्त उन्हे विविध रोग सताते रहते हैं।

(२) विवाह की आयु—यदि दम्पति का पाणिग्रहण कच्ची आयु में ही सम्पन्न हो जाय और इसके पश्चात् ही सन्तानोत्पत्ति होने लगे, तो स्त्री और पुरुष दोनो के ही स्वास्थ्य को हानि होती है और उनका जीवन छोटा हो जाता है। उनकी सन्तान भी अशक्त होती है और बहुत से बच्चे एक वर्ष के भी नहीं हो पाते कि वे मृत्यु के शिकार बन जाते हैं। हमारे देश में यह प्रतिदिन की घटना है।

(३) प्राकृतिक प्रकोप—भूकप, बाढ तथा अन्य प्राकतिक दुर्घटनाये मृत्यु-दर को यकायक बढा देती हैं। मनुष्य पर वे असावधानी की दशा में आक्रमण करती हैं और उनसे बचने का उपाय करना बहुधा कठिन होता है।

(४) मनुष्यों की निर्धनता—निर्धनता के कारण मनुष्य स्वास्थ्यवर्धक भोजन, उपयुक्त वस्त्र और शुद्ध घर प्राप्त नहीं कर सकते। निर्धन व्यक्तियों की अवरोध-शक्ति (Power of resistance) बहुत कम होती है और प्रत्येक रोग उन्हे बहुत ही अशक्त बना देता है। ऐसी दशा में मृत्यु दर का ऊँचा होना स्वाभाविक ही है।

भारतवर्ष में मृत्यु दर बहुत ऊँची है। हमारे देश मे छोटी-बड़ी बीमारियाँ बहुधा फैलती हैं और वे बहुत-से मनुष्यों को मौत के घाट उतारती हैं। विशेषकर स्त्रियों और बच्चों का मृत्यु-संहार बहुत ही भयानक रूप में होता है। इसका वर्णन हमने अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक किया है।

(६) अति-जीवन दर (Survival Rate)

प्राकृतिक कारणों द्वारा होने वाली जनसख्या की वृद्धि जन्म-दर के मृत्यु-दर से आधिक्य पर निर्भर होती है। इसे अति-जीवन दर कहते हैं।

जब किसी देश में जन्म-दर मृत्यु-दर के बराबर होती है (और अति-जीवन दर शून्य होती है), तब जनसख्या अपरिवर्तित रहती है और उसे स्थिर (Staic) कहते हैं। कुछ समय तक फ्रांस की जनसख्या स्थिर रही थी। जब जन्म-दर और मृत्यु-दर में अन्तर होता है और जनसख्या घटती या बढती है, तो जनसख्या को गत्यात्मक (Dynamic) कहते हैं। जब जनसख्या बढती है, तब जनसख्या की गत्यात्मक अवस्था धनात्मक (Positive) कही जाती है, और जब

जनसंख्या घटती है तब उसकी गत्यात्मक अवस्था अभावात्मक (negative) कहलाती है।

२. आवास-प्रवास (Migration)

मनुष्यों के एक देश से दूसरे देश को आने-जाने को आवास प्रवास (Migration) कहते हैं। किसी देश को छोड़कर चले जाने को प्रवास (emigration) और किसी देश में आने को आवास (immigration) कहते हैं। किसी देश की जन-संख्या के निर्धारण में आवास-प्रवास का महत्वपूर्ण भाग होता है। आवास का प्रवास से आधिक्य, जिसे आवास-प्रवास की वास्तविक दर (Net Rate of Migration) कहते हैं, जनसंख्या को बढ़ाता है। इसके विपरीत, यदि प्रवास आवास से अधिक हो, तो जनसंख्या घटती है। अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया की जनसंख्या आवास द्वारा बहुत बढ़ी है, और आयरलैंड की जनसंख्या प्रवास के कारण काफी घट गई है। हमारे देश में जनसंख्या का निर्धारण आवास-प्रवास द्वारा बहुत कम होता है। हमारे देश में प्रवास तो प्रायः होता ही नहीं, और विदेश में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार होने के कारण तथा काले रंग के विरुद्ध वक्रभाव होने के कारण, प्रवास भी कम हो रहा है।

§ २. माल्थस का जनसंख्या सिद्धांत

जनसंख्या की वृद्धि की समस्या पर प्रायः प्रत्येक युग के मनुष्य समुचित ध्यान देते रहे हैं। सन् १७९८ ई० में विलायत के एक पादरी, माल्थस, ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक An Essay on the Principles of Population प्रकाशित की। जनसंख्या के प्रश्न की आधुनिक विचारधारा इसी पुस्तक से आरम्भ होती है। इस पुस्तक में माल्थस ने जिस जनसंख्या के नियम का प्रतिपादन किया उसे "माल्थस का जन-संख्या सिद्धान्त" कहते हैं। माल्थस का सिद्धान्त तीन भागों में बाँटा जा सकता है : श्रम की पूर्ति, श्रम की माँग, और निष्कर्ष।

(१) श्रम की पूर्ति—माल्थस ने बताया कि मनुष्य जाति में सन्तानो[illegible] की भावना स्वाभाविक है और वे विवेकशून्यता से बिना रोक-[illegible] परिणाम त्पत्ति करते हैं। उन्होंने संसार के कई देशों का इतिहास अध्ययन से बचाता है, कि यह बात पूर्णतया सत्य है। वास्तव में, यदि रोग, युद्ध और [illegible] इन निरोधों की आते—इन्हें माल्थस ने स्वाभाविक या नैसर्गिक रुकावटों

Positive Checks) के नाम से पुकारा—तो प्रत्येक देश में जनसंख्या की वृद्धि ने भयानक रूप धारण कर लिया होता।

(२) श्रम की माग—माल्थस के अनुसार, देश मे उत्पन्न होने वाली समस्त खाद्य-सामग्री, जनसंख्या की वृद्धि के लिये प्रकृति द्वारा निश्चित सीमा है। अन्य शब्दों मे, यह श्रम की अधिकतम माग है। जनसंख्या इस सीमा को लम्बे काल तक उल्लंघन नहीं किये रह सकती।

माल्थस ने लिखा कि उनके लिखने के समय तक कोई भी देश अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये पर्याप्त भोजन-सामग्री उत्पन्न नहीं कर पाया। अन्य शब्दो मे, जनसंख्या की यह प्रवृत्ति होती है कि वह खाद्य-सामग्री की पूर्ति की अपेक्षा अधिक वेग से बढ़े। उन्होंने इस प्रवृत्ति का ज्यामितिक वृद्धि (geometrical progression) और समानान्तर (arithmetical progression) की सहायता से निरूपण किया। उन्होंने कहा कि हम यह कल्पना कर लें कि जनसंख्या ज्यामितिक वृद्धि के हिसाब से—अर्थात् १ : २ : ४ : ८ : १६ आदि के हिसाब से—बढ़ती है, तो हमें कल्पना करनी पड़ेगी कि खाद्य-सामग्री समानान्तर वृद्धि (arithmetical progression) के हिसाब से—जैसे १ . २ . ३ . ४ आदि—बढ़ती है।[२] इस प्रकार जनसंख्या जीवन-निर्वाह के साधनो (means of subsistence) की अपेक्षा अधिक वेग से बढ़ती है।

(३) निष्कर्ष—माल्थस ने इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि इतिहास स्वय को फिर दोहरायेगा। जनसंख्या की प्रवृत्ति सर्वदा जीवन-निर्वाहक-साधनो से आगे बढ़ जाने की होगी, और प्रकृति को सहार करना पड़ेगा। रोग, युद्ध, अकाल और अन्य ऐसी ही आपत्तियाँ (नैसर्गिक निरोध या Positive checks) मनुष्य जाति पर भूतकाल की भाति भविष्य में भी आती रहेंगी और उनके द्वारा अतिरिक्त जनसंख्या (surplus population) का विनाश होता रहेगा।

---

२ कभी-कभी यह कहा जाता है कि माल्थस के अनुसार जीवन-निर्वाह के साधन समानान्तर वृद्धि के हिसाब से बढ़ते हैं और जनसंख्या ज्यामितिक वृद्धि के (शून्य होती है), किन्तु यह कथन मिथ्यात्मक है। माल्थस ने यह कभी नहीं कहा। (हते हैं। कुछ समय) जनसंख्या की वृद्धि ज्यामितिक वृद्धि के उदाहरण द्वारा और भोजन- (त्सुन्दर में अन्तर होत) समानान्तर वृद्धि के उदाहरण द्वारा समझाई थी। ऊपर बताया (गत्यात्मक (Dynar) कथन काफी प्रचलित है। पाठक को इससे सावधान रहना चाहिये। (की गत्यात्मक अवस)

माल्थस ने समाज का जो भावी चित्र खींचा, वह घोर अन्धकारपूर्ण और विषादग्रस्त था। अत उनकी बहुत कड़ी आलोचना हुई और उन्हे "विषादपूर्ण अर्थशास्त्री" (Pessimistic economist) कहा जाने लगा। अतः उन्होंने समस्या का दोबारा अध्ययन किया, और अबकी बार उन्होंने नैसर्गिक निरोधों (positive checks) के साथ-साथ प्रतिबन्धक निरोधों (preventive checks) का भी वर्णन किया। उन्होंने बताया कि मनुष्य जाति का उन सब आपत्तियों से जिन्हें प्रकृति अतिरिक्त जनसख्या का विनाश करने के लिये प्रयुक्त करती है, (अर्थात् नैसर्गिक निरोधों से) बचाव होने का एक उपाय यह है कि मनुष्य सयम-ब्रह्मचर्य (moral self-restraint) से रहे (अर्थात् प्रतिबंधक निरोध व्यवहार मे लायें) और जनसख्या को देश की खाद्य सामग्री द्वारा निश्चित सीमा के बाहर न जाने दें। अत उन्होंने जनसख्या की वृद्धि को रोकने के लिये दो प्रकार के निरोध (checks) बताये : (१) प्रतिबंधक निरोध जैसे सयम, ब्रह्मचय जिनके व्यवहार से मनुष्य प्राकृतिक आपत्तियो से बच सकते हैं, और (२) नैसर्गिक निरोध अर्थात् वे उपाय जिन्हें प्रकृति अतिरिक्त जनसख्या के विनाश के लिये प्रयुक्त करती है। माल्थस ने ईसाइयों तथा गैर-ईसाइयों से निवेदन किया कि वे सयम और ब्रह्मचर्य से रहें और जनसख्या को सीमित रक्खें जिससे कि भावी पीढियों को प्राकृतिक आपत्तियों का शिकार न होना पड़े।

जनसंख्या के निरोध

हम अब माल्थस द्वारा बताये हुए जनसंख्या के निरोधों का विस्तृत विवेचन करेंगे। उन्होंने बताया कि प्राप्य खाद्य-सामग्री की मात्रा वह प्राकृतिक सीमा है जिसपर जनसंख्या निरन्तर दबाव डालती रहती है। जनसख्या को इस सीमा के उल्लघन न करने देने के उपायों को उन्होंने जनसख्या के निरोधों के नाम से पुकारा। दृश्यगत (objective) दृष्टिकोण से उन्होंने निरोधों को नैसर्गिक (positive) और प्रतिबन्धक (preventive) वर्गों मे बाँटा। नैसर्गिक निरोधों में वे कारण सम्मिलित किये जाते हैं जो मृत्यु-दर को बढाते हैं, और प्रतिबधक निरोधों में वे कारण जो जन्म-दर को घटाते हैं। विषय-सम्बन्धी (subjective) दृष्टिकोण से उन्होंने निरोधों को विपत्ति, व्यभिचार और संयम-ब्रह्मचय मे बांटा। विपत्ति का परिणाम सर्वदा बुरा होता है, किन्तु व्यभिचार का तत्काल परिणाम सुखपूर्ण हो सकता है। सयम-ब्रह्मचर्य हमें विपत्ति या व्यभिचार से बचाता है, यद्यपि इसका तत्काल परिणाम अल्पकालीन दुख हो सकता है। इन निरोधों की हम नीचे एक तालिका देते हैं :—
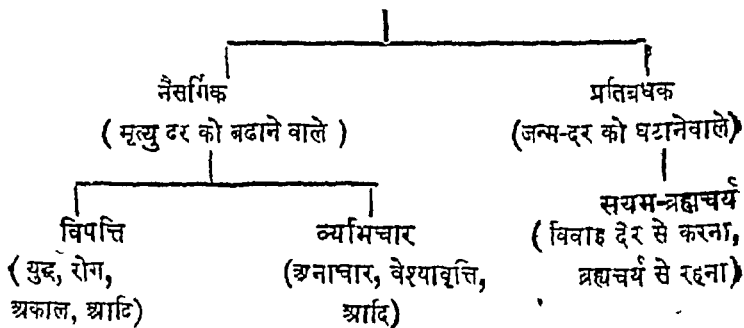
माल्थस के सिद्धान्त की आलोचना

माल्थस का सिद्धान्त पूर्णतया ठीक नहीं। जिस समय माल्थस ने इस नियम का प्रतिपादन किया, उस समय वह निस्सदेह सत्य था, किन्तु तब से अब संसार में बहुत परिवर्तन हो चुका है और ऐसी अनेक बातें, जो माल्थस के मस्तिष्क में भी नहीं थीं, अब क्रियाशील हैं। अत. माल्थस के सिद्धान्त का आधुनिक समय में पूर्णतया लागू न होना स्वाभाविक है। माल्थस के समय ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी, खाद्य-सामग्री दुर्लभ होती जा रही थी। उस समय सामुद्रिक यातायात का अभाव था, इसलिये ब्रिटेन भारतवर्ष या अमेरिका से खाद्य-सामग्री आयात नहीं कर सकता था। अतः माल्थस के विषादपूर्ण सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये समय अनुकूल था। किन्तु अब ये सब बातें इतिहास की वस्तु हो गई हैं। ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या में बहुत अकिंचन वृद्धि हो रही है। सामुद्रिक यातायात एवं व्यापार की उन्नति के कारण अब ब्रिटेन में खाद्य-सामग्री का अभाव नहीं रहता। अब ब्रिटेन संसार का एक बड़ा औद्योगिक देश बन गया है, और यद्यपि वह काफी मात्रा में खाद्य-सामग्री स्वयं उत्पन्न नहीं करता, तथापि वह अपने औद्योगिक पदार्थों के बदले में कृषि प्रधान देशों से आवश्यकतानुसार खाद्य-सामग्री प्राप्त कर सकता है और माल्थस के अनुमान से कहीं अधिक जन-संख्या का पालन पोषण कर सकता है।

वास्तव में, माल्थस ने जनसंख्या की वृद्धि की दर को अतिशयोक्ति की दृष्टि से देखा। उन्होंने प्राणिशास्त्र (biology) के इस नियम को ध्यान में नहीं रक्खा कि सभ्यता की जितनी वृद्धि होती है, जनसंख्या की उतनी ही वृद्धि कम होती है। संसार में रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जाने से भी जन-संख्या की वृद्धि दर कम हो गई है। समाज के निर्धन वर्गों में भी, शिक्षा और

कारखाने सम्बन्धी विधान बन जाने के कारण, बच्चे कारखानों में नौकरी नहीं पा सकते और इसलिये बच्चे उत्पन्न करना लाभ का मार्ग नहीं रहा। ये सब विकास माल्थस की दृष्टि के परे थे। उन्होंने उन सब सामाजिक प्रवृत्तियों को उपयुक्त महत्त्व नहीं दिया जो अब बड़े परिवार की अवहेलना करती हैं। उदाहरण के लिये, अब विवेकशून्य सतानोत्पत्ति बुरी बात समझी जाती है और बड़े परिवार का सत्कार होना इतिहास की बात हो गई है।

माल्थस ने केवल जनसख्या की वृद्धि-दर को ही अतिशयोक्ति की दृष्टि से नहीं देखा, प्रत्युत वे आधुनिक काल में खाद्य-सामग्री की उत्पत्ति की सवेग वृद्धि का भी ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सके। उन्होंने यह नहीं समझा कि कृषि के उपायों में सुधार करने से सीमान्त उपज के क्रमश. घटने का नियम क्रियाहीन किया जा सकता है। उन्होंने यह भी नहीं समझ पाया कि एक देश के अन्दर उत्पन्न होने वाली खाद्य-सामग्री उस देश की जनसंख्या की वृद्धि की अधिकतम सीमा नहीं होती, यह सीमा उस खाद्य-सामग्री की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है जो कोई देश स्वयं उत्पन्न करके या अन्य देशों से आयात करके प्राप्त कर सकता है। एक औद्योगिक देश चाहे कितना ही थोड़ा खाद्य-पदार्थ उत्पन्न करे, किन्तु वह अपने औद्योगिक-पदार्थ का निर्यात करके अन्य देशों से भोजन सामग्री का आयात कर सकता है और बड़ी जनसख्या का भरण-पोषण कर सकता है। उदाहरण के लिये, ग्रेट ब्रिटेन की आजकल यही नीति है। वास्तव में, आधुनिक समाज की समस्या उत्पत्ति के अभाव (under-production) की नहीं वरन् उत्पत्ति-बाहुल्य (over-production) की है, हमारी समस्या यह नहीं कि हम अधिक सामान कैसे उत्पन्न करें वरन् यह कि हम जितना भी सामान उत्पन्न करें उसे मनुष्य कैसे खरीद सकें।

हाल के आँकड़े निश्चित रूप से प्रमाणित करते हैं कि अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि प्रगतिशील देशों में जनसख्या उस वेग से नहीं बढ़ी जिस वेग से खाद्य-पदार्थ की वृद्धि हो रही है।

माल्थस का सिद्धान्त और भारतवर्ष—यद्यपि माल्थस का सिद्धान्त पश्चिमीय देशों पर लागू नहीं होता, पर यह भारतवर्ष ऐसे पिछड़े देशों पर अवश्य लागू होता है। भारतवर्ष में जनसंख्या खाद्य-सामग्री की अपेक्षा अधिक गति से बढ़ रही है। हमारे औद्योगिक पेशे भी बड़ी सीमा तक अविकसित हैं और हम ब्रिटेन की भाँति अपने औद्योगिक पदार्थ का निर्यात करके अन्य देशों से खाद्य-पदार्थों का आयात नहीं कर सकते। परिणाम यह होता है कि जनसख्या प्राप्य खाद्य-सामग्री द्वारा निश्चित सीमा पर दबाव डालती रहती है। हमारे देशवासी इतने अशिक्षित

और प्राचीन धार्मिक एव सामाजिक प्रथाओ के भक्त हैं कि वे सयम-ब्रह्मचर्य से भी नहीं रहते। साथ ही साथ निर्धनता, अशिक्षा और रूढिदासता के कारण सतान-निग्रह के कृत्रिम उपायों का भी प्रचार नहीं है। अतः अतिरिक्त जनसख्या का प्रकृति अपने निर्मम और कडे उपायो द्वारा विनाश करती है, रोग, बाढ, भूचाल, दगे, आदि बहुधा फैलते और होते हैं जो अतिरिक्त जनसख्या का रह-रहकर सहार करते रहते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१. वे कौन से प्राकृतिक कारण हैं जो जनसंख्या की सीमा निर्धारित करते हैं? पूर्णतया विवेचन कीजिये।

२. उन विभिन्न कारणों का वर्णन कीजिये जो किसी देश की जनसख्या निर्धारित करते हैं।

३. निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये : अति जीवन दर तथा आवास-प्रवास की वास्तविक दर।

४. क्या आवास-प्रवास जनसख्या की सीमा को प्रभावित करता है? क्या यह भारतवर्ष की जन-संख्या को प्रभावित करता है?

५. माल्थस का जनसख्या सिद्धांत बतलाइये। आप इससे कहाँ तक सहमत हैं?

६. "माल्थस का सिद्धांत एक महान् सिद्धान्त है जो सर्वमान्य है।" इसकी विवेचना कीजिये।

७ माल्थस के सिद्धांत की आलोचना कीजिये और यह बतलाइये कि यह सिद्धांत भारतवर्ष पर किस सीमा तक लागू होता है?

परीक्षा-प्रश्न

सयुक्त-प्रान्त, इन्टर आर्ट्स

१. नैसर्गिक और प्रतिबन्धक निरोध (Positive and Preventive checks) पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४९)

२. नैसर्गिक विरोध पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४७)

३. (अ) नैसर्गिक निरोध और (आ) अत्यधिक जनसंख्या पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४५)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

४ माल्थस का जनसख्या का क्या सिद्धान्त है? आधुनिक अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण से इसकी आलोचना कीजिये। (१९४२)

५. माल्थस द्वारा प्रतिपादित जनसंख्या के सिद्धांत का कथन कीजिये। यह आधुनिक भारत में कहाँ तक लागू है? (१९४९, १९५१)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

6. Explain the following —

(*a*) Natural increase of population (*b*) Positive and preventive checks to population (c) Optimum population. (1943)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

7 Explain what is meant by Positive and Preventive checks to population In a country with an overgrown population, which of the two checks would you prefer in order to bring down the population? Give reasons (1946)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

8 Write a brief explanatory note on Optimum Theory of Population. (1949)

नागपुर, इन्टर कामर्स

१. राष्ट्र-धन तथा देश की जनसंख्या के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना कीजिए। (१९४६)

पटना, इन्टर आर्ट्स

10 Explain the Malthusian theory of the growth of population (1948 Supp)

पटना, इन्टर कामर्स

11. Explain the Malthusian Theory of Population. (1949 Supp.)

अध्याय ३५

श्रम की कार्यक्षमता (Efficiency)

किसी देश में श्रम की पूर्ति दो बातों पर निर्भर होती है : श्रम की कार्यक्षमता और जनसंख्या की मात्रा पर। किसी दिये हुये समय में श्रेष्ठतर, या अधिक, या श्रेष्ठतर और अधिक काम करने की सामर्थ्य को ही कार्यक्षमता कहते हैं। श्रम की कार्यक्षमता एक सापेक्षिक शब्द (Term) है। यदि एक श्रमिक दूसरे से दुगना काम कर सकता है या दुगना अच्छा काम कर सकता है तो उसकी कार्यक्षमता दूसरे की अपेक्षा दूनी अधिक कही जायगी। यह प्रतिदिन के अनुभव की बात है कि उसी पेशे में, एक-सी अवस्था में, एक-से औजारों और कच्चे माल से तथा बराबर समय तक काम करने वाले श्रमिक विभिन्न मात्रा में काम करते हैं या विभिन्न श्रेष्ठता का काम करते हैं। ऐसा क्यों होता है? श्रमिकों की उत्पादकता या कार्यक्षमता में इतनी विभिन्नता क्यों? श्रम की कार्यक्षमता किन बातों पर निर्भर होती है? इन प्रश्नों पर हम नीचे विचार करेंगे।[1]

श्रम की कार्यक्षमता को निर्णय करने वाली बातें

श्रम की कार्यक्षमता कई बातों पर निर्भर होती है। यह अंशतः स्वामी पर और अंशतः श्रमिक पर निर्भर होती है, अंशतः संगठन पर और अंशतः व्यक्तिगत उद्योग पर, अंशतः श्रमिक को दिये जाने वाले औजार और यन्त्रों पर और अंशतः उनको प्रयोग करने की उसकी अपनी कुशलता और परिश्रम पर[2]। विस्तृत दृष्टिकोण से, हम इन बातों को दो वर्गों में बाँट सकते हैं :

(१) वे बातें जो श्रमिकों की काम करने की योग्यता और इच्छा को प्रभावित करती हैं, और

(२) वे बातें जो संगठनकर्ता की संगठन करने की सामर्थ्य को प्रभावित करती हैं।

---

[1] समाज-सुधारक व्यक्ति की कार्यक्षमता को बहुत महत्त्व देते हैं। डाक्टर सेमुएल स्माइल्स लिखते हैं ; "अधिकतम देश प्रेम और दानवृत्ति, विधान-परिवर्तन और संस्था-सुधार में इतनी नहीं जितनी कि मनुष्यों को स्वयं अपनी शक्ति और अपने स्वतंत्र कामों से अपने को ऊँचा उठाने और उन्नत होने में सहायता देने और उत्साहित करने में होती है।" Smiles, *Self-help*, p 3.

[2] Penson, *The Economics of Everyday Life*, vol. I, p 31

इन दोनों वर्गों में से पहले वर्ग की बातों का महत्त्व दूसरे वर्ग की अपेक्षा अधिक है।

(१) श्रमिकों की काम करने की योग्यता और इच्छा

श्रम की कार्यक्षमता प्रधानतया श्रमिकों की परिश्रम करने की सामर्थ्य पर, और उनकी परिश्रम करने की इच्छा पर निर्भर होती है। यदि किसी व्यक्ति में काम करने की सामर्थ्य तो हो पर इच्छा न हो, या उसमें काम करने की इच्छा तो हो पर सामर्थ्य न हो, तो उस व्यक्ति में कार्यक्षमता नहीं हो सकती। जिन बातों पर काम करने की सामर्थ्य तथा इच्छा निर्भर होती है उनका हम नीचे वर्णन करते हैं :

(१) जातीय और पैतृक गुण—जाति और पुरखों के गुण मनुष्य की कार्यक्षमता को बड़ी सीमा तक निर्धारित करते हैं। बुद्धिमानी, शारीरिक शक्ति, देर तक काम करते रहने की सामर्थ्य और इसी प्रकार के अन्य गुण एक पीढी से दूसरी पीढी तक चलते रहते हैं। ग्रेट ब्रिटेन और नौर्वे के मल्लाह, स्विट्जरलैण्ड के घड़ी बनानेवाले, इटली के कलाकार, शैफील्ड के कांटे-छुरी बनाने वाले और हालैण्ड के तलवार बनाने वाले आज तक ससार-प्रसिद्ध हैं। हमारे हिन्दू समाज में जो जात-पाँत की प्रथा आजकल प्रचलित है उसका भी मौलिक उद्देश्य जातीय एव पैतृक गुणों की रक्षा करना था। यह प्रथा अब ढीली हो गयी है, विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में इसका मान बहुत कम रह गया है, किन्तु फिर भी इसका कुछ न कुछ प्रभाव अब भी जारी है। ब्राह्मण की ज्ञान-लाभ की ओर स्वाभाविक रुचि होती है, क्षत्री स्वभाव से ही योद्धा के जीवन की ओर आकर्षित होता है, वैश्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति व्यापार की ओर होती है। इसी प्रकार अवध के मजदूर बंगाली मजदूरो से अच्छे होते हैं, और पंजाबी मजदूर अवधी मजदूरों से भी श्रेष्ठ होते हैं।

(२) जलवायु और भौतिक दशाएँ—जलवायु का श्रम की कार्यक्षमता पर निर्णयात्मक प्रभाव होता है। बहुत ठडी या बहुत गरम जलवायु मे अधिक देर तक कठिन परिश्रम नहीं हो सकता। मजदूर शीतोष्ण जलवायु में बहुत अच्छी तरह काम करते हैं। यदि जलवायु बहुत ठडी हुई, तो मनुष्य शायद घर से भी बाहर न निकल सके, और यदि जलवायु गरम हुई, तो मानवी ढाँचा ही अशक्त होने लगेगा। उदाहरण के लिये, हमारे देश में पञ्जाब और पश्चिमी सयुक्त-प्रान्त की जलवायु अच्छी है और इसलिये वहाँ के मजदूर मजबूत और शक्तिशाली होते हैं। किन्तु, बगाल की जलवायु बुरी है, और तराई प्रदेशों में, जहाँ मलेरिया

बहुधा फैला करता है, जलवायु और भी खराब है। इन प्रदेशों के श्रमिक बहुधा अशक्त और अकुशल होते हैं।

जलवायु मनुष्य की काम करने की सामर्थ्य एव इच्छा के द्वारा तो कार्य-क्षमता पर प्रभाव डालती ही है, साथ ही यह काम करने की आवश्यकता निर्धारित कर और उसके द्वारा भी प्रभाव डालती है। भूमध्य रेखा के आस-पास के प्रदेशों में प्रकृति उदारतापूर्वक मनुष्यों को उपहार देती है, और मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की सतुष्टि के लिये अधिक काम नहीं करना पड़ता। शीतोष्ण जलवायु में अवस्था कुछ कठिन होती है और वहाँ आवश्यकताओ की सतुष्टि के लिये मनुष्यो को काफी उद्योग करना पड़ता है। ठडी जलवायु में कड़ा परिश्रम हो सकता है। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि गरम देशों के मजदूर बहुधा आलसी होते हैं, शीतोष्ण प्रदेशों के फुर्तीले, और ठडे देशों के कठिन परिश्रमी। जलवायु जीवन-रक्षक तथा अन्य पदार्थों का भी निर्णय करती है और इस प्रकार भी यह कार्यक्षमता पर प्रभाव डालती है।

हमारे देश की जलवायु अशात. गर्म प्रदेश की-सी है, अतः हमारे श्रमिक बहुत कार्य-कुशल नहीं। गर्मी के मौसम में टिलटिलाती धूप में देर तक कड़ा परिश्रम करना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त, हमारे प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में हैं और कडे परिश्रम की आवश्यकता अधिक नहीं होती। अत में, मनुष्यों की आवश्यक आवश्यकताएँ कम हैं और थोडे से श्रम से ही उन्हें सतुष्ट किया जा सकता है, अतः मनुष्यों को थोडे से ही श्रम करने की आदत है।

(३) सामान्य बुद्धिमानी—श्रम की कार्यक्षमता श्रमिक की सामान्य बुद्धिमानी पर भी निर्भर होती है। बुद्धिमानी पैतृक भी होती है और प्राप्त भी की जाती है। पैतृक बुद्धिमानी जाति तथा माता-पिता पर निर्भर होती है। हम देखते हैं कि एक अमेरिकन मजदूर औसतन भारतीय मजदूर से विचार में अधिक स्पष्ट, काम में अधिक फुर्तीला और अपने निश्चय में अधिक दृढ होता है। इसी प्रकार एक भारतीय मजदूर अफ्रीका के मजदूर से श्रेष्ठ होता है। किन्तु समस्त संसार ही सभ्यता के मार्ग पर आगे बढ रहा है और सामान्य बुद्धिमानी अब प्रायः प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाने लगेगी। बुद्धिमानी प्राप्त भी की जा सकती है। ऐसी बुद्धिमानी स्कूल की शिक्षा और माता तथा घर का परिणाम होती है।

(४) शिक्षा—कार्यक्षमता के निर्णय में शिक्षा भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, क्योंकि शिक्षा मनुष्य की सोती हुई योग्यताओं को जगाती और प्रस्फुटित करती है, और उसे और रीतियों से धनोत्पत्ति के योग्य बनाती है। शिक्षा सामान्य और विशिष्ट—दो प्रकार की होती है। सामान्य शिक्षा का उद्देश्य यह होता है कि वह

मनुष्य का सामान्य वातो के सम्बन्ध का ज्ञान क्षितिज विस्तृत करे। इस प्रकार की शिक्षा श्रमिक का दृष्टि-कोण विस्तृत करती है और उसके मनुष्य व वस्तु सम्बन्धी विचारों के सुधारने और बढाने में सहायक होती है। वह उसे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक ज्ञान प्रदान करती है और उसकी सदाचार की भावना की पुष्टि करती है। सामान्य शिक्षा के इतने लाभ होते हैं कि ससार के सभी प्रगतिशील देशो में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य बना दी गई है, फ्रांस में तो समस्त शिक्षा, आदि से अन्त तक, निःशुल्क ही है। अभाग्यवश हमारे देश में अभी अनिवार्य और नि.शुल्क प्राथमिक शिक्षा का आयोजन नहीं हो सका है। स्कूलों के अतिरिक्त, पुस्तकें पढने से, अखबार और मैगजीन बॉचने से तथा गम्भीर अवलोकन से भी सामान्य शिक्षा प्राप्त होती है। भारतीय श्रमिकों को ऐसी सुविधाए प्राप्त नहीं।

विशिष्ट शिक्षा का उद्देश्य श्रमिकों को किसी विशेष व्यापार या पेशे के योग्य बनाना है। ऐसी शिक्षा कोरी सैद्धान्तिक हो सकती है, या अकेली रचनात्मक, या दोनों ही प्रकार की। इसका ठीक-ठीक स्वभाव व्यापार की प्रकृति, श्रमिक की रुचि और जिस पद के लिये वह तैयारी कर रहा है उस पद पर निर्भर होता है। निर्धनता और मुसीबत का एक मुख्य कारण यह है कि मनुष्य विशिष्ट शिक्षा से वंचित होते हैं। हमारे देश में विशिष्ट शिक्षा का सर्वथा अभाव है। विशिष्ट शिक्षा के स्कूल तथा पेशेवार स्कूल इने-गिने हैं। कारखाने और मिलों के स्वामी भी साधारणतया नौसिखिये (apprentices) नहीं लेते।

(५) रहन-सहन का स्तर—श्रमिक की कार्यक्षमता उसके माता-पिता के रहन-सहन के स्तर पर भी निर्भर करती है क्योंकि वे उसे जन्म से ही पालते हैं। मनुष्य की शारीरिक उपयुक्तता उसके रहन-सहन के स्तर का ही परिणाम होता है। जो श्रमिक निर्धनता, अपर्याप्त भोजन तथा अपर्याप्त वस्त्र आदि के वातावरण मे पला हो, वह कडे शारीरिक परिश्रम के योग्य नहीं हो सकता। श्रमिक का अपना निजी रहन-सहन का स्तर भी उसकी कार्यक्षमता पर प्रभाव डालता है। स्वास्थ्य-वर्द्धक भोजन, पर्याप्त वस्त्र, स्वच्छ और हवादार मकान, तथा स्वास्थ्यपूर्ण मनोरंजन मनुष्य की कार्यक्षमता को बनाते और बढाते हैं। हमारे देश के अधिकाश निवासियों को ये सब सुविधाएँ प्रदान करना, हमारा सबसे बड़ा राष्ट्रीय प्रश्न है जिसके हल पर हमारे देश का आर्थिक कल्याण अवलम्बित है।

(६) सदाचार सम्बन्धी गुण—ईमानदारी, निष्कपटता, परिश्रम तथा अन्य सदाचार सम्बन्धी गुण भी श्रमिक की कार्यक्षमता निर्धारित करते हैं। ये सब गुण

"आचरण" शब्द में सम्मिलित किये जाते हैं। सदाचरण बनाना, यह एक महान् राष्ट्रीय सेवा है। आचरण आरम्भिक शिक्षा तथा धार्मिक तथा सामाजिक वातावरण जिसमें मनुष्य का लालन-पालन होता है, पर निर्भर होता है। यदि ये सब प्रभाव और वातावरण अच्छे हुए, तो आत्म-विश्वास, आत्म-सयम, आत्म-शासन, परिश्रम, उद्देश्यपूर्णता आदि गुण जड़ पकड़ लेते हैं और मनुष्य को बहुत कार्य-कुशल बना देते हैं, किन्तु यदि उसका लालन-पालन दूषित वातावरण में हुआ, तो मनुष्य इन सारे गुणों को खो बैठता है और अपना सर्वनाश कर बैठता है।

(७) स्वतन्त्रता, आशा और परिवर्तन—स्वतन्त्रता, आशा और परिवर्तन श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ाते हैं। दास जो स्वतन्त्रता से हीन होता है कार्यक्षमता से भी हीन होता है। इसी प्रकार जिन श्रमिकों को अच्छा काम दिखाने पर भी उन्नति की कोई आशा नहीं की जाती, उन्हें कार्यक्षमता बढ़ाने के लिये कोई उत्साह ही नहीं होता। अन्त में, जहाँ काम एक ही प्रकार का (Monotonous) होता है और श्रमिक को दिन भर और रात भर उसी काम को करना पड़ता है, उसे काम में कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती, किन्तु यदि उसके काम में उपयुक्त ढग से कभी-कभी सुखपूर्ण परिवर्तन कर दिया जाय, तो वह मनोरंजन और खोई हुई शक्ति की पुनर्प्राप्ति के सिद्धान्त के अनुकूल काफी कार्य-कुशल बना रहेगा।

(८) पुरस्कार की पर्याप्तता, समीपता और प्रत्यक्षता—यदि किसी श्रमिक को पर्याप्त पुरस्कार मिले, तो वह निष्कपटता और सच्चे हृदय से काम करेगा और उसकी कार्यक्षमता काफी होगी। यदि उसका पुरस्कार अपर्याप्त हुआ तो वह असतुष्ट रहेगा, और उसकी मानसिक अवस्था उसकी कार्यक्षमता के प्रतिकूल पड़ेगी। इसके अतिरिक्त, उसके रहन-सहन का स्तर भी नीचा रहेगा और उसे वे वस्तुएँ प्राप्त न हो सकेंगी जो कार्यक्षमता की वृद्धि करती हैं। पुरस्कार पर्याप्त तो होना ही चाहिये, साथ में ही वह समीप और प्रत्यक्ष भी होना चाहिये। साधारणतया मजदूर थोड़ी ही दूर तक देखते हैं और एक वर्ष के पश्चात् की बात सोचते ही नहीं। अत:, यदि उन्हें किसी पुरस्कार देने का निश्चय किया जाय, तो उसे साल भर के अन्दर ही अन्दर दे देना चाहिये। अन्यथा उसका उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अन्त में, श्रमिकों को पुरस्कार किसी प्रत्यक्ष रीति से देना चाहिये। यदि उन्हें पुरस्कार किसी परोक्ष या छिपे हुए ढग से दिया गया—जैसे उनकी काम की दशाओं में सुधार करने के रूप में या अच्छी प्रकार का सामान कम मूल्य पर बेचने के रूप में—तो वे कदाचित् उस लाभ के महत्त्व की प्रशसा न कर सकें और उसका उद्देश्य प्राप्त न हो सके।

(९) **काम करने की दशाएँ**—जिन दशाओं में श्रमिक काम करते हैं उनका भी कार्यक्षमता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यह प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि प्रकाश, रोशनदान, और स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों में सुधार कर देने पर कारखानों के मजदूरों की शारीरिक और मानसिक शक्ति बढ़ जाती है और उनकी उत्पादकता में, फलस्वरूप, वृद्धि हो जाती है। हमारे देश में, इस विषय पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। कारखानों में मजदूर अस्वास्थ्यपूर्ण, घने और गंदे वातावरण के कमरों और कोठरियों में काम करते हैं जहाँ उनकी शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का शनैः शनैः ह्रास होता रहता है।

(१०) **काम के घंटों की संख्या और उनका वितरण**—साधारणतया यह सोचा जाता है कि यदि श्रमिकों से ज्यादा घंटे काम लिया जायगा, तो वे ज्यादा माल बनावेंगे। किन्तु विभिन्न देशों में किये गये प्रयोगों ने इस विचार को भ्रान्तिमूलक सिद्ध कर दिया है। वास्तव में, एक सीमा तक, काम के घंटे घटाने का परिणाम यह होता है कि मजदूरों की कार्यक्षमता बढ़ जाती है और वे कम घन्टों में ही पहले से अधिक माल बनाने लगते हैं। कम घन्टे काम करने से उनकी शक्ति का कम व्यय होता है और वे आराम के समय उस शक्ति को शीघ्र ही पुनर्प्राप्त कर लेते हैं, अतः दूसरे दिन जब वे काम पर आते हैं तब बिल्कुल ताजे और शक्तिशाली होते हैं और पहले से अधिक माल बनाते हैं।

घंटों की संख्या के अतिरिक्त, काम के घंटों के वितरण पर भी कार्यक्षमता निर्भर होती है। यदि विश्राम-काल उपयुक्त समय पर दिया जाय और उसका सदुपयोग हो, तो श्रमिक हर्षित, सुखी और ताजे हो जायँगे और खूब काम कर सकेंगे।

(११) **सामाजिक तथा राजनैतिक दशाएं**—यदि सामाजिक और राजनैतिक संस्थाएँ, रीति-रिवाजें तथा विधान अच्छे, तर्कपूर्ण और विद्वत्तापूर्ण हों, तो श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ती है। बुरी और अन्यायपूर्ण राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्थाओं में श्रम की कार्यक्षमता की सदैव क्षति ही होती है। हमारे देश मे मनुष्य के जन्म के समय उसकी जात उसका पेशा निर्धारित कर देती है। इस निर्धारण में मनुष्य की रुचि पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, किन्तु यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है जिस पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिये। उसी प्रकार हमारी लम्बी दासता ने हमारे देशवासियों के मस्तिष्क में यह बुरा विश्वास उत्पन्न कर दिया है कि वे संसार के अन्य देशवासियों से तुच्छ हैं और अंग्रेज उनसे बहुत श्रेष्ठ होते हैं। किन्तु अब राजनैतिक जाग्रति हो जाने से और स्वाधीनता की प्राप्ति हो जाने से यह भावना मिटने लगी है। देश में श्रम सम्बन्धी

तथा कारखाने-सम्बन्धी विधान बन गये हैं और वे इस बात पर जोर देते हैं कि कारखानो में सफाई हो, कमरों में रोशनदान हों, मजदूरी पर्याप्त हो, काम के घटे कम हो, आदि। इन बातों से मजदूरो की कार्यक्षमता का बढना निश्चित है।

(२) सङ्गठनकर्ता की सामर्थ्य

श्रमिक की कार्यक्षमता उसकी अपनी काम करने की योग्यता एव इच्छा के अतिरिक्त, श्रमिकों से काम लेने के ढङ्ग पर भी निर्भर करती है। यदि हर श्रमिक को वही काम दिया जाय जो उसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त है, यदि उसे ठीक-ठीक औजार दिये जायँ, यदि उसे अपने काम के विषय मे समुचित शिक्षा दी जाय, तो उसकी कार्यक्षमता का बढ़ना निश्चित है। ये सब बातें सगठनकर्ता के क्षेत्र की हैं। उसका यह भी काम है कि वह श्रमिकों के एक दल का काम उनके दूसरे दल के काम से मिलावे। वास्तव में, श्रमिकों का एक दल जितना काम करता है, वह प्रत्येक मजदूर के निजी काम पर ही अकेला निर्भर नहीं करता। वरन् सगठनकर्ता की कुशलता पर भी निर्भर होता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'श्रम' की कार्यक्षमता से आप क्या अर्थ समझते हैं? क्या यह सगठन-कर्ता पर निर्भर होती है? यदि यह सगठन-कर्ता पर निर्भर होती है तो बतलाइये किस प्रकार?

२. श्रम की कार्यक्षमता का निर्धारण करने वाली कौन सी बाते हैं? पूर्ण विवेचना कीजिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. श्रम की कार्यक्षमता पर जिन कारणों का प्रभाव पड़ता है उनकी परीक्षा कीजिये। (१६४६)

२. जिन बातों पर श्रम की कार्यक्षमता निर्भर होता है उनका वर्णन कीजिये और बताइये कि भारतीय कारखानों के श्रम में ये बातें कहाँ तक पाई जाती हैं। (१६४६)

३. श्रम की कार्यक्षमता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१६४५)

४ भारतीय श्रम की कार्यक्षमता की हीनता के मुख्य कारण कौन से हैं? आप कौन से सुधार सुझायेंगे। (१६४१)

बातों पर, इन्टर कामर्स

५. श्रम की कार्यक्षमता किन बातों पर निर्भर होती है ? आप भारतीय श्रम की कार्यक्षमता में किस प्रकार वृद्धि कर सकते हैं ? (१६४८)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

6. What do you mean by 'the efficiency of labour'? Explain the factors affecting it (1949)

7. In what manner does the standard of living affect the efficiency of labour ?

Illustrate your answer from Indian examples. (1942)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

8. What are the factors that determine the efficiency of labour ? (1948)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

9. 'The efficiency of labour depends on the health and strength, the education, ambition and trustworthiness of the labour.' Do you agree ? What more factors can you name which determine the efficiency of labour ? (1947)

नागपुर, इन्टर कामर्स

१०. यदि आप एक मिल या कारखाने के मैनेजर बना दिये जायें तो आप अपने श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिये कौन से तरीकों का प्रयोग करेंगे । (१६४८)

११ 'श्रम की कार्यक्षमता श्रमिक के स्वास्थ्य, शक्ति, शिक्षा, उत्साह तथा विश्वस्तता पर निर्भर होती है ।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? आप कौन सी अन्य बातों को बतला सकते हैं जो कि श्रम का निर्धारण करती हैं ? (१६४७)

पटना, इन्टर आर्ट्स

12. Describe the factors on which the efficiency of labour depends (1949 Supp.)

सागर, इन्टर आर्ट्स

13. What are the conditions upon which depends the efficiency of labour ? (1949)

अध्याय ३६

भारतवर्ष की जनसंख्या

अब हम अपने देश की जनसख्या के मात्रा-सम्बधी, शारीरिक एवं मानसिक लक्षणों का विवेचन करेंगे। हमारी श्रम-समस्या के ये पहलू बहुत महत्वपूर्ण हैं।

§ १. जनसंख्या का आकार और घनत्व

जनसंख्या का आकार

भारत की गिनती ससार के सबसे घने बसे देशों में की जाती । विभाजन के पश्चात् भारत की जनसख्या ३२ करोड़ के लगभग रह गई है।* ससार भर की जनसख्या लगभग २०० करोड़ है। अतः ससार का प्रत्येक छठवाँ व्यक्ति भारत-वासी है। जनसख्या के हिसाब से चीन के बाद भारत का ही नम्बर आता है।

भारत की जनसख्या बराबर बढती चली जा रही है। नीचे की तालिका में अखण्ड भारत की जनसख्या की वृद्धि सन् १८७२ ई० से दिखाई गई है :

वर्ष	जनसख्या	प्रतिशत वृद्धि
१८७२	२१ करोड़	—
१८८१	५ ,,	२३
१८९१	२९ ,,	१३
१९०१	२९½	२½
१९११	३१ ,,	७
१९२१	३२ ,,	१
१९३१	३५ ,,	१०
१९४१	३९ ,,	११

सन् १९४१ की गणना के आधार पर ही नवीन भारत की जनसख्या ३२ करोड़ अनुमानित की गई है। यदि कुल आबादी की वृद्धि १% प्रतिवर्ष होती रही हो, तो सन् १९५१ की गणना के अनुसार नवीन भारत की आबादी ३५ करोड़ के लगभग होगी।

जनसंख्या का घनत्व

किसी देश में प्रति वर्ग मील में रहने वालो की सख्या को ही जनसख्या का घनत्व (density) कहते हैं। स्पष्टतया किसी देश की जनसंख्या का घनत्व दो

*पाकिस्तान के बनने के पहले भारतवर्ष की जनसख्या सन् १९४१ की गणना के अनुसार ३९ करोड़ थी। किन्तु पाकिस्तान में लगभग ७ करोड़ व्यक्ति रहते हैं। अतः नवीन भारत की आबादी ३२ करोड़ हुई। ठीक-ठीक जनसख्या सन् १९५१ की मनुष्य-गणना (Census) के पूर्ण हो जाने पर मालूम होगी।

बातों पर निर्भर होता है : (१) उसके निवासियों की संख्या पर; और (२) उसके क्षेत्रफल पर। यह सच है कि हमारे देश की जनसंख्या बहुत है किन्तु साथ ही साथ उसका क्षेत्रफल भी बहुत अधिक है, इसलिये जनसंख्या का घनत्व अधिक नहीं। यह घनत्व औसतन केवल २६० व्यक्ति प्रति वर्गमील है। देश के अन्य प्रगतिशील देशों में जनसंख्या का घनत्व कहीं इससे अधिक है और कहीं कम। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की अपेक्षा भारत का क्षेत्रफल केवल आधा है पर आबादी तिगुनी है। अतः उस देश की जनसंख्या का घनत्व केवल ४३ ही है। पर कुछ अन्य प्रगतिशील देशो की जनसंख्या का घनत्व भारत से अधिक है। उदाहरण के लिये बेल्जियम में जनसंख्या का (प्रतिवर्ग मील) घनत्व ७००, युनाइटेड किंगडम में ५०० और जापान में ४०० है।

घनत्व की प्रान्तीय भिन्नता

इस देश का औसतन घनत्व २०० व्यक्ति प्रति वर्गमील है। वास्तव में, कुछ प्रान्तों में घनत्व इससे अधिक और कुछ दूसरों में इससे कम है। सबसे घना भाग दिल्ली है, जहाँ कि जनसंख्या १,६०० व्यक्ति प्रतिवर्ग मील है। अण्डमन में घनत्व सबसे कम—केवल ३४ व्यक्ति प्रतिवर्ग मील । नीचे की तालिका में कुछ प्रान्तों की जनसंख्या दिखाई गई है .

प्रान्त			घनत्व
दिल्ली	...	..	१,६००
पश्चिमी बंगाल	...	...	८००
बिहार	...	...	५००
संयुक्त प्रान्त	...	...	५००
मद्रास	..	..	४००
पूर्वी पञ्जाब	...	...	३००
बम्बई	.	...	२५०
उड़ीसा	...	...	२३०
मध्य प्रान्त	..	...	१५०
हिमाचल प्रदेश	...	...	८८
कच्छ	...	...	६६
अंडमन	...	...	३४

प्रान्तीय भिन्नता के कारण

विभिन्न प्रान्तों में जनसंख्या का घनत्व इतना भिन्न क्यों होता है—यह अध्ययन का एक दिलचस्प विषय है। यदि अन्य बातें समान हों तो देश का वह

भाग जहाँ जीविका-निर्वाह के साधन सबसे प्रचुर मात्रा में प्राप्य होंगे सबसे अधिक घना बस जायगा। जहाँ केवल थोड़े से ही व्यक्तियों का निर्वाह होना सम्भव होगा, वहाँ की जनसख्या का घनत्व कम होना स्वाभाविक ही है। भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है, अत. जिस भाग में खेती सबसे अधिक समृद्धिशाली है और जहाँ जीविका-निर्वाह के साधन सबसे प्रचुर हैं, वहीं जनसख्या का घनत्व अधिकतम है। कृषि के अतिरिक्त, अन्य बातें भी घनत्व का निर्धारण करती हैं और कुछ भागों में वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। किन्तु सामान्यत. कृषि पर प्रभाव डालने वाली बातें ही जनसख्या के घनत्व का निर्णय करती हैं। ये बातें निम्नलिखित हैं :-

(१) भूतल के लक्षण—कृषि की सफलता या असफलता का सबसे महत्व-पूर्ण कारण भूतल की बनावट होती है, और इसीलिये घनत्व के निर्णय में भी इसी का सबसे बड़ा हाथ है। ऊँचे-नीचे और पहाड़ी भागो में खेती के लिये अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है और उसमें जोखिम भी अधिक होती है। इसके विपरीत, एक-से मैदान खेती के लिये बहुत अनुकूल होते हैं। अतः सारे देश में ही पहाड़ी प्रदेशों की जनसख्या छितरी है और मैदानों की जन-सख्या घनी है। वास्तव में, गगा के मैदान की गिनती ससार के सबसे घने प्रदेशों में है।

(२) वर्षा—कृषि की सफलता वर्षा की मात्रा पर भी निर्भर होती है। सामान्यतया ४० इञ्च पानी, यदि वह ठीक तरह से वितरित हो, तो भारतीय कृषि के लिये सबसे उपयुक्त होता है। जहाँ वर्षा की मात्रा इतनी या इसके लगभग होती है, वहाँ की जनसख्या का घनत्व अधिक होता है, और जहाँ वर्षा इससे कम या ज़्यादा होती है, वहाँ घनत्व कम होता है। विद्यार्थियों को यह लिखने की गलती नहीं करनी चाहिये कि वर्षा जितनी अधिक होगी घनत्व भी उतना ही अधिक होगा। वर्षा घनत्व का कुछ ही सीमा तक सहायक होती है, उसके पश्चात् वह घनत्व का घातक हो जाती है। यदि वर्षा का अभाव कृषि के लिये हानिकारक है, तो वर्षा की अधिकता भी खेती को उतनी ही हानि पहुँचाती है। उदाहरण के लिये लोअर बर्मा में बहुत पानी पड़ता है किन्तु वहाँ की जनसख्या छितरी है।

(३) सिंचाई—जहाँ वर्षा की कमी होती है वहाँ सिचाई घनत्व के निर्धारण मे महत्वपूर्ण काम करती है। सिचाई खेती को सफल बनाती है और घनी जनसख्या के अनुकूल होती है। पजाब का वह भाग जो अब नहर-उपनिवेश कहलाता है, कुछ समय पूर्व अनुपजाऊ रेगिस्तान था, किन्तु नहरें बन जाने के पश्चात् वह सहस्रों किसानों का हँसता हुआ उपजाऊ खेतिहर प्रदेश बन गया।

इसी प्रकार सक्कर बैरेज बन जाने से सिन्ध में खेती होने लगी और सहस्रों किसान भूमि पर बस गये।

(४) मिट्टी की किस्म—कृषि की सफलता मिट्टी की किस्म पर भी बहुत कुछ निर्भर रहता है। जहाँ मिट्टी उपजाऊ और सुगमता से जोती जा सकने वाली होती है, वहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। यदि, इसके विपरीत, मिट्टी पथरीली और अनुपजाऊ हुई, तो जनसख्या छितरी होगी, यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि यदि वर्षा पर्याप्त है, तभी मिट्टी की अनुकूलता का महत्त्व होता है ; अन्यथा नहीं। अकेली इसी बात का जनसख्या के घनत्व पर बहुत थोड़ा प्रभाव होता है।

(५) जलवायु—कृषि की सफलता की एक और आवश्यक बात अनुकूल जलवायु है। चाहे अन्य बातें कृषि के कितने ही अनुकूल क्यों न हों, किन्तु यदि जलवायु अनुपयुक्त है तो कृषि नहीं की जा सकती, इसका प्रमाण यह है कि अनुपयुक्त जलवायु वाले समस्त भाग कम घनत्व वाले हैं।

कृषि-सम्बन्धी बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य बातें भी जनसख्या के घनत्व का निर्णय करती हैं :—

(६) सुरक्षा--मनुष्य और सम्पत्ति की सुरक्षा जनसख्या के घनत्व को बढ़ाती है। जिन क्षेत्रों में युद्ध, या स्वाभाविक आपत्त या राजनैतिक अत्याचार अथवा शोषण का भय होता है, उनमें आबादी छितरी होती है।

(७) आवास-प्रवास पर प्रभाव डालने वाली बातें—कुछ सीमा तक आवास को प्रोत्साहित करने वाली बातें घनत्व को बढ़ाती हैं और प्रवास को प्रोत्साहित करने वाली बातें घनत्व को कम करती हैं। वास्तव में, हो सकता है ये बातें अन्य ऊपर बताई हुई बातों से भी अधिक शक्तिवान प्रमाणित हों।

(८) आर्थिक उन्नति का सोपान—देश या उसके भाग की आर्थिक उन्नति के सोपान पर भी जनसख्या का घनत्व निर्भर होता है। आखेट युग में, मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को लगातार घूमते रहते थे, और उस समय जनसख्या का घनत्व निरर्थक शब्द (term) था। चरागाह युग मे मनुष्य एक प्रकार से कुछ स्थिरतापूर्वक एक स्थान में रहने लगे, किन्तु क्योंकि पशुओं को बडे-बडे चरागाह की आवश्यकता पडती थी, इसलिये जनसख्या स्वाभाविक रूप से छितरी थी, कृषि युग में मनुष्य निश्चित स्थान में लगकर रहने लगे और खाद्य-सामग्री की मात्रा बढ गई, अत. जनसख्या का घनत्व बढा। भारत के सब प्रधान कृषि प्रदेशों में घनी जनसख्या है। उद्योग-युग में घनत्व और भी बढ जाता

है जैसा कि बम्बई, कलकत्ता, कानपुर आदि औद्योगिक केन्द्रों की जनसंख्या से स्पष्ट है।

(६) औद्योगिक उन्नति—किसी प्रदेश की औद्योगिक उन्नति में सहायता देने वाली बातें भी घनी जनसंख्या के लिये उत्तरदायी होते हैं। सामान्यतया, जहाँ भी उद्योगों का केन्द्रीकरण होगा, वहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक होगा। हमारे सारे औद्योगिक केन्द्र बहुत घने बसे हैं।

§ २. स्वास्थ्य और जन्म-मरण के आँकड़े

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि हमारे देश में जनसंख्या बहुत अधिक है। पर उनकी कार्यक्षमता कैसी होती है? यह समझने के लिये भारतवासियों के स्वास्थ्य और उनकी शिक्षा के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। हम § २ में स्वास्थ्य और § ३ में शिक्षा के विषय में कुछ बतावेंगे।

स्वास्थ्य

स्वस्थ जन-समाज सुदृढ आर्थिक प्रणाली का आधार होता है। उन्नति करने की इच्छा और उसे पूरी करने की सामर्थ्य स्वस्थ शरीर और मस्तिष्क के ही परिणाम होते हैं। मनुष्यों की शारीरिक कुशलता समस्त आर्थिक उन्नति की जड़ है। हमारे देशवासी अधिकतर अशक्त होते हैं। यह उनकी घोर निर्धनता और अशिक्षा—विशेषकर उनकी स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातो की ज्ञानशून्यता—का परिणाम है। देश के बहुत से निवासियों को दो बार भोजन भी नसीब नहीं होता। अधिकांश मनुष्य कच्चो झोपड़ियों या गंदी कोठरियों में रहते हैं, जहाँ का गंदा और अस्वास्थ्यपूर्ण वातावरण कई प्रकार के रोगों का उत्पादक होता है। उनके वस्त्र भी खराब और अपर्याप्त होते हैं। अपनी शरीर-रक्षा तथा स्वास्थ्य के लिये वे जो कुछ करने के योग्य भी होते हैं, वे अपनी अज्ञानता और अशिक्षा के कारण उतना भी नहीं कर पाते। अत वे अस्वास्थ्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं और प्राय अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी बीमारियो के शिकार बनते हैं। उन्हें सतानेवाली मुख्य बड़ी-बड़ी बीमारियाँ निम्नलिखित हैं. (१) हैजा जो पूर्वी भारत में बहुधा फैलता है, (२) मलेरिया जो अधिक वर्षा और अनुपयुक्त नाले वाले प्रदेशों में फैलता है, और (३) क्षय रोग जो कि हमारे औद्योगिक प्रदेशों में तेजी से फैल रहा है। छोटी बीमारियों में प्लेग, कालाआजार, हुकवार्म आदि की गिनती होती है। ये बीमारियाँ होती तो छोटी हैं किन्तु वे बड़ी बीमारियों के समान ही विनाशकारी होती हैं। ये रोग सहस्रों व्यक्तियों को मौत के घाट उतारते हैं और उनसे भी अधिक को अशक्त बना देते हैं। अखिल-भारतीय मेडिकल रिसर्च कान्फ्रेंस ने एक बार कहा

था कि "साल में रोकी जा सकने वाली बीमारियों से औसतन ५० से ६० लाख व्यक्तियों की मृत्यु होती है; और औसतन प्रति व्यक्ति पीछे साल में दो या तीन काम के सप्ताह की हानि हो जाती है। औसतन प्रत्येक व्यक्ति की २०% कार्यक्षमता का ह्रास हो जाता है। भारत में उत्पन्न होने वाले बच्चों में से केवल २०% ही मजदूरी कमाने की आयु तक पहुँचते हैं, इस प्रतिशत अंक को ८० या ६०% करना असम्भव है। रोकी जा सकने वाली बीमारियों द्वारा जो कार्यक्षमता का ह्रास होता है वह भारतवर्ष की निर्धनता और गरीबी का सबसे बड़ा कारण है।"[1]

जन्म-मरण के आँकड़े

जन्म या मृत्यु के आँकड़ो को जन्म-मरण के आँकड़े (vital statistics) कहते हैं। हम पिछले एक अध्याय में बता चुके हैं कि हमारे देश में जन्म-दर बहुत अधिक है, किन्तु मृत्यु दर भी बहुत ऊँची है। अतः जन-सख्या-वृद्धि दर कम है। नीचे की तालिका में भारत की कुछ सालों की जन्म-दर, मृत्यु-दर तथा जन-सख्या-वृद्धि-दर दिखाई जाती है। इससे पता चलता है कि प्रति हजार व्यक्ति पीछे भारत मे लगभग ३५ बच्चे पैदा होते हैं और लगभग २५ व्यक्ति मर जाते हैं। अतः प्रति हजार व्यक्ति पीछे लगभग १० व्यक्ति बढ जाते हैं। जनसख्या की वृद्धि की दर १० प्रति हजार या १% प्रति वर्ष है।

वर्ष	जन्म-दर प्रति हजार	मृत्यु-दर प्रति हजार	जनसख्या वृद्धि प्रति हजार
१६३१	३५	२५	१०
१६३८	३४	२४	१०
१६३६	३४	२२	१२
१६४०	३३	२२	११

जनसख्या की वृद्धि की यह दर ससार के पुराने देशों से अधिक है। भारत की जनसंख्या पहले से ही इतनी अधिक है कि इसका प्रति वर्ष १० प्रति हजार की दर से बढना बहुत चिन्ताजनक है। यह दर इगलैंड, जर्मनी और जापान में केवल ७% ही है।*

[1] Quoted by Vakil and Patel in *Provincial Finance under Autonomy.*

*ससार के नये देशों में जहाँ क्षेत्रफल अधिक और जनसख्या कम है, जनसख्या की वृद्धि ऊँचे दर से हो रही है। जैसे कनाडा में यह दर १८‰, आस्ट्रेलिया में १४‰ और सयुक्त राष्ट्र अमेरिका में १३‰ है। पर इन देशों में जनसंख्या होने के कारण वृद्धि की यह दर लाभकारी है, चिन्ताजनक नहीं।

औसत जीवन-काल

हमारे देश में मनुष्य का औसतन जीवन भी बहुत छोटा होता है, यह बात हमारी आर्थिक उन्नति की अवरोधक है। मनुष्य की मृत्यु का अर्थ यह होता है कि उसने अपने जीवन भर में जितना अनुभव और कुशलता प्राप्त की थी, उस सब का लोप हो गया। भारतवर्ष में मनुष्य का औसतन जीवन केवल २७ वर्ष का होता है, जापान में ४३ वर्ष और न्यूजीलैण्ड में ६७ वर्ष। नीचे के चित्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्त्रियों और बच्चों की मृत्यु विशेषतया अधिक होती है और उस पर विस्तृत चिन्तन करना आवश्यक है।
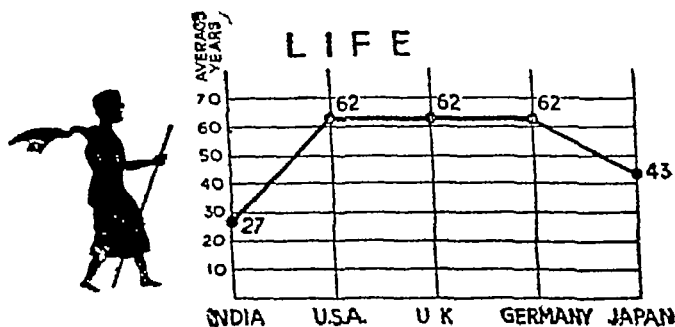
चित्र ५६—औसतन जीवन

भारत मे स्त्री-मृत्यु

भारत में स्त्रियों की मृत्यु दर बहुत अधिक होती है। विशेषतया सतानोत्पत्ति के समय मृत्यु-सख्या ज्यादा होती है। अधिक स्त्री मृत्यु के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

(१) हमारी कुछ सामाजिक कुरीतियाँ हमारी स्त्रियो के स्वास्थ्य के लिये बहुत हानिकारक होती हैं। पर्दा-प्रथा इसी प्रकार की एक कुरीति है। इस प्रथा के कारण भारतीय स्त्रियो को घरों में बन्द रहना पड़ता है जहाँ उन्हें न तो ताजी वायु मिलती है और न कसरत का अवसर ही। यह हर्ष का विषय है कि ऐसी हानिकारक रीतियों का अब शनैः शनैः लोप हो रहा है।

(२) कम आयु में विवाह हो जाना, इससे भी भयानक कारण है। जिन कन्याओं की कम आयु में ही शादी हो जाती है, वे कच्ची आयु में ही माँ बन जाती हैं और बहुत सी भयानक बीमारियों की शिकार हो जाती हैं। परिणाम यह होता है कि सहस्रों बाल-वधुएँ, अपने थोड़े से विवाहित-जीवन के पश्चात्, विवाह-शैया

से उठकर चिता को प्रस्थान करती हैं। क्षय रोग तथा अन्य रोग उनके जीवन का विनाश कर डालते हैं।
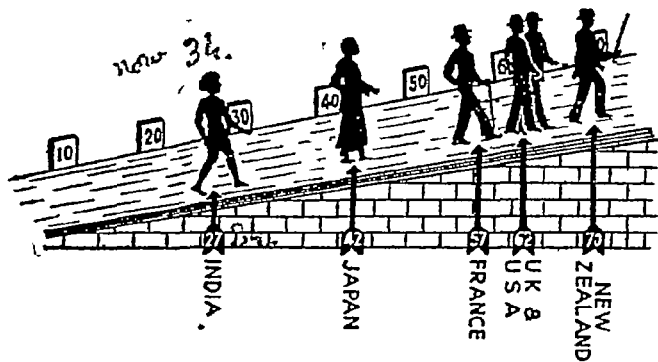
चित्र ६०—औसत जीवनकाल

(३) संतानोत्पत्ति के समय कभी-कभी अशिक्षित और गँवार दाइयों की सहायता ली जाती है। ये दाइयाँ संतानोत्पत्ति में गलत और हानिकारक उपायों का प्रयोग करती हैं जो कभी-कभी घातक सिद्ध होते हैं।

(४) हमारे देश में स्त्री-जीवन सस्ता समझा जाता है। अतः स्त्रियाँ अपने स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं देतीं।

(५) कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों को बच्चा उत्पन्न होने के कुछ समय बाद ही काम पर जाना पड़ता है जो कभी-कभी उनके स्वास्थ्य को बहुत हानि पहुँचाता है।

(६) हमारे अधिकांश देशवासियों को पेट-भर भोजन और पर्याप्त वस्त्र प्राप्त नहीं होते। इतनी निर्धनता के कारण स्त्रियों के रोग-ग्रसित हो जाने पर उनका उचित रीति से उपचार नहीं होने पाता और धीरे-धीरे वे श्मशान की ओर प्रस्थान करती जाती हैं।

भारत में बाल मृत्यु

हमारे देश में बाल मृत्यु भी भयानक अवस्था धारण कर चुकी है। भारतवर्ष में संसार भर में सबसे ऊँची बाल-मृत्यु-दर है। भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाले बच्चों में से २०% एक वर्ष के होने के पहले ही मर जाते हैं। विशेषकर शहरों में बाल-मृत्यु बहुत होती है। नीचे की तालिका में सन् १९३४ के बाल-मृत्यु के आँकड़े दिये जाते हैं।

शहर	मृत्यु-दर	शहर	मृत्यु-दर
लखनऊ ...	. ३२६	मद्रास ...	... २५६
बम्बई ...	. २६८	दिल्ली ..	... १६६
नागपुर ...	.. २७०	लाहौर .	.. १८७
कलकत्ता ...	... २६८		

इस ऊँची बाल-मृत्यु-दर के निम्नलिखित कारण हैं :

(१) जो भी बातें माँ के लिये घातक होती हैं अथवा उसे असक्त बना देती हैं, वे सब बातें बाल-मृत्यु को भी बढ़ाती हैं, क्योंकि माँ की कमजोरी बच्चे को भी कमजोर कर देती है। अशक्त माता के गर्भ से उत्पन्न हुए बालक बहुधा मृत्यु के ग्रास बनते हैं।

(२) भारतीय माताएँ प्राय. मातृत्व के स्वास्थ्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों से अपरिचित होती हैं। अनुपयुक्त रीति से दूध पिलाना तथा गलत तरीके से पालन-पोषण करना, ये बाल मृत्यु के महत्वपूर्ण कारण हैं। डायरिया या दस्त होना—छोटे बच्चे इनसे बहुधा ग्रसित रहते हैं और उनके कोमल जीवन के लिये कभी-कभी घातक भी बन जाते हैं।

(३) जन-समाज की निर्धनता भी एक महत्वपूर्ण कारण है। जिन मनुष्यों को पेट भर खाना और तन ढाँकने को कपड़ा नहीं नसीब होता और जो जीवन पर्यंत तंग और गंदी कोठरियों में रहते हैं, वे बच्चों का किस प्रकार उचित लालन-पालन कर सकते हैं ! वे अपने बच्चों को बड़े होने और हृष्ट पुष्ट होने के योग्य भोजन, वस्त्र और वातावरण प्राप्त नहीं कर सकते, और जब उनके बच्चे बीमार हो जाते हैं तब उनके पास उनकी उचित चिकित्सा के लिये पैसे नहीं होते और मृत्यु उनके बच्चों को उनकी गोद से छीन लेती है।

(४) कभी कभी माता को कारखाने में काम करना पड़ता है। उन्हें प्रायः सन्तानोत्पत्ति के पूर्व छुट्टी ही नहीं दी जाती और सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् ही उन्हें काम पर फिर जाना पड़ता है। वे अपनी निर्धनता के कारण कारखाने से अपने को अनुपस्थित नहीं कर सकतीं। कठिन परिश्रम उन्हें अशक्त बना देता है, जिसके फल-स्वरूप बच्चा भी कमजोर हो जाता है।

(५) प्रायः माताओं को घर या कारखाने के काम से इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वे अपने बच्चों के लालन-पालन पर आवश्यकतानुसार ध्यान दे सकें। अतः वे अपने बच्चों को अफीम खिलाकर सुला देती हैं ताकि वे उन्हें तंग न करें। इससे बच्चों का सारा स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और वे अकाल ही काल के ग्रास बन जाते हैं।

§ ३. भारतीय-श्रमिकों की शिक्षा

भारतीयों की चित्तवृत्ति

श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने में शिक्षा बहुत सहायक होती है। शिक्षा अंशतः पैतृक होती है और अंशतः प्राप्त की जाती है।

भारतवासी स्वभाव से ही अक्रियात्मक होते हैं। वे दूसरे संसार का अधिक चिंतन करते और ध्यान रखते हैं और आर्थिक उन्नति की उपेक्षा करते हैं। हाँ, हाल की राजनैतिक जाग्रति ने हमारे देशवासियों को चौकन्ना कर दिया है। अब वे समझने लगे हैं कि बिना आर्थिक उन्नति किये स्वतन्त्रता की रक्षा करना असम्भव है और संसार में रहकर संसार के वास्तविक सत्यों को समझना और उनके अनुसार चलना होगा। अतः आर्थिक उन्नति के मार्ग में हमारे देशवासियों की चित्तवृत्ति अब अधिक रोड़े न अटका सकेगी।

शिक्षा

हमारे देशवासियों में शिक्षा का बहुत अभाव है और उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध है भी नहीं। प्राथमिक शिक्षा बहुत कम है: केवल एक तिहाई गाँवों में ही प्राथमिक स्कूल पाये जाते हैं। प्राथमिक शिक्षा, केवल थोड़े से म्यूनिसिपल बोर्ड और ग्रामीण भागों को छोड़कर, कहीं अनिवार्य भी नहीं। हमारे देश में प्रति १०० वर्ग मील पीछे एक मिडिल-स्कूल, प्रति ११५ वर्ग मील पीछे एक हाई स्कूल और प्रति ६,००० वर्ग मील पीछे कला का एक कालेज है। ऐसी दशा में हमारे श्रमिकों की मानसिक कार्यक्षमता का कम होना स्वाभाविक ही है, किन्तु बिना इस कमी को दूर किये उनकी कार्यक्षमता बढ़ नहीं सकती।

§ ४. भारतीय श्रम की कार्यक्षमता

अब हम भारतीय श्रम की कार्यक्षमता पर चिंतन करेंगे। वास्तव में हमारे सामने दो समस्यायें उपस्थित होती हैं: (१) क्या भारतीय श्रम कार्यकुशल है अथवा नहीं, (२) यदि उसमें कार्यक्षमता नहीं है तो उसके क्या कारण हैं?

क्या भारतीय श्रम कार्य-कुशल है?

इस विषय पर कि भारतीय श्रम कार्य-कुशल है अथवा नहीं, बहुधा वाद-विवाद होता है किन्तु यह विवाद निरर्थक है। साथ ही साथ यह समस्या अर्थशास्त्रियों के ध्यान की है, अर्थशास्त्र के छोटे विद्यार्थियों के क्षेत्र की नहीं। फिर भी हम इस पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि भारतीय श्रम संसार भर में सबसे अधिक कार्यकुशल

है क्योंकि भारतीय श्रम इतना सस्ता है कि प्रति-इकाई श्रम की लागत हमारे देश में बहुत कम आती है। शायद श्रम की लागत संसार भर में सबसे कम भारतवर्ष में ही हो। यह हो सकता है, किन्तु यह तर्क मान्य नहीं। श्रम की कार्यक्षमता आँकने का कम श्रम-लागत कोई माप-दण्ड नहीं। श्रम की कार्यक्षमता एक निश्चित समय की इकाई में श्रमिक द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं की मात्रा से नापी जाती है। जो श्रमिक निश्चित समय में अधिक या श्रेष्ठतर माल उत्पन्न करते हैं, वे अधिक कार्यकुशल होते हैं; और जो उतने ही समय में माल कम या खराब क़िस्म का उत्पन्न करते हैं वे कम कार्यकुशल होते हैं। इस दृष्टिकोण से भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता निस्सन्देह बहुत कम है।

भारतीय श्रमिकों की कार्यक्षमता की हीनता के कारण

(१) जातीय गुण—पाश्चात्य लेखक बहुधा लिखा करते हैं कि भारतीय श्रमिकों के अकुशल होने के कारण यह है कि वे ऐसे पूर्वजों के सन्तान हैं जिनमें औद्योगिक काम करने की कोई सामर्थ्य नहीं था। किन्तु यह कथन भारतवर्ष की प्राचीन आर्थिक महत्ता की उपेक्षा करता है। भारतवर्ष का इतिहास इस कथन को असत्य बताता है। एक समय था जब कि भारतवर्ष संसार का सबसे प्रधान औद्योगिक देश था और उसके औद्योगिक पदार्थ संसार में सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे। हमारे श्रमिक उन्हीं पूर्वजों की सन्तान हैं जिनकी चपल उँगलियों का लोहा सारा संसार मानता था। ब्रिटिश काल में हमारी स्थानीय चतुराई का और उद्योगों का ह्रास होने लगा। किन्तु औद्योगिक विकास के मार्ग में भारतवर्ष फिर आगे बढ रहा है और उसका श्रम कार्यकुशल होता जा रहा है। उदाहरण के लिये, टाटानगर में जंगली जातियों के मनुष्य श्रमिक की भाँति काम करते हैं, किन्तु थोड़े-से ही समय में वे इतने कार्य कुशल हो गये हैं कि विदेशी यात्रियों और विशेषज्ञों ने भी उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

(२) जलवायु—भारतीय श्रमिकों की हीन कार्यक्षमता का एक और कारण यहाँ की जलवायु बताई जाती है। यह कारण कुछ सीमा तक ठीक है क्योंकि देश की गरम जलवायु मानवी ढाँचे को अशक्त बनाने का काम करती है। किन्तु यह न भुलाना चाहिये कि हमारे श्रमिक में कठिन और लगातार काम करने की असाधारण सामर्थ्य है, और वे बहुत कठोर वातावरण में रहते हैं। उत्तरी भारत—विशेषकर नैपाल, सीमान्त प्रदेश और पंजाब—के श्रमिक मजबूत होते हैं किन्तु बंगाल या मद्रास के श्रमिक इतने बलवान नहीं होते। किन्तु वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप हम ऐसे साधनों का उपयोग कर सकते हैं जो हमारी जलवायु को कार्य के अनुकूल बना

दें। बिजली के प्रचार के परिणाम-स्वरूप अब पंखे, रिफ्रीजरेटर, ह्यूमिडीफायर आदि का प्रयोग बहुत बढ़ गया है।

(३) सामान्य ज्ञान (General Intelligence)—हमारे श्रमिकों के सामान्य ज्ञान का स्तर बहुत नीचा होता है। माता-पिता की अशिक्षा के कारण हमारे देशवासियों के घरों का वातावरण शिक्षाप्रद नहीं होता। हमारी शिक्षा-प्रणाली भी बहुत विस्तृत नहीं; अभी प्राथमिक शिक्षा भी निःशुल्क और अनिवार्य नहीं। यही कारण है कि हमारे श्रमिक अब भी रूढ़िवादी और गतिहीन (immobile) हैं। यह नितान्त आवश्यक है कि सरकारी और गैरसरकारी व्यक्ति हमारे श्रमिकों में शिक्षा का प्रचार करने का उद्योग करें जिससे कि उनकी ज्ञान-वृद्धि हो।

(४) शिक्षा—भारतीय श्रम की हीन कार्यक्षमता का एक और कारण साधारण तथा विशिष्ट शिक्षा का अभाव है। अशिक्षा के कारण श्रमिकों में प्रसन्नता, आशा-भावना तथा ज्ञान का अभाव रहता है और उनकी कार्यक्षमता बढने नहीं पाती। आजकल हमारी शिक्षा प्रधानतया साहित्यिक है। हमें सैद्धान्तिक तथा क्रियात्मक, दोनों ढङ्ग की औद्योगिक एवं टैक्नीकल शिक्षा की बहुत आवश्यकता है।

(५) रहन-सहन के स्तर का नीचा होना—हमारे अधिकांश देशवासियों के रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा है, अतः वे शारीरिक तथा मानसिक अवस्था में अशक्त होते हैं। हमारे श्रमिक गंदे चालों या बस्तियों में रहते हैं जहाँ मद्यपान, रोग और अनाचार का बोलबाला होता है। उनका खाना-पहिनना असंतोषपूर्ण होता है। नीचा स्तर निर्धनता तथा अशिक्षा का परिणाम होता है। निर्धनता की समस्या के कई पहलू हैं और इसे भारतीय अर्थशास्त्र की तात्विक समस्या कहना चाहिये। इसे दूर करने के लिये हमें अपनी आर्थिक प्रणाली को वस्तुत. बदल देना पडेगा। शिक्षा का प्रसार तथा जन-स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान के प्रचार से भी सुधार की आशा की जा सकती है। जनता का स्वास्थ्य सुधारने के लिये सगठित रूप से काम करने की आवश्यकता है। जैसे पवित्र जल का प्रबन्ध करना, खालिस खाद्य-सामग्री की सप्लाई करना, उचित चिकित्सा के साधन देना और रोग-बीमा स्थापित करना।

(६) काम करने की दशाएँ—यदि काम करने का समय लम्बा हुआ तो उससे कार्यक्षमता का ह्रास होने लगता है। हमारे श्रमिकों की कार्यक्षमता की हीनता का कुछ उत्तरदायित्व इस कारण पर भी है। हाल में ही कारखाने सम्बन्धी विधान ने काम के घंटे कम कर दिये हैं किन्तु भारत ऐसे गरम देश के लिये वे अब भी लम्बे हैं। यह सच कहा गया है कि भारतीय श्रमिकों को लगातार लम्बे समय तक कठिन परिश्रम करना पड़ता है; अतः इससे वे अपने शरीर की रक्षा करने के लिये

स्वाभाविक रूप से सुस्त और धीमे हो जाते हैं, नहीं तो उनका शरीर शीघ्र ही उन्हें जवाब दे जाय।

(७) श्रम की अस्थिरता—भारतीय श्रमिकों को वास्तव में पूरा श्रमिक नहीं कहा जा सकता। वे वास्तव में किसान होते हैं, और किसान ही बने रहते हैं। वे कारखानों में काम करने के लिये केवल उस समय आते हैं जब कि खेतों पर कुछ काम नहीं होता, जैसे ही बीज बोने और फसल काटने का अवसर आता है, वे कारखाना छोड़कर खेतों को वापस चले जाते हैं। भारतीय श्रम की यह अस्थिरता उनकी कार्य-क्षमता नहीं बढ़ने देती, यदि हमारे औद्योगिक केन्द्रों में स्वास्थ्यपूर्ण, सकुटुम्ब और सुखपूर्ण जीवन बिताना सम्भव बना दिया जाय, तो हमारी श्रम की यह अस्थिरता समाप्त हो सकती है।

(८) आत्म सन्तुष्टि—हमारे श्रमिक स्वभाव से ही सतोषी होते हैं। आर्थिक उन्नति का असतोष ही प्रेरक होता है। किन्तु हमारे श्रमिक परलोक का अधिक ख्याल रखते हैं और यदि इन्हें पेट भर भोजन मिलता जाय तो वे सन्तुष्ट रहते हैं। यदि उनकी मजदूरी इससे अधिक बढा दी जाय, तो वे पहले की अपेक्षा अधिक अनुपस्थित रहने लगते हैं क्योंकि अब कम दिन काम करने से ही उन्हें आवश्यकतानुसार मजदूरी मिल जाती है। हमें चेष्टा इस बात की करनी चाहिये कि वे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान दें और अपने आर्थिक कल्याण की भी कुछ चिन्ता करें।

(९) सङ्गठनकर्ता की कार्यक्षमता—हमारे देश में सगठन की योग्यता का बड़ा अभाव है। अतः हमें विदेशों से इस योग्यता का आयात करना पड़ता है। किन्तु हमारे देश की जलवायु विदेशियों के अनुकूल नहीं होती, फिर उन्हें अपने देश के कुशल मजदूरों से काम कराने का अनुभव होता है और उन्हें भारतीय श्रमिक अशक्त जानवर की भाँति प्रतीत होते हैं। बहुधा विदेशी प्रबन्धकर्ता लापरवाह भी हो जाते हैं क्योंकि उन्हे बहुत सा रुपया पेशगी दे दिया जाता है और उन्हें आसानी से निकाला नहीं जा सकता। कौनसा-श्रमिक किस काम के लिये सबसे अधिक उपयुक्त है, यह जानने की भी चेष्टा नहीं की जाती, फिर जिन यन्त्रों तथा औजारों का प्रयोग किया जाता है, वे भी हमारे श्रमिकों के अनुकूल नहीं होते। दोषयुक्त मशीन का प्रयोग करना भ्रमपूर्ण मितव्ययता है। यदि हम अपने देशवासियों को विदेश भेजें और वहाँ उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध करें तो यह कमी दूर की जा सकती है। इस दिशा में भारत सरकार प्रशसनीय कार्य कर रही है।

अभ्यास के प्रश्न

१. जनसंख्या के घनत्व से आप क्या अर्थ समझते हैं ? भारत में जनसंख्या का क्या घनत्व है ? इसकी प्रान्तीय विभिन्नताओं के कारण बतलाइये।

२. "भारतीयों का स्वास्थ्य तथा उसका आर्थिक महत्व" पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

३. जन्म-मरण के आँकड़े से आप क्या अर्थ समझते हैं ? भारत के जन्म-मरण के आँकड़े की एक रूप-रेखा प्रस्तुत कीजिये।

४. भारत में स्त्री-मृत्यु तथा बाल-मृत्यु की अधिकता के कारण स्पष्ट कीजिए।

५. भारतीय श्रम की कार्यक्षमता की हीनता के कारण स्पष्ट कीजिए।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. जनसंख्या के घनत्व का क्या अर्थ है ? भारत के विभिन्न भागों में जनसंख्या के असमान घनत्व के कारण बतलाइए। (१९४८, १९४६)

२. भारत में और विशेषतया औद्योगिक केन्द्रों में इतनी अधिक बाल-मृत्यु के क्या कारण हैं ? इस दोष को कम करने के क्या उपाय हैं ? (१९४५)

३. भारत जन-संख्या के अत्यन्त ही उच्च तथा अत्यंत ही निम्न घनत्व का उदाहरण उपस्थित करता है। इस बड़े अन्तर के कारणों की व्याख्या कीजिए। क्या आप उन लोगों से सहमत हैं जो भारत की जनसंख्या को उचित सीमा से अधिक मानते हैं ? अपने उत्तर में कारण प्रस्तुत कीजिये। (१९४३)

४. भारतीय श्रम की कार्य-कुशलता की हीनता के मुख्य कारण कौन से हैं ? आप सुधार के कौन से उपाय सुझायेंगे ? (१९४१)

५. बाल मृत्यु से आप क्या अर्थ समझते हैं ? भारत में बाल मृत्यु की ऊँची दर के कारण स्पष्ट कीजिये। इस बुराई को रोकने के उपायों या सुझाव दीजिये। (१९४०)

६. औद्योगिक श्रम की कार्य-क्षमता किन बातों पर निर्भर होती है ? उनको भारतीय परिस्थिति से सम्बन्धित करते हुए भारतीय श्रम की कार्यक्षमता की हीनता के कारण बताइये। (१९३७)

७. भारतीय श्रम की हीन कार्यक्षमता के प्रधान कारण क्या हैं ? ये कैसे और किस सीमा तक दूर किये जा सकते हैं ? (१९३२)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

८. भारतीय मजदूरों की अन्य औद्योगिक देशों के मजदूरों की अपेक्षा कार्य-क्षमता कम है इसके क्या कारण हैं ? सुधार के उपाय बताइये (१६४३)

९. श्रम की कार्यक्षमता किन बातों पर निर्भर होती है ? मालिक मजदूरों की कार्यक्षमता किस प्रकार बढ़ाता है ? (१६४१)

१०. औद्योगिक श्रम की कार्यक्षमता किन बातों पर निर्भर होती है ? क्या भारतीय श्रम-कुशल हैं ? (१६३८)

११. भारतवासियों की आर्थिक कार्यक्षमता सामाजिक रीति-रिवाजों द्वारा किस प्रकार प्रभावित होती है ? (१६३७)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

12 Discuss the factors on which the density of population in several parts of India depends. (1941)

13 Explain fully the chief factors which affect the efficiency of labour in India (1940)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

14 Discuss the main causes of the difference in density of population in different parts of India (1949)

नागपुर, इन्टर कामर्स

१५. भारतीय जाति-प्रथा के आर्थिक परिणामों की व्याख्या कीजिये । आप उसके स्थायी रखने के पक्ष में हैं या विपक्ष में ? आप अपने मत की पुष्टि में कारण दीजिये । (१६४६)

सागर, इंटर आर्ट्स

16 How do you account for the differences in density of population in different parts of India ? (1949 Supp)

17 Why is Indian labour inefficient ? Suggest some methods to improve its efficiency (1949)

सागर, इंटर कामर्स

18. Write a short note on density of population (1949)

19. Account for the differences in the density of population in the different parts of India (1948)

अध्याय ३७

पूँजी

§ १. पूँजी का अर्थ

भूमि और श्रम उत्पत्ति के अत्यावश्य साधन हैं, किन्तु केवल ये दोनों साधन किसी वस्तु का बड़े पैमाने पर उत्पादन नहीं कर सकते। यदि धन की उत्पत्ति बड़े पैमाने पर करनी है तो मनुष्य को कृत्रिम वस्तुओं की सहायता लेना आवश्यक है। जंगली जातियों ने भी आदि काल में इस बात को स्पष्टतया समझ लिया था और इसीलिये उन्होंने अनेक प्रकार के औजार बनाये जो उन्हें विभिन्न प्रकार से सहायता पहुँचाते थे। तब से बहुत उन्नति हो चुकी है और आजकल मनुष्य विषम और महान यंत्र, बड़े-बड़े कारखाने तथा विस्तृत यातायात-प्रणाली का उपयोग करने लगे हैं। उत्पत्ति की ऐसी सब कृत्रिम वस्तुओं को हम इस स्थान पर पूँजी का नाम दे सकते हैं।

ऐसी वस्तुओं के दो लक्षण होते हैं: (१) ये सब धन में सम्मिलित होते हैं, और (२) इनका अधिक धन उत्पन्न करने के लिये प्रयोग किया जाता है। अतः हम पूँजी की इस प्रकार परिभाषा दे सकते हैं: **पूँजी, भूमि को छोड़कर,[1] धन का वह भाग है जिसका धन की उत्पत्ति के लिये प्रयोग किया जाता है।** स्पष्टतया सब पूँजी धन होती है, किन्तु समस्त धन पूँजी नहीं—धन का वह भाग जिसका प्रयोग धन उत्पन्न करने के लिये नहीं किया जाता पूँजी में सम्मिलित नहीं।

एक वस्तु, जिसको धन कहा जाता है, पूँजी है अथवा नहीं, यह उस वस्तु के किसी भीतरी गुण पर निर्भर नहीं होता; प्रत्युत जिस काम के लिये उसका प्रयोग किया जाता है उस पर निर्भर होता है। मान लीजिये, एक मनुष्य के पास १०,००० रुपया है। यदि वह इस धन-राशि को लोहे के संदूक मे बंद करके रक्खे रहे तो उसे पूँजी नहीं कह सकते; किन्तु यदि वह उसे किसी कारखाने में लगा दे, तो उसे

---

[1] पूँजी के क्षेत्र से भूमि को बाहर रखना आवश्यक है क्योंकि भूमि भी धन में सम्मिलित होती है और उसका भी अधिक धन उत्पन्न करने में प्रयोग होता है। अतः हमें पूँजी की परिभाषा ऊपर की भाँति देनी चाहिये; या इस प्रकार—पूँजी मनुष्य द्वारा बनाया हुआ धन का वह भाग है जिसका अधिक धन उत्पन्न करने के लिये प्रयोग किया जाता है।

निश्चय ही पूँजी कहा जायगा। जे० एस० मिल ने उचित ही कहा ! जी और गैर-पूँजी का अंतर वस्तुओं की क़िस्म पर निर्भर नहीं होता, प्रत्युत पूँजीपति के मस्तिष्क पर, उसकी वस्तुओं का एक उद्देश्य या दूसरे उद्देश्य के लिये प्रयोग करने की इच्छा पर निर्भर होता है।[२]

हम पूंजी को एक और दृष्टिकोण से भी देख सकते हैं। एक मनुष्य अपनी आय को या तो अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की सतुष्टि के लिये व्यय कर सकता है या अपनी भावी आवश्यकताओं की सतुष्टि के लिये उठाकर रख सकता है। इस प्रकार उठाकर रक्खी जाने वाली आय या तो गाड़-दबा (hoard) कर रक्खी जा सकती है या बचा (saving) कर। बचत का अर्थ आय को उत्पादक कार्यों में लगाना है, अन्य शब्दों में, आय का वह भाग जो उत्पादक कार्यों में लगाया जाता है, बचत कहलाता है।[३] धन को उत्पादक कार्यों में लगाकर उसे पूँजी की श्रेणी में परिगणित कर देने को ही बचाना (save) कहते हैं।

द्रव्य और पूँजी

कुछ व्यक्ति सोचते हैं कि द्रव्य और पूँजी शब्दों का समान अर्थ है। ऐसा सोचना मिथ्याजनक है। समस्त द्रव्य पूंजी नहीं होता, केवल उसी द्रव्य को पूँजी कहा जा सकता है जो और धन उत्पन्न करने में प्रयुक्त होता है। वह रुपया जो खाद्य-सामग्री, वस्त्र तथा उपभोग के अन्य पदार्थ क्रय करने के काम आता है, अथवा जो भूमि में गाड़ दिया जाता है, पूंजी नहीं कहला सकता। इसके अतिरिक्त, समस्त पूँजी रुपये के रूप में नहीं होती। बड़ी-बड़ी इमारतें, यन्त्र, कच्चा माल आदि सब पूँजी की श्रेणी में आते हैं, किन्तु इनमें से एक भी द्रव्य नहीं।[४]

---

[२] J S Mill, *Principles of Political Economy*

[३] किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पूँजी में उत्पादक कार्यों में लगाई जाने वाली आय ही सम्मिलित नहीं वरन् इसी प्रकार प्रयोग होने वाला धन भी सम्मिलित किया जाता है।

[४] आधुनिक अर्थशास्त्री इस प्रकार अन्तर्भेद करने लगे हैं: (१) द्रव्य जिसका उत्पादन के लिये प्रयोग किया जाता है, और (२) वस्तुएँ, जैसे इमारत और यन्त्र, जो उत्पत्ति के लिए प्रयुक्त होती हैं। पहले को पूँजी कहा जाता है, और दूसरे को पूँजी-वस्तु। उदाहरण के लिये; यदि एक व्यक्ति किसी कारखाने के बनाने में ५०,००० रुपया खर्च करे, तो कारखाना पूँजी वस्तु होगा, और ५०,०००) रुपया पूँजी। सिद्धान्तों के ऊँचे अध्ययन में यह अंतर्भेद बहुत सहायक होता है।

अतः इसको साफ-साफ समझ लेना चाहिये कि पूँजी का द्रव्य से कोई खास सम्बन्ध नहीं ; और जब तक कि कोई वस्तु और धन की उत्पत्ति में प्रयोग नहीं होती, तब तक उसे पूँजी की श्रेणी में सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

§ २. पूँजी के लक्षण

पूंजी के प्रधान लक्षण निम्नलिखित हैं :

(१) पूँजी उत्पत्ति का त्याज्य (dispensable) साधन है क्योंकि धन की उत्पत्ति पूंजी के बिना भी हो सकती है। किन्तु बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लिये पूंजी अत्याज्य है।

(२) पूँजी इस्तेमाल से या समय बीतने के साथ-साथ घिसती जाती (depreciates) है। उदाहरण के लिये, अमेरिकन मशीन लगभग १० वर्ष काम करती है, और यह माना जा सकता है कि उसका प्रति वर्ष घिसाई या अवमूल्यन (depreciation) १०% होता है। अतः यदि बहीखाते में मशीन की रकम १०% प्रति वर्ष के हिसाब से घटाई जाती रहे तो दस वर्ष बाद यह रकम शून्य हो जायगी और उस समय मशीन भी बेकार हो जायगी। मूल्य की ऐसी घटती को घिसाई या अवमूल्यन (depreciation) कहते हैं।

(३) पूँजी बचत का परिणाम होती है, जिसमें फल-प्रतीक्षा (waiting) सन्निहित होती है , अतः पूँजी उधार लेने वाले को पूंजीपति को कुछ पुरस्कार देना आवश्यक हो जाता है जिसे ब्याज कहते हैं।

भूमि और पूँजी

भूमि और पूँजी का निम्नलिखित अंतर्भेद है :

(१) पूँजी मानवी उद्योग का परिणाम होती है, किन्तु भूमि मनुष्य द्वारा नहीं बनाई जाती—वह ईश्वर दत्त है।

(२) पूंजी का अवमूल्यन होता है और उसका प्रतिस्थापन (replacement) किया जाता है, किन्तु भूमि (उसकी स्थिति और क्षेत्रफल) का अवमूल्यन नहीं होता।

(३) पूँजी वास्तविक या अनुमानित माँग अनुसार ही उत्पन्न की जाती है, अन्य शब्दों में, इसकी उत्पत्ति इसकी माँग के अनुकूल होती है। किन्तु भूमि की मात्रा सदैव एक-सी रहती है, चाहे माँग घटे या बढ़े। अन्य शब्दों में, पूँजी घटाई-बढाई जा सकती है पर भूमि की मात्रा स्थिर रहती है।

क्या भूमि पूजी है।

कुछ चिन्तकों का कहना है कि भूमि को भी पूँजी मानना चाहिये। उनका कथन है कि जब कोई व्यक्ति भूमि खरीदता है, तो उसे उसके लिये कुछ मूल्य देना पड़ता है, उसे वह निर्मूल्य नहीं मिलता। उसके लिये वह प्रकृति-दत्त निर्मूल्य भेंट नहीं। भूमि के क्रय और पूँजी के क्रय मे उसके लिये कुछ भी अंतर्भेद नहीं। अतः भूमि की पूँजी में गणना की जा सकती है।

यह तर्क मान्य नहीं। यह तो सत्य है कि भूमि खरीदार के लिये प्रकृति-दत्त निर्मूल्य भेंट नहीं, किन्तु समाज के लिये वह निर्मूल्य भेंट अवश्य है। मशीन की खरीदार और समाज दोनों के ही लिये कुछ लागत (cost) होता है, किन्तु भूमि को समाज के लिये कुछ भी लागत नहीं, यद्यपि खरीदार को उसके लिये लागत अवश्य होती है। अतः पूँजी और भूमि में महत्त्वपूर्ण अतर है। भूमि और पूँजी का यह तथा अन्य अन्तर स्पष्ट बताते हैं कि भूमि को पूँजी मान लेना अनुचित होगा। दोनों एक दूसरे मे भिन्न हैं।

§ ३. पूँजी का महत्त्व तथा उसके कर्म

हम एक पिछले अध्याय में पूँजी के महत्त्व का वर्णन कर आये हैं। भूमि और श्रम, बिना किसी अन्य साधन के सहयोग द्वारा, बड़े पैमाने पर उत्पत्ति नहीं कर सकते। पूँजी के बिना मनुष्य की शक्ति का पूर्ण रूप से उपयोग नहीं हो पाता और प्रकृति-दत्त पदार्थों का भी पूरा-पूरा शोषण नहीं होता। पूँजी की सहायता से मनुष्य प्रकृति-दत्त सामग्रियो और शक्तियों का, उत्पत्ति की प्रत्यक्ष एवं आसान रीतियों का परोक्ष एव विषम रीतियो द्वारा स्थानापन्न करके, अधिक पूरी तौर पर प्रयोग करता है। जगली अवस्था मे भी मनुष्य धन की उत्पत्ति में कुछ न कुछ पूँजी का प्रयोग अवश्य करता था, मानवी समाज के प्रारम्भिक विकास में भी मनुष्यों ने पत्थर के हथियार, तीर कमान, जाल और नुकीली छड़ी का आविष्कार किया था, ज्ञान की वृद्धि और सभ्यता के विस्तार के साथ-साथ, पूंजी का महत्त्व भी बढ़ता रहा है यहाँ तक कि वर्तमान सामाजिक प्रणाली को 'पूँजीवाद' के नाम से पुकारा जाता है। यदि पूँजीवाद की इतिश्री भी हो जाय और उसका स्थान समाजवाद या समष्टिवाद (communism) ग्रहण कर ले, तब भी पूँजी का महत्व महान् ही रहेगा। पूँजी के महत्त्व और उसके प्रयोग के सद्परिणामो की मार्क्स ने, जो समाजवाद के जन्मदाता माने जाते हैं, मुक्त कठ से प्रशसा की है। रूस समष्टिवादी देश है किन्तु वहाँ पूँजी का प्रयोग बडे पैमाने पर होता है।

पूँजी के कर्म

पूँजी का प्रधान कर्म यह है कि वह उत्पादक को उत्पत्ति प्रारम्भ करने और फिर, कुछ काल के पश्चात्, परिणाम प्रकट होने तक, प्रतीक्षा करने के समर्थ बनाता है। मध्य-काल में पूँजी उत्पत्ति के साधकों की जीविका का प्रबंध करती है, और उत्पत्ति के लिये यंत्र, कच्चा माल आदि एकत्रित करती है।

(१) जीवका का प्रबन्ध—आधुनिक काल में माल माँग के अनुमान पर बनाये जाते हैं। उत्पत्ति के प्रारम्भ तथा माल की बिक्री के बीच का समय बहुत लम्बा होता है। इस काल में उत्पादन-साधकों का पेट भरने, वस्त्र देने तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करने का काम पूँजी ही करती है।

(२) यन्त्रादि का प्रबन्ध—पूँजी कारखाने, इमारतें, यंत्र तथा उत्पत्ति के औजार आदि भी प्रदान करती है। धनोत्पत्ति की वर्तमान रीतियाँ यान्त्रिक और विषम होती हैं और उन्हें बहुत धन की आवश्यकता होती है।

(३) कच्चे माल का प्रबन्ध—पूँजी ही संगठनकर्ता को इस योग्य बनाती है कि वह कच्चा माल खरीदे जो कि अंत में पक्के माल का स्वरूप धारण करता है। यह बात कच्चे माल (raw materials) तथा अर्द्ध निर्मित माल (semi-manufactured goods) दोनों ही पर घटती है।

§ ४. पूँजी की किस्म

पूँजी के अगणित स्वरूप होते हैं और इसके अनेक दृष्टिकोणों से वर्गीकरण किया जा सकता है। पूँजी की कुछ महत्त्वपूर्ण श्रेणियाँ नीचे दी जाती हैं :—

१ चल और अचल पूँजी

पूँजी अचल (fixed) या चल (circulating) हो सकती है। अचल पूँजी स्थायी और टिकाऊ होती है और उत्पत्ति में बार-बार काम आती है। इमारतें, यंत्र और औजार इसके कुछ उदाहरण हैं। अतः हम कह सकते हैं कि अचल पूँजी वह पूँजी है जो टिकाऊ होती है और जिसका एक ही काम सम्पन्न करने के लिये उत्पत्ति में बार-बार प्रयोग होता है। चल पूँजी उत्पत्ति में केवल एक ही बार काम आती है। उदाहरण के लिये, साबुन बनाने में तेल और कास्टिक सोडा का प्रयोग होता है, किन्तु वे एक ही बार काम आते हैं, उनके पहले प्रयोग के पश्चात् वे तेल और कास्टिक सोडा नहीं रहते और वे उस तरह काम में दोबारा नहीं लाये जा सकते। अतः, हम कह सकते हैं कि चल पूँजी वह है जिसका उत्पत्ति के प्रथम प्रयोग में ही पूर्ण उपभोग हो जाता है और जो उसी काम के सम्पन्न करने में दोबारा प्रयुक्त नहीं की जा सकती।

२. उत्पत्ति-पूँजी और उपभोग पूँजी

जो पूँजी किन्हीं वस्तुओं की उत्पत्ति में प्रयुक्त होती है वह उत्पत्ति-पूँजी कही जाती है। कच्चा माल, इमारतें, यंत्र आदि उत्पत्ति-पूँजी के उदाहरण हैं। जो पूँजी मानवी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये प्रत्यक्ष रूप से काम आती है, उसे उपभोग-पूँजी कहते हैं। इसमें वे सब सामान शामिल होते हैं जो मजदूरों का जीवन-निर्वाह करते हैं जैसे भोजन, वस्त्र, प्रकाश आदि।

३. विशिष्ट और अविशिष्ट पूँजी

वह पूँजी जो किसी खास काम को करने के लिये विशेष रूप से बनाई जाती है और जो किसी और काम में नहीं आ सकती है, विशिष्ट पूँजी (Sunk or Specialised Capital) कहलाती है। जो पूँजी एक पुल बनाने या रेल का इंजिन निर्माण करने में लगा दी जाती है वह विशिष्ट पूँजी हो जाती है। किन्तु वह पूँजी जिसका प्रयोग किसी भी उत्पादक कार्य में किया जा सकता है अविशिष्ट पूँजी (Floating or Unspecialised Capital) कहलाती है। रुपया पैसा और कच्चा माल अविशिष्ट पूँजी के अच्छे उदाहरण हैं।

४. भौतिक और वैयक्तिक पूँजी

जब पूँजी किसी द्रव्यगत भौतिक पदार्थ में निहित होती है, और इस कारण उसका क्रय-विक्रय किया जा सकता है, तब उसे भौतिक (Material) पूँजी कहते हैं। किसी व्यक्ति के अपने निजी गुण, उसकी वे शक्तियाँ, आदतें आदि जो उसकी कार्यक्षमता का आधार होती हैं और जिन्हें वह किसी दूसरे व्यक्ति को दे नहीं सकता वैयक्तिक (Personal) पूँजी कहलाते हैं।

५ परितोषद और सहायक पूँजी

जो पूँजी श्रमिकों को मजदूरी के रूप में दी जाती है, परितोषद (remuneratory) पूँजी कहलाती है, और जो पूँजी उत्पत्ति में सहायता पहुँचाती है, जैसे मशीन और औजार, वह सहायक पूँजी कहलाती है।

§ ५. पूँजी की कार्यक्षमता

पूँजी की कार्यक्षमता दो बातों पर निर्भर होती है. (१) जिसके उत्पत्ति सम्बन्धी काम के लिये उसका प्रयोग हो उसके लिये उसकी उपयुक्तता पर, और (२) उसके प्रयोग की रीति पर।

१. उपयुक्तता

जिस उत्पत्ति सम्बन्धी काम के लिये पूँजी का प्रयोग किया जाता है, उस काम के लिये पूँजी की उपयुक्तता पूँजी के लक्षण तथा काम के स्वभाव पर निर्भर होती

है। पूँजी के लक्षण और काम के स्वभाव में सामजस्य होने पर ही कार्यक्षमता प्राप्त हो सकती है। एक उदाहरण द्वारा यह बात समझाई जा सकती है। मान लीजिये एक इमारत इतनी बड़ी है कि उसमें बड़ी-बड़ी मशीनें लगाई जा सकती हैं और उसमें सहस्रों श्रमिक काम कर सकते हैं। यदि उस इमारत में एक कारखाना खोल दिया जाय तो वह उस काम के लिये बहुत ही कार्य-कुशल प्रमाणित होगी। किन्तु यदि वही इमारत एक छोटे-से कारीगर को दे दी जाय, तो उसका किराया इतना अधिक होगा और उसमें इतनी अधिक जगह होगी कि उसे उस कार्य के लिये अकुशल या अनुपयुक्त कहना पडेगा।

२. प्रयोग की रीति

पूँजी के प्रयोग करने की रीति पर भी पूँजी की कार्यक्षमता निर्भर होती है। यदि कोई मशीन एक अकुशल मजदूर को चलाने के लिये दे दी जाय, तो वह उसको ठीक तरह नही चला पावेगा, ऐसी अवस्था में मशीन की कार्यक्षमता अवश्य ही बहुत कम होगी। अच्छी मशीन और अच्छे औजार उत्पत्ति में सहायक तो होते हैं किन्तु उनमें कार्यक्षमता तभी आ सकती है जब कि उन्हे कुशल मजदूर चलावें और प्रबन्ध भी अच्छा हो।

§ ६. पूँजी का संचय

अब हम उन बातो पर प्रकाश डालेंगे जिन पर पूँजी का सचय निर्भर होता है। जे० एस० मिल ने लिखा था कि क्योंकि पूँजी बचत का (अर्थात् वर्तमान उपभोग को भावी भले के लिये स्थगित कर देने का) परिणाम है, इसलिये पूँजी की वृद्धि दो बातों पर निर्भर है--उस कोष की मात्रा पर जिसमें से बचत की जाती है और बचत की इच्छा की शक्ति पर।[५] अन्य शब्दों मे, पूँजी का संचय दो बातों पर निर्भर होता है: (१) बचाने की योग्यता पर और (२) बचाने की इच्छा पर। नीचे के चार्ट में इन बातों का विश्लेषण किया गया है:

---

५ J. S Mill, *Principles of Political Economy*, p. 101.

पूँजी का सञ्चय निर्भर होता है

(अ) बचाने की योग्यता पर	(आ) बचाने की इच्छा पर	
	मानसिक दशा या व्यक्तिगत भावना	द्रव्यगत दशा या देश के अन्दर की दशा
आय का व्यय से आधिक्य	१. विवेक भावना २. सामाजिक और राजनीतिक भावना ३. आर्थिक कारण ४. स्वभाव-सम्बन्धी कारण	१. सुरक्षा २. रुपया लगाने का क्षेत्र और उसकी सुविधायें ३. योग्य व्यापारी ४. अर्थ संग्रहण करने के साधन का अस्तित्व

चार्ट ६१—पूँजी का संचय

बचाने की योग्यता

बचत तभी सम्भव है जब कि मनुष्य की आय उसके व्यय से अधिक हो। यदि एक मनुष्य २००) प्रति मास व्यय करता है और उसकी आय भी उतनी ही है, या उससे कम है, तो उसके बचाने का प्रश्न ही नहीं आता। यदि उसी व्यक्ति की आय बढ़कर २५०) प्रति मास हो जाय, तो वह ५०) प्रति मास बचा सकेगा। अतः आय की व्यय से अधिकता ही पूँजी की जननी है। यह आधिक्य उत्पत्ति की वृद्धि के द्वारा या उपभोग में मितव्ययता के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

भारतवर्ष की अवस्था—हमारे देशवासियों में बचाने की योग्यता अकिंचन है। अधिकांश भारतवासियों की आय बहुत थोड़ी है। हमने एक पिछले अध्याय में उपयुक्त आँकड़ों द्वारा यह बता ही दिया है कि प्रति व्यक्ति आय के हिसाब से भारतवर्ष संसार के सबसे निर्धन देशों में आता है। यह आय १००) प्रति वर्ष भी नहीं आती और मनुष्यों के जीवन निर्वाह के लिये भी पर्याप्त नहीं। ऐसी अवस्था में किसी बड़े पैमाने पर पूँजी का संचय होना असम्भव है। केवल थोड़े से ही धनी व्यक्ति जिनकी आय उनके व्यय से बहुत अधिक है, रुपया बचा पाते हैं और उन्हीं के द्वारा हमारे देश में पूँजी संचित होती है।

बचाने की इच्छा

यदि आय व्यय से अधिक हो, तो पूँजी का स्वयं ही संचय नहीं हो सकता। मनुष्य के हृदय में रुपया बचाने की इच्छा भी होनी चाहिये, अर्थात् उसे उत्पादक कार्य में रुपया लगाने की लालसा होनी चाहिये। अतिरिक्त रुपये को उत्पादक

कार्य में लगाने की इच्छा दो प्रकार के कारणों द्वारा शासित होती है : (१) मानसिक कारण, अर्थात् व्यक्तिगत कारण; और (२) द्रव्यगत कारण, अर्थात् देश की अवस्था। हम नीचे इन बातों का वर्णन करेंगे :

१. मानसिक कारण या व्यक्तिगत विचार

मनुष्यों को रुपया बचाने के लिये प्रेरित करने वाले महत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत कारण निम्नलिखित हैं :

(१) विवेक भावना या दूरदर्शिता—मनुष्य आपत्ति-काल के लिये, जब कि उसकी आय स्थगित या कम हो जाय, धन बचाता है। उदाहरण के लिये, कारखानों में काम करने वाले बेकारी या बीमारी के समय के लिये रुपया बचाने का प्रयत्न करते हैं। बुढापे में प्रत्येक व्यक्ति की कमाने की शक्ति कम हो जाती है या समाप्त हो जाती है और ऐसे समय में काम आने के लिये रुपया बचाया जाता है। कुछ मनुष्य अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने ऊपर निभर रहने वालों के लिये रुपया छोड़ जाने के विचार से भी बचत करते हैं। जिस विवेक-भावना के कारण, आपत्ति-काल के लिये अथवा अपने आश्रितों के लिये, मनुष्य धन बचाता है उसे दूरदर्शिता कहते हैं।

(२) सामाजिक और राजनीतिक कारण—आजकल के पूँजीवादी युग में धन या पूँजी ही सम्मान और सामाजिक एव राजनीतिक शक्ति का साधन होती है। आदर पाने और प्रभावशाली बनने के लिये बहुत से व्यक्ति रुपया बचाते हैं। पूँजी का समाज में जितना ही सम्मान होगा और पूँजी जितनी ही अधिक सामाजिक और राजनीतिक शक्ति प्रदान कर सकेगी, उतनी ही यह भावना अधिक शक्तिवान होगी।

(३) आर्थिक कारण—मनुष्य आर्थिक कारणों से भी रुपया बचाता है। इनमें से पहला कारण ब्याज कमाने की इच्छा होती है। ब्याज की दर जितनी ही ऊँची होगी, धन बचाने की अभिलाषा उतनी ही अधिक होगी। व्यापार में सफलता प्राप्त करने की लालसा भी पूँजी के संचय का कारण होती है। बड़ी पूँजी वाले व्यापारी के लिये सफलता के दरवाजे खुले रहते हैं, और कम पूँजी वाले व्यापारी को अनेक प्रकार की बाधाओं का सामना करना पड़ता है। स्पर्धा करने वाले व्यापारियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का विचार पूँजी के संचय का महत्त्वपूर्ण कारण है।

(४ स्वभाव-सम्बन्धी कारण—कुछ मनुष्यों को रुपया बचाने की आदत होती है और उनकी आय चाहे कितनी ही हो वे थोड़ी-बहुत बचत अवश्य करते

हैं। जिस प्रकार वे बिना खाये-पीये नहीं रह सकते, उसी प्रकार वे बिना बचाये जीवित नहीं रह सकते।

भारतवर्ष की अवस्था—भारतवर्ष में मानसिक कारण अधिक काम नहीं करते, वे केवल धनी व्यक्तियों में ही क्रियाशील होते हैं। धनी और मध्य-वर्ग के सदस्यों में अपने आश्रितों के लिये कुछ द्रव्य छोड़ जाने की इच्छा होती है, किन्तु यद्यपि गरीबों के हृदय में परिवार के प्रति उतना ही प्रेम होता है पर वे भविष्य के विषय में इतना अधिक नहीं सोचते। यही बात आपत्ति-काल के लिये रुपया बचाने के बारे में लागू होती है। इस देश में पूँजीपति को सामाजिक और राजनीतिक शक्ति प्राप्त तो हो जाती है, किन्तु अधिकाश व्यक्ति अशिक्षित और निर्धन हैं, इसलिये उनके हृदय में इस शक्ति के प्राप्त करने की लालसा सशक्त नहीं होती। कुछ व्यक्तियो को ब्याज की ऊँची दर रुपया बचाने के लिये प्रोत्साहित करती है और कुछ को रुपया बचाने की आदत भी है। किन्तु जहाँ तक अधिकाश व्यक्तियो का सबन्ध है, वे अपनी निर्धनता के कारण धन बचाने की लालसा को क्रियात्मक रूप नहीं दे पाते।

२. देश के अन्दर की दशा

रुपये बचाने के योग्य व्यक्ति तभी रुपया बचायेगा जब कि देश के अन्दर की हालत अनुकूल हो।

(१) सुरक्षा—मनुष्य रुपया तभी बचावेगा जब कि उसे यह विश्वास हो कि वह बचाये हुये धन की रक्षा कर सकेगा। यदि उसे यह डर हो कि उसके धन को डाकू चुरा ले जायेंगे, या सरकारी अफसर कर के रूप में अन्यायपूर्वक छीनकर ले जायेंगे, या लड़ाई में सिपाही छीन लेंगे या भूचाल तथा अन्य प्राकृतिक संकटो द्वारा वह नष्ट हो जायगा, तो वह धन नहीं बचायेगा। प्रारम्भिक काल में मनुष्यों का जीवन और उनकी सम्पत्ति सुरक्षित नहीं थी, अत. मनुष्य मितव्ययी नहीं थे। किन्तु सभ्यता के प्रसार तथा सगठित समाज के स्थापित हो जाने पर उन्हें समुचित सुरक्षा का आश्वासन मिल गया और अब बड़े पैमाने पर पूँजी का सचय होने लगा है। हमारे देश में जब मुगल साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया तब समय-समय पर युद्ध होने लगे, स्थान-स्थान पर डाके पड़ने लगे और कर बहुत अधिक लगाये जाने लगे। इतनी अरक्षा के कारण मनुष्य अपव्ययी हो गये और पूँजी का सचय बहुत कम हो गया।

(२) रुपया लगाने का क्षेत्र और उसकी सुविधायें—मनुष्य उत्पादक कार्य में रुपया तभी लगा सकते हैं जब कि रुपया लगाने के लिये क्षेत्र हो और रुपया

लगाने की सुविधायें हों। यदि ऐसा न हुआ तो रुपया गाढ कर रक्खा जायगा और वह पूँजी न बन सकेगा। आधुनिक युग में इस प्रकार का क्षेत्र और सुविधायें बहुत बढ गई हैं। कृषि, उद्योग-धंधे, यातायात, बिजली के कारखाने तथा उत्पत्ति के अन्य क्षेत्रों में बहुत रुपया लगने लगा है और इन्हें पूँजी की प्रायः सदैव ही आवश्यकता रहती है। रुपया लगाने की सुविधायें भी बहुत बढ गई हैं। बैंक, कम्पनियों के शेयर, बीमा पालिसी, सरकारी सिक्योरिटियाँ आदि बहुत लोकप्रिय हो गये हैं और इनके कारण पूँजी के संचय को बहुत प्रोत्साहन मिला है।

अभाग्यवश भारतवर्ष में रुपया लगाने का क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं जितना कि अमेरिका या इंगलैंड में है, किन्तु यह क्षेत्र गतिपूर्वक विस्तृत हो रहा है। बड़े-बडे कारखाने, बडे-बडे लोहे के कारखाने, बिजली के कारखाने, मशीन-प्रयोगक खेत आदि स्थापित होने लगे हैं, और पूँजी लगाने के नये मार्ग प्रगट होते ही रहते हैं। हाँ, रुपये लगाने की सुविधायें अभी संख्या में कम हैं और कार्यक्षमता भी उनकी कम है। बैंक भी हमारे देश में बहुत नहीं हैं, और सहकारी बैंक तथा बचत के बैंक भी कम हैं।

(३) योग्य व्यापारी—मनुष्य उन्हीं कम्पनियों और व्यापार में रुपया लगाना चाहते हैं जिन्हे योग्य और ईमानदार व्यापारी चलावें। जो व्यापारी व्यापारिक कार्यक्षमता और ईमानदारी के लिये विख्यात होते हैं उन पर जनता विश्वास करती है और उनको अपनी बचत निश्चित होकर सौंप देती है। ऐसे व्यक्ति हमारे देश मे बहुत कम हैं। बिड़ला और टाटा के स्तर के व्यक्ति हमारे देश मे इने-गिने हैं। देश में पूंजी के सीमित होने का यह एक महत्वपूर्ण कारण है। जब भी कोई सुयोग्य व्यापारी कोई कम्पनी चलाता है, उसे रुपये की कमी नहीं होती।

(४) अर्घ-सग्रहण के साधन का अस्तित्व—मनुष्य द्रव्य तभी बचाते हैं जब कि दीर्घकाल के लिये, बिना किसी हानि के, जिन्हे अर्घ-सग्रहण का साधन प्राप्त हो। भारतवर्ष में रुपया विधि-ग्राह्य (legal tender) है और अर्घ-सग्रहण का संतोषजनक साधन है।

भारतवर्ष की अवस्था—कुछ काल पूर्व हमारे देशवासियों में राजनीतिक एवं आर्थिक अस्थिरता, अरक्षा तथा अन्य प्रतिकूल कारणों के परिणामस्वरूप रुपया बचाने की इच्छा बहुत अशक्त थी। किन्तु तब से अवस्था में अब बहुत परिवर्तन हो गया है। विशेषकर प्रथम महायुद्ध के पश्चात् से तो देशी पूँजी की मात्रा बहुत बढ गई है।

§ ७. मशीन या यंत्र

मशीन पूँजी का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप है। मशीन ने मनुष्य को प्रकृति पर विजय दिलाई है और आधुनिक सभ्यता के विकास में बहुत सहायता की है। उत्पत्ति के क्षेत्र में मशीन ने एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है और उत्पत्ति की सामर्थ्य को बहुत बढ़ा दिया है। आधुनिक मशीन उत्पत्ति का बड़ा और विषम औजार है, और जङ्गली मनुष्य द्वारा बनाये हुए साधारण हथियार का आधुनिक विकास है। कृषि, उद्योग, यातायात तथा व्यापार—सभी अब यान्त्रिक हो गये हैं। आधुनिक आर्थिक तथा औद्योगिक सङ्गठन में मशीन का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है और सामाजिक जीवन पर उसका इतना तात्विक प्रभाव है कि वर्तमान युग "मशीन का युग" कहकर पुकारा जाता है।

मशीन के लाभ

हमारी आर्थिक प्रणाली में मशीन के प्रयोग के कारण बहुत तात्विक परिवर्तन हो चुके हैं। मशीन के प्रधान लाभ निम्नलिखित हैं :

(१) मशीन मनुष्य की प्रकृति के ऊपर शक्ति बढ़ा देती है। ऐसे बहुत से काम हैं जिन्हें या तो मनुष्य पूरा कर ही नहीं सकता या उन्हें कुशलतापूर्वक नहीं कर सकता, किन्तु उन्हें मशीन सुगमता और कुशलता पूर्वक कर सकती है। मशीन की सहायता से मनुष्य ने प्रकृति को अपनी शक्तियाँ मानव जाति के कल्याण के लिये प्रदान करने को बाध्य कर दिया है।

(२) यदि मशीन न हो तो मनुष्य को अनेक कामो के करने में बार-बार एक ही क्रिया करनी पड़ेगी जिसके परिणामस्वरूप काम नीरस हो जायगा और कभी-कभी मनुष्य अकाल मृत्यु का शिकार बन जायगा। ऐसा भारी काम अब मशीन कर लेती है और इस प्रकार ऊपर बताये गए भयानक परिणामों से श्रमिकों की रक्षा होती है। अखबार मोड़ना और कागज छापने की मशीन में लगाना, ये नीरस और एक से काम के अच्छे उदाहरण हैं। अब ये काम मशीन बहुत शीघ्रता के साथ और ठीक-ठीक कर लेती है।

(३) मशीन दैवी शक्ति को वश में करके उसका प्रयोग कर सकती है और उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि कर सकती है। किन्हीं दिशाओं में मशीन उत्पत्ति की किस्म भी सुधार देती है। इसने उत्पत्ति की वस्तुओं को एक-सा बना दिया है और बड़े पैमाने की उत्पत्ति के युग का सूत्रपात कर दिया है। केवल हाथों से दो वस्तुएँ पूर्णतया समान नहीं बनाई जा सकतीं, किन्तु मशीन द्वारा वे बिल्कुल

एक-सी बनाई जा सकती हैं। उत्पत्ति के प्रमाणिककरण (standardisation) के कई लाभ हुये हैं, जिनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मशीन के हिस्सों का आपस में अदलने-बदलने की सम्भावना है।

(४) मशीन बडे पैमाने की उत्पत्ति सम्भव बनाती है और बडे पैमाने की भीतरी और बाहरी मितव्ययता (internal and external economics) प्राप्त कराती है। इससे उत्पत्ति की मात्रा बढ जाती है और प्रति इकाई लागत कम हो जाती है।

(५) मशीन समय की बचत करती है और अधिक अवकाश प्रदान करती है। यह अवकाश लिखने-पढने, मनोरंजन, आध्यात्मिक विकास तथा अन्य उपयोगी क्रियाओं मे व्यतीत किया जा सकता है। नीचे के चित्र से यह स्पष्ट है :—
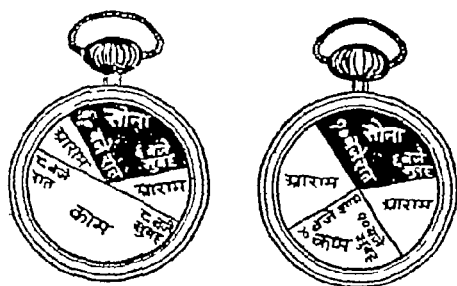
चित्र ६२—मशीन समय कैसे बचाती है ?

(६) मशीन के द्वारा अकुशल श्रम वह काम-कर सकता है जो पहले केवल कुशल श्रम ही कर सकता था। गदा और बुरा काम, जैसे भंगी का काम, भी अब मशीनें कर लेती हैं। बहुत अच्छे और बरीक काम, जिन्हें मानवी हाथ और आँखें केवल बड़ी कठिनाई से और अनुभव के पश्चात् कर सकती हैं, मशीनें सुगमता से कर लेती हैं। ऐसी भी मशीनें हैं जो एक बाल का व्यास भी नाप लेती हैं।

(७) मशीन श्रमिकों का ज्ञान, काल्पनिक शक्ति तथा उत्तरदायित्व बढ़ा देती है। वे श्रमिकों को उनके निजी हाथों और आँखों पर अधिकार प्राप्त करने में सहायता पहुँचाती हैं। मशीनों की बनावट और उनका परिचालन देख और सीखकर श्रमिकों का ज्ञान भी बहुत बढ़ता है।

(८) मशीनों ने श्रम की एक पेशे से दूसरे पेशे को गतिशीलता बढ़ा दी है। जैसे-जैसे यंत्रीकरण बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे श्रम की गतिशीलता भी बढ़ती जाती है।

मशीन की हानियाँ

यद्यपि मशीनों के बहुत से लाभ हुए हैं, पर उनकी कुछ हानियाँ भी हैं। वे मजदूरों के आर्थिक, शारीरिक और नैतिक पतन की उत्तरदायी हैं। ऐसे भयानक परिणामों ने बहुधा श्रमिकों में विद्रोह उत्पन्न कर दिया जिससे कि उन्होंने मशीन को अपना सबसे बड़ा बैरी मानकर उसे तोड़-फोड़ डाला। किन्तु अब यह माना जाने लगा है कि दीर्घ काल में मशीन की हानियाँ दूर की जा सकती हैं। हम नीचे मशीनों के दोष और उनकी हानियों का जिक्र करते हैं :—

(१) मशीनों के विरुद्ध सबसे बड़ी युक्ति यह है कि वह श्रम को बेकार कर देती हैं। मशीन श्रम-बचत (labour saving) औजार है क्योंकि यह बहुत से मनुष्यों का काम स्वयं कर सकती है। अत: जब इसका प्रयोग किया जाता है तब बहुत से श्रमिक बेकार हो जाते हैं।

किन्तु सच बात यह है कि मशीन के प्रवेश के आरम्भ में ही ऐसा होता है। किन्तु कुछ काल पश्चात् बेकार होने वाले श्रमिकों को अच्छी मजदूरी पर और पूर्व से अच्छी दशाओं में नौकरी मिल जाती है। यह इसलिये होता है कि बाद में श्रम की माँग निम्नलिखित कारणों से बढ़ जाती है : (अ) मशीन माल का दाम घटा देती है। मूल्य घट जाने से उनकी माँग बढ़ जाती है। अधिक माल बनाने के लिये अधिक मजदूरों को लगाना पड़ता है। (आ) अधिक माल पैदा करने के लिये अधिक मशीन की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें बनाने के लिये और मजदूरों को नौकर रखना पड़ता है। (इ) अधिक माल उत्पन्न करने के लिये कच्चा माल भी अधिक चाहिये और उसे प्राप्त करने के लिये भी बहुत से मजदूरों को नौकर रखना पड़ता है। इस प्रकार श्रम की माँग बढ़ जाती है और आरम्भ में जितने भी मजदूर बेकार हो जाते हैं उन सबको अच्छी अच्छी दर पर नौकरी मिल जाती है। यह तर्क तभी ठीक होता है जब कि मशीन उसी देश में बनाई जावें जिसमें कि उनका प्रयोग होता है। यदि मशीन एक देश में बनती हैं और दूसरे देश में उनका प्रयोग होता है, तो दूसरे देश के मजदूर बेकार हो जायँगे और बहुत सम्भव है उनको फिर नौकरी न मिले।

(२) मशीन कुशल श्रमिकों को अर्द्ध-कुशल मशीन परिचालक बना देती है। उदाहरण के लिये, हमारे देश में मशीनों के आगमन के पूर्व हमारे जुलाहे अपनी

कला के लिये बहुत प्रसिद्ध थे। ढाका में ऐसी मलमल बनाई जाती थी कि इसका पूरा थान, जो कि २० गज लम्बा और १ गज चौड़ा होता था, एक अँगूठी में होकर निकाला जा सकता था और उसके बुनने में ६ महीने लगते थे। अब ऐसे कलाकार ढूँढे भी नहीं मिलेंगे। उनके काम के लिये अब कोई बाजार नहीं और वे सब अब अदृश्य हो गये हैं। उनके बनाये हुये कपड़े कारखाने के कपड़े से बहुत श्रेष्ठ होते थे, किन्तु कारखाने के बने कपड़े बहुत सस्ते होते हैं। ऊँची कीमत के कारण अब हाथ के बने बढ़िया कपड़े बिक ही नहीं पाते और कुशल कारीगरों को अब मिलों में अकुशल या अर्द्ध-कुशल कारीगर की भाँति काम करना पड़ता है।

(३) मशीन की बनी वस्तुएँ उतनी सुन्दर और कलात्मक नहीं होतीं जितनी कि बहुत सी हाथ की बनी वस्तुएँ होती हैं। कलात्मक वस्तुएँ अब भी अधिकांश में हाथ से ही बनाई जाती हैं। उदाहरण के लिये, सुन्दर ऊँचे दर्जे की सिल्क की साड़ियाँ अब भी हाथ से ही बनती हैं। स्वभाव से ही मशीन छोटी-छोटी बातों पर व्यक्तिगत ध्यान देने में असमर्थ होती है और इन छोटी-छोटी बातों पर विशेष ध्यान दिये बिना ऊँचा कलात्मक कार्य होना असम्भव है।

(४) मशीन शारीरिक और नैतिक पतन का एक प्रमुख कारण बन चुकी है। मशीनों के प्रयोग के परिणामस्वरूप स्थान स्थान पर घने बसे हुए और गन्दे शहर स्थापित हो गये हैं जहाँ श्रमिकों को स्वास्थ्य-घातक कोठरियों और दूषित वातावरण में अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। ऐसे निवास-स्थानों में अत्यधिक मद्य-पान, अत्यधिक भोग, स्वास्थ्य-हानि एवं अन्य सामाजिक दोष खूब पनपते हैं। श्रम का शोषण, प्रौढ़ मजदूरों से अनुपयुक्त मात्रा में काम लेना और स्त्रियों तथा बच्चों से अत्यधिक श्रम कराना आदि भी यंत्रवाद के ही परिणाम हैं। श्रमिकों की नैतिक स्वतन्त्रता उनमें सुरक्षा तथा आत्म विश्वास की भावना अब इतिहास की वस्तुएँ हो गई हैं। मशीन चलाने वाले को किसी भी क्षण निकाला जा सकता है और बेकारी के समय उसे भूखों मरना पड़ता है।

(५) मशीन के द्वारा अब बड़े पैमाने पर उत्पत्ति होने लगी है जिसका परिणाम बहुधा अत्युत्पत्ति (overproduction) होती है। अत्युत्पत्ति का अर्थ माँग से अधिक उत्पत्ति से है। अत्युत्पत्ति होने से बाजार में माल अटा रहता है, मूल्य घटने लगता है। उत्पत्ति कम होने लगती है और आर्थिक सङ्कट आ जाता है।

यह दोषारोपण ठीक नहीं। सावधानी से परीक्षा करने पर पता चलेगा कि अत्युत्पत्ति मशीन या बड़े पैमाने की उत्पत्ति का परिणाम नहीं, प्रत्युत माँग का अनुमान लगाने में जो त्रुटि होती है उसका नतीजा है। यदि माँग का अनुमान

ठीक-ठीक लगाया जा सके और यदि सब उत्पादक इस प्रकार मिल-जुल कर काम करें कि कुल उत्पत्ति माँग के बराबर ही हो, तो अत्युत्पत्ति हो ही न सके, किन्तु क्योंकि ऐसा होना सम्भव नहीं, इसलिये अत्युत्पत्ति बहुधा प्रकट होती रहता है।

मशीन के लाभ और हानियों का सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक दृष्टिकोणों से सन्तुलन करने पर और संसार के विभिन्न देशों के आर्थिक इतिहास का अध्ययन करने पर हमें इस बात का विश्वास हो जाता है कि हमारे देश का आर्थिक कल्याण, वर्तमान परिस्थिति में, यन्त्रों का विस्तृत प्रयोग के बिना नहीं हो सकता।

अभ्यास के प्रश्न

१. पूँजी की परिभाषा तथा व्याख्या कीजिये। क्या पूँजी तथा बचत में कोई अन्तर है? क्या द्रव्य पूँजी है?

२. पूँजी की विशेषतायें कौन सी हैं? 'भूमि पूँजी है,' इस कथन की विवेचना कीजिये।

३. 'उत्पत्ति' की क्रिया में पूँजी के महत्त्व तथा कार्यों की विवेचना कीजिये।

४. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये —(१) चल तथा अचल पूँजी; (२) उत्पत्ति-पूँजी तथा उपभोग पूँजी; (३) विशिष्ट और अविशिष्ट पूँजी; (४) भौतिक और वैयक्तिक पूँजी; (५) पारितोषद और सहायक पूँजी।

५. वे कौन सी बातें हैं जिन पर पूँजी की कार्यक्षमता निर्भर होती है?

६. वे कौन सी बातें हैं जिन पर पूँजी का संचय निर्भर होता है? विशेषतया भारत के संदर्भ में इसकी विवेचना कीजिये।

७. मशीन के लाभ तथा हानियों की विवेचना कीजिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. पूँजी शब्द की परिभाषा कीजिये। आधुनिक समय में उत्पत्ति में इसका क्या हाथ रहता है? (१९४८)

२. चल और अचल पूँजी पर एक संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४८)

३. पूँजी शब्द की परिभाषा कीजिए और चल तथा अचल पूँजी का अन्तर स्पष्ट कीजिए। (१९५२)

४. मशीन के लाभों तथा हानियों की विवेचना कीजिये। (१९५१)

५. किसी देश में पूँजी का एकत्रित होना किन बातों पर निर्भर होता है? इन बातों को उत्तर प्रदेश से उदाहरण लेकर समझाइये। (१९५०)

६. चल और अचल पूँजी में तथा धन और पूँजी में भेद बताइये। (१९३७)

७. पूँजी की परिभाषा दीजिये और बताइये कि उत्पत्ति में इसका क्या काम होता है? (१९३५)

८. पूँजी की परिभाषा दीजिये। क्या भूमि पूँजी में शामिल होती है? (१९३१)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

९. उत्पत्ति में मशीन के प्रयोग के लाभ और हानियाँ बताइये। (१९४२)

१०. पूँजी की परिभाषा दीजिये और चल और अचल पूँजी का भेद बताइये। क्या निम्नलिखित पूँजी हैं : (अ) व्यापार की ख्याति (goodwill), (आ) डाक्टर की कुशलता; (इ) कंजूस का धन; (ई) घर; और (उ) अध्यापक की बुद्धि? (१९४१)

११. किसी देश में पूँजी का संग्रह किन बातों पर निर्भर होता है? हमारे देश में ये बातें कहाँ तक पाई जाती हैं? (१९३९)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

12. What is capital? Discuss the factors responsible for the accumulation of capital (1948)

13. Capital is subdivided into (i) fixed and circulating capital, (ii) specialised and free capital. Give examples of each sort of capital (1943)

14 Discuss the advantages and disadvantages of the application of machinery in production. (1941)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

15. What do you understand by the term Capital? Indicate the conditions that determine its supply, and examine to what extent these are fulfilled in our country. (1949)

16 Write a short note on Fixed and Circulating Capital. (1946)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

17 Define fixed and circulating capital Give a few examples of fixed and circulating capital in a cotton factory and a printing press (1949)

18. Describe the nature of capital Explain the part played by capital in the production of wealth (1948)

19 'Capital is accumulated labour'. Explain. Name two commodities which are at times capital and at times only wealth. (1947)

नागपुर, इन्टर कामर्स

२०. यंत्रों के उपयोग और श्रम-विभाजन के आर्थिक संगठन पर किस प्रकार के परिणाम हुए हैं ? स्पष्ट लिखिये। (१९४९)

२१. स्थिर तथा चल पूँजी का अंतर स्पष्ट कीजिए और बताइये कि पूँजी-संचयन (accumulation of capital) ब्याज की दर (rate of interest) पर कहाँ तक निर्भर है ? (१९४९)

२२. 'पूँजी संचित श्रम है।' इसकी व्याख्या कीजिये। ऐसे दो पदार्थों के नाम बतलाइये जो कभी पूँजी के रूप में रहते हैं और कभी धन के रूप में। (१९४७)

२३. पूँजी का उदय किस प्रकार होता है ? भारत से उदाहरण प्रस्तुत कीजिए। (१९४६)

पटना, इन्टर आर्ट्स

24. Explain how capital helps production. What are the incentives for the supply of capital ? (1948 Supp)

25 Do you think that the use of machinery causes unemployment? What are the advantages of the use of machinery? (1947 Supp)

26 Examine the effects of the increased use of machinery in any particular industry (a) on the workrs and (b) on the consumers of the commodity (1946)

27 What are the effects of the introduction and use of machiney ? (1945)

पटना, इन्टर कामर्स

28 What are the factors which influence the accumulation of capital ? (1949 Supp)

29 Examine the effects of the increased use of machinery in any industry (a) on worker and (b) on the consumer of the commodity. (1949)

30 What do you mean by supply of labour ? On what factors does the supply of labour depend ? (1948)

सागर, इन्टर आर्ट्स

31 Write a short note on fixed and circulating capital. (1949)

32. Write a short note on functions of capital. (1948)

सागर, इन्टर कामर्स

33. Write a short note on Wealth and Capital.

अध्याय ३८

साहस (Enterprise)

हर व्यवसाय में चाहे उसका कोई भी पैमाना हो और वह किसी भी प्रकार का हो, कुछ न कुछ जोखिम (risk) अवश्य होती है। प्रत्येक व्यापारी को इस बात का अनुमान लगाना पड़ता है कि निकट भविष्य में बाजार में किस प्रकार के माल की किस मात्रा में माँग होगी, और उसे उस मात्रा के अनुकूल ही माल उत्पन्न करना या क्रय करना पड़ता है। यदि किसी कारण से उसका अनुमान गलत हो जाय, तो उसे हानि हो सकती है। उदाहरण के लिये, यदि एक मिल-वाले को यह आशा हो कि बाजार में सूत कपडे की माँग होगी, तो वह सूती कपड़ा तैयार करा लेगा, किन्तु यदि एकाएक मिल के कपडे की माँग कम हो जाय और खादी की माँग होने लगे तो मिलवाले के कपडे बिक नहीं पावेंगे और उसे हानि उठानी पडेगी। इसी प्रकार कच्चे माल की लागत, व्याज की दर और मजदूरी की दर यकायक अनुमानित दरो से अधिक हो जा सकती है, जिसके परिणाम-स्वरूप लागत बढ जायगी और सभव है हानि उठानी पडे। जिस प्रकार व्यवसाय में हानि हो सकती है, उसी प्रकार व्यवसाय में लाभ भी होता है। यदि आशा से भी अच्छी अनुकूल परिस्थितियाँ उपस्थित हो जावें, तो बहुत लाभ कमाया जा सकता है। स्पष्टतया व्यवसाय में अनिश्चितता (uncertainty) का तत्त्व होता है। **इसी अनिश्चितता या जोखिम को अर्थशास्त्री 'साहस' कहते हैं।** जो व्यक्ति जोखिम उठाता है या अनिश्चितता झेलता है, वह साहसी या जोखिम झेलनेवाला (entrepreneur or risk-taker) कहलाता है।

साहस और संगठन

कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार साहस और सगठन समानार्थक शब्द हैं और ये दोनों काम एक ही व्यक्ति द्वारा सम्पन्न होते हैं जिसे हम साहसी या सगठनकर्ता कह सकते हैं। यह मत गलत है क्योंकि हो सकता है कि इन दोनों कामों को एक ही व्यक्ति सम्पन्न करे या दो अलग-अलग व्यक्ति सम्पन्न करें। आधुनिक युग के व्यापारिक सगठन की प्रतिनिधि सयुक्त पूँजी वाली कम्पनी है, और इसमें सगठन का काम वैतनिक मैनेजर करता है और शेयरहोल्डर जोखिम उठाते हैं। इस क्रियात्मक आपत्ति के अतिरिक्त, यह भी बात विचारणीय है कि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से साहस झेलने तथा प्रबन्ध करने के काम अलग-अलग हैं और उनको अलग-अलग माना जा सकता है।

साहसी के काम

उत्पत्ति के क्षेत्र में साहसी का बहुत महत्त्वपूर्ण काम होता है। जब तक कि उत्पत्ति में निहित जोखिम को कोई व्यक्ति झेलने के लिये तत्पर न हो, तब तक किसी भी प्रकार की उत्पत्ति सम्भव नहीं। यह बात भूतकाल की अपेक्षा अब दिन पर दिन अधिक महत्त्वपूर्ण होती जा रही है। आजकल माँग का अनुमान लगाना पड़ता है। और इसी अनुमान के अनुसार माल उत्पन्न करना पड़ता है। यह अनुमान अनेक परिवर्तनशील बातों पर निर्भर होता है; अतः इसको अकाट्य या अंतिम नहीं माना जा सकता। अतः आधुनिक व्यापार में जोखिम का तत्त्व अवश्य रहता है। जैसे जैसे बाजार बड़े और अनिश्चित होते जाते हैं, जैसे-जैसे उत्पत्ति की रीतियाँ विपक, लम्बी और टेढ़ी-मेढ़ी होती जाती हैं, जैसे-जैसे फैशन उपभोक्ताओं को अधिक प्रभावित करती जाती हैं और जैसे-जैसे नये-नये आविष्कार होते जाते हैं और उत्पत्ति की रीतियों में क्रान्तिकारी सुधार होते जाते हैं, वैसे ही वैसे व्यवसाय में जोखिम का तत्त्व बढ़ता जाता है। आधुनिक आर्थिक समाज में साहस और साहसी का स्थान बहुत ऊँचा है।

अभ्यास के प्रश्न

१. साहस का अर्थ समझाइये।

२. क्या साहस संगठन से भिन्न है? क्यों?

३. उत्पत्ति में साहसी का क्या हाथ रहता है, विवेचना कीजिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. आदर्श जोखिम उठाने वाले के क्या आवश्यक लक्षण हैं? भारत और अमरीकन संयुक्त राष्ट्र के कुछ सफल जोखिम उठाने वालों के नाम बतलाइये। (१९४१)

२. आधुनिक उद्योग में साहसी के क्या काम होते हैं? भारत का ग्रामीण कारीगर इन कामों को किस प्रकार संपन्न करता है? (१९३८)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

१. आधुनिक उद्योग में साहसी के क्या काम होते हैं? (१९४२)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

4 What are the functions of an entrepreneur in modern industry? (1948)

सागर, इन्टर आर्ट्स

5. Who is an entrepreneur? What are his functions? (1948)

अध्याय ३६

सङ्गठन (Organization)

§ १. सङ्गठन का अर्थ

अब तक हमने भूमि, श्रम, पूँजी और साहस, उत्पत्ति के इन चार साधनों का अध्ययन किया है। अब हम उन रीतियों का अध्ययन करेंगे जिनके द्वारा आधुनिक काल में उत्पत्ति सगठित होती है। अन्य शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि अब तक हमने एक यत्र से विभिन्न अगों का और उनके स्वभाव का अध्ययन किया है, और अब हम इन अगों को एकत्रित करने की रीतियों पर विचार करेंगे और यह भी समझने की चेष्टा करेंगे कि यत्र का परिचालन कैसे होता है।

उत्पत्ति का पैमाना तथा स्वभाव चाहे जो भी हो, यह आवश्यक है कि वह सुसंगठित होनी चाहिये। एक साधारण से काछी (तरकारी उत्पन्न करने वाले) को ही ले लीजिये। उसे सस्ते दाम पर अच्छा बीज प्राप्त करना पड़ता है। यह तय करना पड़ता है कि कितना खेत उसे जोतना चाहिये, उसमे क्या-क्या उत्पन्न करना चाहिये, खाद और सिंचाई का प्रबन्ध करना पड़ता है और उत्पन्न होने वाली तरकारी की बिक्री का इन्तजाम करना पड़ता है। आधुनिक कारखाने में ये काम बहुत विषम और सख्या में भी बहुत अधिक हो जाते हैं। इन सब कार्यों का सामूहिक नाम सगठन है, और इनके स्वभाव और महत्त्व से स्पष्ट हो जाता है कि उत्पत्ति की कार्यक्षमता बहुत बड़ी सीमा तक सगठन या उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में प्रभावपूर्ण सहकारिता स्थापित करने पर निर्भर होती है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में अधिकतम प्रभावपूर्ण सहकारिता स्थापित करने को ही संगठन कहते हैं।

अर्थशास्त्र में सङ्गठन का स्थान

आर्थिक सिद्धान्तों की उन्नति की प्रारम्भावस्था में संगठन को उत्पत्ति का साधन नहीं माना जाता था। इसका यह अर्थ नहीं कि उन दोनों में उत्पत्ति बिना सगठन के की जाती थी या की जा सकती थी। वास्तव में, आदि काल में की जाने वाली उत्पत्ति में भी किसी न किसी प्रकार का सगठन पाया जाता था। किन्तु उन दिनों की औद्योगिक व्यवस्था में सगठन का अधिक महत्त्व नहीं था, अतः अर्थशास्त्रियों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित नहीं हुआ। किन्तु जैसे-जैसे समाज की

उन्नति होती गई, वैसे ही वैसे सगठन का महत्व भी बढता गया। बडे पैमाने की उत्पत्ति, श्रम, विभाजन, अतर्राष्ट्रीय बाजार तथा अन्य ऐसी ही आर्थिक विषमताओं ने सगठन को बहुत महत्व प्रदान कर दिया है। अब इस बात को स्पष्टतया समझा जाने लगा है कि जब तक कि उत्पत्ति के साधनों में प्रभावपूर्ण सहयोग स्थापित न किया जाय, तब तक वे कुछ खास काम नहीं कर सकते। उनकी शक्ति एक प्रबन्धकर्ता के अन्तर्गत संगठित होने में है, जो उत्पत्ति का नेतृत्व करता है और सब उत्पत्ति के साधनों का इस प्रकार उपयोग करता है कि अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त हो सके। आधुनिक अर्थशास्त्र की सैद्धान्तिक व्यवस्था में सगठन को बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है।

§ २. संगठनकर्ता के कर्त्तव्य (Functions)

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सगठनकर्ता का काम केवल उत्पत्ति के साधनो को एकत्रित करने तक ही सीमित नहीं। उसे इसके अतिरिक्त और भी महत्वपूर्ण और विशिष्ट काम करने पड़ते हैं। यदि हम एक लोहार और उसके शिष्य के कामो को तुलना करें, तो हम सगठनकर्ता के कार्यों को भली भाँति स्पष्ट कर सकेंगे। शिष्य तो बस लोहार के आदेशो के अनुसार काम करता है, किन्तु स्वय लोहार को साधारण काम करने के अतिरिक्त आवश्यक कच्चा माल जैसे लोहा और कोयला एकत्रित करना पडता है। जब काम अधिक होता है, तो उसे मजदूर लगाने पड़ते हैं और उन्हें पारितोषिक देना पड़ता है। यदि उसके पास पूँजी की कमी है, तो उसे रुपया उधार भी लेना पड़ता है। कभी-कभी उसे ही ऐसी व्यक्ति की खोज करनी पड़ती है जो साहस करने या जोखिम झेलने को तैयार हो। सारे साधनों को एकत्रित करने के पश्चात्, उसे उन्हें उत्पत्ति में संलग्न करना पडता है और उनमे अधिकतम प्रभावपूर्ण सहयोग स्थापित करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, उसे इस बात का भी अनुमान लगाना पड़ता है कि उसके माल की कितनी माँग होगी, और इस अनुमान के अनुसार ही उसे अपनी उत्पत्ति सीमित करनी पड़ती है। उत्पत्ति के पश्चात् उसे माल की बिक्री का प्रबन्ध करना पडता है। उसे बाजार की नाडी पर हाथ रखना पड़ता है, इस बात का पता रखना पड़ता है कि अन्य उत्पादक या विक्रेता किस दाम पर माल बेच रहे हैं और स्पर्द्धा की परिस्थिति के अनुसार उसे भी अपने माल का मूल्य घटाना या बढ़ाना पड़ता है। ये सब काम—केवल माल की उत्पत्ति के लिये किये गये उसके व्यक्तिगत श्रम को छोड़कर—सगठन के ही अन्तर्गत आते हैं। शिष्य तो केवल वही काम करता है जो उसे सौंपा जाता है, किन्तु सगठनकर्ता को समस्त उत्पत्ति की देख-रेख करनी पड़ती है।

उपरोक्त उदाहरण बहुत सरल प्रकार है। यदि हम किसी बड़े कारखाने के मैनेजर के कामों का अध्ययन करें, तो हमें सगठनकर्ता के काय के महत्त्व और उसके कार्य की विभिन्नता (many sidedness) की अच्छी जानकारी प्राप्त हो जायगी। उत्पत्ति का चाहे जो भी स्वरूप हो, उत्पत्ति के प्रारम्भिक सोपान से निर्मित माल की बिक्री के अन्तिम सोपान तक सगठनकर्ता ही विभिन्न साधनों को अधिकतम लाभप्रद अनुपात में मिलाता है। जिस प्रकार कि सेनापति अपने सिपाहियों को युद्ध-भूमि मे ढङ्ग से चुनता है और उसकी कार्यक्षमता पर ही युद्ध में विजय या पराजय निर्भर होती है, उसी प्रकार सगठनकर्ता पर व्यापार की सफलता और असफलता निर्भर होती है। सगठनकर्ता के मुख्य-मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :

(१) उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में सहयोग स्थापित करना,
(२) श्रम को सगठित करना,
(३) आवश्यक औजार और यन्त्र देना,
(४) माल की किस्म और मात्रा का निर्णय करना,
(५) माल की बिक्री करना, और
(६) अन्य छोटे-मोटे काम।

(१) सङ्गठनकर्ता भूमि, श्रम, पूँजी और साहस को एक स्थान पर एकत्रित करता है। इसके पूर्व उसे इस बात का निश्चय करना पड़ता है कि उत्पत्ति
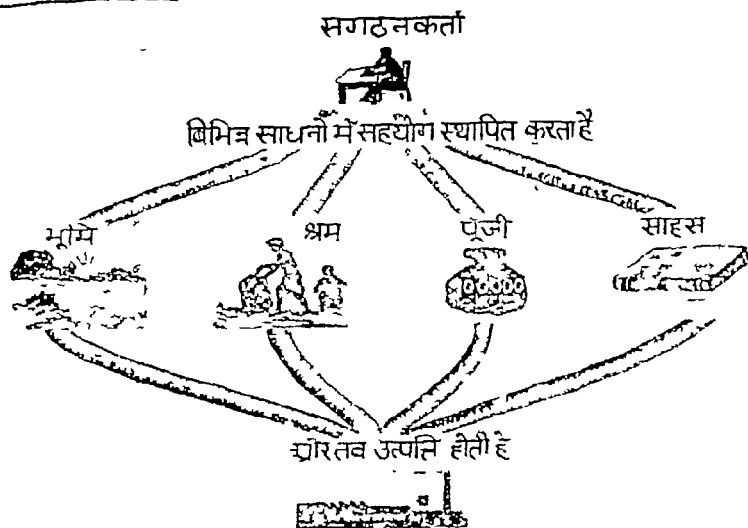
चित्र ६३—धन की उत्पत्ति में सङ्गठनकर्ता का काम

के साधनों के विनियोग (investment) का कौन सा भाग अधिकतम लाभ प्रदान करेगा। इस बात के निश्चय के पश्चात् उसे एक ऐसा व्यक्ति खोजना पड़ता है जो उत्पत्ति की जोखिम झेलने को तैयार हो। वह पूँजीपतियों को भी पूँजी देने के लिये राजी करता है। फिर उसे उपयुक्त मज़दूर और आवश्यक कच्चा माल भी एकत्रित करना पड़ता है। यह सब प्रारम्भिक काम, जो उत्पत्ति के शुरू होने के पूर्व ही करना आवश्यक है, संगठनकर्ता ही करता है।[1]

(२) संगठनकर्ता का दूसरा कार्य श्रम का सङ्गठन करना है। वह मज़दूरों को उनकी बुद्धिमानी, श्रमशक्ति, चतुराई तथा झुकाव के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में बाँट देता है और प्रत्येक श्रेणी को उपयुक्त काम देता है। उसे यह भी देखना पड़ता है कि कोई श्रमिक बेकार न रहे और न किसी के पास बहुत काम हो। उसे उत्पत्ति का प्रबन्ध इस प्रकार करना पड़ता है कि जैसे ही मजदूर एक वस्तु पर काम समाप्त कर चुके वैसे ही दूसरी वस्तु उसके सम्मुख आ जाय। उसे मजदूरों पर निगरानी रखने का भी प्रबन्ध करना पड़ता है, और इसका भी खयाल रखना पड़ता है कि परिश्रमी और कार्य-कुशल मजदूरों को उचित पुरस्कार मिले और आलसी तथा अकुशल मजदूरों को कम पुरस्कार मिले।

(३) सङ्गठनकर्ता मज़दूरों को उचित औजार और यन्त्र देता है। उसे यह देखना पड़ता है कि औजार और यन्त्र केवल मजदूरों के ही उपयुक्त नहीं प्रत्युत कच्चे माल के भी उपयुक्त हों। मशीनों में हाल के सभी सुधार शामिल होने चाहिये और संगठनकर्ता को अपने व्यवसाय में जो यान्त्रिक विकास होते रहते हैं उनसे परिचय रखना चाहिये। उसे यह भी देखना पड़ता है कि मशीन से पूरा पूरा काम लिया जाय, चालक शक्ति (Motive Power) पर्याप्त हो, और मज़दूरों की कुशलता बनी रहे।

(४) सङ्गठनकर्ता उत्पत्ति की मात्रा एवं किस्म का भी निर्धारण करता है। माल बिक्री के लिये उत्पन्न किया जाता है। उत्पन्न किये हुये माल को लाभ पर बेचने

---

[1] यह नहीं सोचना चाहिये कि एक व्यक्ति उत्पत्ति का एक ही साधन प्रदान कर सकता है, एक से अधिक नहीं। वास्तव में, एक व्यक्ति एक से अधिक साधन प्रदान केवल कर ही नहीं सकता प्रत्युत बहुधा करता ही है। संयुक्त पूँजी वाले कम्पनी के एक शेयर होल्डर को ही ले लीजिये। वह पूँजीपति है क्योंकि वह पूँजी देता है। वह साहसी भी है क्योंकि हानि और लाभ का वही भागी है, इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति पूँजी भी अपनी लगाये और उत्पत्ति का संगठन भी स्वयं ही करे तो पूँजीपति भी होगा और संगठनकर्ता भी।

पर ही व्यापारी को सफलता प्राप्त हो सकती है। अतः यह आवश्यक है कि माल इस प्रकार और इतनी मात्रा में निर्मित किये जायँ कि उनकी बिक्री सरलता से और लाभ पर की जा सके। इस काम को भली भाँति सम्पन्न करने के लिये संगठनकर्ता को बाजार के स्पर्श में रहना पड़ता है और इस बात का अनुमान लगाना पड़ता है कि किन-किन वस्तुओं की बाजार में माँग होगी और उस माँग का कितना अंश वह अधिकृत कर सकता है। उदाहरण के लिये, यदि एक संगठनकर्ता को प्रतीत हो कि बाजार में किरमिच के जूतों की माँग खूब है और बनी रहेगी और उसका यह अनुमान हो कि बाजार में (किसी विशेष समय की अवधि में) १०,००० जोड़ी जूते बिक सकते हैं जिनमें से १,००० जोड़ी जूते वह बेच सकता है, तो वह उस समय में १,००० जोडे जूते बनायेगा। भावी माँग का अनुमान लगाते समय सङ्गठनकर्ता को फैशन या पसन्द में परिवर्तन हो जाने की एवं उपभोक्ताओं की आर्थिक परिस्थिति में भी परिवर्तन हो जाने की सम्भावना का ख्याल रखना पड़ता है।

(५) उत्पन्न किये हुए माल की बिक्री की समस्या भी सङ्गठनकर्त्ता को ही सुलझानी पड़ती है। उसका उद्देश्य यह होता है कि माल की बिक्री शीघ्र ही और अधिकतम लाभ पर हो। यह तभी हो सकता है जब कि वह उन सब बाजारों से परिचित रहे जिनमें उसका माल बिक सकता है, और इस बात की खबरगीरी रक्खे कि उनमें उसके प्रतिस्पर्द्धी किस मूल्य पर माल बेच रहे हैं या बेच सकते हैं, आदि। इस प्रकार की सुव्यवस्थित जाँच-पड़ताल पर ही सङ्गठनकर्ता की सफलता निर्भर होती है।

(६) उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त, सङ्गठनकर्ता को और भी छोटे-मोटे कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं। उसे प्रतिस्थापन के नियम का पालन करना पड़ता है और सीमान्त उपज के बढ़ने, घटने और स्थिर रहने के नियमों का आशय समझना पड़ता और ध्यान में रखना पड़ता है। इन सब बातों का उत्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

§ ३. संगठनकर्ता की कार्यक्षमता

संगठनकर्ता की कार्यक्षमता मितव्ययता की मात्रा से नापी जाती है। श्रेष्ठ संगठनकर्ता उत्पत्ति के साधनों का श्रेष्ठ रीति से उपयोग करता है और इसके परिणाम-स्वरूप लाभ की मात्रा अधिक होती है। अत हम कह सकते हैं कि **संगठन की कार्यक्षमता का आशय है उत्पत्ति का अधिकतम मितव्ययता के साथ प्रबंध करने की सामर्थ्य।**

सगठन की कार्यक्षमता अशतः उत्पत्ति के साधनो की कार्यक्षमता पर और अशत सगठनकर्ता की स्वय अपनी कार्यक्षमता पर निर्भर होतो है। इनमें से पहले विषय की चर्चा हम इस पुस्तक में उचित स्थानो पर कर ही चुके हैं। दूसरे विषय पर हम नीचे विचार करते हैं।

सगठनकर्ता मे कार्यक्षमता होने के लिये उसमें निम्नलिखित गुणो का होना आवश्यक है

(१) दूरदर्शिता (Foresight)—सगठनकर्ता मे मॉग की सख्यागत एव गुणागत अनुमान लगाने की सामर्थ्य होनी चाहिये। अनुमानित मॉग की मात्रा और उसके स्वभाव में परिवर्तन करने वाली बातों को भी उसे ध्यान में रखना चाहिये। ऐसी बातें जलवायु-सम्बन्धी या सामाजिक या राजनीतिक या आर्थिक हो सकती हैं। उसमें प्रत्येक साधन की व्यक्तिगत लागत के आधार पर तैयार माल की लागत का अनुमान लगाने की भी शक्ति होना आवश्यक है।

(२) श्रम-सङ्गठन की योग्यता—उत्पत्ति में मजदूरो को सगठित करना बहुत महत्त्वपूर्ण काम है और इसे सुचारू रूप से सम्पन्न करने के लिये सगठनकर्ता में बहुत चतुराई होना आवश्यक है। प्रत्येक श्रमिक से अधिक से अधिक काम लेना ही सगठनकर्ता की कार्यक्षमता की कसौटी है। मजदूरों के प्रति उसका दृष्टिकोण कठोर नहीं होना चाहिये वरन् सवेदनापूर्ण एव कृपापूर्ण होना चाहिये। साथ ही साथ मजदूरो के दिल मे यह विचार उत्पन्न नहीं होना चाहिये कि वे सगठनकर्ता की मनमानी उपेक्षा कर सकते हैं। उसे चाहिये कि वह कमजोर और आलसी मजदूरों को दण्ड दे तथा परिश्रमी और कुशल मजदूरों को पुरस्कार दे। उसे ऐसा वातावरण उत्पन्न करना चाहिये कि जिसमें मजदूर लोग समझने लगें कि यदि वे अपनी कार्यक्षमता में वृद्धि करेंगे तो उनकी उन्नति अवश्य होगी।

(३) विशिष्ट ज्ञान—सगठनकर्ता में विशिष्ट या टेक्नीकल ज्ञान भी होना आवश्यक है। उसके व्यवसाय में प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल के स्वभाव, किस्म, प्राप्ति और मूल्य के विषय में जानकारी रखनी चाहिये। व्यापार के क्रियात्मक पहलुओं का एवम् बिक्री सम्बन्धी ज्ञान भी उसको होना जरूरी है। उसे यन्त्र की बनावट, परिचालन आदि से भी कुछ परिचय होना चाहिये। उत्पत्ति में यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण है कि विदेशों में—मुख्यत अमेरिका मे—अब इंजीनियरों को कारखानों का मैनेजर बनाने की रिवाज सामान्य होती जा रही है।

(४) विश्वास दिलाने की योग्यता—आधुनिक व्यवसाय बहुत कुछ सीमा तक उधार ली हुई पूँजी पर निर्भर होता है। पूँजी उधार तब तक नहीं मिल सकती जब तक कि उत्पत्ति का सगठन श्रेष्ठ न हो और पूँजीपति के हृदय में विश्वास

के अंकुर न उगा सके। संगठनकर्ता में विश्वास उत्पन्न करने की योग्यता अवश्य होनी चाहिये।

कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमें ये सभी गुण पाये जाते हैं, और कुछ अन्य व्यक्तियों में इनमें से केवल थोड़े-से ही गुण होते हैं। कहावत है कि कवि उत्पन्न होता है, उत्पन्न नहीं किया जाता, यह बात संगठनकर्ता पर भी अक्षरशः लागू होती है। संगठन की योग्यता ईश्वर-दत्त होती है और दुर्लभ वस्तु है। अनुभव एवं शिक्षा से इस योग्यता की वृद्धि हो सकती है। जिस प्रकार अच्छी फसल मानवी कुशलता से अधिक प्राकृतिक कारणों का परिणाम होती है, उसी प्रकार व्यापारिक सफलता संगठनकर्ता को प्राप्त किये हुए गुणों से अधिक उसकी प्राकृतिक योग्यता पर निर्भर होती है।

§ ४. भारतवर्ष में संगठन

हमारे देश में संगठन का साधन बहुत दुर्लभ है। भूतकाल में ऐसा नहीं था किन्तु सदियों के औद्योगिक पतन में वे सब गुण लुप्त हो गये। इस कारण हमारे देश में संगठन की समस्या अन्य देशों की अपेक्षा अधिक कठिन है। यह इस बात से स्पष्ट है कि हमारे यहाँ कारखाने वाले उद्योग सुसंगठित हैं और उन्हे **संगठित उद्योग** कहते हैं, और घरेलू उद्योग सुसंगठित न होने के कारण **असंगठित उद्योग** कहलाते हैं।

कृषि का संगठन

इस देश का कृषि ही सबसे महत्त्वपूर्ण पेशा है, किन्तु इसका भीतरी और बाहरी संगठन बहुत शोचनीय है। बड़े और लगे हुए खेतों की अनुपस्थिति, स्थायी सुधारों का अभाव, पानी निकलने का कोई प्रबन्ध न होना, खाद का प्रयोग न होना तथा अन्य ऐसी ही बातें खराब भीतरी संगठन के द्योतक हैं। बाहरी संगठन का प्रमुख दोष छोटे पैमाने के उद्योगों का अभाव है जो किसानों को सहकारी और वैकल्पिक पेशे प्रदान करते हैं।

उद्योगों का संगठन

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, हमारे घरेलू उद्योग सुसंगठित नहीं जो कि उनके पिछड़े होने का महत्त्वपूर्ण कारण है। यह बात कारखाने के आधार पर संगठित उद्योगों पर लागू नहीं होती। वास्तव में, उनका संगठन बहुत ही अच्छा है। भारतवर्ष की जूट की मिलों के विषय में कहा गया है कि वे स्काटिश साहस और भारतीय श्रम की महान् स्मारक हैं। भारतीयों ने तो सन उगाने को भूमि और श्रम दिया और सन निर्माण (manufacture) करने को भी श्रम प्रदान किया,

और स्काटलैंडवासियों ने मस्तिष्क और देख-रेख प्रदान की।[२] यह भी कहा जाता है कि जूट का उद्योग कार्यक्षमता के दृष्टिकोण से किसी अन्य भारतीय उद्योग से पिछड़ा हुआ नहीं।[३] विदेशी सगठनकर्ताओ ने लोहे के उद्योग को बहुत कुशलता से सगठित कर दिया है। सगठन के हिसाब से, सूती कपडे बनाने वाले कारखाने भी बहुत श्रेष्ठ हैं यद्यपि वहाँ भी विदेशी तत्त्व अधिक है।

अत॰ यह स्पष्ट है कि हमने सगठन का विदेशों से आयात किया है और विदेशी सगठन वर्तमान अवस्थाओं मे कितना कार्यकुशल हो सकता है। वास्तव में, विदेशी सगठन में अनेक दोष और कमियाँ हैं। विदेशी सगठनकर्ता और मैनेजरों को बहुत ऊँचा वेतन देना पडता है। इस देश की जलवायु गर्म होने के कारण उनकी कार्यक्षमता स्वय ही कम हो जाती है। उनमे से बहुतों को भारतीय मजदूर कमजोर और अकुशल प्रतीत होते हैं जिनके साथ उन्हें काम करने में कठिनाई होती है। उनमें से बहुत से यह भी जानते हैं कि उन्हे बड़ी बड़ी रकमें पेशगी दे दी गई हैं और उन्हे जी चाहे निकाला नहीं जा सकता, अत वे अनुत्तर-दायी हो जाते हैं।

विदेशी सगठन के दोषों के कारण हमारे उद्योगपतियों ने भारतीय विद्यार्थियों को सगठन-सम्बधी क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करने के लिये विदेश भेजना आरम्भ कर दिया है। विशेषज्ञों का कथन है कि प्रबध-सम्बधी कुशलता कठिनाई से प्राप्त होती है, किन्तु भारतीय कुशलता का धीरे-धीरे विकास और उन्नति निश्चय हो रही है। इडियन फिस्कल कमीशन ने सरक्षण देने के लिये भारतीयकरण की एक शर्त रक्खी थी जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय कुशलता उन्नति कर रही है।

§ ५. संगठन की समस्यायें

सगठनकर्ता को निम्नलिखित मुख्य समस्याओं का हल करना पड़ता है :—

(१) श्रम-विभाजन की समस्या, जिसमें उद्योगों के स्थानीयकरण की समस्या सम्मिलित है।

(२) उत्पत्ति के पैमाने की समस्या।

(३) व्यापारिक भवन के वैधानिक सगठन की समस्या।

हम इन समस्याओं का अगले तीन अध्यायो में वर्णन करेंगे।

---

[२] Buchanan, *The Development of Capitalistic Enterprise in India*

[३] Pillai, *Economic Conditions in India*

अभ्यास के प्रश्न

१ संगठन का अर्थ स्पष्ट कीजिये।

२. सगठन के महत्त्व तथा उसके कार्यों का वर्णन कीजिये।

३. आप सगठन की कार्यक्षमता से क्या अर्थ समझते हैं? यह किन बातों पर निर्भर होता है?

४. भारत में सगठन की प्राप्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इंटर आर्ट्स

१. सगठन का क्या अर्थ है? यदि आपसे हाथ के बने कपड़े के उद्योग को सगठित करने को कहा जाय, तो आप कैसे करेंगे? (१६४४)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

२. "संगठन औद्योगिक इकाइयों का प्राण है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये। (१६४८)

नागपुर, इंटर कामर्स

३. 'सगठन' से आप क्या अर्थ समझते हैं? सगठन के महत्त्वपूर्ण स्वरूपों का निरूपण कीजिए। उनमें से आप कौन सा सबसे अधिक लाभदायक समझते हैं? (१६४६)

सागर, इंटर आर्ट्स

4 What are the chief forms of business organization? Describe in full any one of them (1949)

अध्याय ४०

श्रम-विभाजन और स्थानीयकरण

§ १. श्रम-विभाजन का अर्थ और उसका प्रभाव

सबसे पहली महत्त्वपूर्ण समस्या जिसे संगठनकर्ता को हल करना पड़ता है, श्रम विभाजन है। वह समस्त मजदूरों को थोड़े से समुदायों में विभाजित और उप-विभाजित कर देता है, और प्रत्येक समुदाय एक पूर्ण विधि (process) या अपूर्ण विधि मे सलग्न रहता है। इस प्रकार एक मजदूर, किसी वस्तु के निर्माण करने में जिन अनेक विधियों को सम्पन्न करना पड़ता है उनमें से किसी एक को अथवा किसी एक विधि के किसी भाग को ही सम्पन्न करता है। यही श्रम विभाजन कहलाता है जिसने उत्पत्ति बढ़ाकर और लागत घटाकर मानव जाति का बहुत कल्याण किया है।

जब मनुष्यों ने सबसे पहले पृथ्वी पर रहना आरम्भ किया, उस समय श्रम-विभाजन स्थापित नहीं हुआ था। उस समय प्रत्येक व्यक्ति या परिवार अपनी समस्त आवश्यकताओं को अपनी निजी क्रियाओं द्वारा सतुष्ट करता था। यदि किसी को एक झोपड़ी की आवश्यकता होती, तो वह उसे स्वय ही बनाता। यदि उसे तन ढकने के लिये खाल की आवश्यकता पड़ती, तो उसे जानवर मारकर स्वय ही खाल प्राप्त करनी होती। मनुष्यों की आवश्यकता सतुष्ट करने वाली प्रत्येक वस्तु के विषय मे यही बात लागू होती थी। किन्तु समाज का जैसे-जैसे विकास होता गया, वैसे ही वैसे मानवी आवश्यकताओं की सख्या बढती गई; और मनुष्य अपनी बढती हुई आवश्यकताओं की सतुष्टि के लिये उत्पत्ति बढ़ाने के उपाय खोजने लगे। इस खोज का एक परिणाम हुआ श्रम-विभाजन के सिद्धान्त का आविष्कार। यह बात समझी जाने लगी कि उत्पादन बढाने और पहले से अधिक आवश्यकताएँ सतुष्ट करने का एक उपाय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल वही वस्तु उत्पन्न करे जिसके लिये उसमें विशेष दक्षता है, और फिर वह अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पन्न की गई वस्तुओं को अन्य व्यक्तियों द्वारा पैदा की गई वस्तुओं से अपनी आवश्यकतानुसार विनिमय कर ले। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति बढ़ईगीरी मे दक्ष होता, तो वह केवल मेज, कुर्सी आदि वस्तुएँ बनाता, और फिर वह अपनी आवश्यकता से अधिक जितनी भी मेज,

कुर्सियें आदि बनाता उसके बदले में वह अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न की गई खाद्य-सामग्री, वस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ अपनी आवश्यकतानुसार विनिमय द्वारा प्राप्त कर लेता। इस प्रकार समाज विभिन्न पेशों में बँट गया, और इस प्रकार श्रम-विभाजन का प्रारम्भ हो गया। यह आविष्कार इतना लाभप्रद सिद्ध हुआ कि इसका केवल स्तर ही विस्तृत नहीं किया गया प्रत्युत इसका स्वरूप भी विषम और कठिन होता गया, जैसा कि हम नीचे बतावेंगे। वर्तमान युग का श्रम-विभाजन एक तात्त्विक लक्षण हो गया है।

श्रम विभाजन के लिये दो बातें अपरिहार्य हैं। पहली बात है मजदूरों में किसी प्रकार की **सहकारिता** होना। जब तक मजदूरों का एक समुदाय नहीं होगा, तब तक उसके विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। आप किसी अकेले मजदूर को विभाजित नहीं कर सकते। दूसरी बात है **विनिमय** का सम्भव होना, यदि श्रम विभाजन को क्रियात्मक रूप दे दिया गया, तो एक व्यक्ति केवल एक ही वस्तु, या थोड़ी सी ही वस्तुएँ, उत्पन्न करेगा, और उपभोग के लिये अन्य वस्तुएँ प्राप्त करने के लिये उसे अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तु का अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पन्न की गई आवश्यक वस्तुओं से विनिमय करना होगा। मजदूरों की सहकारिता श्रम-विभाजन के पूर्व तथा विनिमय श्रम-विभाजन के पश्चात् आता है।

श्रम-विभाजन के स्वरूप

श्रम-विभाजन के स्वरूप या श्रेणियाँ नीचे दी जाती हैं :—

(१) पेशेवार श्रम-विभाजन—श्रम-विभाजन के इस स्वरूप के अनुसार, श्रमिक जो काम अपनी वृत्ति के अनुसार सबसे अच्छी तरह कर सकते हैं उसके अनुसार विभिन्न पेशों में बाँट दिये जाते हैं। उदाहरण के लिये, कुछ व्यक्ति किसान हो जाते हैं, कुछ जुलाहे, कुछ राज, कुछ मछुए, कुछ रस्सी बटने वाले, कुछ डाक्टर, कुछ अध्यापक। पेशों के अनुसार श्रम का विभाजन **पेशेवार श्रम-विभाजन** कहलाता है। इसके अन्तर्गत एक श्रमिक केवल एक पेशे का विशेषज्ञ होता है, और अन्य पेशों से उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं होता।

श्रम-विभाजन का यह स्वरूप सबसे पहले प्रगट हुआ। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक श्रेणी में ही पेशेवार श्रम-विभाजन प्रगट हुआ। स्त्री और पुरुषों को अलग-अलग काम सौंप देना, राजा, योद्धाओं, पुजारियों तथा वैद्यकों को विशेष काम देना, जंगली समाज में श्रम विभाजन के इस स्वरूप के प्रवेश का उदाहरण है। हिन्दुओं की जाति-प्रणाली, जिसके अनुसार समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित हो गया, पेशेवार श्रम-विभाजन का ही उदाहरण है।

(२) पूर्ण विधियों मे विभाजन (Division into Complete Processes)—श्रम विभाजन के विकास की दूसरी सीढी थी एक पेशे का अनेक पूर्ण विधियो में बाँट देना और तदानुसार उस पेशे में सलग्न मजदूरों का उतने ही समुदायो में उपविभाजित कर देना । इसे **पूर्ण विधियों मे श्रम-विभाजन** कहते हैं। श्रम-विभाजन के इस स्वरूप के अतर्गत मजदूरों का प्रत्येक समुदाय, और प्रत्येक मजदूर, केवल एक पूर्ण विधि ही सम्पन्न करता है। मजदूरों के एक समुदाय की उत्पन्न की हुई वस्तु केवल अर्द्ध-निर्मित वस्तु (semi-manufactured article) होती है, जो मजदूरों के दूसरे समुदाय के पास दूसरी विधि पूरी करने के लिए जाती है—और यह इसी प्रकार होता रहता है जब तक कि वस्तु तैयार न हो जाय। पाठको को यह जानकर कौतूहल होगा कि अमेरिका में जूते बनाने का काम ८० विधियों मे बाँटा हुआ है, और इस प्रकार के कारखानों में मजदूर भी ८० समुदायो में बँटे होते हैं, और प्रत्येक समुदाय का सम्बन्ध केवल एक ही विधि से होता है।

श्रम का पूर्ण विधियों में विभाजन मानवी इतिहास में काफी देर में विकसित हुआ और यह श्रम विभाजन के विकास की दूसरी श्रेणी है। जब मानवी आवश्यकताएँ बहुत बढ गई और उत्पत्ति की मात्रा बढाना जरूरी हो गया, तब श्रम-विभाजन का यह स्वरूप अपनाना पड़ा।

(३) **अपूर्ण विधियों मे विभाजन** (Division into Incomplete Processes)—जब मानवी आवश्यकताओं की और भी वृद्धि हुई और साथ ही मशीन और कारखाना प्रणाली का भी चलन आरम्भ हो गया, तो श्रम का विभाजन और भी गम्भीर और गहरा बनाना पड़ा। अब प्रत्येक पूर्ण विधि को कई अपूर्ण विधियों में बाँट दिया गया। इसी के अनुसार मजदूर भी अनेक समुदायों में विभाजित कर दिये गये और प्रत्येक समुदाय केवल एक अपूर्ण विधि सम्पन्न करने लगा। प्रत्येक मजदूर, इस विभाजन के अन्तर्गत, अर्द्ध-निर्मित वस्तु के बनने में सहायता देता है—उसकी सहायता इसी सयुक्त उद्योग से उत्पन्न होने वाली वस्तु में सन्निहित होती है और उससे अलग नहीं की जा सकती। श्रम-विभाजन की इस तीसरी सीढी में किसी वस्तु के निर्माण में मजदूर का भाग दूसरी सीढी की अपेक्षा और भी कम होता है।

(४) **स्थानानुसार (Territorial) श्रम-विभाग या उद्योगों का स्थानीयकरण** (Localisation)—जब श्रम का अपूर्ण विधियो में विभाजन हो जाता है, तब प्रत्येक उद्योग किसी खास स्थान में केंद्रित होने लगता है। उद्योगों की किसी खास स्थान या प्रदेश में केंद्रित होने की प्रवृत्ति कुछ अनुकूल भौगोलिक,

भूगार्भिक, जलवायु सम्बन्धी, आर्थिक या राजनीतिक बातों का परिणाम होता है। उद्योग का केंद्रीकरण हो जाने के कारण उस स्थान के मजदूर उस उद्योग की विधियों या उप-विधियो में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी कुशल श्रम की विद्यमानता स्थानीयकरण का महत्त्वपूर्ण कारण बन जाती है। उद्योगों का स्थानीयकरण श्रम विभाजन का ही एक स्वरूप है और इसे स्थानानुसार श्र विभाजन कहा जाता है।

सरल और विषम श्रम-विभाजन

कभी-कभी श्रम-विभाजन का वर्गीकरण सरल श्रम-विभाजन तथा विषम श्रम-विभाजन मे किया जाता है। जब कोई काम एक व्यक्ति के लिये बहुत खर्चीला, कठिन या भारी हो और उसे दो या दो से अधिक व्यक्ति एक ही प्रकार की क्रिया द्वारा सम्पन्न करें, तो उसे सरल श्रम-विभाजन कहा जाता है जैसे खेत जोतना या भारी बोझ उठाना। जब कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय एक विशिष्ट काम करता है जो माल के निर्माण मे केवल सहायक भाग होता है, तो उसे विषम श्रम-विभाजन कहते हैं, अन्य शब्दों मे जब, कई व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय वस्तु-निर्माण का केवल एक विशेष भाग सम्पन्न करते एवं परस्पर सहयोग से काम करते हैं तो उसे विषम श्रम-विभाजन कहते हैं।

उपरोक्त अर्थ में सरल श्रम विभाग के पद का प्रयोग आक्षेप का पात्र है। वास्तव में, यह श्रम-विभाग का स्वरूप है ही नहीं। जब कुछ मजदूर मिलकर एक काम करते हैं और उनमें से प्रत्येक वही काम करता है, तब वे विभाजित नहीं होते, वे सहयोग से काम करते हैं, किन्तु यह सहयोग या सहकारिता श्रम-विभाजन नहीं कहला सकती।

यदि हम उपरोक्त दोनो पदों को आर्थिक साहित्य में रखना ही चाहते हैं, तो हमें सरल श्रम-विभाजन का प्रयोग पेशेवार श्रम-विभाजन के अर्थ में करना चाहिये, और विषम श्रम-विभाजन का प्रयोग श्रम विभाजन के शेष तीन स्वरूपो के लिये।

श्रम-विभाजन के लाभ

श्रम विभाजन से मजदूरो की उत्पादन-शक्ति बढ जाती है। उत्पादन शक्ति की यह वृद्धि निम्नलिखित बातो के कारण होती है :

(१) **योग्यता के अनुसार काम बाँटना**—श्रम-विभाजन का परिणाम यह होता है कि श्रमिक अपनी बुद्धिमानी, शारीरिक शक्ति और स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार कई समुदायों में बँट जाते हैं, और प्रत्येक को वह काम दिया जाता है

जो उनके लिये सबसे अधिक उपयुक्त हो। अतः अकुशल अथवा अर्द्ध-कुशल श्रम द्वारा किये जा सकने वाले काम करने के लिये कुशल श्रम को लगाने या किसी कुशल काम के लिये कम कुशल श्रम के लगाने से जो क्षय (waste) होती है, वह नहीं हो पाती। प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया जाता है।

(२) कुशलता में वृद्धि—श्रम-विभाजन का एक और लाभ यह होता है कि श्रमिक को अपनी मासपेशी, मस्तिष्क और आँखें आदि बराबर और लगातार एक ही प्रकार चलाने पड़ते हैं, इसके परिणामस्वरूप उसके अंग स्वतः परिचालित, गतिशील तथा निश्चित हो जाते हैं। लगातार अभ्यास तथा विशिष्टीकरण श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि करते हैं। यदि श्रम-विभाजन न हो तो श्रमिक काम तो शायद प्रत्येक कर लेगा किन्तु वह दक्ष किसी में भी नहीं होगा।

(३) यंत्र का अधिक प्रयोग—श्रम-विभाजन के परिणाम-स्वरूप उत्पत्ति की विधियों का सूक्ष्म उप-विभाजन हो जाता है। उप-विधियाँ इतनी सरल हो जाती हैं कि उनमें से अनेक यंत्र द्वारा भी सम्पन्न की जाने लगती हैं। इस प्रकार श्रम-विभाजन यंत्रों के प्रयोग को बढ़ाता है। मशीन उत्पत्ति बढ़ाती, लागत घटाती, श्रमिकों का परिश्रम कम करती तथा अन्य लाभ पहुँचाती है जिनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

(४) आविष्कारों की संख्या में वृद्धि—मशीनों का आविष्कार श्रम-विभाजन ने ही सम्भव बनाया। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक काम इतनी सूक्ष्म और सरल विधियों में बँट जाता है कि आविष्कारों का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है। दूसरी बात यह है कि जब श्रमिक एक ही मशीन पर ही सदैव काम करता रहता है तो उसे उसमें सुधार और परिवर्तन करने का अवसर मिलता है।

(५) औजार और पूँजी की मितव्ययता—श्रम विभाजन के अन्तर्गत एक विशिष्ट श्रमिक केवल एक ही काम करता है जिसे सम्पन्न करने के लिये उसे थोड़े से औजारों की आवश्यकता पड़ती है, जिन्हें वह बराबर प्रयुक्त करता रहता है। इस प्रकार औजार तथा यंत्र पूर्ण रूप से सेवायुक्त रहते हैं। इसके अतिरिक्त, क्योंकि श्रमिक थोड़े से ही औजारों का प्रयोग करता है, अतः वह उनको सावधानी से रखता है और उन्हें शीघ्रता से खोता नहीं।

(६) वस्तु की किस्म में सुधार—तैयार होने वाली वस्तु को विशिष्ट कारीगर जो अपने-अपने काम में बहुत दक्ष होते हैं, बनाते हैं, अतः उसकी किस्म स्वाभावतः श्रेष्ठ होती है।

(७) शिष्यत्व (Apprenticeship) की अवधि में कमी—श्रम-विभाग उत्पत्ति को सरल विधियों या उप-विधियों में बाँट देता है और प्रत्येक मजदूर

समस्त उत्पत्ति से सम्बन्धित न होकर केवल एक विधि या उप-विधि से सम्बधित होता है। अतः उसे कुल उत्पत्ति के काम का केवल एक भाग ही सीखना पड़ता है और इसलिये उसके शिष्यत्व का काम कम हो जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप उसके समय और द्रव्य की बचत होती है।

(८) **समय की बचत**—श्रम-विभाजन के अतर्गत एक श्रमिक को एक ही क्रिया (operation) में लगा रहना पड़ता है, अतः उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने-जाने की, या एक औजार रखकर दूसरा औजार उठाने की, या एक क्रिया समाप्त करने के पश्चात् दूसरी क्रिया करने की आवश्यकता नहीं होती। अतः स्थान, औजार या क्रिया बदलने में जो समय नष्ट होता है, वह श्रम-विभाजन के कारण बच जाता है।

(९) **कुशलता की बचत**—श्रम विभाजन मे प्रत्येक व्यक्ति को वह काम दिया जाता है जो उसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त हो, इसलिये उसकी योग्यता का अधिकतम प्रयोग किया जाता है और उसकी कुशलता की क्षय (waste) नहीं होने दी जाती। उसे बहुत से नीरस तथा साधारण से भी छुटकारा मिल जाता है क्योंकि यह काम स्त्री और बच्चों को और कहीं-कहीं तो अधो और लँगडे-लूलों को सौंप दिया जाता है, अत. मजदूर सब समय कुशल काम ही करता रहता है।

(१०) **गतिशीलता (Mobility) की वृद्धि**—जब उत्पत्ति को सूक्ष्मतया विधियों और उप-विधियों में विभाजित कर दिया जाता है, तो वे बहुत सरल और एक सी हो जाती हैं। अतः श्रमिक को एक पेशे को छोड़कर दूसरे पेशे को अपना लेना आसान हो जाता है। इस प्रकार श्रम की गतिशीलता की वृद्धि होती है।

(११) **पेशों का विस्तृत तथा विभिन्न होना**—नये यन्त्रों के आविष्कार और प्रयोग के परिणामस्वरूप रोजगार (employment) के नये मार्ग खुल जाते हैं। रोजगार की मात्रा मे वृद्धि होती है, और स्त्री-बच्चों तथा अशतः असमर्थ व्यक्तियों को भी काम मिलने लगता है।

(१२) **श्रमिकों को अन्य लाभ**—इन लाभों के अतिरिक्त, श्रमिको को और भी लाभ होते हैं। श्रम-विभाजन तभी सम्भव है जब कि एक बड़ी सख्या में श्रमिक मिलकर काम करें। इस प्रकार श्रमिक एक दूसरे के स्पर्श मे आते हैं और उनमें ऐक्य तथा सामान्य हित की भावना उत्पन्न होने लगती है। वे मजदूर सभा या ट्रेड यूनियन स्थापित कर लेते हैं और काम के घन्टे घटाने, मजदूरी बढाने तथा अपनी दशा में सुधार करने का सयुक्त चेष्टा करते हैं।

(१३) **कुल उत्पत्ति पर प्रभाव**—श्रम-विभाजन का कुल उत्पत्ति पर यह

प्रभाव पड़ता है कि उत्पत्ति में वृद्धि होती है, उसकी किस्म अच्छी हो जाती है, और प्रति-इकाई लगता भी घट जाती है।

श्रम-विभाजन की हानियाँ

श्रम-विभाजन के इतने महत्वपूर्ण लाभों को पढ़कर पाठकों को इसकी हानियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इसकी हानियाँ दो वर्गों में बाँटी जा सकती हैं: (अ) प्रत्यक्ष हानियाँ, और (आ) परोक्ष हानियाँ।

(अ) प्रत्यक्ष हानियाँ (Direct Disadvantages)

(१) कार्यक्षमता और उत्तरदायित्व का ह्रास--विशिष्टता मनुष्य की दृष्टि संकुचित कर देती है। एक श्रमिक काम के केवल एक ही भाग को सम्पन्न करता एव उसके विषय में जानकारी प्राप्त करता है, सामान्यतया वह इससे अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं करता। अत. उसकी उपादेयता का क्षेत्र सीमित हो जाता है। उसे एक ही सरल विधि प्रत्येक दिन बार-बार दोहरानी पड़ती है, इस कारण वह स्वय-प्रेरित यन्त्र की भाँति हो जाता है। यदि एक श्रमिक को यह स्वीकार करने को बाध्य करना पडे कि जीवन पर्यंत उसने केवल पिनो का सिरा बनाया या पिनों की नोक ही तेज की, तो यह बडे दुख की बात है। इसके अतिरिक्त, अनिर्मित वस्तु (raw material) पूर्णतया निर्मित (finished) होने के पूर्व कई श्रमिकों के हाथ से गुजरती है, और इसलिए किसी एक व्यक्ति को वस्तु की श्रेष्ठता का उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति का नहीं हो सकता, इसलिये श्रमिकों में उत्तरदायित्व की भावना का भी लोप हो जाता है।

(२) आनन्द का लोप--जब एक व्यक्ति एक पूरी वस्तु अकेले ही बनाता है, तो उसे उसके बनाने में आनन्द आता है। वस्तु की सुन्दरता उसके सृष्टि-कर्ता को प्रसन्न करती है, उसको प्रसिद्धि प्रदान करती है और उसे यह सतोष देती है कि दूसरे व्यक्तियों को उससे आनन्द मिलेगा। किन्तु जब वह किसी कारखाने में काम करने लगता है, जहाँ कि उसके काम का कोई अलग अस्तित्व नहीं होता, तब उस काम में आनन्द नहीं आता।

(३) नीरसता (Monotony)—जब एक श्रमिक को प्रत्येक दिन केवल एक ही काम बार-बार करना पड़ता है तो उसे वह काम नीरस प्रतीत होने लगता है। एक छापे की मशीन में बराबर कागज लगाते रहना या अखबारों को लगातार मोड़ते रहना और इसके अतिरिक्त और कुछ काम न करना, निश्चय ही बहुत नीरस काम है। नीरसता के कारण औद्योगिक थकान, मस्तिष्क की चचलता आदि

दुष्परिणाम प्रकट होने लगते हैं जो श्रमिक की कार्यक्षमता एवं उसकी उत्पादन-शक्ति पर आघात करते हैं। नीरसता के निवारण के लिये कभी-कभी श्रमिकों को अन्य काम बदल-बदल कर देने की रिवाज चल पड़ी है।

(४ स्त्रियों और बच्चों का काम में लग जाना—श्रम-विभाजन के कारण स्त्रियों और बच्चों को रोजगार तो मिल जाता है, किन्तु बहुधा उनका काम बहुत कठिन और श्रमयुक्त होता है जो उनके स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है और उनकी शारीरिक वृद्धि को रोक देता है। यह राष्ट्रीय चिन्ता का विषय है क्योंकि अशक्त माताएँ कमजोर बच्चों को जन्म देती हैं और कमजोर बच्चे बड़े होने पर कमजोर पुरुष बन जाते हैं।

(५) गतिशीलता (Mobility) का ह्रास—यदि एक श्रमिक से केवल एक ही काम बराबर लिया जाय, तो फिर वह अन्य किसी काम या पेशे के अयोग्य हो जाता है। अतः श्रम की गतिशीलता का काफी ह्रास हो सकता है। किन्तु यह बात भी ध्यान देने की है कि यदि श्रम विभाजन काफी सीमा तक ले जाया जाय, तो सम्भव है कि विभिन्न उद्योगो की विधियाँ और उप-विधियाँ इतनी सरल हो जायँ कि वे एक-सी ही बन जायँ। ऐसी दशा में श्रम की गतिशीलता की वृद्धि हो सकती है।

(आ) परोक्ष हानियाँ

श्रम-विभाजन से कुछ परोक्ष हानियाँ (Indirect Disadvantages) भी होती हैं। श्रम-विभाजन वहीं हो सकता है जहाँ बहुत-से श्रमिक मिलकर काम करें जैसा कि कारखानों में होता है। अत. श्रम-विभाजन और कारखाना-प्रणाली का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये कारखाना-प्रणाली के सारे दोष, जैसे बड़े-बड़े शहरों मे बहुत अधिक आबादी होना तथा स्वामी और सेवक के व्यक्तिगत सम्बन्ध का लोप होना, श्रम विभाजन के दोष माने जा सकते हैं। एक समुदाय में काम करने के कारण, एक श्रमिक अन्य श्रमिकों पर निर्भर रहने लगता है। यदि एक श्रमिक अनुपस्थित हो और काम की कोई विधि सम्पन्न नहीं होती, तो समस्त उत्पत्ति रुक जाती है।

स्पष्टतया श्रम-विभाजन के लाभ उसके दोषों से कहीं अधिक हैं। प्रगतिशील संगठनकर्ताओं ने इन दोषो की मात्रा को न्यूनतम करने के अनेक प्रयत्न किये हैं और इनमें उन्हें सफलता भी मिलती है। काम का समय कम करना और श्रमिकों को अधिक अवकाश (leisure) देना, विश्राम-काल, कल्याणमूलक काम (welfare work) जैसे विश्राम-कक्ष, वाचनालय, भोजनकक्ष और खेल-कूद का प्रबन्ध, सह-साझेदारी (co-partnership) और लाभ-बटाई profit-sharing) योजनाएँ—ये श्रमिकों में उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत करने और नीरसता के दुष्परिणामों के निवारण करने वाले उपायो में से कुछ हैं।[1]

---

1 Thomas, *Elements of Economics*, P 110

श्रम-विभाजन की सीमाएँ

आधुनिक अर्थशास्त्र के जन्मदाता, एडम स्मिथ, ने श्रम-विभाजन का वर्णन अद्वितीय ढंग से किया है। उन्होंने श्रम-विभाजन की निम्नलिखित सीमाएँ दी हैं :

(१) **पेशों का स्वभाव**—श्रम-विभाजन किस मात्रा तक किया जा सकता है, यह पेशे के स्वभाव पर निर्भर होता है, क्योंकि वही विधियों और उप-विधियों की संख्या निश्चित करता है। हाँ, प्रत्येक दशा मे विधियों के उप-विभाजन की एक सीमा होती है।

(२) **बाजारों का क्षेत्र**—व्यवसाय के स्वभाव के अनुसार जितना श्रम-विभाजन सम्भव है, उसका होना या न होना बाजार के क्षेत्र पर निर्भर होता है। यदि बाजारों का क्षेत्र विस्तृत हुआ, तो श्रम-विभाजन भी काफी दूर तक ले जाया जा सकता है। किन्तु यदि इसके विपरीत बाजार संकुचित हुए, तो श्रम-विभाजन कुछ ही दूर तक किया जा सकेगा।

(३) **व्यापार का यंत्र**—बाजारो का क्षेत्र स्वयं व्यापारिक यन्त्र पर यातायात की सुविधा, बैंक प्रणाली आदि पर—निभर होता है। मनुष्य व्यापार तभी कर सकते हैं जब कि वे एक दूसरे को संदेश भेज सकें, माल आसानी और शीघ्रता से ला और भेज सकें, रुपया आसानी से मँगा या भेज सकें, आदि।

§ २. उद्योगों का स्थानीयकरण

किन्हीं प्रदेशों, जिलों या स्थानों में कुछ ऐसी विशिष्ट सुविधाएँ होती हैं जिनके कारण वे कुछ उद्योगों की उन्नति के लिये बहुत उपयुक्त हो जाते हैं। इन अनुकूल बातो से आकर्षित होकर, उद्योग उन प्रदेशों, जिलों या स्थानों में केन्द्रित होने लगते हैं, यहाँ तक कि इन जगहों का नाम उन उद्योगों के साथ लिया जाने लगता है उद्योगों के किसी एक खास स्थान में केन्द्रित होने की प्रवृत्ति को उद्योगों का स्थानीयकरण या स्थानानुसार श्रम-विभाग कहते हैं। हमारे देश में जूट के उद्योग क कलकत्ते में और उसके आस-पास स्थानीयकरण है; कपड़ों को रँगने और उन प छपाई करने के उद्योग का स्थानीयकरण फर्रुखाबाद मे है, काँच और चूड़ी क उद्योग फीरोजाबाद में केन्द्रित है, बम्बई और अहमदाबाद में सूती कपड़ों कारखानों की भरमार है; चीनी के उद्योग के लिये संयुक्त प्रान्त और बिहा विख्यात हैं; और लोहे के उद्योग के लिये टाटानगर।

जब कोई कारखाना स्थापित करना होता है तो संगठनकर्ता को इस बात म निर्णय करना पड़ता है कि वह कारखाना कहाँ चलाया जाय। ठीक निर्णय के लिये य

आवश्यक है कि सगठनकर्ता को उन सब स्थानों की सूचना हो जहाँ कि उसे उद्योग का स्थानीयकरण हो चुका है या हो सकता है। यह विभिन्न स्थानों का अनिर्मित माल की प्राप्ति, कुशल श्रम, अच्छे बाजारों, सन्देशवाहन तथा यातायात के साधनों की विद्यमानता आदि के दृष्टिकोणों से सापेक्षिक महत्त्व आँकता है और फिर यह निश्चित करता है कि कौन-सा स्थान सबसे अधिक उपयुक्त होगा। इस निर्णय का ठीक-ठीक होना बहुत महत्त्वपूर्ण है और बड़ी सीमा तक कारखाने की सफलता अथवा असफलता इसी बात पर निर्भर है। अधिकतर होता यह है कि एक ही उद्योग से सम्बन्ध रखने वाले संगठनकर्ता उसी केन्द्र या जिले को चुनते हैं और वहीं अपने कारखाने बनाते हैं, इस प्रकार कारखाने एक ही स्थान में केन्द्रित होने लगते हैं।

स्थानीयकरण के कारण

स्थानीयकरण के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) शक्ति की प्राप्ति—शक्ति की प्राप्ति स्थानीयकरण सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। आधुनिक काल मे कोयला शक्ति का सबसे प्रमुख साधन है। किन्तु कोयला अपने बोझ के अनुपात मे सस्ता होता है, इसलिये यह लम्बे यातायात का लागत सहन नहीं कर सकता, अतः कोयले को बहुत दूर तक नहीं ले जाया जा सकता। हाल में विद्युत-शक्ति ने बहुत महत्त्व प्राप्त कर लिया है। बिजली के स्टेशन कभी-कभी उद्योगो को अपने आस-पास आकर्षित कर लेते हैं, किन्तु बिजली के तारों द्वारा शक्ति दूर-दूर तक भेजी जा सकती है। इसलिये इसका प्रभाव अधिकतर उद्योगों का विकेन्द्रीकरण (decentralisation) ही होता है।

(२) कच्चे माल की प्राप्ति—बिना कच्चे माल के किसी भी प्रकार की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः जिन स्थानों में कच्चा माल पाया जाता है वे बहुधा उद्योगो के केन्द्र बन जाते हैं। कलकत्ते में जूट के उद्योग और टाटानगर में लोहे के उद्योग केंद्रित होने का यही विशेष कारण है। जहाँ कच्चा माल अचल (fixed) होता है या अपने बोझ के अनुपात में सस्ता होता है, वहाँ कच्चे माल की प्राप्ति बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। खान खोदने का काम वहीं हो सकता है जहाँ खानें विद्यमान हैं, और उसी प्रकार लकड़ी का काम भी वहीं हो सकता है जहाँ जगल हो।

(३) जलवायु—जलवायु काम करने की दशाओं का निर्धारण करती है, अतः उद्योगों के विकास में जलवायु का बहुत महत्त्व होता है। बहुत अधिक या बहुत कम तापक्रम कठिन परिश्रम के अनुकूल नहीं होता। उद्योगों के केन्द्रीकरण

में शीतोष्ण तापक्रम बहुत सहायक होता है। किसी-किसी उद्योग में, जैसे सूती कपड़े की मिलों में, जलवायु का महत्त्व विशेष होता है। इस उद्योग को नम वातावरण चाहिये जिससे कि कपास से पतला सूत काता जा सके। यदि वायु में शुष्कता हुई तो धागा जल्दी ही सूख जायगा और टूट जायगा। भारतवर्ष में बम्बई को सूती कपड़े के उद्योग की राजधानी कहा जा सकता है, यह जलवायु की ही देन है।

(४) कुशल श्रम की उपलब्धि—स्थानीयकरण का प्रारम्भ तथा उसका बने रहना बहुधा कुशल श्रम की उपलब्धि का भी परिणाम होता है। फिरोजाबाद (यू० पी०) में काँच की चूड़ी बनाने का केन्द्रीकरण इसलिये नहीं है कि वहाँ कच्चा माल मिलता है अथवा वहाँ बाजार निकट है वरन् इसलिये कि वहाँ कुशल श्रम पाया जाता है। इसी प्रकार फर्रुखाबाद (यू० पी०) में कपड़ा छापने और रँगने का उद्योग कुशल श्रम की उपलब्धि के कारण केंद्रित है।

(५) शीघ्र प्रारम्भ का आवेग (Momentum of an Early Start)—कभी-कभी किसी स्थान पर कोई उद्योग बहुत जल्दी प्रारम्भ हो जाता है और फिर उस स्थान को उस उद्योग सम्बन्धी इतने लाभ प्राप्त हो जाते हैं कि कालान्तर में वहाँ उस उद्योग का केन्द्रीकरण हो जाता है। उस उद्योग में प्रवेश करने वाले नये उद्योगपतियों को किसी नये स्थान की अपेक्षा वहाँ कारखाना स्थापित करना अधिक लाभप्रद प्रतीत होने लगता है।

(६) बाजार की निकटता—क्योंकि निर्मित या पक्के माल को बिक्री के लिये बाजार ले जाना पड़ता है, इसलिये बाजार की निकटता से यातायात की लागत में बचत हो जाती है। अतः उद्योगों के केंद्रीकरण में बाजार की निकटता का बहुत महत्त्व रहता है। हाल में ही हमारे देश में सूती कपडे की मिलें यू० पी० के भीतरी भागों और बंगाल आदि में खुलने लगी हैं जिससे कि वे बाजार की निकटता से लाभ उठा सकें।

(७) यातायात एवं संदेशवाहन के साधनों की उपस्थिति—यदि यातायात एवं संदेशवाहन के सस्ते, शीघ्रगामी तथा सरल साधन प्राप्य हों, तो बाजार की दूरी की हानियाँ कम हो जाती हैं। अतः यदि यातायात के अच्छे साधन उपलब्ध हों तो उद्योग का बाजार से दूर स्थित किसी स्थान में केन्द्रीकरण हो सकता है। कच्चे माल को कारखाने तक तथा निर्मित माल को बाजारों तक पहुँचाने का व्यय कुल निर्माण-लागत (manufacturing costs) का एक बड़ा भाग होता है; इससे उद्योगों के केन्द्रीकरण में यातायात के साधनों का महत्त्व भली भाँति जाना जा सकता है।

(८) बाजारों में पहुँच (Accessibility) होना—बाजारों के भौगोलिक अर्थ में विद्यमान होने के अतिरिक्त, वे ऐसे होने चाहिये कि उनमें उद्योगपतियों का माल बिक्री के लिये पहुँच सके। बाजार में पहुँच होने का यह आशय है कि उन बाजारों के क्रेता माल की माँग करें, बाजार में स्पर्द्धा इतनी तीक्ष्ण न हो कि माल का आना ही असम्भव हो जाय, और उसमें माल का आवागमन रोकने वाले आयातकर, निर्यात कर या चुंगी न हो। भारतवर्ष में मोटरकार और लारियों के आयात र भारी आयात-कर लगता है, किन्तु मोटर के भागों व सामान के आयात पर कम र लगता है; अतः अमेरिका की फोर्ड मोटर कम्पनी ने भारतवर्ष में ही मोटर के रखाने खोल लिये हैं जो अमेरिका से मोटरों के हिस्से मँगा-मँगाकर, उन्हें एकत्रित होने और पूरी मोटर तैयार कर देते हैं। इससे उन्हें कम आयात-कर देना है।

(९) अन्य कारण—उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ और भी छोटे-मोटे कारण हैं जो स्थानीयकरण को प्रोत्साहित करते हैं। कारखाने में प्रयोग के लिये जल की उपलब्धि और सस्ती भूमि की प्राप्ति इसी प्रकार के कारण हैं।

स्थानीयकरण के लाभ

किसी स्थान या प्रदेश में उद्योगों के स्थानीयकरण से बहुत-से लाभ होते हैं। इसके निम्नलिखित प्रमुख लाभ हैं :—

(१) कुशलता की वृद्धि—जब किसी स्थान में किसी उद्योग का स्थानीयकरण हो जाता है, तो वहाँ के श्रमिकों में उस उद्योग से सम्बन्ध रखने वाले कामों के सम्पन्न करने की विशेष कुशलता आ जाती है। एक बार कुशलता प्राप्त कर लेने से वह पैतृक (Hereditary) हो जाती है और पिता से पुत्र को स्वयं ही प्राप्त हो जाती है। बच्चा कम आयु से ही कारखाने में होने वाले काम को देखता है और लगातार देखते-देखते, स्वाभाविक प्रवृत्ति के बूते पर, वह उद्योग की विषमताओं को कालान्तर में सहज में ही समझ लेता है।

(२) कुशलता के लिये स्थानिक बाजार की उत्पत्ति—स्थानीयकरण हो जाने पर केन्द्रित उद्योग सम्बन्धी विशेष कार्यों को सम्पन्न करने वाले कुशल श्रम के लिये बाजार उत्पन्न हो जाता है। अतः यदि उस उद्योग का कारखाना कोई संगठन-कर्ता उस स्थान में खोले तो उसे कुशल श्रम आसानी से वहाँ मिल जायगी, और इसी प्रकार उस उद्योग में कुशल श्रमिकों को वहाँ आसानी से नौकरी मिल सकेगी। केवल श्रमिक ही विशेषज्ञ नहीं हो जाते प्रत्युत यंत्र भी विशिष्ट होने लगते हैं। स्थानीय-करण के परिणामस्वरूप श्रम का विभाजन बड़ी सीमा तक होने लगता है, बहुत से गृहस्थियों में सामान्य हित की वृद्धि के उद्देश्य से सहयोग होने लगता है, तथा

उत्पत्ति सम्बन्धी का 'क्षमता की वृद्धि के लिये स्पर्द्धा होने लगती है। इन सब का परिणाम यह होता है कि विशिष्ट मशीनों का आविष्कार और प्रयोग बढ जाता है।

(३) **प्रसिद्धि या ख्याति**—जब किसी उद्योग का कहीं स्थानीयकरण होता है, तो वह स्थान उस उद्योग की वस्तुओं के लिये ख्याति प्राप्त कर लेता है और उस स्थान की बनी चीजें आसानी से दूर-दूर तक बिकने लगती हैं। ढाका की मलमल और लखनऊ की छीटें आज तक प्रसिद्ध हैं, और ढाका और लखनऊ की बनी ये चीजें अन्य स्थानो की बनी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक चाव से खरीदी जाती हैं। शैफील्ड के छुरे-कांटे अन्य स्थानों में बने छुरे-कांटो की अपेक्षा अधिक बिकते हैं और क्रेता उन्हे अधिक पसन्द करते हैं।

(४) **सहायक (Subsidiary) उद्योगों का विकास**—औद्योगिक केन्द्रों में और उनके आस-पास बहुत से सहायक उद्योग उग आते हैं। उदाहरण के लिये, जिस स्थान मे लोहे का कारखाना होता है वहाँ सीमेंट का कारखाना स्थापित हो जाता है क्योंकि लोहे के कारखाने का 'स्लैग' (slag) नामक क्षेप्य उत्पाद (waste product) सीमेंट बनाने में कच्चे पदार्थ की भांति प्रयुक्त किया जाता है।

(५) **पूरक (Supplementary) उद्योगों का विकास**—उद्योगों के स्थानीयकरण हो जाने पर पूरक उद्योग, जिनमें स्त्रियाँ और बच्चे नौकर हो जाते हैं, खुल जाते हैं। भारी उद्योगों के केन्द्र साधारणतया सिल्क के कारखानों के भी केन्द्र हो जाते हैं क्योंकि वहाँ स्त्रियों और बच्चों का श्रम सस्ती दर पर प्राप्त हो जाता है।

(६) **व्यापारिक यंत्र का विकास**—औद्योगिक केन्द्र बहुत व्यापारिक केन्द्र भी बन जाता है। प्रति दिन कच्चा माल और कोयला बड़ी मात्रा में आने लगता है और बहुत सा पक्का माल बाहर जाने लगता है। इतने बडे पैमाने पर व्यापार बिना व्यापारिक यत्र के नहीं हो सकता, अतः वहाँ उपयुक्त व्यापारिक यत्र प्रकट हो जाता है। जहाँ उद्योगों का स्थानीयकरण होगा, वहां सदेशवाहन और यातायात के साधनों की उपलब्धि होने लगना, बैंको और बीमा कम्पनियो का उदय होना और पूँजी बाजार का प्रकट होना स्वाभाविक है।

स्थानीयकरण की हानियाँ

स्थानीयकरण के इतने लाभ हैं अवश्य, किन्तु उसमें कुछ हानियाँ भी हैं। ये हानियाँ निम्नलिखित हैं :

(१) **मानवी कुशलता की सकीर्णता**—उद्योगों के स्थानीयकरण हो जाने से किसी विशेष प्रकार की कुशलता की माँग होने लगती है। इस प्रकार की विशिष्ट कुशलता वाले श्रमिकों को अपनी बुद्धि के अन्य पहलुओं के विकास का समय नहीं

मिल पाता। इसलिये स्थानीयकरण मानवी मस्तिष्क तथा कुशलता को संकीर्ण बना देता है। यह श्रम की गतिशीलता (mobility) को भी कम कर देता है। सूती कारखाने के केन्द्र के श्रमिक काम न मिलने पर दूसरे औद्योगिक केन्द्र को नहीं जा सकते क्योंकि वे केवल सूती कपडे के कारखाने के काम में दक्ष हैं।

(२) **आर्थिक आपत्ति के विस्तृत होने का भय**—स्थानीयकरण औद्योगिक केन्द्र को केवल एक ही उद्योग पर निर्भर कर देता है। यदि वह उद्योग संकट में पड़ जाय तो वहाँ के निवासियों को कड़ी आर्थिक यातना भोगनी पड़ती है। आर्थिक संकट के समय, लाभ के स्थान पर हानि होने लगती है, कारखाने बन्द होने लगते हैं, श्रमिक बेकार हो जाते हैं और उन्हें दूसरा काम नहीं मिल पाता।

(३) **औद्योगिक केन्द्रों के दोष**—स्थानीयकरण बहुधा उन भौतिक, आर्थिक, नैतिक एवं सामाजिक दोषों का कारण बन जाता है जो औद्योगिक केन्द्रों में पाये जाते हैं।

उपचार

स्थानीयकरण के ऊपर बताये हुए दोषों का उपचार हो सकता है। यदि एक केन्द्र में एक से अधिक उद्योग स्थापित कर दिया जाय तो मानवी कुशलता का एकांगी विकास होने और आर्थिक आपत्ति के विस्तृत होने के भय कम हो सकते हैं। वास्तव में उद्योगों के स्थानीयकरण होने के फलस्वरूप सहायक तथा पूरक उद्योगों का स्वयं ही विकास होने लगता है, और इस प्रकार उपरोक्त दोष का उपचार स्थानीयकरण स्वयं ही प्रदान कर देता है। औद्योगिक केन्द्रों के दोषों के उपचारों की चर्चा पहले ही की जा चुकी है।

अभ्यास के प्रश्न

१. आप 'श्रम-विभाजन' से क्या अर्थ समझते हैं? 'श्रम-विभाजन' की मुख्य आवश्यकतायें कौन सी हैं?

२. 'श्रम विभाजन' के मुख्य स्वरूपों का वर्णन कीजिये।

३. 'सरल तथा विषम श्रम-विभाजन' पर एक नोट लिखिए।

४. 'श्रम-विभाजन' के लाभ तथा हानियाँ कौन सी हैं?

५. उद्योगों के स्थानीयकरण का अर्थ स्पष्ट कीजिए। इसके कारण कौन से हैं? भारतीय उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।

६. उद्योगों के स्थानीयकरण के लाभ तथा हानियाँ बतलाइए।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. उद्योगों के स्थानीयकरण के कारणों, लाभों और हानियों का वर्णन कीजिये। (१९४७)

२. श्रम विभाजन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४६)

३. पूर्ण विधियों और अपूर्ण विधियों के श्रम-विभाजन से आप क्या समझते हैं? श्रम-विभाजन के लाभ बताइये। (१९४४)

४. श्रम-विभाजन का क्या अर्थ होता है? इसके लाभों तथा हानियों की विवेचना कीजिए। (१९४२)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

५. श्रम विभाजन का क्या अर्थ है? इसके क्या लाभ हैं? (१९४५)

६. श्रम-विभाजन के लाभ तथा हानियाँ बताइए। श्रम-विभाजन की क्या सीमाएँ हैं? (१९४२)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

7 Write a short Note on internal and external economies. (1949)

8. What is meant by Division of Labour? Discuss its advantages and disadvantages (1948)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

9. Write a short note on Localisation of industries (1949)

10. Write a short note on Division of Labour (1948)

11 What do you understand by the Division of Labour? Describe its merits and defects (1947)

12 What do you understand by Localisation of Industries. Examine the factors which bring about localization of industries. (1946)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

13 Write a short note on territorial division of labour (1948)

नागपुर, इन्टर कामर्स

१४. यन्त्रों के उपयोग और श्रम-विभाजन के आर्थिक संगठन पर किस प्रकार के परिणाम हुए हैं? स्पष्ट लिखिये। (१९४९)

१५. श्रम-विभाजन तथा बड़े पैमाने की उत्पत्ति के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए। उदाहरण प्रस्तुत कीजिए। (१६४६)

पटना, इन्टर आर्ट्स

16. Describe the advantages and disadvantages of division of labour (1946 Supp.)

पटना, इन्टर कामर्स

17. What do you mean by division of labour? Indicate its advantages and disadvantages (1949)

18 What do you mean by division of labour? Indicate its advantages and disadvantages to the community and to workers. (1948 Supp)

सागर, इन्टर आर्ट्स

19. Enumerate the advantages and disadvantages of division of labour. (1949)

20 Write a short note on territorial division of labour. (1949)

21 What do you understand by Localisation of Industries? What are its causes? Point out the important advantages of localisation? (1948)

सागर, इन्टर कामर्स

22. Explain carefully the meaning and importance of territorial division of labour Give examples from Indian conditions (1949)

23 Explain the relation between division of labour and large scale production Give examples. (1948)

अध्याय ४१

उत्पत्ति का पैमाना (Scale)

आधुनिक काल में व्यापारिक इकाई की मात्रा बहुत विस्तृत हो गई है। आजकल के औद्योगिक समाज में बड़े पैमाने की उत्पत्ति एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण लक्षण बन गई है। पुरातन काल में मनुष्य अपने जूते एक छोटे से चमार से और कपड़े साधारण जुलाहे से खरीदा करते थे। किन्तु अब हमारे जूते बाटा और फ्लैक्स जैसे बड़े-बड़े कारखानों में बनते हैं, और जो हम कपड़ा पहिनते हैं वे बम्बई और अहमदाबाद की बड़ी-बड़ी मिलों में तैयार होता है। अब उत्पत्ति की प्रतिरूपक इकाई एक परिवार अथवा थोड़े-से सस्ते औजार तथा थोड़े-से कच्चे माल से काम करने वाला छोटा-सा समुदाय नहीं रहा, प्रत्युत अब उत्पत्ति की इकाई का स्वरूप हजारों-लाखों सुसगठित मजदूरों के समुदाय ने ले लिया है जो समुदाय बहुत-सी मूल्यवान तथा विषम यन्त्र का प्रयोग करता है जिसमें बहुत-सा कच्चा माल लगातार खपता रहता है और पक्के माल के रूप में परिणत होकर उपभोक्ताओं के हाथों में पहुँचता रहता है। जब उत्पत्ति मे बहुत-से कच्चे माल, बहुत-सी पूँजी, बहुत-से श्रम बहुत कुशल सगठन तथा बड़ी जोखिम का प्रयोग किया जाता है, तब उत्पत्ति को बड़े पैमाने की उत्पत्ति (Large Scale Production) कहा जाता है। जब प्रयुक्त किये जाने वाले साधनो की मात्रा कम होती है, तब उत्पत्ति का पैमाना छोटा कहलाता है।

हमारे देश में सूती कपड़े की मिलें, चीनी की मिलें, लोहे की कम्पनियाँ, रेल आदि बड़े पैमाने की उत्पत्ति के उदाहरण हैं। छोटे पैमाने की उत्पत्ति के उदाहरण गाँव के जुलाहे, खड़सारी, लोहारों की दूकाने और बैलगाड़ियाँ प्रदान करती हैं। संसार के प्राय प्रत्येक देश में बड़े पैमाने की उत्पत्ति और छोटे पैमाने की उत्पत्ति साथ-साथ चलती है, तथापि छोटे पैमाने की उत्पत्ति के मूल्य पर बड़े पैमाने की उत्पत्ति उन्नति कर रही है। भारतवर्ष में बड़े पैमाने की उत्पत्ति की धीमी किन्तु निश्चित उन्नति हो रही है।

बड़े पैमाने पर उत्पत्ति क्यों की जाती है? इसका कारण यह है कि बड़े पैमाने पर उत्पत्ति करने से बहुत सी बचत (Economies) होने लगती है जो माल की लागत घटा देती है। अत हम बड़े पैमाने के लाभों का वर्णन नीचे करते हैं।

§ १. बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ

छोटे पैमाने की उत्पत्ति की अपेक्षा बड़े पैमाने की उत्पत्ति में अधिक बचत होती है। अन्य शब्दों में, प्रति इकाई लागत उत्पत्ति का पैमाना बड़ा होने पर कम होती है और छोटा होने पर अधिक। ऐसा इसलिये होता है कि पैमाना बड़ा होने पर बहुत सी बचत हो जाती है जो पैमाना छोटा होने पर प्रकट नहीं होती। इस प्रकार की बचत को दो भागों में बाँटा जा सकता है: (१) बाह्य (external) बचत, और (२) आभ्यंतरिक (internal) बचत।

१. बाह्य बचत (External Economies)

जो बचत किसी उत्पादक इकाई के बाहर क्रियाशील होने वाले बाह्य कारण का परिणाम होती है और जिसका इकाई के आभ्यंतरिक संगठन से कुछ सम्बन्ध नहीं होता, उन्हें बाह्य बचत कहा जाता है। किसी उद्योग की समस्त इकाइयाँ बाह्य बचत से सामान्य लाभ उठाती हैं। यातायात और सदेशवाहन के साधनों का विकास, विज्ञापन की सुविधायें, उद्योगों का लाभदायक स्थानीयकरण आदि बातें बाह्य बचत के उदाहरण हैं। जब उत्पत्ति का पैमाना बड़ा होता है, तब इस प्रकार की बचत के स्रोत बड़ी संख्या में प्रगट हो जाते हैं और इसके परिणाम-स्वरूप बाह्य बचत होने लगती है।

२. आभ्यंतरिक बचत (Internal Economies)

किसी विशेष उत्पादक इकाई के आभ्यंतरिक संगठन द्वारा उत्पन्न होने वाली बचत को जिससे केवल वही इकाई लाभ उठाती है, आभ्यंतरिक बचत कहते हैं। इनका सम्बन्ध व्यवसाय के शासन विशिष्टता (technique) या टैक्नीक, और व्यापारिक पहलू से होता है। एक कारखाने के खर्चों को हम ३ भागों में बाँट सकते हैं और बचत इन्हीं में होती है। ये खर्चे निम्नलिखित हैं: (१) प्रारम्भिक खर्चे, (२) निर्माण सम्बन्धी खर्चे, और (३) वितरणात्मक खर्चे।[१] नीचे की तालिका में हम इनका विवरण देते हैं:—

---

[१] Benson, *The Economics of Everyday Life.*

आभ्यंतरिक बचत

खर्चे का शीर्षक	बचत
१. प्रारम्भिक खर्चे	कच्चे माल, ईंधन, यन्त्र, औजार और यातायात-सम्बन्धी सेवा के क्रय में बचत।
२. निर्माण-सम्बन्धी खर्चे	(अ) इंजन के कमरे में। (आ) निर्माण-शाला (Workshop) में। (इ) उपोत्पत्ति के उपयोग में। (ई) पैकिंग में। (उ) आफिस में।
३. वितरणात्मक खर्चे	(अ) यातायात में। (आ) एजेंट, यात्रियों और विज्ञापन में। (इ) माँग की घट-बढ़ में कमी के द्वारा।

(१) प्रारम्भिक खर्चे—निर्माण (manufacturing) के प्रारम्भ होने के पूर्व, उत्पादक को कुछ तैयारियाँ करनी पड़ती हैं। उसे कच्चा माल, ईंधन, मशीन और औजार एकत्रित करने पड़ते हैं। यदि उत्पत्ति का पैमाना बड़ा हो और इन सब वस्तुओं की माँग अधिक मात्रा में हो, तो ये सस्ते थोक दामों पर खरीदी जा सकती हैं। इस प्रकार बचत हो सकती है। इसके अतिरिक्त, ये सब वस्तुएँ विभिन्न स्थानों से कारखाने को लाई जाती हैं। जब भेजे जाने वाले माल की मात्रा अधिक होती है, तो रेल और जहाजी कम्पनियाँ सस्ते दर पर माल ढोती हैं।

(२) निर्माण-सम्बन्धी (Manufacturing) खर्चे—उत्पत्ति में काम आने वाली समस्त वस्तुओं को जब एकत्रित कर लिया जाता है, तब निर्माण आरम्भ किया जाता है। यदि उत्पत्ति का पैमाना बड़ा हुआ, तो निर्माण के विभिन्न विभागों में बचत की जा सकती है।

(अ) इंजन के कमरे में—हम सबसे पहले इंजन के कमरे को लेते हैं जहाँ गामक शक्ति (motive power) का सृजन होता है। जितनी ही अधिक मात्रा में गामक शक्ति की आवश्यकता होगी, प्रति-इकाई शक्ति की लागत उतनी ही कम पड़ेगी। यदि उत्पन्न की जाने वाली गामक शक्ति की मात्रा दुगनी करनी हो, तो उसके लिये दुगनी ताकत का इंजन लगवाना अथवा इंजन के कमरे के क्षेत्रफल को दुगना बढ़ाना आवश्यक नहीं होगा। यह तो ठीक है कि अधिक गामक शक्ति उत्पन्न करने के लिये इंजन की शक्ति बढ़ानी पड़ेगी और ईंधन का भी अधिक खर्च होगा, किन्तु खर्चे में वृद्धि शक्ति की मात्रा की वृद्धि के अनुपात में कमी होगी। अतः यदि उत्पत्ति का पैमाना बड़ा हो तो गामक शक्ति की पूर्ति में बचत हो जाती है।

(आ) निर्माण-शाला में उत्पत्ति का पैमाना बढ़ जाने से निर्माण-शाला में भी बचत का क्षेत्र बढ़ जाता है। यदि उत्पत्ति का पैमाना बड़ा होगा, तो श्रमिकों की संख्या भी अधिक होगी और इसका परिणाम यह होगा कि श्रम विभाजन बड़ी सीमा तक किया जासकेगा। श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप बहुत सी बचत प्रकट हो जाती है जिनका वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। केवल श्रम ही नहीं, मशीन का भी विशिष्टीकरण हो सकता है। यदि कारखाना बड़ा है तो हर अलग काम के लिये अलग मशीन खरीदी जा सकती है और मशीन के विशिष्टीकरण द्वारा उत्पन्न होने वाली सारी बचत का लाभ उठाया जा सकता है। बड़े बड़े भाप से चलने वाले हथौड़े, क्रेन, तथा अन्य विषम मशीन, जो उत्पादक-शक्ति बढ़ातीं और प्रति इकाई लागत घटाती हैं, उनका प्रयोग केवल बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ ही कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त, यदि पैमाना बड़ा हुआ तो मशीनें प्रत्येक दिन अधिक समय तक चलाई जा सकती हैं और उनसे छोटे पैमाने वाली निर्माण शालाओं की अपेक्षा (जहाँ उनसे केवल थोड़े ही समय तक काम लिया जा सकता है) अधिक काम लिया जा सकता है। एक बड़ी उत्पादक इकाई नई-नई मशीनों का भी प्रयोग कर सकती है। नये यन्त्रों का आविष्कार इस गति से होता है कि कुछ दिन पहले के यन्त्र शीघ्र ही अप्रचलित (obsolete) हो जाते हैं। बड़े-बड़े कारखानों में मशीनों से इतना अधिक काम लिया जाता है कि वे शीघ्र ही क्षेप्य (scrap) हो जाती हैं, अतः अप्रचलन की हानि (loss of obsolescence) कम उठानी पड़ती है और नई मशीनें बाजार में आते ही खरीदी जा सकती हैं। मशीनों के जीर्णोद्धार (repairs) में भी बचत हो जाती है: बड़े-बड़े कारखानों में मशीनों के जीर्णोद्धार का काम बराबर निकलता रहता है जिसके फलस्वरूप कारखाने में कारीगर और बढ़ई आदि रक्खे जा सकते हैं और जीर्णोद्धार-शाला की जेब में जाने वाला लाभ बच जाता है। अन्त में, एक बड़ा कारखाना अनुसंधान और प्रयोगों

पर रुपया खर्च कर सकता है, जो कि एक छोटे कारखाने के लिये सम्भव नहीं। इससे उत्पत्ति की रीतियों में सुधार हो सकता है। कच्चे माल का अच्छा प्रयोग किया जा सकता है, नई डिजाइनों का आविष्कार किया जा सकता है और वैज्ञानिक उन्नति से लाभ उठाया जा सकता है।

(इ) उपोत्पत्ति के उपयोग मे—प्रत्येक कारखाने में कुछ ऐसी उपोत्पत्ति (by-products) होती है जो कि फेंक देनी पड़ती है किन्तु यदि उसका उचित प्रयोग किया जाय तो लाभ उठाया जा सकता है। उपोत्पत्ति के उपयोग कर सकने के लिये विशिष्ट कुशलता, प्रयोग और पूँजी चाहिये जो उत्पत्ति का पैमाना बड़ा होने पर ही मिल सकती हैं। जिस बेकार वस्तु को छोटे कारखाने में फेंकने और हटाने के लिये रुपया खर्च करना पड़ता है, उसका ही बड़े कारखाने में समुचित उपयोग करके लाभ कमाया जाता है। उदाहरण के लिये, अमेरिका के बड़े-बड़े कसाई-घरों में पशुओं का एक भी भाग बेकार फेंका नहीं जाता, उपोत्पत्ति से विभिन्न प्रकार की लाभदायक वस्तुएँ जैसे खाद, जिलैटीन, गोंद, टैलो आदि बनाई जाती हैं जिनकी आसानी से बिक्री हो जाती है।

(ई) पैकिंग मे—यदि कारखाना बड़ा हो, तो वह अपना एक पैकिंग विभाग अलग खोल सकता है और बाहरी पैक करने वालो की जेब में जाने वाले लाभ की बचत कर सकता है। वह पैकिंग मशीनों का भी प्रयोग कर सकता है और इससे और भी अधिक बचत हो सकती है। लपेटने वाले कागज, लेबिल और कार्ड के छापने मे भी बचत इसी प्रकार हो जाती है।

(उ) आफिस में—आफिस मे, जहाँ क्लर्क काम करते हैं, वहाँ भी बचत हो जाती है। यदि काम अधिक हुआ, तो क्लर्क विशेषज्ञ हो जाते हैं। विशेष बुद्धिमानी और चतुराई वाले क्लर्कों को जिम्मेदारी वाला काम सौंपा जा सकता है और कम होशियार क्लर्कों को जोड़ने, घटाने आदि का यान्त्रिक (mechanical) काम दिया जा सकता है। पिछले ढग का काम मशीनों द्वारा भी हो सकता है और इस काम के लिये मशीनें खरीदी या बनाई भी जा सकती हैं।

(३) वितरणात्मक खर्चे—वस्तु की बिक्री करने में जो खर्चा होता है वह वितरणात्मक खर्चा कहलाता है। निर्मित माल जब कारखाने से चलता है तब कई व्यक्तियों के हाथ से होता हुआ उपभोक्ता के पास पहुँचता है, और इनमें से प्रत्येक व्यक्ति माल की लागत में अपना पुरस्कार जोड़ देता है। यदि कारखाने का काम बड़े पैमाने पर हो तो वितरणात्मक खर्चों में बहुत बचत हो सकती है।

(अ) यातायात—हम सबसे पहले निर्मित पदार्थ के कारखाने से बाजार तक ले जाने की लागत को लेते हैं। यदि उत्पत्ति का पैमाना बड़ा है, तो माल की

मात्रा भी अधिक होगी और अधिक माल के यातायात के लिये रेल और जहाजी कम्पनियाँ सस्ता दर लगाती हैं। यदि किसी स्थान को बहुत बड़ी मात्रा में माल भेजा जाता है, तो कारखाने वाला स्वयं अपनी रेल की लाइन खोल सकता है और बचत कर सकता है।

(आ) एजेंट, यात्री, आदि —एजेंट, यात्री और विज्ञापन सम्बन्धी व्यय में भी इस प्रकार बचत हो सकती है। बड़े-बड़े कारखाने वाले विज्ञापन पर बहुत रुपया व्यय करते हैं, और वे संसार के कोने-कोने में बिक्री बढ़ाने के लिये यात्री, एजेंट आदि नियुक्त करते हैं। छोटे पैमाने पर काम करने वाला इतना व्यय नहीं कर पाता क्योंकि उसका लाभ सीमित होता है, और उसके पास इतनी अधिक पूँजी भी नहीं होती।

(इ) माँग की घट-बढ़ में कमी—बड़े कारखाने या व्यवसायिक इकाई पर माँग की घट-बढ़ का भी अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। बड़ा व्यवसायी अनुभवी और योग्य व्यक्तियों को नौकर रखता है जिनकी भावी बाजार सम्बन्धी भविष्यवाणी बहुधा सच निकलती है। बड़े फर्म का अध्यक्ष देख-रेख और साधारण संगठन का काम अपने सहायकों पर छोड़ देता है और अपना सारा समय व्यापारिक समस्याओं को दे सकता है। मार्शल ने सत्य कहा है कि एक बड़े व्यापारिक भवन का अध्यक्ष अपनी सारी शक्ति का उपयोग व्यापार की तात्विक और खास-खास समस्याओं के सुलझाने में कर सकता है, उसे इस बात का तो निश्चय अवश्य करना पड़ता है कि उसके मैनेजर, क्लार्क और फोरमैन अपने-अपने काम के अनुकूल व्यक्ति हैं और अपना-अपना काम भली भाँति कर रहे हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त उसे छोटी-मोटी बातों की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। वह अपना मस्तिष्क अपने व्यापार की सबसे कठिन और महत्त्वपूर्ण समस्याओं के सुलझाने के लिये, बाजार के उतार-चढ़ाव टटोलने के लिए, और अपने भवन के भीतरी और बाहरी संगठन में सुधार करने के लिए, ताजा और साफ रख सकता है।

§ २. बड़े पैमाने की उत्पत्ति की हानियाँ

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के इतने लाभ तो अवश्य हैं, पर उसकी कुछ हानियाँ भी हैं :

(१) यदि माँग का अनुमान गलत निकले और उत्पत्ति माँग से अधिक हो जाय तो बहुत हानि उठानी पड़ती है।

(२) स्वामी और सेवक का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं रहने पाता, अतः उनके हितों में संघर्ष होने लगता है। संगठित हड़तालें या तालाबन्दी राष्ट्रीय

उत्पादन और व्यापार के परिचालन में रह-रहकर बाधा उपस्थित करने लगते हैं।

(३) कुछ ऐसे भी व्यवसाय हैं जो बड़े पैमाने पर किये ही नहीं जा सकते। बीड़ी बनाना या कसीदा करने का काम इसी प्रकार का है।

§ ३. बड़े पैमाने की उत्पत्ति की सीमायें

व्यापार में बड़े पैमाने की उत्पत्ति की बचत का कितना लाभ उठाया जा सकता है, यह पैमाने के बड़ेपन पर निर्भर होता है। यह सामान्यतया कहा जा सकता है कि उत्पत्ति का पैमाना जितना बड़ा होगा, बचत उतनी ही अधिक होगी और प्रति इकाई लागत भी उतनी ही कम होगी। किन्तु कालान्तर में एक ऐसी सीमा आ जाती है कि यदि पैमाने को उससे अधिक बढ़ाया जाय तो बचत का लाभ नहीं होता। अन्य शब्दों में किसी सीमा के पश्चात् उत्पत्ति के पैमाने को बढ़ाना अनार्थिक (uneconomic) हो जाता है। यह सीमा व्यवसाय के स्वभाव, बाजार के स्वभाव तथा संगठन के स्वभाव द्वारा निर्धारित होती है। हम इन तीन बातों का नीचे वर्णन करते हैं :—

(१) व्यवसाय का स्वभाव—किसी-किसी व्यवसाय का स्वभाव ही ऐसा होता है कि बड़े पैमाने की उत्पत्ति उसके लिए पूर्णतया अनुपयुक्त होती है। इस प्रकार के व्यवसाय को छोटे पैमाने पर करने में ही लाभ है। (अ) कुछ व्यापार विशेष प्रकार की व्यक्तिगत कुशलता के आधार पर चलते हैं और उसका स्वपरिचालित यंत्र प्रतिस्थापन नहीं कर सकता। सिल्क बुनना, कसीदा काढ़ना और इसी प्रकार के बारीक काम इस स्वभाव के व्यापार के उदाहरण हैं। उन्हें छोटे पैमाने पर ही करना पड़ता है। (आ) जो व्यापार उपभोक्ता की व्यक्तिगत रुचि की संतुष्टि के आधार पर चलते हैं, उनको छोटे पैमाने पर ही चलाना होता है। दर्जी का पेशा इसी प्रकार का है। दर्जी को प्रत्येक ग्राहक की व्यक्तिगत रुचि की संतुष्टि करनी पड़ती है और उसकी सफलता इसी बात पर निर्भर होती है कि वह उन्हें कहाँ तक संतुष्ट कर सकता है। यदि वह अपने व्यापार का पैमाना बढ़ा दे तो वह प्रत्येक ग्राहक को यथोचित ध्यान नहीं दे पावेगा, और इसका परिणाम यह होगा कि कुछ व्यापारी उस दर्जी को छोड़ देंगे। (इ) जिन व्यापारों में अध्यक्ष को व्यक्तिगत देख-भाल करना आवश्यक होता है, वे भी छोटे ही पैमाने पर किये जाते हैं। उदाहरण के लिये, बहुत बारीक सूती कपड़े बम्बई की बड़ी-बड़ी मिलों में, जहां व्यक्तिगत ध्यान नहीं दिया जा सकता, वहाँ नहीं तैयार होता, वरन् यह अहमदाबाद और शोलापुर की छोटी-छोटी मिलों में उत्पन्न किया जाता है।

(२) बाजार का स्वभाव—पैमाने का बड़ापन कभी-कभी बाजार के स्वभाव—अर्थात् सीमा तथा स्थिरता—द्वारा भी निर्धारित होता है।

बड़े पैमाने की उत्पत्ति का अर्थ ही यह है कि उत्पन्न होने वाले माल की मात्रा बहुत अधिक होगी जिनकी बिक्री के लिये बड़े बाजार चाहिये। अतः, बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लिये बड़े बाजार अत्यावश्यक हैं। यदि किसी वस्तु का बाजार सीमित है तो उसको बड़े पैमाने पर उत्पन्न करने की कोई गलती नहीं करेगा क्योंकि ऐसी दशा में उत्पन्न किया हुआ सारा सामान नहीं बिक सकता। उदाहरण के लिये, बम्बई की बड़ी-बड़ी सूती कपड़े की मिलें इसी कारण इतनी बड़ी मात्रा में कपड़ा तैयार करती हैं कि उनका बाजार बहुत बड़ा है। किन्तु बम्बई शहर के आस-पास के काछी साग-भाजी छोटे पैमाने पर उत्पन्न करते हैं क्योंकि साग-भाजी का बाजार स्थान, ग्राहक तथा समय के हिसाब से सीमित है—साग भाजी केवल बम्बई में, शहर में सामान खरीदने वालों ही को प्रायः एक ही दिन में बेचनी पड़ती है, अन्यथा उसके सड़ने-गलने का डर होता है।

बाजार के विस्तार के अतिरिक्त, उसकी स्थिरता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। यदि किसी वस्तु की माँग लगातार और निश्चित न हो—अन्य शब्दों में, यदि उसकी माँग कभी बहुत अधिक और कभी बहुत कम हो—तो उसके उत्पन्न करने के लिये बड़े-बड़े कारखाने खड़े करना भूल होगी।

(३) सङ्गठन का स्वभाव—सगठन की कार्यक्षमता भी उत्पत्ति के पैमाने की सीमा निर्धारित करती है। बड़े पैमाने की यह सबसे महत्वपूर्ण सीमा है। मनुष्य की सगठन-सम्बन्धी कार्यक्षमता सीमित होती है, अतः वह किसी खास पैमाने के व्यापार का ही भली भाँति प्रबन्ध कर सकता है। यदि व्यापार का पैमाना इस सीमा से अधिक कर दिया जाय, तो संगठनकर्ता की कार्यक्षमता का ह्रास होगा और उत्पादन अनार्थिक हो जायगी।

§ ४. छोटे पैमाने की उत्पत्ति

जब उत्पत्ति के साधनों की थोड़ी-थोड़ी मात्रा से उत्पत्ति की जाती है, तब उत्पत्ति का पैमाना छोटा कहलाता है। आधुनिक काल में उत्पत्ति बड़े पैमाने पर करने की प्रवृत्ति दृढ़ होती जा रही है, किन्तु फिर भी छोटे पैमाने की उत्पत्ति साथ ही साथ चल रही है।

छोटे पैमाने के चलते रहने के दो प्रमुख कारण हैं : (१) कुछ पेशों की छोटे पैमाने के लिये उपयुक्तता, और (२) छोटे पैमाने के लाभ।

(१) पेशों की उपयुक्तता

निम्नलिखित व्यवसाय छोटे पैमाने पर ही किये जाते हैं :

(अ) वे पेशे जिनमें व्यक्तिगत कुशलता और ध्यान की आवश्यकता पड़ती है जैसे दर्जी का पेशा।

(आ) हाथ के कारीगरो का काम, जिनमे ऊँची श्रेणी की कला की आवश्यकता होती है, छोटे पैमाने पर किया जाता है।

(इ) कुछ वस्तुओं के बाजार ही विस्तृत नहीं होते जैसे बीड़ी बनाने का काम। ये छोटे पैमाने पर ही तैयार की जाती हैं।

(ई) कुछ पेशे स्वभाव से ही ऐसे होते हैं कि उनको बड़े पैमाने पर किया ही नहीं जा सकता।

(उ) उद्योगों को प्रयोगावस्था में छोटे पैमाने पर ही चलाया जाता है।

(ऊ) हाथ के कारीगर, जो स्वतन्त्र रहना चाहते हैं, छोटे पैमाने पर काम करते हैं।

(२)-छोटे पैमाने के लाभ

छोटे पैमाने की उत्पत्ति के निम्नलिखित लाभ हैं :

(अ) निर्माण-शाला का मास्टर सब बातें ध्यान में रखता है। उसके फोरमैन या कारीगर लापरवाही नहीं कर सकते।

(आ) इसमें हिसाब किताब और मुनीमी की कमी हो जाती है और बड़े पैमाने के व्यवसायिक भवन में जो जाँच-पड़ताल आदि की प्रणाली रखनी पड़ती है उसका रखना आवश्यक नहीं।

(इ) मास्टर और श्रमिको का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ होता है, और हड़ताल या तालाबन्दी के अवसर बहुत कम आते हैं।

छोटे पैमाने की उत्पत्ति की सबसे बड़ी हानि यह है कि बड़े पैमाने की जितनी भी वाह्य और आभ्यंतरिक बचत होती है, उनका लाभ नहीं उठाया जा सकता। दूसरे, यदि वस्तु किसी स्टन्डर्ड किस्म की है और उसे बड़ी मात्रा में उत्पन्न करना हो तब छोटा पैमाना उपयुक्त नहीं होता। अन्य शब्दों में, छोटा पैमाना बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के योग्य नहीं।

किन्तु छोटे पैमाने के बहुत से दोष अब कई कारणों से दूर किये जा चुके हैं। पहले, वाह्य बचत का महत्त्व अब दिन प्रति दिन बढ़ता जाता है, और छोटे पैमाने का उत्पादक उनसे लाभ उठाता है। दूसरे, अन्वेषण तथा उत्पत्ति की नई रीतियों के जो लाभ अब तक बड़े-बड़े उत्पादकों को ही प्राप्य थे, वे अब छोटे-छोटे उत्पादकों को भी प्राप्त होने लगे। समाचार-पत्र तथा व्यापारिक और टैक्नीकल

पुस्तकें उसके स्काउट का काम किया करती हैं और व्यापार के सारे पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान उसे पहुँचाती रहती है। अन्त में, छोटे पैमाने के उत्पादकों के लिये छोटी-छोटी मशीनें भी बनने लगी हैं, जिन्हें बिजली से चलाया जा सकता है। इन सब बातों ने छोटे उत्पादक की अवस्था बहुत सुधारा है और उन्हें नया जीवन प्रदान किया है।

अभ्यास के प्रश्न

१. बड़े पैमाने की उत्पत्ति से आप क्या अर्थ समझते हैं?

२. बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ तथा हानियाँ क्या हैं?

३. 'छोटे पैमाने की उत्पत्ति से लाभ भी हैं और हानियाँ भी हैं।' इस कथन की छोटे पैमाने की उत्पत्ति के लाभ तथा हानियों के संदर्भ में विवेचना कीजिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. बाह्य और आभ्यन्तरिक मितव्ययता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४७)

२. बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ बतलाइये। आपके मत में उत्तर प्रदेश में कौन से बड़े पैमाने के उद्योग चलाये जा सकते हैं? (१९४५)

३. आभ्यन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययता के अन्तर स्पष्ट कीजिये। वे कारखानों में उपज को किस प्रकार क्रमशः बढ़ाते हैं? (१९४०)

४. बड़े पैमाने की उत्पत्ति के क्या लाभ होते हैं? इसकी क्या सीमाएँ हैं? (१९३५)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

५. बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ बतलाइये। (१९४१)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

6 What are the limitations to large-scale production? Illustrate your answer with reference to agriculture. (1943)

7. Comment upon the merits and drawbacks of large-scale production. (1942)

8. Indicate the chief economies that an entrepreneur can obtain from internal resources in an industry.

To what degree is he dependent upon external economies for the conduct of his enterprise? Explain. (1942)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

9 What are the advantages and limitations of large-scale production? (1948)

10 Write a short note on large business and small business (1947)

11 How does agriculture come to be carried on all the world over generally on a small scale? (1945)

पटना, इन्टर कामर्स

12. Describe the advantage of large-scale production (1947 Supp)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

13 Under what conditions can a producer produce the maximum amount of a commodity at a minimum cost? (1949)

14 Write a short note on large business and small business (1947)

15. Write a short note on Territorial Division of Labour (1945)

नागपुर, इन्टर कामर्स

१६. बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ तथा हानियाँ बतलाइये। इस प्रकार की उत्पत्ति के दोषों को दूर करने के लिये कौन से नियम आवश्यक हैं? (१९४८)

१७. बड़े व्यापार तथा लघु व्यापार पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये (१९४७)

१८. श्रम-विभाजन तथा बड़े पैमाने की उत्पत्ति के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए। उदाहरण प्रस्तुत कीजिए। (१९४६)

सागर, इन्टर कामर्स

19 Explain the relation between division of labour and large-scale production Give examples (1948)

अध्याय ४२

व्यावसायिक संगठन के स्वरूप

यदि हम अपने चारों ओर व्यापारिक भवनों पर दृष्टि डालें तो हमें प्रतीत होगा कि वे विभिन्न रूपों में सगठित हुए हैं। कुछ तो ऐसे हैं कि जिनके अकेले व्यक्ति ही स्वामी हैं और जिनका वे स्वय ही प्रबन्ध भी करते हैं। कुछ साझे के फर्म हैं। कुछ सयुक्त पूँजी की कम्पनियाँ होती हैं। कुछ सहकारी समितियाँ भी होती हैं। व्यावसायिक सगठनों के इन समस्त स्वरूपों के स्वभाव तथा आवश्यक लक्षणों से परिचित होना आवश्यक है। सावधानी से देखने पर प्रतीत होगा कि बड़े पैमाने की उत्पत्ति की लोकप्रियता बढ़ने का परिणाम यह हुआ है कि एकाकी व्यापारी (sole trader) का महत्त्व कम हो रहा है, साझेदारी फर्म पहले की अपेक्षा कम हो चले हैं और सयुक्त पू जी की कम्पनियाँ आजकल के व्यापारिक भवनों के सगठन का प्रतिनिधित्व करने लगी हैं।[१]

§ १. एकाकी व्यापारी

जब किसी व्यापारिक भवन का एक ही व्यक्ति स्वामी तथा प्रबन्धक होता है, तब उस व्यापारी को एकाकी व्यापारी कहते हैं। यदि व्यापार में लाभ होता है, तो वह सब का सब अकेले उसी को मिलता है, और यदि नुकसान होता है, तो वह अकेला उसका भागी होता है। वही अपने व्यापार का प्रबन्धक भी होता है। अन्य शब्दों में, सारे व्यापार की वही धुरी होता है।

एकाकी व्यापारिक भवन व्यावसायिक सगठन का सबसे प्रारम्भिक तथा सबसे सरल स्वरूप है। आजकल भी यह बहुत विस्तृत और लोकप्रिय स्वरूप है। किन्तु उत्पत्ति के पैमाने के बढ़ जाने से अब इसका महत्त्व कम हो रहा है। यह फुटकर बिक्री, कृषि और डाक्टरो और वकीलों के पेशे तथा अन्य ऐसे ही व्यवसायों में अब भी प्रचलित है। जिस व्यवसाय मे उत्पादक और उपभोक्ता का व्यक्तिगत सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण होता है, इनके लिए एकाकी व्यापारी प्रणाली बहुत उपयुक्त होती है।

---

१ विस्तृत विवरण के लिये देखिये अमरनारायण अग्रवाल, व्यापारिक पद्धति और यंत्र, खण्ड १।

इस प्रणाली के अनेक गुण हैं। इसके स्थापित करने में कुछ भी कठिनता नहीं होती : जो भी व्यक्ति एकाकी व्यापारी के रूप में काम करना चाहता है वह व्यापार जब जी चाहे चला सकता है। इसके अतिरिक्त, एकाकी व्यापारी को परिश्रम और चतुराई से काम करने के लिए प्रोत्साहन भी बहुत होता है क्योंकि जितना भी व्यापार में लाभ होता है वह मालिक को ही मिलता है। फिर, इस प्रणाली के अंतर्गत किसी भी विषय का निर्णय शीघ्र होता है क्योंकि एकाकी व्यापारी को किसी दूसरे व्यक्ति की राय या सम्मति लेने की कोई खास आवश्यकता नहीं।

इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि एकाकी व्यापारी का उत्तरदायित्व (liability) अपरिमित होता है , अन्य शब्दों में, उसके व्यापारिक ऋण या हानि का भुगतान केवल व्यापार मे लगाई गई पूँजी से ही नहीं प्रत्युत उसकी सारी सम्पत्ति से भी हो सकता है। इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि इसके अन्तर्गत उत्पत्ति या व्यापार का पैमाना छोटा रहता है क्योंकि एक व्यक्ति के अपने निजी साधन सीमित होते हैं। तीसरी बात यह है कि साझेदारी या कम्पनी के साधन अधिक होने के कारण वे विशेषज्ञों की सम्मति एव सहायता का लाभ उठा सकते हैं जो कि एकाकी व्यापारिक प्रणाली में सदैव सम्भव नहीं।

§ २. साझेदारी

जब किसी व्यापार मे एक व्यक्ति के पास जितने साधन हैं उनसे अधिव साधनों की आवश्यकता होती है, तब दो या तीन या उनसे अधिक सख्या में कुछ व्यक्ति मिलकर साझे का फर्म स्थापित करते हैं। भारतीय साझेदारी विधान स १९३२ के शब्दों में, साझेदारी उन व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध है जो वि उस व्यवसाय के लाभ को, जिसे वे सब या उनमे से सब के लिये कुछ करते हैं, बाँटने को सहमत होते हैं। साधारण साझेदारी में साझेदारों व अधिकतम सख्या २० हो सकती है और बैंकिंग फर्म में १०। साधारणतया साझेदा का उत्तरदायित्व अपरिमित होता है, जैसा कि एकाकी व्यापारी के विषय में भ होता है, यद्यपि कुछ साझेदारों का उत्तरदायित्व, स्पष्ट सम्मति से, परिमित भी ह सकता है। फर्म के समस्त ऋण के लिये साझेदार व्यक्तिगत और सामूहिक रूप उत्तरदायी होते हैं।

व्यावसायिक सगठन का यह स्वरूप अब इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा जित कि वह कुछ काल पूव था। यह फुटकर व्यापार तथा साधारण साइज के व्यापा

में अब भी प्रचलित है। कभी-कभी छोटे-छोटे कारखाने भी साझेदारी के आधार पर स्थापित किये जाते हैं।

साझेदारी के बहुत से लाभ हैं। यह आसानी से स्थापित किया जा सकता है, यद्यपि कि यह आसानी एकाकी व्यापारी प्रणाली में अधिक होती है। व्यवसाय को सफल बनाने के लिये परिश्रम करने की प्रेरणा भी साझेदारी में काफी होती है। "अपरिमित उत्तरदायित्व-जन्य जोखिम इतनी अधिक होता है, साझेदारों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना सीधा होता है कि उत्पत्ति की प्रेरणा बलपूर्वक क्रियाशील रहती है।" इसके अतिरिक्त, एक से अधिक व्यक्तियों के साधन प्राप्त होने के कारण उत्पत्ति का पैमाना भी काफी बड़ा हो जाता है। एकाकी व्यापारी की अपेक्षा साझेदार फर्म को पूँजी, कुशलता और व्यापारिक योग्यता अधिक मात्रा में प्राप्त होती हैं। कई साझेदारों और उनके साधनों के प्राप्त होने के कारण श्रम का वितरण तथा विशिष्टीकरण भी सम्भव हो जाता है।

साझेदारी में कुछ दोष भी हैं। यद्यपि फर्म के पास एकाकी व्यापारी की अपेक्षा अधिक पूँजी होती है, यह इतनी अधिक नहीं होती कि बड़े-बड़े कारखाने या यातायात के बड़े साधन, जो कि आधुनिक बड़े पैमाने के व्यवसायों के प्रतिनिधि माने जाते हैं, चलाये जा सकें। अपरिमित उत्तरदायित्व भी एक बड़ी कमी है, क्योंकि इससे जोखिम बहुत बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त, साझेदारी का जीवन बहुत अनिश्चित होता है और यह कभी भी समाप्त की जा सकती है। व्यक्तिगत झगड़ा या किसी साझेदार का पागलपन या मृत्यु या दिवाला फर्म की इति-श्री कर सकता है।

§ ३. संयुक्त पूँजी की कम्पनियाँ

व्यवसाय का पैमाना बड़ा करने के लिये साझेदारी से भी अधिक संख्या में व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ जाती है। व्यक्तियों के इस प्रकार के समुदाय को, जो लाभ के लिये व्यापार करने की दृष्टि से स्थापित किया जाता है, 'संयुक्त पूँजी की कम्पनी' कहते हैं। भारतीय कम्पनी विधान के अनुसार बैंकिङ्ग व्यवसाय करने के लिये बनायी गई १० व्यक्तियों से अधिक की प्रत्येक समिति और अन्य किसी व्यवसाय के लिये बनाई गई २० व्यक्तियों से अधिक की प्रत्येक समिति को संयुक्त पूँजी की कम्पनी समझा जायगा।

कम्पनी के लक्षण

संयुक्त पूँजी की कम्पनी के कुछ स्पष्ट लक्षण होते हैं। इनका वर्णन नीचे किया जाता है :

(१) कम्पनी की पूँजी स्टाक और शेयरों में बँटी होती है। स्टाक के बहुत से व्यक्ति सामूहिक या संयुक्त रूप में स्वामी होते हैं। इसीलिये इसे संयुक्त पूँजी की कम्पनी कहा जाता है।

(२) कम्पनी के शेयर हस्तांतरणीय (transferable) होते हैं। यदि किसी व्यक्ति के पास टाटा कम्पनी या इलाहाबाद बैंक के शेयर हों, तो वह अपनी इच्छानुकूल उन्हें किसी दूसरे व्यक्ति को हस्तांतरित कर सकता है।

(३) सदस्यों का उत्तरदायित्व शेयरों के अंकित मूल्य (face value) तक परिमित होता है। यदि आप १०० रु० का कोई एक शेयर खरीद लें, तो उससे अधिक से अधिक १०० रु० ही माँगा जा सकता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये कम्पनी के नाम के आगे Limited या Ltd शब्द अनिवार्य रूप से जोड़ना पड़ता है।

कम्पनी की पूँजी

कम्पनी की पूँजी कई प्रकार की होती है और उनका विवेचन करना आवश्यक है। वह अधिकतम पूँजी जो कि कम्पनी शेयर बेचकर एकत्रित कर सकती है प्राधिकृत पूँजी (authorised capital) कहलाती है। साधारणतया प्राधिकृत पूँजी का केवल एक भाग ही जनता को चन्दे के लिये निर्गमित (issue) किया जाता है, और शेष को बाद में आवश्यकता पड़ने पर निर्गमित करते हैं। प्राधिकृत पूँजी का वह भाग जिसे जनता को चंदे के लिये निर्गमित किया जाता है, निर्गमित पूँजी (issued capital) कहलाता है। निर्गमित पूँजी का वह भाग जिसके लिये जनता से चन्दा आता है प्रार्थित पूँजी (subscribed capital) कहलाता है। शेयरहोल्डरों से कभी-कभी शेयरों का कुल मूल्य वसूल कर लिया जाता है और कभी-कभी थोड़ा-सा। प्रार्थित पूँजी के उस भाग को, जिसे शेयरहोल्डरों से माँगा जाता है, माँगी हुई पूँजी या आहूत पूँजी (called-up capital) कहते हैं (और शेष को अनाहूत पूँजी कहते हैं)। आहूत पूँजी का वह भाग जिसे शेयर होल्डर वास्तव में अदा कर देते हैं, परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) कहलाता

प्रबंध

कम्पनी की पूँजी बहुत से शेयरों में विभाजित होती है। शेयर खरीदने वाला व्यक्ति कम्पनी का एक सदस्य या एक स्वामी हो जाता है। साधारणतया कम्पनी के स्वामियों की संख्या काफी अधिक होती है। ऐसी दशा में यदि वे सब के सब कम्पनी का प्रबंध करना चाहें तो यह असम्भव है। प्रबंध सबसे अच्छी तरह तब हो

सकता है जब कि वह थोडे-से ही उपयुक्त व्यक्तियों के हाथ में सौंपा दिया जाय। इसलिये शेयरहोल्डर आपस में से थोडे से व्यक्तियों को चुन लेते हैं, जो कि कम्पनी की सामान्य नीति का संचालन करते हैं। बहुधा इस नीति का शेयरहोल्डर ही आम सभा में निश्चय कर लेते हैं। ऐसे चुने हुये व्यक्तियों को डाइरेक्टर (Director) या सञ्चालक कहते हैं ; और उन सब को सामूहिक रूप से डाइरेक्टरों का बोर्ड कहा जाता है। प्रबंध और शासन का कार्य दिन प्रति दिन मैनेजर करता है। कभी-कभी एक डाइरेक्टर को ही मैनेजर बना दिया जाता है : उसे प्रबंध सञ्चालक या मैनेजिंग डाइरेक्टर (Managing Director) कहते हैं।

गुण और दोष

संयुक्त पूँजी की कम्पनी के बहुत-से लाभ हैं। बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी का एकत्रित होना कम्पनी में ही सम्भव है। जब मनुष्य यह जानता है कि उसका उत्तरदायित्व परिमित होगा और कम्पनी के काम से असंतुष्ट होने पर उसे शेयर बेचने का पूरा अधिकार है, तब वह कम्पनी के शेयर आसानी से खरीद लेता है। यह परिमित उत्तरदायित्व एवं शेयरों के हस्तांतरण के सिद्धान्तों का ही परिणाम है कि आजकल टाटा स्टील कम्पनी, स्वेज नहर, बिजली कम्पनियाँ आदि हमें दीख पड़ती हैं। दूसरी बात यह है कि कम्पनी के साधन अधिक होने के कारण वह दुर्लभ कुशलता, असाधारण योग्यता और विशिष्ट सम्मति से लाभ उठा सकती है। इसके अतिरिक्त, कम्पनी बड़ी संख्या में श्रमिक, विशेषज्ञ तथा टैक्नीशियनों को नौकर रखती है, इस कारण श्रम-विभाजन बड़ी सीमा तक किया जा सकता है। फिर, कम्पनी का जीवन बहुत बड़ा होता है क्योंकि असंतुष्ट शेयरहोल्डर अपना शेयर बेचकर कम्पनी से अलग हो सकता है। यदि कोई एक शेयरहोल्डर पागल या दिवालिया हो जाय या मर जाय, तो इसका कम्पनी पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

संयुक्त पूँजी की कम्पनी के कई दोष भी हैं : (१) कम्पनी के स्थापित करने में कठिनाइयाँ होती हैं और बहुत सी कानूनी बातें करना अनिवार्य होता (२) परिश्रम करने और सच्चे दिल से काम करने की प्रेरणा प्रायः अशक्त होती है। (३) व्यापारिक मामलों को शीघ्र निर्णय नहीं किया जा सकता क्योंकि कई व्यक्तियों से पूँछ-ताँछ करना और उन्हें सहमत करना अनिवार्य होता है। (४) कम्पनी का प्रबन्ध उसके स्वामी नहीं करते, यह काम वेतन पाने वाले मैनेजर को सौंप दिया जाता है। प्रबन्ध के परोक्ष होने के कारण अकुशलता या बर्बादी (waste) की आशंका बनी रहती है। (५) कम्पनी में प्रबन्धकर्ता और

जोखिम झेलने वाले प्रायः अलग-अलग होते हैं। अतः, कभी-कभी प्रबन्धकर्ता कम्पनी के हित के मूल्य पर अपने हित को बढ़ाने की चेष्टा करने लगते हैं।

किन्तु यह सब दोष थोड़े-से ही हैं। कम्पनी के लाभ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में, आधुनिक काल की आर्थिक, व्यावसायिक एवं औद्योगिक उन्नति बहुत-कुछ व्यावसायिक संगठन के इसी स्वरूप का परिणाम है।

§ ४. संघ (Combination)

बड़े पैमाने की उत्पत्ति तथा तीक्ष्ण स्पर्द्धा के वर्तमान युग में, कभी-कभी व्यापारिक इकाइयाँ एक दूसरे से मिल जाती हैं और संघ बना लेती । संघ या तो बड़े पैमाने की उत्पत्ति की बचत का लाभ उठाने के लिये बनाये जाते हैं या स्पर्द्धा करने वाले व्यापारिक भवनों के बीच की स्पर्द्धा का लोप करने के लिये स्थापित किये जाते हैं। संघों के विभिन्न स्वरूप होते हैं और उनको विभिन्न नाम से पुकारा जाता है जैसे होल्डिङ्ग कम्पनी, सिंडीकेट, कार्टेल और ट्रस्ट। संघ एकाधिकार (Monopoly) को जन्म देते हैं।

§ ५. सहकारिता (Co-operation)

व्यावसायिक संगठन का दूसरा स्वरूप, जिसकी आजकल बहुत उन्नति हो रही है, सहकारी समिति है। सहकारी समिति आर्थिक संगठन का वह विशेष रूप है जिसमें मनुष्य एक निश्चित व्यापारिक उद्देश्य के लिये निश्चित व्यापारिक नियमों के अनुकूल काम करते हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य मध्यस्थों का लोप करना है। उन मध्यस्थों का जो उपभोक्ताओं और उत्पादकों के मूल्य पर मोटे होते हैं। सहकारिता के तीन भेद होते हैं।

(१) उत्पादकों की सहकारिता—इस प्रणाली के अंतर्गत श्रमिक मिलकर अपने निजी हानि-लाभ के लिये माल उत्पन्न करते हैं। साधारणतया जो लाभ पूँजीपति की जेब में जाता है, वह श्रमिकों को मिल जाता है।

(२) उपभोक्ताओं की या वितरणात्मक सहकारिता—इस प्रणाली के अंतर्गत उपभोक्ता एक सहकारिता समिति स्थापित, इस उद्देश्य से कर लेते हैं कि उनके आवश्यक पदार्थ इकट्ठे थोक दरों पर खरीदे जा सकें। सहकारी स्टोर अपने सदस्यों को वस्तुएँ साधारण मूल्यों पर बेचता है किन्तु बाद को जितना भी लाभ होता है वह क्रेताओं में उनकी खरीदारी के अनुपात में बाँट दिया जाता है।

(३) ऋण की सहकारिता—ऋण सहकारी समिति अपने सदस्यों को सस्ती

ब्याज की दर पर ऋण देती है। उनका कोष रुपया जमा करके और उधार लेकर प्राप्त होता है, और ऋण निश्चित उद्देश्यों के लिये दिया जाता है।

§ ६. लाभ-बटाई (Profit-Sharing)

आधुनिक काल में पूँजीपति और श्रमिकों के वैमनस्य ने भयानक रूप धारण कर लिया है, और हड़ताल तथा तालेबन्दी आये दिन होती हैं। श्रमिकों की यह धारणा है कि पूँजीपति उन्हें पर्याप्त मजदूरी नहीं देते, जो उनकी (श्रमिकों की) मिहनत से धन उत्पन्न होता है, उसका एक बड़ा भाग वे स्वयं लाभ के रूप में खा जाते हैं। कुछ पूँजीपति मजदूरों की इस उक्ति को स्वीकार कर लेते हैं और व्यवसाय के लाभ का एक भाग श्रमिकों में बाँटने के लिये सहमत हो जाते हैं। इसे लाभ-बटाई योजना कहते हैं। लाभ-बटाई स्वतंत्रतापूर्वक किया गया वह राजीनामा है जिसके अनुसार श्रमिक पूर्व-निश्चित अनुपात में उस व्यवसाय के लाभ को, जिसमें वह काम करता है, प्राप्त करता है। उसे लाभ का भाग मजदूरी के अतिरिक्त मिलता है और बोनस (Bonus) या अधिलाभांश कहलाता है।

अभ्यास के प्रश्न

१. एकाकी व्यावसायिक प्रणालिका का स्वभाव क्या है? इसके लाभ तथा हानियाँ क्या हैं?

२. 'साझेदारी' पर कुछ निबन्ध लिखिये।

३. संयुक्त पूँजी की कंपनियों की विशेषतायें क्या हैं? इनके लाभ तथा हानियों की विवेचना कीजिये।

४. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये: (१) सहकारिता और (२) लाभ-बटाई।

परीक्षा-प्रश्न

संयुक्त प्रान्त, इन्टर आर्ट्स

१. साझे पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४४)

२. "असीमित उत्तरदायित्व के सिद्धान्त" पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४८)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

3. Write a short note on Limited Liability Company. (1948)

पटना, इन्टर आर्ट्स

4. Describe the organization of a joint stock company.

How do you explain the popularity of joint stock companies? (1949)

5. What do you mean by Limited Liability? What advantage does this give to a joint stock company over a partnership business? (1947 Supp)

सागर, इंटर आर्ट्स

6. Write a short note on joint-stock company. (1949 Supp)

7. Describe the characteristics of a joint stock company. Give its advantages (1948)

सूचना

सहकारिता (उपभोक्ता सहकारिता के सहित) का पुस्तक ४, अध्याय ५५, में अध्ययन किया गया है।

अध्याय ४३

भारतवर्ष में उत्पत्ति का स्वभाव और उसकी समस्यायें

अब हम अपने देश की उत्पत्ति के स्वभाव, विस्तार और महत्त्वपूर्ण लक्षणों का विवेचन करेंगे। उत्पत्ति का स्वभाव इस देश में किये जाने वाले विभिन्न पेशों के सापेक्षिक महत्त्व के अध्ययन से जाना जा सकता है : नीचे की सारिणी में सन १९३१ की जनसंख्या के अनुसार इस बात पर प्रकाश डाला गया है।

पेशा	कुल जन-संख्या का प्रतिशत
खेती ...	६७
उद्योग .	१०
घरेलू नौकर	७
व्यापार	५
यातायात	२
अन्य पेशे ...	६
	१००

इस सारिणी से स्पष्ट है कि भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। जनसंख्या का ६७% भाग कृषि पर निर्भर है। औद्योगिक व्यवसायों में केवल १०% जनसंख्या लगी हुई है। व्यापार में ५% जनसंख्या और यातायात में २% जनसंख्या संलग्न है। अतः हमारे देशवासियों के लिये आमदनी के प्रधान साधन इस क्रम में हैं : खेती, उद्योग, व्यापार और यातायात।

§ १. कृषि[1]

संसार में भारतवर्ष ही एक ऐसा सभ्य देश है जिसकी जनसंख्या का इतना बड़ा भाग कृषि पर निर्भर है। केवल एक ही पेशे पर इतनी अधिक निर्भरता—और वह भी ऐसे पेशे पर जिसकी सफलता प्रकृति की चंचलता पर निर्भर होती है—हमारी आर्थिक प्रणाली की सबसे बड़ी कमजोरी है। जब भी वर्षा कम होती नहीं होती, तभी अकाल आ जाता है, सहस्रों व्यक्ति बेकार हो जाते हैं और खाद्य-सामग्री क्रय करने के लिये उनके पास रुपये-पैसे का अभाव हो जाता है। समय-समय पर अकालों के कारण और परिशोध के विषय में छान-बीन करने के लिये जितने भी अकाल कमीशन बैठाये गये हैं, उन सब ने यही बताया के अकाल के समय विस्तृत संकट होने का प्रधान कारण उद्योगों की कमी है और शीघ्र उद्योगीकरण उसका निवारण है।

अतः भारतीय आर्थिक प्रणाली के तराजू का खेती वाला पलड़ा बहुत

---

१ इस ग्रंथ का ३०वाँ अध्याय, भारतवर्ष की कृषि सम्पत्ति, भी देखिये।

भारी है। यह पेशेवार असंतुलन भी हमारे लिए इतना हानिकारक न होता यदि हमारी खेती इतनी पिछड़ी न होती। यदि हम विभिन्न फसलों की अपेक्षा अपने देश की प्रति, एकड़ पैदावार अन्य देशों से मिलायें, तो हमें पता चलेगा कि हम कितने पिछड़े हुए हैं। भारतीय कृषि की कार्यक्षमता को जांचने के लिए हम चाहे किसी भी कसौटी को क्यों न लें, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। जब तक देश के इस प्रधान पेशे के सारे दोषों का निवारण नहीं होता, तब तक हमारे देश-वासी निश्चय ही निर्धन बने रहेंगे।

भारतीय कृषि के पिछड़े होने के कारण

भारतीय कृषि के पिछड़े होने के कुछ कारण प्राकृतिक हैं और कुछ मानवीय। प्राकृतिक कारण के उदाहरण हैं वर्षा का न होना, प्रतिकूल जलवायु, पेड़ों के रोगों का फैलना, चूहों, टिड्डियों आदि का प्रकोप, आदि। सरकार के विभिन्न विभागों ने इन प्राकृतिक कारणों पर कुछ अंश तक अधिकार पा लिया है और अब इनकी भीषणता कम हो चली है। अब भारतीय कृषि के पिछड़े होने के ये इतने महत्त्वपूर्ण कारण नहीं रहे।

अब हम मानवीय कारणों का वर्णन करेंगे।

पहले हम भूमि को लें। कृषि की सफलता कुछ सीमा तक उस भूमि के क्षेत्रफल पर निर्भर होती है जिसे किसान जोतता है। भारतवर्ष में यह क्षेत्रफल बहुत कम है। फिर यह छोटा-सा क्षेत्रफल कई छोटे-छोटे खेतों में बँटा होता है जो एक दूसरे से काफी दूरी पर स्थित होते हैं। अतः यन्त्रों का प्रयोग और कुएँ, घेरे आदि का बनाना अनार्थिक हो जाता है, और एक खेत से दूसरे खेत को जाने में बहुत-सा श्रम, समय और शक्ति बर्बाद होती है। इसके अतिरिक्त, भूमि पर स्थाई सुधार दिखाई ही नहीं देते। बहुत दूरी तक खेतों पर मानवीय हाथों का कुछ भी काम नहीं दीख पड़ता. खेतों में पानी नहीं होता, उन पर बाड़ा नहीं होता और मनुष्य और पशुओं के लिये कोई झोंपड़ा आदि नहीं होता। हमारे देश में प्रकृति की चंचलता और बढ़ती हुई जन संख्या के भरण-पोषण के लिये दो फसलों की आवश्यकता के कारण सिंचाई का महत्त्व बहुत अधिक है, किन्तु उसका भी कोई सन्तोषप्रद प्रबन्ध नहीं। दोषयुक्त जमीन के पट्टे (tenure) की प्रणाली भी चिन्ता का विषय है

कृषि श्रम सम्बन्धी कारण भी महत्त्वपूर्ण हैं। निर्धनता, अज्ञानता तथा जन-स्वास्थ्य की उपेक्षा के कारण किसानों में शारीरिक अशक्ति होती है और वे कार्य-कुशल नहीं हो पाते। अनुपस्थित जमींदारवाद खूब प्रचलित है और उसके भी भयानक दुष्परिणाम होते हैं।

खेती की दीनता और किसानों के दुर्भाग्य का एक और कारण है पूँजी—स्थिर, कार्यशील और सुरक्षित पूँजी—का अभाव। किसान की सबसे महत्वपूर्ण पूँजी गाय, बैल हैं जो संख्या में तो बहुत अधिक हैं पर वैसे बहुत अशक्त और अकुशल होते हैं।

जहाँ तक संगठन का सम्बन्ध है, वहाँ हमें कमी विशेष रूप से खटकती है। बिक्री के साधन अपर्याप्त और असंतोषप्रद हैं, और ग्रामीण उद्योग, जो किसानों को वैकल्पिक और सहायक पेशे प्रदान करते हैं, अविकसित हैं। कृषि के विभिन्न विभागों और रीतियों में टैक्निकल सुधारों की बहुत आवश्यकता है। यदि भारतीय खेती के दोषों की पूरी सूची तैयार की जाय, तो वह बहुत लम्बी होगी। खेती के समस्त दोषों के जानने और उनके निवारण करने की अब सच्चे हृदय से चेष्टा की जा रही है।

§ २. कारखाने वाले उद्योग

निर्माण उद्योग (manufacturing industries) भारतवासियों के १० प्रतिशत भाग को काम देते हैं। निर्माण उद्योगों को दो भागों में बाँटा जा सकता है: (१) कारखाने वाले उद्योग, अर्थात् वे उद्योग जो कारखानों के रूप में संगठित होते हैं और जिनमें शक्ति संचालित यंत्र काम में लाये जाते हैं, और (२) घरेलू उद्योग। हमारे देश में हाल में ही, विशेषतया पहले महायुद्ध के पश्चात् कारखाने वाले उद्योगों ने बहुत उन्नति की है। सूती कपड़ों की मिलें, सन की मिलें, चीनी के कारखाने, सीमेंट के कारखाने, काँच के कारखाने, कागज की मिलें आदि अब चारों ओर दीख पड़ती हैं। किन्तु इतनी उन्नति होने पर भी कारखाने वाले उद्योग हमारे देश के केवल ०.६% व्यक्तियों को काम देते हैं। किन्तु उनका भविष्य उज्ज्वल है और उनकी जिस गति से उन्नति हो रही है वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण। अब यह माना जाने लगा है कि देश का आर्थिक कल्याण इसी में है कि हमारी औद्योगिक उन्नति शीघ्रतापूर्वक सम्पन्न की जाय, अतः औद्योगिक विकास अवश्य होगा, यह निश्चित है। भारतवर्ष के स्वतंत्र होने से अब इस विकास के मार्ग में जो बाधायें थीं, वे भी हट रही हैं।

§ ३. घरेलू उद्योग

कारखानों के अतिरिक्त निर्माण का काम कारीगरों के घरों से सटी हुई छोटी-छोटी निर्माण-शालाओं (workshops) में भी होता है, जिनमें कारीगर अकेले ही, या एक या दो शिष्यों के साथ, काम करते हैं। इन्हें घरेलू उद्योग कहा जाता

है। सकीर्ण अर्थ में, घरेलू उद्योगों से आशय उन उद्योगों से है जो कारीगरो के घरों में ही किये जाते हैं। निर्माण-शालाओं में किये जाने वाले उद्योग 'निर्माण-शाला वाले उद्योग' कहलाते हैं। किन्तु विस्तृत अर्थ में, घरेलू उद्योगों से समस्त छोटे पैमाने वाले उद्योगो का आशय निकाला जाता है। सयुक्त प्रान्तीय घरेलू उद्योग कमेटी रिपोर्ट के शब्दों में, 'घरेलू उद्योग' शब्द बडे पैमाने के कारखानों और मिलों में किये जाने वाले उद्योगों से भिन्नता प्रकट करने के लिये प्रयुक्त होता है और उसके अतर्गत वे भी सहायक उद्योग आ जाते हैं जो श्रमिकों को केवल कुछ काल के ही लिये काम में लगाये रहते हैं। उनका क्षेत्र विस्तृत है और कुम्हार और चरखा बनाने वालों आदि की ग्रामीण दस्तकारी से लेकर नगीना या सहारन-पुर के कुशल लकडी पर काम करने वालों तक की कारीगरी सम्मिलित है।

घरेलू उद्योग भारतीय जनसख्या के लगभग ६.६ प्रतिशत को काम प्रदान करते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि कारखाने वाले उद्योग केवल ०.६ प्रतिशत को ही काम देते हैं। इससे स्पष्ट है कि औद्योगिक भारत बडे बडे कारखानों और मिलो का देश न होकर छोटे-छोटे घरेलू उद्योगों का देश है।

घरेलू उद्योगों की विवेचना

घरेलू उद्योग कई प्रकार के होते हैं और उनका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। हम नीचे कुछ प्रमुख घरेलू उद्योगों की विवेचना करते हैं।

सूती कपडों का उद्योग—हमारे देशवासियों के लिये सूत कातने और कपड़े बुनने के पेशे बहुत पुराने हैं। इनमें से सूत कातना बहुत ही पुराना है और हमारी स्त्रियाँ शताब्दियों से घरों में सूत कातती रही हैं। पुराने जमाने में वे घर के इस्ते-माल के लिये या अपनी जीविका उपार्जन के लिये सूत काता करती थीं, पर कुछ समय से यह प्रथा कम हो चली है। हाथ का कता सूत असमान, कमजोर और कीमती होता है, इसलिये हाथ से सूत कातने का काम बहुत कम हो गया है। अब मिल का कता सूत बहुत काम आने लगा है।

किन्तु हाथ से कपडे बुनने का पेशा अब भी बहुत प्रचलित है और सूती कपडे की मिलों ने उसे समाप्त नहीं कर पाया है। साधारणतया बहुत मोटा या बहुत महीन कपड़ा हाथ से ही बुना जाता है। कांग्रेस के खादी आन्दोलन ने मोटे कपडे की हाथ से बुनाई को प्रोत्साहित किया है। बहुत महीन कपड़ा करघों पर इसलिये बुना जाता है कि मिलें विभिन्न डिजाइनों के कपडे और विशेषतया व्यक्तिगत रुचि के अनुसार कपड़े नहीं बना सकतीं।

कांग्रेस, भारतीय एवं प्रान्तीय सरकारों तथा अन्य सावजनिक संस्थाओं ने हाथ वाले सूती कपड़ों के उद्योग को पुनर्जीवित करने का बहुत उद्योग किया , किन्तु कहा जाता है कि इस मध्य-काल के उद्योग को नया जन्म देने के सारे प्रयत्न निष्फल होंगे। उत्तर प्रदेशीय बैंकिंग जाँच कमिटी का मत है कि हाथ से बुनने के उद्योग की अवनति उतनी शीघ्र नहीं हुई जितना कि कहा जाता है। उत्तर प्रदेश में जितना भी कपड़ा खपता है उसका ३०% भाग करघों पर बुने कपडे का होता है। कमिटी के मत में इस उद्योग में शक्ति और जीवन के चिन्ह विद्यमान हैं।

चमड़े का उद्योग—भारतीय कृषि में पशुओं का स्थान प्रमुख है ; और जब वे मर जाते हैं तब उनकी खाल आसानी से प्राप्त हो जाती है। अतः चमडे का काम प्रायः हर गाँव में होता है। चमड़ा पक्का करने के काम की अभी भारतवर्ष में उन्नति नहीं हुई। चमड़ा हमारे देश में पक्का किया तो जाता है पर उसे और भी पक्का होने के लिये बाहर भेजना पड़ता है। देश में पक्के किये गये चमडे से बहुत मामूली वस्तुएँ बनती हैं। चमड़ा पक्का करने का काम बहुत अरुचिकर होता है और अच्छा यह होगा कि यह कारखानों में मशीनों द्वारा किया जाय।

लकड़ी का काम—लकड़ी का काम शताब्दियों से चला आता है। विशेषकर गाँवों में यह काम अवश्य किया जाता है क्योंकि खेती के औज़ारों को ठीक करने के लिए हर गाँव में बढई का होना नितान्त आवश्यक है। हाल में ही शहरों में फर्नीचर की माँग बहुत बढ जाने से इस उद्योग का भविष्य अब उज्ज्वल हो गया है। लकड़ी के काम का घरेलू आधार पर होना ही अच्छा है क्योंकि लकड़ी के कारीगर लकडी मिलने के स्थानों के समीप खुले और स्वस्थ वातावरण में रहते हैं जैसा वातावरण कारखानों में नहीं मिलता। दूसरी बात यह भी है कि लकड़ी की वस्तुओं की माँग अभी इतनी नहीं बढी कि उन्हें कारखानों में बनाया जाय।

धातु का उद्योग—हमारे गाँवों में धातु का काम जमाने से होता रहा है। गाँवों में लोहार का होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि खेती के औजारों में लोहे का भाग वही बनाता और ठीक करता है। शहरों में धातु का उद्योग घरेलू आधार पर किया जाता है और खाने-पीने के बर्तन, तथा अन्य सामान बनाये जाते हैं। थोक व्यापारी चाकुओं, कैंची तथा अन्य सामान बनाने का आर्डर छोटे-छोटे लोहारों को देते हैं और इस बात की सावधानी रखते हैं कि बनाई हुई चीज़ें अच्छी हों।

मिट्टी के बर्तन बनाने के उद्योग—भारतीय जीवन में मिट्टी के बर्तन का ऊँचा स्थान है और इसलिये इसका उद्योग भी एक महत्त्वपूर्ण घरेलू उद्योग है।

भारतवर्ष में कुम्हार बहुत आवश्यक कार्य सम्पन्न करता है ; इसलिए विशेषतया गाँवों में उसका बहुत सम्मान होता है। वह सुराही, कलसे, हाँडी, चिलम आदि प्रतिदिन के सामान बनाता है और बच्चों के लिए खिलौने भी तैयार करता है। यह उद्योग फसली है : यह सूखे महीनों में ही किया जा सकता है जिनमें वर्षा का भय न हो ताकि बनाये हुए बर्तन सूख जायँ। मध्य-वर्गीय व्यक्तियों ने अब चीनी के बर्तनों का प्रयोग आरम्भ कर दिया है और धनिकों ने धातु के बर्तनों का इस्तेमाल शुरू कर दिया है, इसलिये इस उद्योग का भविष्य अब सकटजनक हो गया है।

तेल का उद्योग—हमारे देशवासी मालिश करने, भोजन पकाने, बालों में डालने तथा अन्य कामों में तेल का बड़ी मात्रा में प्रयोग करते हैं। तेल अधिकांश में गाँवों के कोल्हू से निकलता है पर शहरों में तेल की मिलों का प्रचार बढ़ रहा है। किन्तु कोल्हू अब भी जारी हैं और भविष्य में भी रहेंगे। इसके कई कारण हैं। (१) कोल्हू से मिल की अपेक्षा अच्छा तेल निकलता है। (२) कोल्हू का तेल लोहे के स्पर्श में नहीं आता किन्तु मिल का तेल लोहे से छूता है। लोहे से छुए हुए तेल को खराब माना जाता है और जहाँ तक बन पड़ता है कोल्हू का तेल ही प्रयोग में लाया जाता है। हमारे तेल के उद्योग की शीघ्र उन्नति होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि आजकल हम विदेशों को तिलहन का निर्यात करके तेल का आयात करते हैं जिससे कि खली, जो बहुत ही मूल्यवान खाद है, नष्ट हो जाती है। डाक्टर वोएल्कर ने कहा था कि तिलहन का निर्यात करना भूमि की उर्वरा शक्ति के निर्यात करने के समान है।

अन्य उद्योग—उपरोक्त उद्योगों अतिरिक्त और भी कई उद्योग हैं जो घरेलू आधार पर किये जाते हैं। इनमें से गुड़ बनाने का काम सबसे महत्त्वपूर्ण है और चीनी के इतने कारखाने खुल जाने पर भी इस व्यवसाय को धक्का नहीं लगा है। हाल में ही कई सरकारों और सार्वजनिक संस्थाओं ने इसमें सुधार करने का प्रयत्न किया है। चीनी भी घरेलू आधार पर खडसारियों में बनती है, ऐसी चीनी खडसारी चीनी कहलाती है। इसके अतिरिक्त, बीड़ी का उद्योग केवल घरेलू आधार पर ही किया जा सकता है। इसके लिये किसी मशीन की आवश्यकता नहीं होती, खुले स्थान में काम किया जाता है, श्रमिक इच्छानुसार आ-जा सकते और काम कर सकते हैं क्योंकि वे खंड-कर्म प्रणाली (piece-work system) पर काम करते हैं—ये सब बातें घरेलू उद्योग के पक्ष में होती हैं। इनके अतिरिक्त, लाख का उद्योग, दरी का उद्योग, काश्मीरी दुशालों का उद्योग, कसीदे का उद्योग आदि भी घरेलू उद्योगों की श्रेणी में आते हैं।

घरेलू उद्योगों की कठिनाइयाँ

बहुत समय से घरेलू उद्योगों की अवनति हो रही है। कांग्रेस और कुछ अन्य सार्वजनिक संस्थाओं ने सबसे पहले इन उद्योगों को नवजीवन प्रदान करने का प्रयास किया। इससे सरकार की भी आँखें खुलीं और उन्हें भी इन उद्योगों को मौत के मुँह से बचाना आवश्यक प्रतीत हुआ। किन्तु अभी तक इस दिशा में पर्याप्त काम नहीं हुआ है, और घरेलू उद्योगों की उन्नति के मार्ग में बहुत-सी बाधाएँ हैं। हम नीचे कुछ खास-खास कठिनाइयों का विवेचन करते हैं :

(१) कच्चे माल की मात्रा, किस्म और पूर्ति की बराबरी बहुत असंतोषप्रद है। कारीगरों को उचित प्रकार का कच्चा माल उपलब्ध नहीं होता। ग्रामीण विक्रेता, जिनसे कारीगर खरीद करता है, स्वयं थोक व्यापारियों से कच्चा माल खरीदते हैं और थोक व्यापारी माल की किस्म के विषय में कुछ भी सावधानी नहीं रखते। ग्रामीण विक्रेता भी यह जानता है कि माल चाहे अच्छा हो या खराब, वह बिक सब जायगा, अतः वह भी माल की किस्म की परवाह नहीं करता। कारीगर ग्रामीण विक्रेता से या तो इसलिये माल खरीदते हैं कि गाँव में वह ही अकेला माल बेचने वाला है या इसलिये कि केवल उसी से उधार माल मिल सकता है। कभी-कभी आर्डर देने वाला स्वयं ही कारीगरों को कच्चा माल दे देता है; पर अवस्था वही रहती है। जिस प्रकार का कच्चा माल होता है, वह भी कारीगरों को लगातार और बराबर नहीं मिलता रहता। अर्द्ध-निर्मित माल जैसे सूत, पीतल की चादर आदि के मिलने से विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(२) घरेलू उद्योगों के कारीगरों की अशिक्षा, अज्ञानता तथा पुराने तरीके दूसरी समस्या उपस्थित करती है। जो ज्ञान उनके पूर्वज उन्हें प्रदान कर गये हैं, वे उसी के अनुसार काम करते हैं। अशिक्षित और निरक्षर होने के कारण वे नये और आकर्षक डिजाइन स्वयं नहीं सोच सकते, और उनको इस मामले में कोई सलाह देने वाला भी नहीं होता। माल के प्रमाणिककरण (standardisation) के विषय में भी यही बात घटती है। हमारे कारीगरों की यह बहुत कमी है कि वे माँग के स्वभाव से सम्पर्क रखने में और इस ज्ञान के प्रकाश में माल की किस्म सुधारने में असफल रहते हैं।

(३) घरेलू उद्योगों द्वारा निर्मित माल की ठीक-ठीक माँग का अनुमान लगाने वाला कोई नहीं होता; इसलिये इस माँग का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता या इसको बढ़ाने की चेष्टा नहीं की जाती, और आवश्यकतानुसार कारीगरों में काम भी नहीं बाँटा जा सकता। होता यह है कि कभी-कभी किसी वस्तु की अत्युत्पत्ति (over-production) हो जाती है और कभी-कभी वह

वस्तु दुर्लभ हो जाती है। पूर्ति को माँग के बराबर करने की कोई चेष्टा नहीं की जाती। घरेलू उद्योगों के माल की बिक्री-प्रणाली को पुनर्संगठित करना और उसे वैज्ञानिक आधार पर विकसित करना बहुत आवश्यक है।

(४) घरेलू उद्योग द्वारा निर्मित वस्तुओं को निर्यात करने की बात की बहुत उपेक्षा की जाती है। कुछ वस्तुओं की माँग विदेशों में अब भी है और कुछ अन्य वस्तुओं की माँग उत्पन्न की जा सकती है। किन्तु इन वस्तुओं का निर्यात बाजार उन्नत करने के लिये कोई उचित संस्था नहीं। सूचीपत्र निकालना या विज्ञापन निकालना सपने की बातें हैं, और मूल्यों की स्थिरता, माल के प्रमाणिककरण और पूर्ति की बराबरी—जो विदेशी व्यापार के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—उन पर किसी का ध्यान भी नहीं जाता।

(५) रुपया उधार लेने की भी उचित सुविधाएँ भी कारीगरों को प्राप्त नहीं होतीं। कारीगरों को रुपया विक्रेताओं से उधार लेना पड़ता है जो कारीगरों को बुरा कच्चा माल खरीदने को बाध्य करते हैं और ब्याज की ऊँची दर लेते हैं। होता यह है कि जहाँ कारीगर ने एक बार ऋण लिया कि वह जन्म पर्यंत विक्रेता का ऋणी ही बना रहता है। इसके अतिरिक्त, ऋण देने की एक यह भी शर्त होती है कि निर्मित माल ऋणदाता को एक निश्चित मूल्य पर बेचा जायगा, और बिक्री का मूल्य बहुत नीचा रक्खा जाता है।

उन्नति के उपाय

देश की आर्थिक प्रणाली में घरेलू उद्योगों का अपना निश्चित स्थान है और वे महत्त्वपूर्ण काम सम्पन्न करते हैं। अतः उनके ऊपर बताई हुई सारी कठिनाइयाँ और बाधाएँ अवश्य दूर करनी चाहिये। इस दिशा में हम निम्नलिखित उपाय उपस्थित करते हैं :

(१) **अच्छे प्रकार के कच्चे माल की बराबर पूर्ति**—कच्चे माल सम्बन्धी दोषों को दूर करने को शीघ्र ही दूर करने की आवश्यकता है। कारीगरों को दिये जाने वाले कच्चे माल की क़िस्म में सुधार करना नितान्त आवश्यक है क्योंकि निर्मित माल की क़िस्म और कारीगरी का स्तर बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर होते हैं। इसके अतिरिक्त, कच्चे माल की पूर्ति के लिये भी किसी खास संगठन की आवश्यकता है। चेष्टा इस बात की करनी चाहिये कि कच्चा माल कारीगरों को सुविधानुसार, सस्ते दाम पर और सीधे तौर पर पहुँचाया जाय। कच्चे माल का सस्ता होना बहुत आवश्यक है।

(२) **कारीगरों की शिक्षा**—कारीगरों को उचित शिक्षा देने का प्रश्न कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। प्रारम्भिक शिक्षा के अतिरिक्त, जो उनको सामान्य दृष्टिकोण

विस्तृत करेगी, उन्हें शारीरिक शिक्षा और पेशेवार शिक्षा भी देनी चाहिये। इसके लिये औद्योगिक स्कूल तथा व्यावसायिक (vocational) स्कूल खोलने चाहिये जिन्हें डाइरेक्टर आव इंडस्ट्रीज के नियन्त्रण में रखना चाहिये। इंडस्ट्रियल कमीशन की यह शिफ़ारिस थी कि सरकार को नई रीतियों के प्रदर्शन का प्रबन्ध करना चाहिये और होशियार कारीगरों की शिक्षा के लिये निर्माण-शालाओं (work hops) की स्थापना करनी चाहिये। जेलों और सुधार स्कूलों में औद्योगिक दस्तकारी सम्बन्धी शिक्षा दी जानी चाहिये जिससे कि वहाँ के निवासी बाहर निकलकर इन कामों को कर सकें। ग्रामीण उद्योगों में प्रदर्शन-सम्बन्धी कार्य सहकारिता विभाग के द्वारा कराया जा सकता है।

(३) **टैक्निकल पथ प्रदर्शन**—शिक्षा के अतिरिक्त, कारीगरों को टैक्निकल सहायता देना भी आवश्यक है। टैक्निकल मामलों में सम्मति, उत्पत्ति की टैक्निकल शिक्षा, नयी डिजाइन आदि का आविष्कार इस प्रकार की सहायता के कुछ उदाहरण हैं।

(४) **नये औज़ार**—नये और सुधरे हुए औजारों का प्रचार करना भी एक आवश्यक बात है। हमारे कारीगर पुराने औजारों का प्रयोग करते हैं जिनका आसानी से सुधार हो सकता और चमत्कारपूर्ण परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। यह काम सरकारी प्रयोगात्मक कारखानों तथा औद्योगिक शिक्षण संस्थाओं को करना चाहिये। नये नये औजारों के रचनात्मक कार्य का प्रदर्शनी तथा बुलेटीन, पुस्तकों और नोटिस बाँटने के द्वारा भी प्रचार करना चाहिये।

(५) **उत्पत्ति का संगठन**—आजकल कारीगरों की उत्पत्ति का संगठन बहुत अकुशल है और उसमें प्रणाली का अभाव है। श्रम-विभाजन तथा अन्य इसी प्रकार के उपायों से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिये, इसमें सुधार बहुत आवश्यक है। इन सब कामों में सरकार को पूरी-पूरी सहायता करनी चाहिये। आदर्श यह होना चाहिये कि घरेलू आधार तो बना रहे किन्तु कारखानों के लाभों को यथासम्भव प्राप्त किया जा सके।

(६) **पूंजी और ऋण की पूर्ति**—आजकल घरेलू उद्योगों को पूंजी और ऋण की पर्याप्त पूर्ति के प्रश्न का सामना करना पड़ता है। ग्रामीण कारीगरों को गाँव के साहूकार से, जो दूकानदार भी होता है, ऊँची दर पर रुपया उधार लेना पड़ता है, और वह उन्हें अपने पंजे में इस प्रकार जकड़ लेता है कि उससे आसानी से छुटकारा नहीं मिलता। इंडस्ट्रियल कमीशन का मत था कि डाइरेक्टर आव इंडस्ट्रीज को कारीगरों को छोटी छोटी रकम में रुपया उधार

देना चाहिये, और सुधरे हुए औजार आदि कारीगरों को किराया-बिक्री प्रणाली (hire-purchase system) पर देने चाहिये जो थोड़े दिन किराये देकर उन्हीं की सम्पत्ति हो जावे। यद्यपि भूतकाल में सहकारी औद्योगिक बैंकों का अनुभव बहुत आशापूर्ण नहीं हुआ, फिर भी ऐसे बैंक कारीगरों के ऋण की आवश्यकता को भली भाँति पूरी कर सकते हैं और उनकी परीक्षा अवश्य लेनी चाहिये। सहकारी औद्योगिक बैंक गाँव और शहर दोनों में काम कर सकते हैं और कारीगरों की अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋण-सम्बधी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं।

(७) विपणन (Marketing) का संगठन—घरेलू उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है। आजकल घरेलू उद्योगों का उन बाजारों पर भी अधिकार नहीं है जो निश्चित रूप से उनके हैं। देशी बाजारों में माल नहीं पहुँचता और विदेशी बाजारों की उपेक्षा की जाती है। यदि सुचारु रूप से चेष्टा की जाय तो ये बाजार घरेलू उद्योगों को मिल सकते हैं। भारतीय कारीगर और देशी तथा विदेशी बाजारों में सम्बन्ध स्थापित करने का काम "आर्ट्स ऐण्ड क्राफ्ट्स ऐम्पोरियम, लखनऊ" ने बहुत प्रशंसात्मक ढंग से किया है। ऐसी संस्थाएँ देश भर में सब बड़े-बड़े केन्द्रों में स्थापित करनी चाहिये। बैंकिंग जाँच कमेटी ने सिफारिश की थी कि घरेलू उद्योगों की निर्मित वस्तुओं के संग्रहण तथा बिक्री के लिये बड़े-बड़े स्थानों में लाइसेंसदार गोदाम और सहकारी थोक संस्था होनी चाहिये। इन वस्तुओं के उपयुक्त विज्ञापन का भी ठीक-ठीक प्रबन्ध होना चाहिये। सन् १९२४ ई० की वेम्बले प्रदर्शनी (Wemble Exhibition) में फर्रुखाबाद के छपे कपड़ों, बनारस की सिल्क और आगरे की दरियों आदि का अच्छा विज्ञापन हुआ था जिसके फलस्वरूप अब इन वस्तुओं का लन्दन और न्यूयार्क को काफी निर्यात होने लगा है।

(८) सहकारिता सिद्धान्त—सहकारिता का सिद्धान्त घरेलू उद्योगों के सम्बन्ध में लगाना लाभदायक सिद्ध होगा। सहकारी समितियाँ अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये स्थापित की जा सकती हैं जैसे पूँजी की पूर्ति के लिये, कच्चे माल के क्रय के लिये और तैयार माल की बिक्री के लिये। ये संस्थाएं कारीगर के कारखाने की स्पर्द्धा तथा मध्यस्थ पुरुषों की शोषण से रक्षा कर सकती हैं। जर्मनी, स्विटजलैंण्ड और इटली आदि देशों ने सहकारिता से बहुत लाभ उठाया है और हमें भी उससे लाभ उठाना चाहिये।

(९) सरकारी सहायता—घरेलू उद्योगों के पुनर्जीवन में सरकार बहुत सहायता कर सकती है, जर्मनी में इन उद्योगों की जो महान् उन्नति हुई वह सरकारी

सहायता की ही देन थी—संरक्षक कर या अन्य किसी प्रकार के अनिवार्य उपाय का परिणाम नहीं थी प्रत्युत विवेकपूर्ण सम्मति, ज्ञान और शिक्षा का परिणाम थी। हमारी सरकार को ऐसी विदेशी मिसालों से शिक्षा लेनी चाहिये और नष्टप्राय घरेलू उद्योगों की सहायता करनी चाहिये। सरकारी उद्योग विभागों (Industries Departments) का ध्यान अब तक घरेलू उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री तक ही सीमित रहा है और उनकी किस्म की ओर नहीं गया, उन्होंने हमारे कारीगरों को ऐसी वस्तुएं बनाना सिखाया है जो कि आसानी से बिक जायें, ऐसी वस्तुए नहीं जो कि कलात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ हों। यदि ये विभाग स्वय कच्चा माल दें, अच्छी-अच्छी डिजाइनें बतायें और कारीगरों की बनाई वस्तुओं की बिक्री का समुचित प्रबन्ध करें तो घरेलू उद्योगों का बहुत भला हो सकता है।

(१०) स्वदेशी की भावना—इन सब बातों के साथ ही साथ हमें अपने देशवासियों के हृदय में स्वदेशी के प्रति प्रेम की भावना जाग्रति करनी है। ये घरेलू उद्योगों के बनाये माल की बिक्री में बहुत सहायक सिद्ध होगी, विशेषकर आरम्भ में जब कि कारखानों की वस्तुओं की स्पर्द्धा बहुत तीक्ष्ण होगी।

घरेलू उद्योगों का महत्त्व

कुछ विद्वानों का कथन है कि घरेलू उद्योगों का समाप्त होना तो निश्चित है, फिर उनकी उन्नति या पुनरुद्धार के लिये समय, धन या चिन्तन व्यय करना निरर्थक होगा। उन्हें स्वाभाविक मृत्यु के मुख में चले जाने देना चाहिये। किन्तु यह सदेह मिथ्या है क्योंकि देश की औद्योगिक प्रणाली में घरेलू उद्योगो का अपना अलग और विशेष स्थान है, और उनकी हमेशा के लिए इति-श्री नहीं की जा सकती। यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनको इस योग्य बनाया जाय कि वे अपना आर्थिक कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न करें। निम्नलिखित बातों से उनका आर्थिक महत्त्व जाना जा सकता है :

(१) घरेलू उद्योग किसानों को सहकारी व्यवसाय (subsidiary occupations) प्रदान करते हैं, अन्य शब्दों में, अपने बेकार समय में किसान घरेलू उद्योग चला सकते हैं। उनमें से कुछ किसानों को वैकल्पिक (alternative) व्यवसाय भी प्रदान करते हैं : अन्य शब्दों में, वे खेती के स्थान पर इन उद्योगों को चला सकते हैं। इसके अतिरिक्त, वे सहस्रों नगर-निवासियों की जीविका के साधन हैं। काम के ऐसे महत्त्वपूर्ण साधन की रक्षा और शक्तिशाली होने की चेष्टा अवश्य करनी चाहिये।

(२) घरेलू उद्योग हमारे देशवासियों के स्वभाव तथा रूढ़ियों के अनुकूल हैं

और कारखाने वाले उद्योगों की अपेक्षा उन्हें बहुत से स्वाभाविक लाभ प्राप्त हैं। यदि शिक्षा, धन, उत्पत्ति तथा विपणन का उचित प्रबन्ध कर दिया जाय, तो उनमें से बहुत-से स्थायी रूप से स्थापित हो सकते हैं और उन मनुष्यों को बहुत लाभ पहुँचा सकते हैं जिन्हें नौकरी या जिविका का कोई वैकल्पिक साधन प्राप्त नहीं।

(३) घरेलू उद्योगों की उन्नति से अकाल-जन्य संकट कम हो जायगा। १८८० के अकाल कमीशन का मत था कि अकाल का मूल कारण यह था कि अधिकांश व्यक्तियों का केवल कृषि ही एक मात्र पेशा है और उन्होंने बताया कि औद्योगीकरण ही अकाल की एक मात्र औषधि है।

(४) कारखानों ने जनसंख्या के घनत्व को थोड़े-से स्थानों में केन्द्रित कर दिया है; अतः घने बसे हुए शहर, उचित निवास-स्थानों का अभाव, शारीरिक एवं नैतिक पतन की समस्याएं हमारे सामने आती हैं। घरेलू उद्योग उद्योगों का प्रसार और ग्रामीणकरण करके इन दोषों की कमी कर देंगे।

(५) अंत में घरेलू उद्योग ही ऐसे उद्योग हैं जिनमें कारीगर खुले हुए, साफ-सुथरे और स्वस्थ स्थानों में अपने परिवार के सदस्यों के साथ काम करते हैं। परिवार के सदस्यों के साथ काम करने में परिश्रम मधुर प्रतीत होता है और कुछ श्रम जो बेकार जाता, उसका उपयोग हो जाता है, इसके अतिरिक्त अपने कुटुम्बियों के साथ काम करने में मनुष्यों में संस्कृति और शिष्टता का विकास भी होता है।

कारखाने वाले उद्योग बनाम घरेलू उद्योग

कभी कभी शंका की जाती है कि कदाचित् घरेलू उद्योग कारखाने वाले उद्योगों की स्पर्द्धा सहन न कर सकें। कारखानों को बड़े पैमाने की उत्पत्ति से सम्बन्धित बाह्य और आभ्यन्तरिक बचत का, श्रम-विभाजन का और यन्त्रीकरण का लाभ होता है, अतः उनकी प्रति-इकाई लागत घरेलू उद्योगों की अपेक्षा कम हो सकती है। यदि ऐसा है, तो घरेलू उद्योगों को पुनर्जीवित करने के समस्त प्रयास निष्फल होंगे। यह कम से कम कुछ उद्योगों के विषय में तो निश्चय ही सत्य है, किन्तु कुछ ऐसे भी उद्योग हैं जिन पर यह लागू नहीं होता। वास्तव में, कहीं-कहीं घरेलू उद्योग कारखानों की अपेक्षा कम लागत पर माल बनाते हैं; और कभी घरेलू आधार अनिवार्य होता है: (१) कहीं कहीं मशीन हाथ के काम की प्रति-स्थापना नहीं कर सकती जैसे बीड़ी बनाने के काम में, अतः ऐसे उद्योगों का घरेलू आधार पर संगठित होना अनिवार्य है। (२) कुछ उद्योगों में ऊँचे दर्जे की कलात्मक कुशलता की आवश्यकता पड़ती है जैसे साड़ी बुनने और चित्रकारी में। ऐसे उद्योगों का भी आधार घरेलू ही होता है। (३) यही बात दर्जीगीरी के समान उन

उद्योगों पर लागू होती है जो उपभोक्ता की वैयक्तिक रुचि को पूरा करते हैं। (४) फिर, प्रत्येक नवीन उद्योग प्रयोगात्मक अवस्था में घरेलू आधार पर ही चलाया जाता है। (५) अंत में, कुछ मशीनों का जीर्णोद्धार करने वाले उद्योग की भांति कुछ ऐसे उद्योग होते हैं जो छोटे पैमाने पर संगठित होते हैं किन्तु जो कारखानों के आवश्यक साथी होते हैं।

वास्तव में बात यह है कि कारखाने वाले उद्योगों और घरेलू उद्योगों के, सस्ती लागत पर माल उत्पन्न करने की दृष्टि से, अपने-अपने अलग-अलग क्षेत्र हैं, और जहाँ दोनों ही सस्ती लागत पर माल तैयार कर सकते हैं वहाँ दोनों को फलने-फूलने देना चाहिये। फिर भी, कोई-कोई क्षेत्र ऐसा होता है जहाँ इन दोनों में स्पर्द्धा होती है, ऐसी दशा में यह देखकर कि तत्काल में और भविष्य में कौन माल कम लागत पर उत्पन्न कर सकेगा, यह निर्णय करना चाहिये कि उस क्षेत्र में कारखाने को रहने दिया जाय या घरेलू आधार को। इस प्रकार के विवेक द्वारा ही हम देश की औद्योगिक उत्पत्ति न्यूनतम लागत पर अधिकतम बनाने में सफल हो सकेंगे।

§ ४. द्वितीय महायुद्ध का भारतवर्ष की उत्पत्ति पर प्रभाव

अब हम इस बात का विवेचन करेंगे कि द्वितीय महायुद्ध का भारतवर्ष की उत्पादन-शक्ति और स्वभाव पर क्या प्रभाव पड़ा। हमारे पुराने व्यवसायों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हुई और हमने बहुत से नये-नये व्यवसाय युद्ध काल में प्रारम्भ किये, यह बहुत संतोषप्रद बात है। युद्ध काल में हमारे आयात बहुत सीमित हो गये और उनके अभाव की पूर्ति करने के लिये देशी व्यावसायिक गृह स्थापित हुए। हमारे देश में बहुत बड़ी संख्या में ब्रिटिश, अमेरिकन और अफरीकन सेना आई और ठहरी—इसके खाने-पीने तथा सुसज्जित करने का काम भारतवर्ष पर आ पड़ा जिसके लिये उत्पत्ति बढ़ानी पड़ी। यही नहीं, मित्र राष्ट्रों को स्थान-स्थान पर कठिन युद्ध करने पड़े और उनकी सेनाओं की माँगें पूरी करने के लिये समस्त मित्र राष्ट्रों ने, जिनमें भारतवर्ष भी सम्मिलित है, अपनी-अपनी उत्पत्ति बढ़ाई। साथ ही साथ हमारे व्यापारियों और उद्योगपतियों के हृदय में यह तीव्र इच्छा थी कि युद्धोपरान्त हमारे देशवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो, इसके लिये युद्ध के पश्चात् भी उत्पत्ति बढ़ाना आवश्यक है। फिर, युद्ध काल में मूल्य बहुत बढ़ने लगे, उनके नीचे लाने के लिये उत्पत्ति बढ़ाना आवश्यक हो गया। इन सब कारणों ने मिलकर भारतवर्ष की उत्पत्ति को युद्ध-काल में बढ़ाया। इसमें संदेह नहीं कि इस मार्ग में बहुत-सी बाधाओं का सामना करना पड़ा। जहाजों की कमी के कारण मशीनों और कुशल व्यक्तियों का आयात आवश्यकतानुसार नहीं

किया जा सकता था। देश में शिक्षित और कुशल श्रम की कमी भी थी। इसके अतिरिक्त और भी बाधाएँ थीं। किन्तु वे हमें उत्पत्ति बढ़ाने से रोक न सकीं।

कृषि पर प्रभाव

युद्ध-काल में सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो स्पष्ट हो गई और जिसे हमारे देशवासी समझने लगे वह थी हमारी कृषि का पिछड़ा होना। आयात के, विशेषतया ब्रह्मा के चावल के आयात के, रुक जाने से हमारी खाद्य-परिस्थिति खराब हो गई और बंगाल का अकाल बहुत भीषण और नाशकारी रूप में हमारे सामने आया। भारतवर्ष मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को जो भारतवर्ष में ठहरी थीं, इतनी खाद्य-सामग्री न दे पाया जितनी कि वह देना चाहता था। सरकार द्वारा परिचालित "अधिक भोजन उत्पन्न करो" का आंदोलन, यद्यपि वह दिखावटी अधिक था और ठोस कम, फिर भी वह कुछ अंश तक तो अवश्य सफल हुआ। कांग्रेस मन्त्रिमंडलों द्वारा स्थापित "ग्रामीण उत्थान विभाग" (Rural Development Departments) ने जो कार्य आरम्भ किया था वह भी मूल्यवान सिद्ध हुआ। नयी भूमि जोती जाने लगी। खेती के सुधरे हुये तरीके, अच्छे हल की पूर्ति, खाद का प्रबन्ध और ऐसे ही और भी बातें कार्य रूप में परिणत की गईं। बिक्री और यातायात में भी सुधार करने की चेष्टा की गई। खेती की उत्पत्ति का दुर्विभाजन (Maldistribution) रोकने के लिए सरकारी नियन्त्रण भी अधिक करना पड़ा। यह भी संतोष का विषय है कि उत्पत्ति को हमें नये मार्ग में ले आना पड़ा और इसमें हमें कुछ सफलता भी मिली। तरकारी, फल, वन-पदार्थ आदि को पहले से अधिक प्रोत्साहन मिलने लगा। चेष्टा चारों ओर इस बात की गई कि भारतवर्ष की कृषि की दशा का सुधार किया जाय और गुणात्मक एवं मात्रात्मक दोनों ही दिशाओं में अच्छे परिणाम हुये। यद्यपि भारतीय कृषि को संतोषजनक आधार पर लाने के लिये अभी बहुत-कुछ करना है, पर इन प्रयासों का अब आरम्भ हो गया है।

उद्योगों पर प्रभाव

द्वितीय महायुद्ध का भारतीय उद्योगों पर और भी अच्छा प्रभाव पड़ा और उन्होंने युद्ध से अच्छा लाभ उठाया। सूती मिलों, चमड़े के कारखानों, चीनी की मिलें और लोहे के कारखानों आदि की उत्पत्ति में वृद्धि हुई। बहुत से नये उद्योग भी देश में स्थापित हुए जिन से सार्जरा निर्माण करना, हथियार बनाना, जहाज बनाना, हवाई विमान बनाना आदि प्रमुख हैं। टेक्निकल कुशलता में भी वृद्धि हुई। टैक्निकल शिक्षा की एक आयोजना बनाई गई और "बैविन स्कीम"

(Bevin Boys) की स्कीम का भी लाभ उठाया गया। रोजगार के दफ्तर (Employment Exchanges) भी जरूरतमद मार्गों में श्रम का बहाव मोड़ने के लिये स्थापित किये गये।

ऊपर बताए गए लाभ केवल कारखाने वाले उद्योगों तक ही सीमित नहीं रहे प्रत्युत उनसे घरेलू उद्योगों का भी भला हुआ। बहुत से साँस लेते हुए उद्योगों को नया जीवन प्रदान हुआ और कई नये उद्योग आविर्भूत हुए। हमारे ग्रामीण प्रदेश अब काम में लग गये। हाथ की कताई-बुनाई, मोजे-बनियान का काम, काँच का उद्योग, हाथ के बने कागज का काम, चमड़े का काम, रबर के सामान का काम, साबुन बनाने का काम आदि बहुत प्रोत्साहित हुए।

युद्धोपरान्त योजनात्मक उन्नति

उत्पत्ति की वृद्धि युद्धकाल में जो हुई वह तो हुई ही, इसका भविष्य निश्चय ही और भी उज्ज्वल होगा। यह युग योजनात्मक उन्नति का है। ब्रिटिश सरकार ने, जिसकी अब भारत में इतिश्री हो गई है, भारतवष की योजनात्मक उन्नति का ढोंग रचा और बड़े-बड़े सुन्दर चित्र खींचे, किन्तु उन्होंने रचनात्मक कार्य कुछ भी नहीं किया। किन्तु हमारे कुछ उद्योगपतियों ने एक आर्थिक योजना बनाई जिसे "उद्योगपतियो की योजना" कहा जाता है। इस योजना में १५ वर्ष के अन्दर कृषि की उत्पत्ति में १३० प्रतिशत वृद्धि और औद्योगिक उत्पत्ति में ५०० प्रतिशत वृद्धि का आयोजन किया गया। इस योजना की लागत १०,००० करोड़ रुपया बताई गई। इसके अतिरिक्त एक "राय योजना" प्रकाशित हुई जो श्री एम० एन० राय के प्रोत्साहन द्वारा बनी। कुछ काल बाद एक 'गाधी योजना" भी छपी। ब्रिटिश सरकार के भारत से कूँच कर जाने के बाद कांग्रेस मन्त्रिमडल केन्द्र एव प्रान्तों में स्थापित हुये। कांग्रेस योजनात्मक उन्नति की पक्षपाती है। अभी सरकार को आर्थिक क्षेत्र में काम करने का अवसर नहीं मिला है, पर प० जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य नेताओं ने उत्पत्ति की वृद्धि पर इधर बहुत जोर डाला है और आशा है हमारी उत्पत्ति अवश्य बढ़ेगी। बिना उत्पत्ति में वृद्धि किये भारतवर्ष का कल्याण नहीं।

§ ५. भारतवर्ष की निर्धनता

अभाग्यवश भारतवर्ष एक निर्धन देश है। हमने अध्याय १७ में इस मत की पुष्टि की है। यहाँ हम सक्षेप में यह बतायेंगे कि इतने प्रचुर प्राकृतिक वरदानों, बड़ी जनसंख्या और पुरातन सभ्यता के होते हुए भी हम इतने निर्धन क्यों हैं।

भौतिक समृद्धि के साधन

किसी भी देश की भौतिक समृद्धि उत्पत्ति तथा वितरण पर निर्भर होती है। यदि अन्य बातें समान हों तो जितनी ही अधिक मात्रा में माल उत्पन्न होगा, उतने ही देशवासी धनी होंगे। भौतिक समृद्धि का मूल कारण है अधिक उत्पत्ति। इस समृद्धि का दूसरा मूल कारण है धन का न्यायपूर्ण वितरण। यदि उत्पन्न किये जाने वाला सारा माल केवल थोडे से ही व्यक्तियों की मुट्ठी में केन्द्रित हो जाय, तो शेष व्यक्ति निश्चय ही निर्धन रहेंगे। इसके विपरीत, यदि समस्त धन देशवासियों की आवश्यकताओं के अनुसार उनमें वितरित कर दिया जाय, तो प्रत्येक व्यक्ति पहले से अधिक सुखी और सन्तुष्ट होगा। अतः न्यायपूर्ण वितरण का बहुत महत्त्व है। वास्तव में, यदि किसी व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुकूल पुरस्कार न मिले तो उसे अधिकतम माल उत्पन्न करने के लिये कोई प्रोत्साहन ही नहीं रहेगा, और उत्पत्ति कम होगी। अतः वितरण की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कहा जाता है कि वर्तमान समाज-संगठन में, अर्थात् पूँजीवाद में, वितरण बहुत अन्यायपूर्ण होता है, और अधिकांश व्यक्तियों की निर्धनता का यही कारण है। समाजवाद इस दोष के निवारण करने का आयोजन करता है। इसीलिये आजकल समाजवादी आन्दोलन इतना जोर पकड रहा है।

भारतवर्ष की निर्धनता के कारण

भारतवर्ष की निर्धनता का प्रमुख कारण उत्पत्ति का सीमित होना है। हमारी उत्पादन-सम्बन्धी सामग्री इतनी प्रचुर है कि हमारी संसार के अधिकतम समृद्धिशाली देशों में गिनती हो सकती है। किन्तु यह सब सामग्री अधिकांश में बेकार पडी हुई है। उदाहरण के लिए, बिजली उत्पन्न करने योग्य जल-प्रपात हमारे देश में बहुत-से हैं किन्तु हमने उनमें से अधिकांश का अभी प्रयोग ही नहीं हुआ। हमारे पास औद्योगिक सामग्रियाँ इतनी हैं कि हम संसार में एक अग्रगामी औद्योगिक देश बन सकते हैं, किन्तु हमने केवल थोडे-से ही उद्योगों की उन्नति की है। हमारी कुछ सामग्रियों का केवल आंशिक प्रयोग हो रहा है। कृषि को ही ले लीजिये। हमारे प्रत्येक ४ देशवासियों में से तीन कृषि पर निर्भर हैं, फिर भी हमारी प्रति-एकड़ उपज अन्य देशों कि प्रति-एकड़ उपज का पाँचवाँ या छठवाँ भाग है। यदि हमारी उत्पत्ति इतनी क्षीण है, तो हमारे देश का निर्धन होना स्वाभाविक ही है।

फिर जितना धन उत्पन्न होता है, उसका ठीक-ठीक वितरण नहीं होता। अब तक हमारे ऊपर अंग्रेजों का शासन रहा और वे हमारा शोषण करते थे अर्थात् हमारे द्वारा उत्पन्न किये गये धन का एक बड़ा भाग वे विभिन्न रूप में स्वयं

हजम कर जाते थे। इस दिशा में बड़े बड़े पूँजीपतियों को भी दोषी ठहराया जाता है, वे उचित पुरस्कार नहीं देते और श्रमिक द्वारा उत्पन्न किये गये धन का एक बड़ा भाग अन्यायपूर्वक स्वयं हड़प कर जाते हैं। उनकी सम्पत्ति का यही भेद है। किन्तु उनके धनी होने का अर्थ होता है जनता का निर्धन होना। भाग्यवश अब अंग्रेज हमारे देशों से प्रस्थान कर चुके हैं और उनके शोषण का हमें भय नहीं। देश में राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जाने के कारण आशा की जाती है कि शोषण का दूसरा स्वरूप भी अकर्मण्य कर दिया जायगा।

भारतवर्ष की दरिद्रता की औषधि

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे देश में धनी बनने का एक मात्र उपाय उत्पत्ति में वृद्धि करना है। हमें उत्पत्ति के समस्त साधनों को क्रियाशील करना चाहिये, और उन्हे अधिकतम टेक्निकल कुशलता के साथ काम में लाना चाहिये। साथ ही साथ धन के न्यायपूर्ण वितरण की तरफ ध्यान भी देना, चाहिये।

अभ्यास के प्रश्न

१. भारत में उत्पत्ति किन महत्वपूर्ण स्वरूपों को ग्रहण करती है? आप उनके सापेक्षिक महत्व का निर्णय किस प्रकार करते हैं?

२. क्या भारतीय कृषि अकुशल है? यदि वह अकुशल है, तो क्यों?

३. कारखाने के उद्योगों तथा घरेलू उद्योगों का अन्तर स्पष्ट कीजिये और उनमें से प्रत्येक को पूर्णतया समझाइये।

४. भारत के किन्हीं पाँच महत्वपूर्ण कारखाने के उद्योगों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये।

५. भारत के प्रधान घरेलू उद्योग कौन से हैं? इन उद्योगों का एक विस्तृत वर्णन प्रस्तुत कीजिये।

६ घरेलू उद्योगों की क्या कठिनाइयाँ हैं? आप उनको दूर करने के लिये किन उपचारों का प्रयोग करेंगे?

७. किसी देश की आर्थिक व्यवस्था में घरेलू उद्योगों का महत्व बतलाइये। आपकी सम्मति में, क्या घरेलू उद्योग कारखाने के उद्योगों का मुकाबिला कर सकेंगे?

८. द्वितीय महायुद्ध का भारतीय कृषि तथा कारखानों पर क्या प्रभाव पड़ा? स्पष्टतया बतलाइये।

९. भारत निर्धन क्यों है? निर्धनता दूर करने के लिये आप कौन सा उपचार प्रस्तुत करेंगे?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

(१) संयुक्त प्रान्त में प्रमुख घरेलू उद्योग कौन से हैं ? उनमें सुधार के लिये कुछ सुझाव रखिये । (१९४६)

(२) भारत में उपजाऊ भूमि अच्छी वर्षा, बड़ी मात्रा में श्रम और काफी पूँजी है । आप खेती का पुनर्संगठन किस प्रकार करेंगे कि जिससे भारतीय कृषि की उत्पत्ति बढ़ जाय ? (१९४५)

(३) घरेलू उद्योग का आप क्या अर्थ समझते हैं ? उदाहरण प्रस्तुत कीजिये । भारत के घरेलू उद्योग का विकास करने के लिये विभिन्न उपायों को बतलाइये । (१९४१)

(४) खेतों के छिटके होने से आप क्या अर्थ समझते हैं ? इसकी बुराइयाँ बतलाते हुए सुधार के उपायों को सुझाइये । (१९४१)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

(५) भारत एक निर्धन देश है । इस निर्धनता के क्या आर्थिक कारण हैं ? इस निर्धनता को दूर करने के कुछ उपाय बताइये । (१९४४)

अर्थशास्त्र का परिचय

भाग २

(विनिमय, वितरण और राजस्व)

लेखक

प्रो० अमर नारायण अग्रवाल

प्रयाग विश्वविद्यालय

१९५०

किताब महल

प्रयाग ★ बम्बई

विनिमय

जिस विषय का हम अब अध्ययन करेंगे, वह अर्थशास्त्र का इतना महत्वपूर्ण और प्रमुख भाग है कि कुछ विद्वानों के मत में इसकी सीमा हमारे विज्ञान की सीमा के ही समान है। एक महान् लेखक ने अर्थशास्त्र के लिये 'विनिमय का विज्ञान' नाम प्रस्तावित किया है; कुछ दूसरों ने इसे 'अर्घ के विज्ञान' के नाम से पुकारा है।

—जान स्टुअर्ट मिल

अध्याय ४४

विनिमय (EXCHANGE)

§ १. प्रारम्भिक

विनिमय, अर्थशास्त्र का एक भाग

हम धन के उपभोग तथा उसकी उत्पत्ति का अध्ययन कर चुके हैं, और अब हम धन के विनिमय (exchange) का अध्ययन करेंगे। विनिमय के अन्तर्गत हम उन दरो (terms) का अध्ययन करते हैं जिन पर कि अर्घ (value) वाले पदार्थों का एक दूसरे से विनिमय होता है। हम इस विभाग मे इस प्रकार के प्रश्नो का उत्तर देंगे : एक वस्तु की दी हुई मात्रा का दूसरी वस्तु की किसी खास मात्रा से विनिमय क्यों होता है? उससे अधिक मात्रा से क्यो नहीं? उससे कम मात्रा से क्यो नहीं?[1] अर्घ और उसके निर्धारण (determination) की विवेचना विनिमय की केन्द्रीय समस्या है। इसके अतिरिक्त बाजारो, द्रव्य (money), चलन (currency), बैंकिंग, यातायात और सन्देशवाहन के साधन, और धन के विनिमय के अन्य सहायको का भी अध्ययन इस विभाग मे किया जाता है।

जैसा कि हम नीचे बतावेंगे, विनिमय के द्वारा माल की उपयोगिता (utility) बढ जाती है, अत विनिमय को हम उत्पादन-क्रिया कह सकते हैं। ऐसी दशा में, विनिमय का विभाग उत्पत्ति के विभाग मे सम्मिलित कर देना चाहिये। यह तर्क है तो ठीक, किन्तु विनिमय के अन्तर्गत हम बहुत सी ऐसी बातो का भी अध्ययन करते हैं जो कि उत्पत्ति के क्षेत्र से परे हैं। इसलिये विनिमय को एक अलग विभाग माना जाता है।

विनिमय, एक आर्थिक क्रिया

विनिमय अर्थशास्त्र का एक विभाग भी है और एक आर्थिक क्रिया भी। हम विनिमय का पिछले अर्थ में मतलब एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिये आप अपने मित्र को अपनी टोपी दे देते हैं और उससे उसके बदले मे एक

---

[1] Walker, *Political Economy*, p. 79.

किताब ले लेते हैं। यह विनिमय का एक उदाहरण है। किन्तु इसके लक्षण क्या हैं? पहला लक्षण यह है कि आप और आप के मित्र, दोनों ही धन का हस्तांतरण (transfer) करते हैं। इसका दूसरा लक्षण यह है कि यह हस्तांतरण ऐच्छिक (voluntary) है। तीसरे, यह वैधानिक (legal) है। अत हम कह सकते हैं कि दो पक्षों के बीच में होने वाले वैधानिक, ऐच्छिक और पारस्परिक (mutual) धन के हस्तांतरण को विनिमय कहते हैं। मान लीजिये आत्माराम अपनी इच्छा से अपनी पुस्तक भगवानदास को ५) में बेचता है, तो यह विनिमय कहा जायगा क्योंकि धन का हस्तांतरण वैधानिक है, ऐच्छिक है और पारस्परिक है। किन्तु यदि कोई चोर आपकी घडी चुरा ले जाय, तो यह विनिमय नहीं होगा क्योंकि यह गैरकानूनी है, जबरदस्ती है और एकतरफा है—चोर आपको घडी के बदले में कुछ नहीं देता। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति सरकार को ५०) दण्ड के रूप में दे, तो धन का यह हस्तांतरण वैधानिक होने पर भी विनिमय नहीं कहलायेगा क्योंकि यह अनिवार्य है और दण्ड देने वाले को इसके बदले में कोई प्रतिफल नहीं मिलता।

समस्त व्यापारिक सौदे विनिमय के अन्तर्गत शामिल होते हैं। जब आप पेन्सिल खरीदते या पुस्तक बेचते हैं, तो आप विनिमय में भाग लेते हैं। जब कि मजदूर १) रोज पर काम करता है, तब वह भी विनिमय में भाग लेता है। जब भूमिपति अपनी भूमि किराये पर देता है, तब भी यही बात लागू होती है, क्योंकि ऐसी दशा में भूमि के प्रयोग का द्रव्य से विनिमय होता है। पूँजीपति ब्याज पर रुपया उधार देते समय विनिमय में भाग लेता है क्योंकि वह द्रव्य के बदले में पूँजी के उपयोग का हस्तांतरण करता है[२]।

विनिमय का विकास

माल का विनिमय आधुनिक जीवन का इतना सामान्य लक्षण हो गया है कि हमें विनिमय-हीन समाज की कल्पना करने में भी कठिनाई होती है। किन्तु कदाचित् एक ऐसा समय भी था जब कि विनिमय होता ही न था। आत्म-निर्भरता के आदि काल में, प्रत्येक परिवार अपने उपभोग की समस्त वस्तुएँ स्वयम् ही उत्पन्न करता था, और माल के विनिमय की आवश्यकता ही नहीं होती थी। किन्तु जब श्रम-विभाग और पेशों के विशिष्टीकरण (specialisation) का प्रवेश हुआ, तब यह आवश्यक हो गया कि प्रत्येक मनुष्य अपनी बनाई हुई वस्तुओं का दूसरे

---

२ देखिये N G. Pierson, *Principles of Economics*, Vol 2, p 15

मनुष्यो की बनाई हुई वस्तुओं से विनिमय करे, यहाँ तक कि वर्तमान युग में विनिमय आर्थिक क्रियाओ की श्रृंखला की एक अपरिहार्य (indispensable) कडी हो गया है। विनिमय ही उत्पत्ति और उपभोग को संयुक्त करता है। आजकल लगभग समस्त धन विनिमय के लिये ही उत्पन्न किया जाता है। खत्तियो में भरा हुआ गेहूँ और खेतो में लगी हुई तरकारियाँ, जुलाहों द्वारा बुना हुआ कपडा और चमारो द्वारा बनाये गये जूते, अधिकाश में बिक्री के लिये होते हैं और उनका केवल थोडा सा ही भाग उनके बनाने वालो के व्यक्तिगत उपभोग के काम आता है। यही कारण है कि जब हम अपने धन का अनुमान लगाते हैं, तो हम यह अनुमान धन की अपने लिए जो उपयोगिता होती है उसके अनुसार नहीं लगाते प्रत्युत उसके विनिमय अर्घ (exchange value) के—अर्थात् औरों के लिये जो उपयोगिता होती है उसके—अनुसार लगाते हैं।

विनिमय का सिद्धान्त

विनिमय के निम्नलिखित तीन आवश्यक लक्षण होते हैं

(१) विनिमय को सभव बनाने के लिए कम से कम दो पक्षो का होना आवश्यक है जिनमे से एक जो माल दूसरा पक्ष देना चाहता है उसके बदले में कोई वस्तु देने का इच्छुक हो, और इसी प्रकार दूसरा पक्ष जो वस्तु पहला पक्ष देना चाहता है उसके बदले में वह अपने पास वाली वस्तु देने का इच्छुक हो।

(२) विनिमय से दोनो पक्षो को लाभ होना चाहिये। कोई भी व्यक्ति एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु देने के लिये तभी तैयार होता है जबकि पहली वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु की उपयोगिता उसके लिये अधिक हो। यदि वह यह समझे कि विनिमय में उसको मिलने वाली वस्तु की उपयोगिता उससे ली जाने वाली वस्तु की उपयोगिता से कम है, तो वह ऐसा विनिमय कभी नहीं करेगा। जूते वाला गेहूँ के बदले में जूता तभी देता है जब कि उसे गेहूँ की आवश्यकता अधिक होती है और उसे जूते की आवश्यकता उतनी नहीं होती। इसीलिये कहा जाता है कि कम आवश्यक वस्तु को देकर अधिक आवश्यक वस्तु का लेना ही विनिमय है[3]।

---

[3] "विनिमय लाभदायक है क्योंकि यह समाज के धन की कुल उपयोगिता में वृद्धि करता है। जो एक व्यक्ति के लिए बहुत-कुछ बेकार है, वह दूसरे के लिये बहुत उपयोगी हो सकती है, और वह प्रणाली जिसके द्वारा विभिन्न वस्तुओं का एक दूसरे के साथ विनिमय होता है जितनी भी कार्य कुशल होगी, उतना ही जनता का सामूहिक कल्याण अधिक होगा।"—H A. Silverman, *The Groundwork of Economics* (London, 1946), pp. 79-80

(३) जब विनिमय के परिणाम-स्वरूप किसी भी पक्ष को हानि होने लगती है तभी सौदा बन्द हो जाता है। जब जूते वाला यह समझता है कि उसे जितने गेहूँ की आवश्यकता है वह सब मिल चुका और जो गेहूँ उसे जूते के बदले मे मिलेगा उसकी उपयोगिता जूते की उपयोगिता से कम होगी, तभी वह विनिमय बन्द कर देगा। उसके पश्चात् वह जूते का विनिमय गेहूँ से नहीं करेगा प्रत्युत कपड़े या अन्य किसी वस्तु से करेगा जिसको आवश्यकता उसे, अधिक है।

§ २. विनिमय के लाभ

विनिमय द्वारा दोनों पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है

विनिमय का सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि इसके प्रत्येक पक्ष को उपयोगिता का लाभ होता है। हम ऊपर बता चुके हैं कि प्रत्येक पक्ष विनिमय मे तभी तक भाग लेता है जब तक कि उसे मिलने वाली वस्तु की उपयोगिता उसके पास से जाने वाली वस्तु की उपयोगिता से अधिक होती है। यदि मै १ मन गेहूँ देकर चन्दनराम से दो मन चना लेना चाहता हूँ, तो केवल इसलिये कि मेरे लिये २ मन चने की उपयोगिता १ मन गेहूँ से अधिक है। इसी प्रकार चन्दनराम २ मन चना देकर १ मन गेहूँ इसलिये लेना चाहता है कि उसके लिए १ मन गेहूँ की उपयोगिता २ मन चने से अधिक है। इस प्रकार प्रत्येक पक्ष को विनिमय से लाभ होता है। जब तक दोनों पक्षों को लाभ होता रहता है, तब तक विनिमय भी जारी रहता है। कुछ समय बाद ऐसी परिस्थिति आती है जब विनिमय द्वारा प्राप्त की जाने वाली वस्तु की उपयोगिता, दी जाने वाली वस्तु की उपयोगिता के बराबर हो जाती है। विनिमय इसी स्थान पर रुक जाता है क्योंकि इसके बाद जो वस्तु विनिमय में मिलेगी, उसकी उपयोगिता दी जाने वाली वस्तु की उपयोगिता से कम होगी। अत. जैसे ही किसी पक्ष को मिलने वाले माल की उपयोगिता उससे लिये जाने वाले माल की उपयोगिता से कम होने को होती है, वैसे ही वह विनिमय करना बन्द कर देता है, अत विनिमय द्वारा उसे उपयोगिता की हानि होने का अवसर आता ही नहीं। विनिमय तभी तक किया जाता है जब तक कि प्रत्येक पक्ष को उपयोगिता का लाभ होता है, और जैसे ही उपयोगिता की हानि होने को होती है, वैसे ही विनिमय बन्द कर दिया जाता है।

अब यह स्पष्ट है कि विनिमय द्वारा दोनो पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है। यह सोचना कि यदि एक पक्ष को लाभ होता है तो दूसरे को

हानि अवश्य होगी, और दोनों पक्षों को एक ही साथ लाभ नहीं हो सकता, गलत है[४]।

एक उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट की जा सकती है। मान लीजिये 'क' के पास ६ इकाई चावल है और 'ख' के पास ६ इकाई कपड़ा है, और दोनों व्यक्तियो का स्वभाव एकसा है जिसके कारण दोनो के लिये चावल और कपड़े की विभिन्न इकाइयो की उपयोगिता समान है। आगे के कोष्टक (table) मे चावल और कपड़े की इकाइयों की क्रमश: उपयोगिता दिखाई गई है .

इकाई	सीमान्त उपयोगिता	
	चावल की	कपड़े की
१	६०	८०
२	८२	७०
३	७४	६२
४	६६	५५
५	५०	५०
६	३२	२६
७	२४	२०
८	१६	१४
६	८	६

पहले सौदे मे, 'क' चावल को ६वीं इकाई देगा जिसकी उपयोगिता ८ है, और उसे कपड़े की पहली इकाई मिलेगी जिसकी उपयोगिता ८० है। अत उसको

[४] यदि विनिमय से लाभ न होता, या प्रत्येक विनिमय मे एक पक्ष का धोखा खाना आवश्यक होता, तो यह समझना कठिन है कि इतनी सदियो से हम विनिमय क्यो करते चले आ रहे हैं। वास्तव मे,मै विनिमय मे जो वस्तु देता हूँ वह मुझे जो वस्तु मिलती है उससे कम उपयोगी और कम वाञ्छनीय होती है। अन्यथा मैं अपनी वस्तु को दूँगा ही नही। मेरे साथ जो व्यक्ति विनिमय करता है उसकी भी विचारधारा ऐसी ही होती है। हम दोनो मे से प्रत्येक यही समझता है कि विनिमय द्वारा उसे जो मिलता है वह उससे अधिक है जो कि वह देता है, और चाहे यह कितना ही विचित्र क्यों न प्रतीत होता हो, हम दोनों का विचार ठीक है— Guide, *Op. Cit.* p. 198.

उपयोगिता का लाभ (८०—८=) ७२ हुआ। इसी प्रकार 'ख' कपडे की ६वीं इकाई देगा जिसकी उपयोगिता ६ है, और उसे चावल की पहली इकाई मिलेगी जिसकी उपयोगिता ९० है, अत उसका उपयोगिता का लाभ (९०—६=) ८४ हुआ। इस प्रकार पहले सौदे मे 'क' और 'ख' दोनो को ही उपयोगिता का लाभ होगा। आपको गणना करने से पता चल सकता है कि अगले सौदों से भी प्रत्येक को उपयोगिता का कितना-कितना लाभ होगा। यह लाभ ५वे सौदे तक होता रहेगा, किन्तु उसके पश्चात् उपयोगिता की हानि आरम्भ हो जायगी। इसलिये ५वे सौदे के बाद विनिमय नहीं होगा। विनिमय के द्वारा दोनो पक्षो को उपयोगिता का लाभ होना चाहिये, अन्यथा सौदा नहीं होगा।

कभी-कभी यह पूछा जाता है कि जिस प्रकार विनिमय के द्वारा दोनो पक्षो को उपयोगिता का लाभ होता है, क्या इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भाग लेने वाले दोनों देशों को भी उपयोगिता का लाभ होता है?

यह प्रश्न जरा पेचीदा है। यदि दोनो देशों का आर्थिक विकास एक ही स्तर का हो, उन्हें निर्णय करने में स्वतन्त्रता हो और वे स्वेच्छापूर्वक व्यापार करे, तो निश्चय ही दोनो देशों को उपयोगिता का लाभ होगा। किन्तु यदि कोई देश अपने उत्पन्न किये हुए पदार्थों का दूसरे देश की वस्तुओं के साथ मजबूर होकर विनिमय करे, तो हो सकता है उसे हानि हो। जब कोई साम्राज्यवादी देश अपने अधीन देश के साथ व्यापार करता है, तब वह व्यापार अधीन देश को मजबूरी की हालत मे करना पडता है, और इससे उसे हानि उठानी पडती है।

अन्य लाभ

दोनो पक्षो को उपयोगिता का लाभ होने के अतिरिक्त, विनिमय से और भी कई लाभ होते हैं। इनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं:

(क) विनिमय के द्वारा देश अपने साधनो का अच्छे से अच्छा उपयोग कर सकता है जो कि विनिमय की अनुपस्थिति मे बेकार रहेगे। उदाहरण के लिये, भारतवर्ष अपनी आवश्यकता से कहीं अधिक अबरख उत्पन्न करता है, और यदि वह इसे इगलैंड या अमरीका के हाथ न बेच सके तो यह बेकार जायगा। विनिमय ही हमे इस योग्य बनाता है कि हम धन की उस मात्रा के लिये जो कि हमारे लिये बेकार है अच्छे दाम वसूल करते हैं।

(ख) विनिमय ने ही श्रम विभाग के प्रत्येक स्वरूप को सम्भव बनाया है। यदि विनिमय न होता हो तो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्त आवश्यकताओं की सतुष्टि के लिये सारा माल स्वय ही बनाना पडेगा। यदि उसकी आवश्यकताओं की सख्या २० हो, तो उसे बीस पेशों मे लगना पडेगा, और इसका परिणाम यह होगा कि वह

किसी मे भी कुशलता प्राप्त नही कर पावेगा। यह विनिमय का ही परिणाम है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुसार नही किन्तु अपनी रुचि के अनुसार धन उत्पन्न करता है। इसी प्रकार विनिमय प्रत्येक देश को इस योग्य बनाता है कि वह वे ही वस्तुएँ उत्पन्न करे जिनकी उत्पत्ति उसके सबसे अधिक अनुकूल हों।

(ग) विनिमय बाजारो का क्षेत्र बढा देता है और उत्पत्ति का पैमाना भी बढाता है। बडे पैमाने की उत्पत्ति के फलस्वरूप बहुत सी बाहरी और भीतरी किफायतें (external and internal economies) होने लगती हैं, इमसे लागत और प्रति इकाई मूल्य घट जाता है।

(घ) विनिमय के द्वारा हम ऐसी वस्तुएँ भी प्राप्त कर सकते हैं जो हम स्वयं उत्पन्न नही करते और जिन्हें हम अन्य किसी प्रकार प्राप्त भी नहीं कर सकते, जैसे पार्कर फाउन्टेनपेन या मोटरगाडियाँ। भूचाल, युद्ध, अकाल तथा अन्य राष्ट्रीय सकटों के समय मे, हम विनिमय द्वारा अन्य देशों से आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर सकते हैं।

§ ३ विनिमय के स्वरूप

आजकल के युग मे विनिमय द्रव्य (money) के माध्यम द्वारा होता है। हम प्राय प्रत्येक वस्तु द्रव्य लेकर बेचते हैं और आवश्यकता की लगभग सभी वस्तुये द्रव्य देकर खरीदते हैं। किन्तु विनिमय का एक और स्वरूप होता है जिसे अदल-बदल (barter) कहते हैं और जो अब करीब करीब लोप सा हो गया है। अत विनिमय के दो स्वरूप होते हैं (क) अदल बदल (barter) अर्थात् (द्रव्य के माध्यम के बिना) एक वस्तु का दूसरे के साथ सीधा विनिमय, जैसे गेहूँ का कपडे के साथ, और (ख) क्रय-विक्रय—किसी वस्तु का द्रव्य के बदले मे देना बिक्री या विक्रय कहलाता है, और किसी वस्तु को द्रव्य के बदले मे लेना क्रय या खरीद कहलाता है। अगले पृष्ठ पर यह विभाग दिखाया गया है
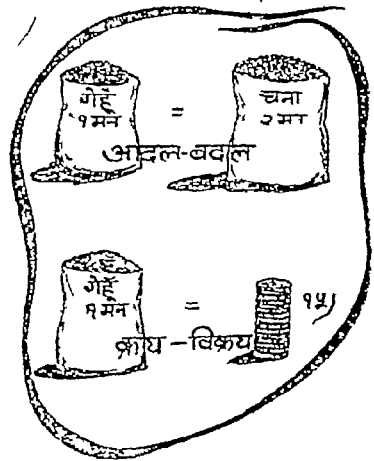
चित्र १—अदल बदल और क्रय-विक्रय

४. अदल-बदल या बर्टर

अदल-बदल
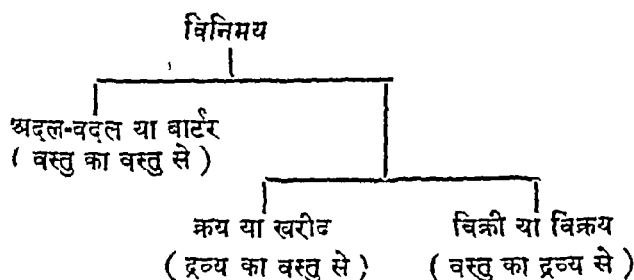
अदल-बदल या बार्टर प्रथा के अन्तर्गत एक वस्तु का दूसरी वस्तु से सीधा विनिमय किया जाता है। मान लीजिये आपके पास १ मन गेहूँ है, और आपको चने की आवश्यकता है। यदि आप १ मन गेहूँ देकर किसी किसान से २ मन चने ले लें, तो यह विनिमय अदल-बदल या बार्टर कहलायेगा। इसी प्रकार यदि आप

अदल-बदल

घड़ी　　फाउन्टेनपेन

चित्र २—अदल-बदल
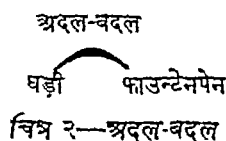
घड़ी देकर एक फाउन्टेनपेन बदले में प्राप्त करें, तो यह भी बार्टर का एक उदाहरण हुआ। बार्टर प्रथा में द्रव्य (अर्थात् रुपये-पैसे) का प्रयोग नहीं होता। वास्तव में बार्टर प्रथा उस समय चालू थी जब कि द्रव्य का चलन आरम्भ नहीं हुआ था। आजकल हर वस्तु रुपये लेकर बेची जाती है, और रुपये देकर खरीदी जाती है। किन्तु जब द्रव्य का आविष्कार नहीं हुआ था, तब विनिमय केवल बार्टर के रूप में ही किया जा सकता था। अतः बार्टर या अदल-बदल ही व्यापार का प्रारंभिक रूप था।

किन्तु बार्टर में इतनी असुविधायें होती थीं कि संसार के सभ्य देशों से इसका कुछ ही काल में लोप हो गया। आजकल यह केवल कुछ पिछड़े हुए प्रदेशों में पाया जाता है। हमारे देश में यह शहरी प्रदेशों से तो लगभग अदृश्य हो चुका है। किन्तु गाँवों में कुछ सीमा तक यह अब भी जारी है। गाँवों में कभी-कभी किसान गेहूँ देकर जुलाहे से कपड़ा ले लेता है, वह नाई, बढ़ई और लोहार आदि को भी उनकी सेवाओं के लिये अनाज देता है, और गाँवों के लड़के कभी-कभी स्याही, कागज आदि अनाज देकर

ले लेते हैं। किन्तु अदल-बदल का महत्त्व अब बहुत कम हो गया है और होता जा रहा है, और भारतवर्ष में ही नहीं वरन् संसार भर में ऐसा हुआ है।[5]

अदल-बदल संभव बनाने वाली दशायें

अदल-बदल ऐसी प्रारंभिक अवस्थाओं में ही सभव है जब कि आवश्यकताएँ सीमित हो, विनिमय का क्षेत्र सीमित हो और समाज सामान्यतया पिछड़ा हुआ हो।

(१) आवश्यकताओं का सीमित होना—अदल-बदल के लिये ऐसे दो व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जिनकी परिहार्य (disposable) वस्तुएँ एक दूसरे की आवश्यकताओं के अनुकूल हों। यह तभी हो सकता है जब कि समाज के सदस्यों की आवश्यकताये थोड़ी सी ही हों। जैसे-जैसे मनुष्यों की आवश्यकताये और उनकी किस्में अधिक होती जाती हैं, वैसे ही वैसे ऐसा होना कठिनतर होता जाता है। हो सकता है कि 'क' गेहूं देना और लेना चाहता हो, और उसे ऐसा व्यक्ति मिल सकता है जो गेहूं लेना और दूध देना चाहता हो। किन्तु यदि कोई व्यक्ति घड़ी देना और फाउन्टेन्पेन लेना चाहता हो तो उसे ऐसा व्यक्ति आसानी से नहीं मिलेगा जो घड़ी लेना और फाउन्टेन्पेन देना चाहता हो, क्योंकि दूध और गेहूं की अपेक्षा फाउन्टेन्पेन और घड़ी की आवश्यकता बहुत कम व्यक्तियों को होती है और ये वस्तुएँ बहुत थोड़े व्यक्तियों के पास होती भी हैं।

(२) विनिमय का सीमित क्षेत्र—अदल-बदल तभी सम्भव है जबकि विनिमय का क्षेत्र सीमित हो जिससे कि अदल-बदल के लिये उपयुक्त व्यक्ति खोजने में अधिक समय न लगाना पड़े। यदि क्षेत्र छोटा हो, तो उसके निवासियों के एक दूसरे की आवश्यकताओं से परिचित होने की सम्भावना अधिक होगी, और यदि उन्हें परिचय न भी प्राप्त हो, तो भी उन्हें उपयुक्त व्यक्ति खोजने में अधिक समय व्यतीत नहीं करना पड़ेगा।

(३) समाज का सामान्यतया पिछड़ा होना—अदल-बदल ऐसी प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही सम्भव है जबकि विनिमय का कोई एक माध्यम न हो, विभिन्न वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्य बताने का कोई साधन न हो और एक वस्तु को देकर उसके बदले में तुरत ही दूसरी वस्तु प्राप्त करने के अतिरिक्त विनिमय का कोई और साधन न हो। प्रारम्भिक अवस्था में भी यदि किसी व्यक्ति को सम्पत्ति बिना हानि

---

[5] अदल-बदल मुख्य रूप से असभ्य समुदायों में, या ऐसे समुदायों में जोकि किसी भयानक युद्ध के कारण बहुत खराब हालत में हो गये हों, प्रचलित होता है, यद्यपि अन्य असभ्य रीतियों के अनुसार इस रीति का भी जीवित रहना बच्चों के पारस्परिक व्यवहार में कभी-कभी दीख पड़ता है—*Hadley, Economics*, p. 71.

के उपविभाजित न की जा सकती हो, तो भी अदल-बदल सम्भव नहीं होगा। मान लीजिए किसी व्यक्ति के पास एक गाय है, उसके लिये यह असम्भव होगा कि उसको देकर उसके बदले में कोई बहुत कम मूल्य की वस्तु प्राप्त करे।

इससे स्पष्ट है कि जिस अवस्था में अदल-बदल सम्भव है वह अवस्था काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। प्रोफेसर कैसिल (Cassel) ने ठीक ही लिखा है कि मानवीय इतिहास में कभी ऐसे समाज का अस्तित्व नहीं हुआ जो कि साधारणतया और पूर्णतया द्रव्य के प्रयोग किये बिना ही माल का विनिमय करता रहा हो।

अदल-बदल की असुविधाये

ऊपर के वर्णन से आपको अदल-बदल के विषय में कुछ उत्सुकता सी हुई होगी। अब आप इस बात की कल्पना कीजिए कि आप ऐसे समाज में हैं जिसमे अदल-बदल ही विनिमय का एकमात्र स्वरूप है और जिसमे द्रव्य ऐसी वस्तु का जन्म ही नहीं हुआ। निश्चय ही आपको ऐसे समाज मे बहुत सी असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा और आप अपने समाज को ही जिसमें द्रव्य का प्रयोग होता है लौट जाना चाहेंगे। यदि कोई आप से यह पूछे कि आपको अदल-बदल में क्या क्या असुविधाये झेलनी पड़ीं, तो आप उनका वर्णन कदाचित् इस प्रकार करेंगे

(क) **दुहेरी समानता (Double Coincidence) की आवश्यकता—** अदल-बदल तभी सम्भव है जबकि एक व्यक्ति उस वस्तु को देना चाहे जिसकी आवश्यकता दूसरे व्यक्ति को है, और उसे उस वस्तु की आवश्यकता हो जो दूसरा व्यक्ति देना चाहता है। उदाहरण के लिये, यदि आप गेहूँ देकर चना लेना चाहते हैं, तो आपका केवल ऐसे ही व्यक्ति से काम नहीं चल जायगा जो कि चना देने को तैयार हो वरन् साथ में उसे गेहूँ की भी आवश्यकता होनी चाहिये। आप गेहूँ देना चाहते हैं, इसलिये उसे गेहूँ की जरूरत होनी चाहिये और वह चना देना चाहता है, इसलिये आपको चने की जरूरत होनी चाहिये। ऐसे व्यक्ति का खोजना बहुत कठिन है। दूसरे शब्दों में, **अदल-बदल की कठिनाई ऐसे दो व्यक्तियों को खोजना है जिनकी परिहार्य सम्पत्तियाँ (disposable possessions) एक दूसरे की आवश्यकता के अनुकूल हों।** हो सकता है कि एक शिकारी के पास बहुत सी खाल हों और उसे हथियारों की आवश्यकता हो, किन्तु जो हथियार दे सकते हैं उनके पास खाले पर्याप्त मात्रा में हो सकती हैं। ऐसी दशा में सीधा विनिमय सम्भव नहीं है। जैसे-जैसे आवश्यकताओं की संख्या अधिक होती जाती है

और विनिमय का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है, वैसे ही यह कठिनता भी बढ़ती जाती है[६]।

(ख) **विनिमय के दरों का बाहुल्य**—अदल-बदल में दूसरी कठिनाई विनिमय के दर याद रखने की होती है। अर्घ के सामान्य माप (अर्थात् द्रव्य या रुपये-पैसे) के अभाव में यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य अन्य समस्त वस्तुओं की मात्रा में याद रक्खा जाय। एक गज कपड़े के बदले में कितना दूध देना चाहिए, कितना गेहूँ देना चाहिये, कितना घी देना चाहिये, इत्यादि, और एक जोड़ी जूते के बदले में कितना कपड़ा, कितना घी, कितना चूना, कितना चना आदि देना चाहिए ? अदल-बदल वाले समाज में प्रचलित मूल्यों की सूची बहुत लम्बी होगी क्योंकि हमें प्रत्येक वस्तु का मूल्य अन्य प्रत्येक वस्तु की मात्रा में निका-

---

[६] कुछ यात्री जिन्हें असभ्य देशों में जहाँ अदल-बदल की प्रथा प्रचलित है यात्रा करने का अवसर मिला है, उन्होंने अदल-बदल की असुविधाओं का अच्छा वर्णन किया है। लैफ्टिनेन्ट कैमेरन (Lt. Cameron) को अफ्रीका में यात्रा करते समय एक नाव की आवश्यकता पड़ी, उस समय उन्हें जिन असुविधाओं का सामना करना पड़ा उनका उन्होंने (All Across Africa) इस प्रकार वर्णन किया है "सैयद का एजेण्ट यह चाहता था कि उसको भुगतान हाथी-दाँत में किया जाय, किन्तु मेरे पास हाथी-दाँत थे ही नहीं। किन्तु मुझे पता चला कि मुहम्मद इब्न साहब के पास हाथी-दाँत थे, किन्तु उन्हें कपड़े की आवश्यकता थी। पर मेरे पास कपड़ा भी नहीं था और इससे मेरी समस्या हल न हुई। फिर मैंने सुना कि मुहम्मद इब्न गरीब के पास कपड़ा था और उन्हें तार की आवश्यकता थी। भाग्य-वश तार मेरे पास था। अत: मैंने तार इब्न गरीब को दिया, उन्होंने मुझे जो कपड़ा दिया वह मैंने इब्न साहब को दिया, उन्होंने जो हाथी-दाँत दिया वह मैंने सैयद के एजेन्ट को दिया। तब कहीं जाकर मुझे नाव मिली।"

इसी प्रकार के बहुत से दिलचस्प किस्से जैवन्स (W. S Jevons) ने *Money and the Mechanism of Exchange* में दिये हैं। उदाहरण के लिए जब वैलेस महाशय मलाया में यात्रा कर रहे थे, तब कुछ टापुओं में, जहाँ कागजी मुद्रा का प्रचार नहीं था, वहाँ जब भी भोजन की आवश्यकता पड़ती, उन्हें काफी भाव-ताव करना पड़ता और मुसीबत उठानी पड़ती, और फिर भी भोजन के लिये उपयुक्त सामान न मिलता। यदि मछली या अन्य किसी खाद्य-पदार्थ के विक्रेता को उसकी आवश्यकतानुसार वस्तु न मिलती, तो वह आगे बढ़ जाता, और वैलेस महाशय और उनके मित्रों को भूखे ही रहना पड़ता।

लना पडेगा। यदि १०० वस्तुएँ हों, तो हमें प्रत्येक वस्तु का मूल्य अन्य ९९ वस्तुओं मे मालूम करना पडेगा और इस प्रकार विनिमय के ४९५० अनुपात प्राप्त होंगे। अत बार्टर प्रथा मे अर्घ के सामान्य माप न होने से बहुत बडी असुविधा होती है।

(ग) उप-विभाजन की कठिनाई—अदल-बदल की तीसरी असुविधा यह होती है कि कुछ वस्तुओं का अर्घ अधिक होता है, इसलिये कम अर्घ वाली वस्तु के साथ उनका विनिमय करने के लिये उनका उप-विभाजन करना आवश्यक हो जाता है, किन्तु उप-विभाजन कर देने से कुछ वस्तुएँ बेकार हो जाती हैं। उदाहरण के लिये, मान लीजिये आपको कोट के बदले मे २० सेर गेहूँ मिल सकते हैं, किन्तु यदि आपको केवल १० सेर गेहूँ की आवश्यकता है, तो आपको आधा कोट काट कर देना पडेगा। पर कोट को काट देने से वह बेकार हो जायगा[७]। अत आप कोट के बदले मे कम अर्घ वाली वस्तु प्राप्त ही नहीं कर सकते। यह कठिनाई केवल अविभाज्य वस्तुओं के सम्बन्ध में उपस्थित होती है। जो वस्तु बिना किसी हानि के उप-विभाजित की जा सकती है, जैसे गेहूँ या चावल, वह विभाज्य वस्तु कहलाती है और उसके सम्बन्ध मे यह कठिनाई उपस्थित नहीं होती।

५. क्रय-विक्रय

अदल-बदल की असुविधाओं को दूर करने के लिये, मानव जाति ने द्रव्य[८] (अर्थात् रुपये पैसो) का आविष्कार किया। हर वस्तु का विनिमय द्रव्य से किया जाने लगा। आजकल हर वस्तु द्रव्य द्वारा खरीदी और बेची जाती है। जब आप वस्तु का विनिमय द्रव्य से करते हैं, तो यह बिक्री या विक्रय कहलाता है, और जब आप द्रव्य का विनिमय वस्तु मे करते हैं, तो यह खरीद या क्रय कहलाता है। अत. आधुनिक काल मे विनिमय का स्वरूप क्रय-विक्रय है, और आधुनिक काल "क्रय-

---

[७] W. S Jevons, *Money and the Mechanism of Exchange*, pp. 3-5

[८] द्रव्य विनिमय का सामान्य माध्यम होता है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु इसी को देकर खरीदी जाती है और इसी को लेकर बेची जाती है, अर्घ का सामान्य माप होता है अर्थात् सब वस्तुओं का अर्घ इसी की मात्रा मे निश्चित किया जाता है, और वस्तुओं के अर्घ के उप-विभाजन का साधन होता है। द्रव्य की विस्तृत विवेचना के लिये देखिये अध्याय ४८, आगे।

विक्रय का युग" कहलाता है। क्योंकि क्रय-विक्रय में द्रव्य से विनिमय किया जाता है, अत वर्तमान काल "द्रव्य का युग" (Money Economy) भी कहलाता है।

क्रय-विक्रय की प्रथा में हमे उन तीनों असुविधाओं का सामना नहीं करना पडता जो अदल-वदल प्रथा में हमको झेलनी पडती हैं। (१) क्रय-विक्रय के युग में दुहेरी समानता की आवश्यकता नहीं, अर्थात् आपको ऐसा व्यक्ति खोजना नहीं पडता जो आपकी जरूरत की वस्तु देना चाहे और जो वस्तु आप देना चाहते हैं उसे लेना चाहे। यदि आप गेहूँ देकर चना लेना चाहते हैं, तो आप को ऐसा आदमी खोजने की जरूरत नही जो चना देना और गेहूँ लेना चाहे। आप पहले ऐसा व्यक्ति खोजिये जो गेहूँ चाहता है, उसे गेहूँ वेचकर आप द्रव्य प्राप्त कर लीजिये। फिर ऐसे व्यक्ति को खोजिये जो चना वेचना चाहता हो, द्रव्य देकर उससे चना खरीद लीजिये। इसी प्रकार यदि आप घडी के वदले मे फाउन्टेनपेन चाहते हैं, तो आपको ऐसा व्यक्ति नहीं खोजना पड़ेगा जो फाउन्टेनपेन देकर घडी खरीदना चाहे। आप

चित्र ३—क्रय-विक्रय
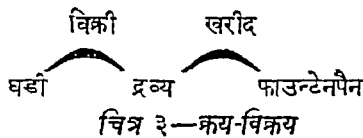
घड़ी को रुपये के वदले मे वेच सकते हैं, और रुपये से जहाँ जी चाहे फाउन्टेनपेन खरीद सकते हैं। इस प्रकार अदल-वदल दो भागों मे वॅट जाता है (अ) विक्री और (आ) खरीद। अदल-वदल की प्रथा मे आपको केवल एक व्यक्ति से विनिमय करना पडता है, पर क्रय-विक्रय प्रथा मे दो से। किन्तु दो वार विनिमय करने मे कोई कठिनाई नहीं होती। (२) दूसरे, द्रव्य का चलन होने पर हर वस्तु का मूल्य केवल द्रव्य (अर्थात् रुपयों) मे याद रखना पडता है, अन्य प्रत्येक वस्तु में नहीं। यदि किसी समाज मे १०० वस्तुएँ हैं, तो हमें उनका मूल्य केवल द्रव्य मे मालूम करना होगा और विनिमय के केवल १०० दर होंगे। अदल-वदल प्रथा की भाँति, ४९५० दर नहीं होंगे। (३) अन्त मे, क्रय-विक्रय प्रथा मे वस्तुओ के उप-विभाजन का प्रश्न ही नही उठता, क्योंकि हर वस्तु द्रव्य से खरीदी और वेची जाती है, और रुपये का उप विभाजन आसानी से हो जाता है। वार्टर प्रथा के अन्तर्गत यदि आप कोट देकर केवल १ सेर दूध लेना चाहते हो, तो यह अदल-वदल नही हो सकता क्योंकि कोट के टुकडे नही किये जा सकते। यदि द्रव्य का चलन हो तो आप कोट को वाजार मे २५) का वेच सकते हैं, और इस रकम मे से आठ आने देकर १ सेर दूध खरीद सकते हैं।

§ ६. विनिमय का यंत्र

आजकल माल का हस्तातरण उत्पादक से सीधा अन्तिम उपभोक्ता को नही किया जाता। अन्तिम उपभोक्ताओं के पास पहुँचने के पहले माल बहुत से पत्तों के हाथ से गुजरता है। ऐसे समस्त पत्त और सहायक सयुक्त रूप से **विनिमय का यत्र** (exchange mechanism) कहलाते है। विनिमय के मुख्य सहायक निम्नलिखित हैं :—

(क) **व्यापारी** जो खरीदने और बेचने वालों में सबन्ध स्थापित करते हैं।

(ख) **बाजार** जहाँ वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती हैं।

(ग) **द्रव्य** जिसके बदले मे वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती हैं।

(घ) **यातायात और सदेश वाहन के साधन** जिनके द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाया जाता है और समाचार भेजा जाता है।

(ङ) **साखपत्र** (Credit Instruments) **और साख सस्थाये** (Credit Institutions) अर्थात् बैङ्क जिनके द्वारा द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जाता है।

अभ्यास के प्रश्न

१ विनिमय का क्या अर्थ है? विनिमय नामक अर्थशास्त्र के विभाग तथा विनिमय नामक आर्थिक क्रिया का भेद बताइये।

२ विनिमय के उदय की विवेचना कीजिये। इसके आवश्यक लक्षण क्या हैं?

३ क्या आप समझते हैं कि विनिमय ने मानवी आराम और उन्नति मे बहुत सहायता दी है? यदि हाँ, तो कैसे?

४ विनिमय के स्वरूप कौन से होते हैं? पूर्णतया वर्णन कीजिये।

५ अदल-बदल या बार्टर का क्या अभिप्राय है? किन दशाओं मे यह संभव होता है? इसके दोषों को बताइये।

६ द्रव्य का आविष्कार क्यों किया गया? इसमे क्या गुण होते हैं?

७. "विनिमय के यत्र" पर एक सक्षिप्त लेख लिखिये।

८ "अभ्यातरिक वाणिज्य राष्ट्र के धन की वृद्धि नही करता क्योंकि यह केवल माल का एक व्यक्ति से दूसरे को हस्तातरण करता है।"—(टेलर)। क्या आप इससे सहमत हैं?

९ एक पक्षीय हस्तातरण के दो उदाहरण दीजिये, और द्विपक्षीय हस्तातरण के भी दो उदाहरण दीजिये।

१०. भारत और जापान में विनिमय होने के लाभ क्या है ? और किसी वकील और किसी डाक्टर मे होने वाले विनिमय के ?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. क्या यह सच है कि विनिमय कम आवश्यक वस्तु का अधिक आवश्यक वस्तु से अदल-बदल करने को कहते हैं ? विनिमय के लाभ बताइये। भारतवर्ष से उदाहरण दीजिए। (१६४६)

२ विनिमय का उदय कैसे होता है ? बताइये कि क्रय-विक्रय बार्टर की अपेक्षा क्यों श्रेष्ठ है। (१६४७)

३ अदल-बदल की कठिनाइयो पर सक्षिप्त नोट लिखिये। (१६४४)

४ अदल-बदल पर सक्षिप्त नोट लिखिये। (१६४२)

५ भारत के ग्रामीण भागों में अदल-बदल किस सीमा तक और क्यों प्रचलित है ? इस प्रकार के सौदों मे जो असुविधाएँ होती हैं, उनको बताइये। (१६४१)

६. विनिमय की क्या दशाएँ हैं ? एक उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट कीजिए कि विनिमय द्वारा दोनों पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है। (१६४०)

७ विनिमय की परिभाषा दीजिए। यह समझाइये कि विनिमय के दोनो पक्षों क उपयोगिता का लाभ होता है। क्या ऐसी भी परिस्थिति हो सकती है जब कि ऐसा लाभ अदृश्य हो जाय ? (१६३४)

८ उन दशाओं का वर्णन कीजिए जिनमें कि अदल-बदल सम्भव है। द्रव्य द्वारा विक्री ने अदल-बदल का स्थान क्यों ग्रहण कर लिया है ? (१६२७)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

9. Write a short note on inconveniences of barter. (1949)

10. Is it true to say that exchange is the barter of the comparatively superfluous for the comparatively necessary ? Explain the advantages of exchange, giving illustrations from India (1943)

11. Fully explain how our economic system could never have evolved to its present position without the use of money (1943)

12 What is barter ? Explain how the use of money originated in the inconveniences of barter. (1942)

13 Why is exchange necessary ? How can both parties gain in utility by exchange ? (1941)

२

14 Explain why exchange by sale and purchase is more desirable than barter. (1938, 1935)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

15. Explain the functions of money. Why has money exchange replaced barter ? (1948)

16 Write a short note on Gains of Exchange (1947)

17 Write a short note on Barter. (1946)

पटना, इन्टर आर्ट्स

18. Define money What are the difficulties of barter ? (1948 Annual)

19. What are the advantages of conducting transactions through money rather than by barter ? (1946 Annual)
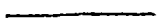
अध्याय ४५

बाजार

§ १. विषय-प्रवेश

यदि आपको एक पेन्सिल, या टोपी, या पुस्तक, या फल खरीदने हो, तो आपको इसके लिये **बाजार** जाना पडेगा। प्रतिदिन के व्यवहार में बाजार उस स्थान को कहा जाता है जहाँ वस्तुएँ खरीदी और वेची जाती हैं, अर्थात् जहाँ विनिमय होता है। बाजार विनिमय या व्यापार के महत्त्वपूर्ण सहायक होते हैं और हम इस अध्याय में उन्हो का अध्ययन करेंगे।

परिभाषा

प्रतिदिन की भाषा मे बाजार उस **स्थान** को कहते हैं जहाँ वस्तुएँ खरीदी और वेची जाती हैं। किन्तु अर्थशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ मे किया जाता है। इसको समझने के लिये निम्नलिखित बातें ध्यान मे रखनी चाहिये

(१) किसी खास **स्थान** को बाजार कहना कुछ काल पूर्व तो ठीक माना जा सकता था जब कि यातायात के साधनों का विकास नही हुआ था, और जो वस्तु जहाँ उत्पन्न होती थी वहीं वेची भी जाती थी। किन्तु अब ऐसा नहीं होता। अब यह आवश्यक नही कि फाफामऊ मे उत्पन्न होने वाला गेहूँ उसी गाँव मे विके। हो सकता है कि वह गेहूँ इलाहाबाद, बम्बई या लदन में रहने वाले व्यापारी को बेचा जाय। डाक और तार द्वारा भाव तय किया जा सकता है, और रेल और जहाज द्वारा गेहूँ लदन तक भेजा जा सकता है[1]। अत. ऐसी दशा में गेहूँ का बाजार फाफामऊ में केन्द्रित नहीं

---

[1] यातायात और सन्देशवाहन के साधनों की उन्नति हो जाने के कारण बाजार स्थापित करने के लिये यह आवश्यक नही कि व्यापारी किसी एक स्थान पर आवश्यक रूप से उपस्थित हों, वे किसी बडे शहर में या समस्त देश भर मे छितरे हो सकते हैं, यदि डाकखाने, टेलिफोन, तार और सूची-पत्रों आदि द्वारा उनमे बातचीत होती रहती हो। जो वस्तु जितनी अधिक वहनीय (Portable) होती है और सदेशवाहन के साधन जितने अच्छे होते हैं, बाजार का क्षेत्र उतना ही बड़ा होता है। बहुत से

है, प्रत्युत वह उस समस्त क्षेत्र तक विस्तृत है जहाँ तक कि खरीदार और विक्रेता फैले हुए हैं। अत. आधुनिक अर्थशास्त्री कहते हैं कि **बाजार किसी स्थान को नहीं वरन् किसी क्षेत्र को कहते हैं।** जिस क्षेत्र में किसी वस्तु के क्रेता और विक्रेता फैले होते हैं, उसी को उस वस्तु का बाजार कहा जाता है। कूर्नो (cuinot) ने, जो एक बडे अर्थशास्त्री हो गये हैं, लिखा था कि बाजार का आशय ऐसे स्थान से नही जहाँ कि क्रय विक्रय होता है, प्रत्युत उस समस्त क्षेत्र से है जिसमें कि खरीदार और विक्रेता फैले होते हैं।

(२) बाजार बिना क्रेताओं और विक्रेताओं की उपस्थिति के नही हो सकता। यदि खरीदार न हो, तो फिर वस्तु की बिक्री ही न हो और बाजार का प्रश्न ही उपस्थित न हो। इसी प्रकार यदि किसी वस्तु का कोई बेचने वाला ही न हो, तो फिर उसकी बिक्री का प्रश्न ही नही उठता और इसलिये बाजार का भी प्रश्न नहीं आता। **अत बिना खरीदार और विक्रेताओं के बाजार नहीं हो सकता।** दूसरे शब्दों में, खरीदार और विक्रेता बाजार के आवश्यक अग हैं।

४ चित्र—बाजार के अग

(३) एक और बात याद रखने की यह है कि अर्थशास्त्र में एक बाजार का सम्बन्ध केवल एक ही वस्तु से होता है। गेहूँ का बाजार किताबों के बाजार से बिल्कुल अलग माना जाता है। बाजार किसी एक वस्तु का ही होता है, एक से अधिक का नहीं। व्यवहार में आप देखेंगे कि एक ही स्थान पर आप किताब भी खरीद सकते हैं, फल भी और कपडा भी। किन्तु अर्थशास्त्र मे जब बाजार की चर्चा की जाती है, तो केवल एक वस्तु से ही अभिप्राय होता है।

(४) जिस क्षेत्र मे किसी खास वस्तु के खरीदार और विक्रेता फैले हों, वह बाजार तभी हो सकता है जब कि खरीदार और विक्रेता आपस में सौदे करें। जिस

आधुनिक बाजार इतवार, छुट्टियों और रात को छोडकर बराबर कार्यशील रहते हैं। देखिये Devas, *Political Economy*, Book II, Ch. II; और Nicholson, *Political Economy*, book II, तथा Flux, Economic Principles, Ch III.

क्षेत्र मे खरीद या विक्री न होती हो, वह कैसे वाजार कहला सकता है ? अत. वाजार में स्पर्द्धा का होना आवश्यक है। यदि वाजार में पूर्ण स्पर्द्धा (Perfect Competition)[२] हो, तो वस्तु का मूल्य वाजार के हर भाग मे समान होगा। तव कोई भी विक्रेता उस मूल्य से कम मूल्य वसूल न करेगा जिस पर कि अन्य विक्रेता वस्तु वेच रहे हैं, और कोई भी खरीदार उस मूल्य से अधिक मूल्य न देगा जिस पर कि अन्य खरीदार वह वस्तु खरीद रहे हैं। इसका परिणाम यह होगा कि वाजार मे एक ही मूल्य प्रचलित होगा।

अत. हम वाजार की निम्नलिखित परिभाषा दे सकते हैं . **वाजार उस क्षेत्र को कहते हैं जिसमें कि किसी विशेष वस्तु के खरीदार और विक्रेता फैले होते हैं और आपस मे स्पर्द्धा करते हैं।**

कुछ परिभाषाये

हम नीचे वाजार की कुछ प्रसिद्ध परिभाषाएँ देते हैं और उपरोक्त विवेचन के प्रकाश मे उनकी आलोचना भी देते हैं।

सीगर की परिभाषा—सीगर (Seager) ने वाजार की निम्नलिखित परिभाषा दी थी : "वाजार से हमारा मतलव उस स्थान से या यातायात के साधनो के सगम से होता है जिसके द्वारा क्रेता और विक्रेता आर्थिक माल के विनिमय के लिये एकत्रित होते हैं।"[3] इस परिभाषा के दोष स्पष्ट हैं (१) वाजार को स्थान कहना गलत है। (२) इसमे यह नहीं कहा गया कि वाजार का सम्वन्ध केवल एक ही वस्तु से होता है। (३) इसमें यह वताया गया है कि क्रेता और विक्रेता विनिमय के लिये एकत्रित होते हैं, किन्तु कहना यह चाहिये कि वे आपस में विनिमय करते हैं, क्योंकि यदि वे एकत्रित होकर विनिमय न करे, तो फिर वाजार स्थापित ही नहीं होगा।

कूर्नो की परिभाषा—कूर्नो (Cournot) ने लिखा है कि "वाजार का आशय ऐसे स्थान से नहीं जहाँ कि वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है, प्रत्युत उस समस्त क्षेत्र से है जिसमें कि क्रेताओ और विक्रेताओ के वीच मे ऐसी स्वतत्र स्पर्द्धा हो कि किसी वस्तु का मूल्य सहज मे ही और शीघ्रता से समानता की प्रवृत्ति प्रदर्शित करे।" यह परिभाषा वहुत उपयुक्त है और इसमें सव वातों का उचित समावेश है।

जेवंस की परिभाषा—जैवस (Jevons) ग्रेट ब्रिटेन के एक वडे अर्थशास्त्री हो गये हैं। उन्होंने लिखा है कि वाजार का "आशय उन व्यक्तियो के समूह से होता है

---

[२] "पूर्ण स्पर्द्धा" का अर्थ पृष्ठ २२ पर स्पष्ट किया गया है।

[3] *Principles of Economics*, p. 40.

जिनके बीच में घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो और जो किसी वस्तु मे बहुत से सौदे करें।"[४] इस परिभाषा मे बाजार को क्षेत्र नही कहा गया, वरन् उसे किसी वस्तु के क्रेता और विक्रेताओं से सम्बन्धित किया गया है। यह परिभाषा का दोष नही है क्योंकि बिना क्षेत्र का जिक्र किये हुए भी बाजार की परिभाषा दी जा सकती है। इसमें अन्य तीनो बातों का समावेश है।

पूर्ण बाजार

जिस बाजार मे पूर्ण स्पर्द्धा (perfect competition) होती है, उसे पूर्ण बाजार (perfect market) कहते हैं। पूर्ण स्पर्द्धा होने के लिये तीन बातें आवश्यक होती हैं (१) क्रेताओ और विक्रेताओं मे स्वतन्त्र रूप से स्पर्द्धा होनी चाहिये। क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच में, स्वय क्रेताओ में आपस मे, और स्वय विक्रेताओ मे आपस मे स्वतन्त्र रूप से स्पर्धा हो। (२) क्रेताओं की सख्या अधिक होनी चाहिये, और विक्रेताओं की भी सख्या अधिक होनी चाहिये। (३) प्रत्येक क्रेता और विक्रेता को पूर्ण ज्ञान हो कि बाजार मे वस्तु किस स्थान पर क्या भाव बिक रही है। ऐसा ज्ञान होने पर कोई भी विक्रेता उस मूल्य से कम वसूल नही करेगा जिस पर कि अन्य व्यापारी अपना माल बेच रहे हैं, और इसी प्रकार कोई भी खरीदार उससे अधिक मूल्य नही देगा जो कि अन्य खरीदार दे रहे हैं।[५] यदि ये तीनों बातें उपस्थित हैं, तो स्पर्द्धा **पूर्ण स्पर्द्धा** कहलाती है और बाजार **पूर्ण बाजार** कहलाता है।

इन दशाओं में किसी भी वस्तु का मूल्य एक ही रहेगा। यदि किसी व्यापारी ने अपना मूल्य बढा दिया, तो उसके ग्राहकों को इस बात का ज्ञान हो जायगा, और स्वतन्त्र स्पर्द्धा होने के कारण वे ऐसे व्यापारी की मित्रता या अच्छाई का विचार न करके किसी अन्य व्यापारी से माल खरीदने लगेंगे। अत व्यापारी को वही मूल्य स्वीकार करना पडेगा जो अन्य व्यापारी कर रहे हैं। इसी प्रकार यदि कोई खरीदार कम मूल्य देना चाहे, तो कोई व्यापारी उसे माल नही बेचेगा क्योंकि हर व्यापारी को मालूम है कि उस मूल्य पर उसे बहुत से खरीदार मिल जायेंगे। अत खरीदार को वही मूल्य देना पडेगा जो अन्य खरीदार दे रहे हैं। इस प्रकार पूर्ण बाजार में किसी समय एक वस्तु का मूल्य एक ही होता है।

यह बात इतनी महत्वपूर्ण है कि यह कहा जाता है कि एक मूल्य होना आर्थिक बाजार का लक्षण भी है और उसकी परीक्षा भी। यदि किसी शहर में एक ही वस्तु

---

[४] Jevons, *Theory of political Economy*, pp 84-85

[५] देखिये Meade, *Economic Analysis and Policy*

दो जगह दो अलग-अलग मूल्यों पर बिकती हो, तो कहा जायगा कि उस वस्तु के दो वाजार हैं। उदाहरण के लिये, यदि इलाहावाद में आलू का भाव चौक मे ।।=) सेर हो और कटरे में ।।।) सेर, तो हम कहेंगे कि इलाहावाद में आलू के दो वाजार हैं—एक तो चौक वाजार और दूसरा कटरा वाजार।

यातायात का व्यय—यदि वाजार वहुत वडा हो, तो यातायात के खर्चे के वरावर मूल्यो में अन्तर छोड देना पडता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये हमे इलाहावाद मे अमरूद ।।।) दर्जन मिलते हैं, और अमरूदों को कानपुर तक ले जाने का खर्चा =) दर्जन पडता है। तो यदि हमे कानपुर मे अमरूद ।।।=) दर्जन मिले, तो हम कहेंगे कि इलाहावाद और कानपुर एक ही वाजार के दो हिस्से हैं।

पूर्ण वाजार काल्पनिक होता है—पूर्ण वाजार का वास्तविक अस्तित्व नहीं होता क्योंकि पूर्ण स्पर्द्धा स्वय ही एक कल्पना की वस्तु है। किन्तु पूर्णता की ओर प्रवृत्ति का होना देखा जाता है। वाजार जितना पूर्ण होता है, और उसमे स्पर्द्धा की पूर्णता जितनी ही अधिक होती है, वस्तु के मूल्य की उसके विभिन्न भागों में समान होने की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक स्पष्ट होती है [६]।

अपूर्ण स्पर्द्धा और अपूर्ण वाजार

प्रतिदिन के जीवन में हमें जो स्पर्द्धा और जो वाजार दीख पडते हैं, वे अपूर्ण कहलाते हैं। इस पुस्तक मे हमने केवल पूर्ण स्पर्द्धा की वातो का अध्ययन किया है, अपूर्ण स्पर्द्धा प्रारम्भिक विद्यार्थियों को समझना कठिन है, इसलिये उसे छोड दिया है।

उदासीनता का सिद्धान्त (Law of Indifference) या वाजार का सिद्धान्त (Law of Markets)

यदि स्पर्द्धा पूर्ण या स्वतत्र हो, तो किसी वस्तु के एक-सी (Uniform or Homogeneous) होने पर, उसका कोई भी भाग उसके किसी दूसरे भाग के लिये उदासीनतापूर्वक प्रयुक्त किया जा सकता है, और एक ही पूर्ण वाजार मे, एक ही समय, उसकी प्रत्येक इकाई का मूल्य एक ही होगा। कोई कारण नहीं कि खरीदार उसी वस्तु की दो पूर्णतया एक-सी इकाइयो को भिन्न समझे। यदि वाजार पूर्ण है, तो कोई भी खरीदार एक वस्तु के लिये वही मूल्य देगा जितना कि दूसरा खरीदार दे रहा है, उससे अधिक नहीं। उसे तो आवश्यक मात्रा मे वस्तु मिलनी चहिये, वह मात्रा उसे कौन देता है इससे उसे कोई खास प्रयोजन नहीं, और यदि कोई विक्रेता दूसरे विक्रेता की अपेक्षा कम मूल्य पर माल वेचता हो, तो सब

---

[६] देखिए Marshall, *Principles of Economics*

खरीदार उससे ही माल खरीदेंगे। इसी प्रकार जिस मूल्य पर और विक्रेता माल बेच रहे हो, उससे कम मूल्य पर कोई भी विक्रेता माल नही बेचेगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि **एक ही पूर्ण बाजार मे एक ही समय किसी वस्तु का केवल एक ही मूल्य हो सकता है**। उसी वस्तु से हमारा आशय समान गुण, ग्रेड (grade) और विवरण की वस्तु से है जिसका कोई भी भाग **उदासीनतापूर्वक** किसी दूसरे भाग के बदले मे प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रवृत्ति या सिद्धान्त को प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जेवन्स (Jevons) ने **उदासीनता का सिद्धान्त (Law of Indifference)** कह कर पुकारा है।

वैसे तो यह प्रवृत्ति प्रत्येक बाजार मे थोडी-बहुत दीख पडती है, किन्तु यह **पूरी तरह से** किसी भी **वास्तविक** बाजार मे क्रियाशील नही होती। पहली बात तो यह है कि पूर्ण स्पर्द्धा वास्तविक जीवन में होती ही नही, और दूसरी बात यह है कि स्पर्द्धा का अस्तित्व मूल्य मे कुछ अल्पकालीन भिन्नता होने की स्वय ही पूर्वकल्पना (Presupposition) करती है, यद्यपि कि प्रवृत्ति यही होती कि एक वस्तु का मूल्य एक ही हो।[७]

§ २. बाजार का उदय

समय की गति के साथ-साथ बाजारों का स्वभाव और उनके विस्तार मे बहु तात्विक परिवर्तन हुए हैं। पहले छोटे-छोटे स्थानीय और सामान्य बाजार हुआ करते थे जिनमे प्रतिदिन की आवश्यकता की प्राय सभी वस्तुएँ बिका करती थीं। किन्तु अब ऐसे बाजारो का लोप हो चुका है और उनके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय बाजार और विशिष्ट बाजार स्थापित हो गए हैं। बाजारों के उदय का अध्ययन हम दो दृष्टिकोणों से कर सकते हैं (क) भौगोलिक दृष्टिकोण से, और (ख) कार्यात्मक (Functional) दृष्टिकोण से।

भौगोलिक विकास

भौगोलिक दृष्टि से बाजारों के विकास का अध्ययन करते समय हम उस क्षेत्र को ध्यान मे रखते हैं जिसमें कि क्रेता और विक्रेता फैले होते हैं। इस

---

[७] S. E Thomas, *Elements of Economics*, p. 168, और देखिये Sidgwick, *Political Economy*, pp 44-45. जे० बी० से (J B. Say) ने एक **दूसरा बाजार का सिद्धान्त** प्रतिपादित किया था जिसके अनुसार "अन्य वस्तुओं की किस्में और मात्रा जितनी बढती जायेंगी, प्रत्येक वस्तु की बिक्री उतनी ही शीघ्र होगी।" जेवन्स का **बाजार का सिद्धान्त** जे० बी० से के सिद्धान्त से बिल्कुल अलग है।

प्रकार के विकास की तीन सीढ़ियाँ हैं—स्थानीय वाजार, राष्ट्रीय वाजार और अन्तर्राष्ट्रीय वाजार।

(१) स्थानीय वाजार—यदि किसी वस्तु के क्रेता और विक्रेता किसी खास स्थान पर व्यापार करते हों, तो वाजार स्थानीय कहा जाता है। उदाहरण के लिये, दूध और तरकारी आदि नाशमान् (Perishable) वस्तुओं का वाजार अधिकतर स्थानीय होता है। यही वात ईंट, वालू तथा अन्य भारी वस्तुओ के विषय मे भी कही जा सकती है क्योंकि उनके यातायात का खर्चा अधिक होने के कारण वे दूर के खरीदारों के हाथ नही बेची जा सकती। किन्तु "कोल्ड स्टोरेज" (Cold storage) के द्वारा नाशमान् वस्तुओ को काफी दिनो तक रक्खा जा सकता है, अत. जहाँ इसकी सुविधा प्राप्त है और यातायात के सस्ते तथा गतिशील साधन भी उपलब्ध हैं, वहाँ ऐसी वस्तुओ का वाजार भी अब अधिक विस्तृत होने लगा है।

(२) राष्ट्रीय (National) वाजार—यदि किसी वस्तु के क्रेता और विक्रेता देश भर में फैल गये हों, तो उसका वाजार राष्ट्रीय कहा जाता है। धोती, साडी और टोपियों का हमारे देश में राष्ट्रीय वाजार है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय वाजार—यदि किसी वस्तु के क्रेता और विक्रेता ससार भर में फैले हों, तो उसका वाजार अन्तर्राष्ट्रीय कहलाता है। उदाहरण के लिये, कपड़ो, सोने, चाँदी और शेयरों का वाजार अन्तर्राष्ट्रीय होता है।

अतः भौगोलिक दृष्टि से वाजार का विकास स्थानीय वाजार से राष्ट्रीय वाजार और अन्तर्राष्ट्रीय वाजार में हुआ है।

कार्यात्मक (Functional) विकास

वाजार जिस कार्य को सम्पन्न करते हैं, उसके अनुसार भी वाजार के विकास का अध्ययन किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से विकास के सोपान निम्नलिखित हुए हैं—सामान्य वाजार, विशिष्ट वाजार, नमूने द्वारा विक्री, और ग्रेड (grade) द्वारा विक्री।

(१) सामान्य या मिश्रित वाजार—पुराने जमाने में वाजार सामान्य या मिश्रित हुआ करते थे जिनमे कि विभिन्न प्रकार के पदार्थ खरीदे और वेचे जाते थे। ऐसे वाजारों का महत्व अब कम हो चला है, यद्यपि हमारे देश के गाँवों और कस्वो में वे अक्सर पाये जाते हैं। गाँवों के वाजार मे आप अपनी साधारण आवश्यकताओं की लगभग सभी वस्तुएँ खरीद सकते हैं। इसके विपरीत, शहरों के वाजारो में अब विशिष्टीकरण (specialisation) होने लगा है।

(२) विशिष्ट (Specialised) वाजार—वाजारो के विकास में दूसरी

सीढी विशिष्टीकरण की थी। पहले तो बाजार सामान्य थे और विभिन्न प्रकार की अनेक वस्तुएँ उनमे बिका करती थीं। किन्तु धीरे-धीरे उत्पत्ति बढी और वस्तुओं की संख्या तथा प्रत्येक वस्तु की किस्मों मे भी वृद्धि हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि किसी एक बाजार में कुछ थोडी सी वस्तुओं की बिक्री होने लगी। उदाहरण के लिये, बडे-बडे शहरो मे सोने-चाँदी का बाजार अलग होता है, जिसे **सराफा** कहते हैं, तरकारी का बाजार अलग होता है, जिसे **सब्जी मंडी** कहते हैं, और इसी प्रकार अन्य बाजार भी होते हैं। बाजारों के विशिष्टीकरण से स्पर्द्धा अधिक तीव्र हो जाती है, माल खरीदने में चुनाव के साधन बढ जाते हैं और ऐसी ही अन्य सुविधायें भी होती हैं।

(३) नमूने द्वारा बिक्री—जब बाजारो का विकास और हुआ, तो नमूनों के अनुसार बिक्री होने लगी। जब माल के वर्ग बढ जाते हैं और प्रत्येक वर्ग की किस्में भी बहुत सी हो जाती हैं, तब व्यापारी के लिये यह सम्भव नहीं होता कि वह अपना सारा माल अपनी दूकान मे ले जाय और वहाँ उसे सजाकर दिखावट के लिये रक्खे। अत वह नमूने के अनुसार माल की बिक्री करने लगता है। उसे जो भी माल बेचना होता है, वह उसका नमूना निकाल लेता है, वह केवल नमूना ही अपनी दूकान मे ले जाता है और उससे दिखावट के लिये रख देता है। नमूने के द्वारा बिक्री करने में बहुत से लाभ हैं। नमूने का लाना-लेजाना, पूरी मात्रा के यातायात की अपेक्षा, कहीं अधिक सुविधाजनक होता है। माल के बाजार तक यातायात करने का व्यय भी नहीं करना पडता। क्योंकि नमूने डाक द्वारा दूर-दूर तक भेजे जा सकते हैं, इसलिए बाजार का विस्तार भी बढ़ जाता है। साथ ही साथ विक्रेताओं के पास स्थान-स्थान से नमूने आते हैं और वे आसानी से उपयुक्त माल छाँटकर खरीद सकते हैं।

किन्तु प्रत्येक वस्तु इस प्रकार नहीं बेची जा सकती। नमूना केवल उन्हीं वस्तुओं का लिया जा सकता है जिनकी किस्म एक-सी ही होती है और जिनका नमूना अलग निकाला जा सकता है। गेहूँ, कपास तथा कच्चे माल की बिक्री नमूने द्वारा आसानी से की जा सकती है और अधिकाश पक्के माल भी इस रीति द्वारा बेचे जा सकते हैं।

(४) ग्रेड (Grade) द्वारा बिक्री—माल की बिक्री ग्रेड द्वारा भी हो सकती है। इस रीति द्वारा एक वस्तु की विभिन्न किस्में कुछ ग्रेडो मे या वर्गों में बाँट दी जाती हैं, और प्रत्येक ग्रेड या वर्ग को एक अलग नाम या चिन्ह दे दिया जाता है। व्यापारी इन ग्रेडों या वर्गों से अच्छी तरह परिचित होते हैं, और ग्रेड का नाम लेने से उन्हें माल की किस्म आदि का पूरा ज्ञान हो जाता है।

उदाहरण के लिये "पूसा न० १२" गेहूँ की एक खास किस्म है। विक्रेता विभिन्न ग्रेडों या वर्गों के दाम वता सकते हैं और उन्हे नमूना दिखाने की भी आवश्यकता नहीं होती, और इसी प्रकार खरीदार केवल ग्रेड वताकर ही आवश्यक वस्तु खरीद सकता है। ग्रेड द्वारा वस्तु का क्रय-विक्रय वहुत आसान हो जाता है और इससे वाजार का विस्तार वहुत वढ जाता है।

कार्यात्मक दृष्टि से, सामान्य वाजार, विशिष्ट वाजार, नमूने द्वारा विक्री और ग्रेड द्वारा विक्री—ये विकास की क्रमशः सीढियाँ हैं।

§ ३. वाजार की किस्में

वाजारो का विभाग भौगोलिक आधार पर या समय के आधार पर किया जा सकता है।

भौगोलिक वाजार (Space Markets)

वाजार की भौगोलिक सीमा के दृष्टिकोण से, अर्थात् उस क्षेत्र के दृष्टिकोण से जिसमें कि क्रेता और विक्रेता फैले होते हैं, वाजारों का वर्गीकरण स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय वाजारों मे किया जाता है। इनके विषय मे हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं।

समय-सम्बन्धी वाजार (Time Markets)

वाजारो का वर्गीकरण उस **समय** के आधार पर भी किया जाता है जो कि माँग (demand) और पूर्ति (supply) को सतुलन (Equilibrium) मे आने के लिए मिलता है। इस दृष्टिकोण से वाजारों का जो वर्गीकरण किया जाता है, उन वाजारों को समय-सम्बन्धी वाजार (time markets) कहते हैं। इस दृष्टिकोण से वाजारों की निम्नलिखित किस्मे होती है (१) **अल्पकालीन वाजार** (Short-Period Market)—ऐसे वाजार मे पूर्ति या सप्लाई उपस्थित मात्रा (stores available at hand) तक सीमित होती है। अत माँग और पूर्ति के सतुलन (equilibrium) मे माँग का महत्व पूर्ति से अधिक होता है। (२) **दीर्घ-कालीन वाजार** (Long-period Market)—यदि समय पर्याप्त हो, तो पूर्ति वहुत कुछ वस्तु की लागत (cost) द्वारा प्रभावित होगी। (३) **वहुत दीर्घ-कालीन वाजार** (Very Long-Period Market) यदि समय वहुत लम्वा हो, तो वस्तु की लागत वहुत कुछ उसकी उत्पत्ति मे प्रयुक्त होने वाले श्रम तथा भौतिक पदार्थों की लागत से प्रभावित होती है।[८] आगे चलकर

---

[८] Marshall, *Principles of Economics*, p. 330.

हमने अर्थ-सिद्धान्त (theory of value) का वर्णन किया है, इसका अध्ययन करने पर पाठक को उपरोक्त वर्गीकरण का महत्व ज्ञात हो जायगा।

अच्छा (Fair) और ब्लैक मार्केट या चोर बाजार

बाजारो का वर्गीकरण दो और रूपो—अच्छे और ब्लैक मे किया जा सकता है। युद्धकाल मे सभी वस्तुओं का दाम बढने लगता है क्योकि बहुत सा सामान युद्ध मे काम आने लगता है और जनता के उपभोग का माल अधिक दुर्लभ (scarce) हो जाता है। युद्धकाल मे अधिकाश उत्पादन-शक्ति (productive capacity) युद्ध की सामग्री बनाने मे प्रयुक्त होने लगती है, और इसके परिणाम-स्वरूप जनता के उपभोग के लिये सामान की कमी पड जाती है। ऐसी अवस्था में विक्रेता स्वाभाविक रुप से उपभोक्ताओ से अधिक से अधिक मूल्य वसूल करने का यत्न करता है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिये सरकार विभिन्न वस्तुओं के मूल्य पर कन्ट्रोल (control) या नियत्रण लगा देती है। जब बाजार में माल कन्ट्रोल मूल्य या नियन्त्रित मूल्य पर मिलता है, तब वह **अच्छा बाजार** (Fair Market) कहलाता है। किन्तु जब बाजार में माल कन्ट्रोल मूल्य या नियन्त्रित मूल्य से अधिक मूल्य पर बेचा जाता है, तो उसे **ब्लैक मारकेट या चोर बाजार** कहते हैं। ब्लैक मार्केटिंग या कन्ट्रोल मूल्य से ऊँचे मूल्य पर माल बेचना गैरकानूनी होता है और ऐसे विक्रेता पर जुर्माना किया जा सकता है और उसे जेल भी भेजा जा सकता है। किन्तु ऐसा होने पर भी चोर बाजार स्थान-स्थान पर दीख पडते हैं, चोर बाजार का लाभ इतना अधिक होता है कि व्यापारी कानून का भी उल्लघन करने को तैयार हो जाते हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय मे शुरू-शुरू में चोर बाजार बहुत प्रच-लित हो गया था, किन्तु बाद को सरकार ने बहुत कडाई की और इससे चोर बाजार में कमी हो गई। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी चोर बाजार स्थापित रहे, और इनसे छुटकारा पाने के लिये गाधी जी के मतानुसार सरकार ने मूल्य पर से कन्ट्रोल या नियत्रण हटाने की नीति को अपनाया। किन्तु यह नीति निष्फल सिद्ध हुई, और अब कन्ट्रोल फिर से लगा दिये गये।

§ ४ विस्तृत बाजार (Wide Market) की दशाएँ

किसी वस्तु का बाजार विस्तृत या चौड़ा (wide) हो सकता है या सकीर्ण या सॅकरा (narrow)। जिन दशाओं में बाजार की सीमा विस्तृत होती है, उनको दो विभागो में बाँटा जा सकता है . (क) देश की आन्तरिक या भीतरी अवस्था, और (ख) वस्तु के गुण।

(क) देश की आन्तरिक अवस्था

देश की कुछ आन्तरिक या भीतरी अवस्थाएँ वाजार की सीमा प्रभावित करती हैं। ऐसी दशाएँ निम्नलिखित हैं . (१) शान्ति, सुरक्षा और ईमानदारी, (२) यातायात और सदेशवाहन के साधन, (३) चलन या करेन्सी और वैंकिंग प्रणाली, और (४) व्यापार की रीतियो।

(१) शान्ति, सुरक्षा और ईमानदारी—विक्रेता अपना माल दूर-दूर के स्थानो को तभी भेजेंगे जवकि उन्हे यह विश्वास हो कि उनकी रास्ते मे चोरी नहीं हो जायगी, उनका मूल्य उन्हे चुका दिया जायगा, और ऐसा न होने पर, न्यायालय उन्हें मूल्य वसूल करने मे सहायता देगा। अत. वाजार को विस्तृत वनाने के लिए शान्ति, सुरक्षा और ईमानदारी का होना पूर्णतया आवश्यक है। यदि आजकल के वाजार इतने चौडे या विस्तृत हैं, तो इसका श्रेय शान्ति और कानून की स्थापना और विभिन्न देशों मे व्यापारिक सदाचार (morality) के ऊँचे स्टैंडर्ड को है।

(२) यातायात और संदेशवाहन के अच्छे साधन—यातायात के साधन अच्छे होने पर, जैसे सडके, रेल, सामुद्रिक जहाज और वायुयान के अच्छे होने पर, माल का दूर-दूर तक आना-जाना आसान, सस्ता और शीघ्र हो जाता है, और इससे वाजार की सीमा वढ जाती है। इसी प्रकार डाकखाना, तार, टेलीफोन तथा अन्य सदेशवाहन के साधन अच्छे होने पर, एक स्थान के व्यापारी दूसरे स्थान की व्यापारिक दशा के समाचार आसानी से और शीघ्रतापूर्वक प्राप्त कर लेते हैं, और उन्हें दूर-दूर तक माल वेचने और दूर-दूर से माल खरीदने का अवसर मिलता है। यदि यातायात और सदेशवाहन के साधन इतने खराव हों कि माल या सदेश के भेजने मे काफी व्यय हो या अधिक समय लगे या वहुत-सी कठिनाइयो का सामना करना पडे, तो दूर-दूर के व्यापारी आपस में एक दूसरे से स्पर्द्धा नहीं कर सकेंगे, और इसके परिणामस्वरूप वाजार सकीर्ण हो जायेंगे। वाजार का क्षेत्र वडा करने मे यातायात और सदेशवाहन के साधनों का वडा हाथ होता है। पुराने जमाने मे वाजारों के सकीर्ण होने का एक महत्वपूर्ण कारण यातायात और सदेशवाहन के साधनो का अभाव था। यही कारण था कि कभी-कभी एक स्थान पर किसी वस्तु का मूल्य दूसरे स्थान की अपेक्षा वहुत कम या ज्यादा हुआ करता था। युद्धकाल मे यातायात के साधनों का अभाव होने लगता है और तव खाद्य-सामग्री तथा अन्य वस्तुओं के स्थानीय मूल्यों में वहुत अन्तर होने लगता है। किन्तु सामान्यतया इन साधनों की उन्नति अव इतनी अधिक हो चुकी है कि वाजारो का क्षेत्र वहुत वढ गया है और अव वे अन्तर्राष्ट्रीय होने लगे हैं।

(३) चलन और वैंकिंग की प्रणाली का अच्छा होना—यदि चलन और वैंकिंग की प्रणाली अच्छी और स्थायी (stable) होती है, तो वाजार वडे होते

। किसी स्थान का व्यापारी दूसरे स्थान के व्यापारी को माल तभी बेचेगा या उससे माल तभी खरीदेगा जबकि उस स्थान की चलन-प्रणाली (currency system) स्थायी हो। यदि चलन का अर्घ (value) रह-रहकर घटता-बढता हो तो उसके अनुमान गलत हो सकते हैं। ऐसी दशा में उसको लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है, और उसे व्यापारिक सम्बन्ध बढाने मे कोई उत्साह नहीं होगा। इसके विपरीत, यदि चलन-प्रणाली स्थायी हुई, तो उसे विश्वास हो जायगा कि उसके अनुमान से कोई बाहरी शक्ति विघ्न नहीं डालेगी और उसे दूर-दूर तक व्यापार करने में उत्साह होगा।

इसी प्रकार अच्छी बैंकिंग प्रणाली द्रव्य (money) का एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तातरण सुविधाजनक बना देती है। बैंक ऐसी सुविधा भी प्रदान करते हैं कि खरीदार को माल तभी सौंपा जाय जब कि वह बैंक को मूल्य अदा कर दे। बैंक दूर-दूर के व्यापारियों के विषय मे उनकी द्रव्य-सम्बन्धी (financial) स्थिति और उनकी ईमानदारी के विषय में विश्वस्त सूचना भी देते हैं। इन सब सुविधाओं के प्राप्त होने पर व्यापारी दूर-दूर तक व्यापार करने के लिये उत्साहित होते हैं, और इससे बाजार का क्षेत्र बढ जाता है।

(४) व्यापार की वैज्ञानिक रीतियाँ—व्यापारी बिक्री की जिन रीतियों का प्रयोग करते हैं, उन पर भी बाजार की सीमा निर्भर होती है। यदि उनके व्यापार के तरीके आधुनिक हुए और वे विक्रय-कला तथा विज्ञापन के वैज्ञानिक सिद्धान्तो का अनुगमन करते हो तथा बहुत दूर-दूर तक माल की बिक्री का प्रयास करते हों, तो उनके बाजार की सीमा अवश्य ही बढ जायगी।

शान्ति, सुरक्षा, और व्यापारिक ईमानदारी, यातायात और संदेश-वाहन के अच्छे साधन, चलन और बैंकिंग की अच्छी प्रणाली और व्यापार की वैज्ञानिक रीतियाँ बाजार की सीमा को बढाती हैं।

(ख) वस्तु के गुण

बाजार का विस्तृत होना वस्तु के गुणों पर भी निर्भर होता है। साधारणतया निम्नलिखित गुणवाली वस्तु का बाजार विस्तृत होता है

(१) माँग का ससार-व्यापी (Universal) होना—जिन वस्तुओं की ससार के विभिन्न देशों के निवासी बराबर माँग करते रहते हैं, उनके बाजार बहुधा बहुत विस्तृत होते हैं। कपास, गेहूँ और लोहा ऐसी आवश्यकतायें सतुष्ट करते हैं जो ससार भर में महसूस की जाती हैं और बहुत आग्रहपूर्ण भी होती हैं, अत उनके बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं। समूर (furs) का बाजार, इसके विपरीत, बहुत कीर्ण होता है क्योंकि समूर की माँग केवल ठडे प्रदेशों में होती है, गर्म प्रदेशों में नहीं।

धोती और टोपी की माँग अधिकांश में भारतवर्ष तक ही सीमित है और इसलिये इनका वाजार अन्तर्राष्ट्रीय नहीं होता।

(२) नमूना निकालने और ग्रेड बनाने के लिये उपयुक्त होना—जिन वस्तुओं का आसानी से नमूना निकाला जा सकता है या जिनका ग्रेड या वर्ग बनाया जा सकता है, उनका वाजार बड़ा होता है क्योंकि उनका सुविधापूर्वक विज्ञापन किया जा सकता है और उनको खरीदने के लिये आर्डर बनाने में भी आसानी होती है। कपास, गेहूँ तथा अन्य अनाजों मे यह गुण होता है, दूर-दूर स्थित व्यक्ति केवल नमूने या ग्रेड के आधार पर ही इनको खरीद और वेच सकते हैं। जिन वस्तुओं का नमूना नहीं निकाला जा सकता या जिनका ग्रेड नहीं बनाया जा सकता, उनकी पूरी मात्रा की परीक्षा करनी पडती है, इससे दूर के व्यापारियो को खरीदारी मे कठिनाई होती है।

(३) वहनीयता या लाने-लेजाने में सुगमता (Portability)—जो वस्तुएँ वहनीय होती हैं अर्थात् सुगमता से लाई-जाई सकती हैं, उनका वाजार विस्तृत होता है। उनका मूल्य उनकी मात्रा के अनुपात मे वहुत अधिक होता है; और इसलिये वे दूर-दूर तक लाई-जाई सकती हैं। ईंटो का वाजार, जिन भट्टों मे वे वनती हैं, उनके आस-पास के स्थानो तक ही सीमित होता है, वे इतनी सस्ती और भारी होती हैं कि उन्हे दूर तक भेजने के यातायात का व्यय वहुत अधिक हो जाता है। इसके विपरीत सोने और जवाहरात तथा शेयरो का मूल्य इतना अधिक होता है कि उनके यातायात का व्यय मूल्य के अनुपात में वहुत थोड़ा होता है। अत उनका यातायात दूर-दूर तक किया जाता है और उनका वाजार विस्तृत होता है।

(४) टिकाऊपन (Durability)—नाशमान् और कोमल वस्तुएँ सुरक्षित अवस्था मे दूर-दूर तक नहीं भेजी जा सकती, इसलिये इनका वाजार सीमित होता है। फल, तरकारी और मछली का वाजार अधिकांश मे स्थानीय होता है। किन्तु सोना और कपास टिकाऊ माल हैं और इसलिए इनका वाजार अंतर्राष्ट्रीय होता है। कोल्ड स्टोरेज (cold storage), प्रगतिगामी रेलो तथा अन्य ऐसे ही साधनो के परिणाम-स्वरूप अव नाशमान् वस्तुओं का वाजार भी विस्तृत होने लगा है।

(५) सप्लाई या पूर्ति का पर्याप्त होना—किसी वस्तु का वाजार विस्तृत तभी हो सकता है जव कि वडी माँग को सतुष्ट करने के लिये उसकी सप्लाई या पूर्ति काफी हो। अनोखे कला-पूर्ण पदार्थों और अति दुर्लभ वस्तुओ का वाजार वहुत सीमित होता है। क्योंकि इनकी पूर्ति वहुत सीमित होती है।

जिन वस्तुओं की माँग संसारव्यापी होती है, जो नमूना निकालने और ग्रेड बनाने के उपयुक्त होती हैं, जो वहनीय और टिकाऊ होती हैं और जिनकी पूर्ति काफी होती है, उनका बाजार विस्तृत होता है।

अभ्यास के प्रश्न

१ बाजार का अर्थ समझाइये और उसकी परिभाषा दीजिये।

२ पूर्ण बाजार से आप क्या समझते हैं? उदासीनता के सिद्धान्त का निरूपण कीजिये।

३ बाजारों के विकास का वर्णन कीजिये।

४ स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों मे क्या अन्तर है?

५ समय-सम्बन्धी बाजारों से आप क्या समझते हैं? उनकी क्या किस्मे हैं?

६ विस्तृत बाजार की आवश्यक दशाओं का वर्णन कीजिये।

७ निम्नलिखित कथनों में बाजार शब्द का किस अर्थ मे प्रयोग किया गया है?

(क) श्रम-विभाजन बाजार की सीमा द्वारा सीमित होता है।

(ख) मैं बाजार जा रहा हूँ।

(ग) हमें अपनी रुई का जापानी बाजार बढाना चाहिए।

(घ) इस वर्ष नागपुर के सतरों का इलाहाबाद मे कोई बाजार ही नहीं था।

(ङ) सोने का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होता है।

८ जब आप पुस्तक या कागज खरीदने जाते हैं, तो क्या इन वस्तुओं के बाजार आप को पूर्ण प्रतीत होते हैं? पूर्ण बाजार को विवेचन कीजिये।

९ अपने शहर की हाथ से बनाई जानेवाली वस्तुओं का वर्णन कीजिए और बताइये कि उनमे से प्रत्येक का बाजार स्थानीय है, या राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१ किसी वस्तु के बाजार का विस्तार किन कारणों पर निर्भर रहता है? विस्तृत बाजार को पाने के लिए किसी वस्तु को किन गुणों की आवश्यकता होती है? (१९४९, १९४३)

२ बाजार शब्द की परिभाषा दीजिये। पूर्ण बाजार का अर्थ समझाइये। चोरत बाजार या ब्लैक मार्केट किसे कहते हैं? (१९४७)

३. "समान मूल्य आर्थिक बाजार का लक्षण भी है और उसकी परीक्षा भी है।" इस कथन को समझाइये और बाजारों को विस्तृत करनेवाले कारणों का वर्णन कीजिए। (१९४५)

४. चोर बाजार या ब्लैक मार्केट पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४५)

५. अन्तर्राष्ट्रीय बाजार पर एक नोट लिखिये। (१९४४)

६. कारण सहित बताइये कि भारत में उत्पन्न होने वाली निम्नलिखित वस्तुओं : बाजारों की सीमा क्या (स्थानीय, प्रान्तीय, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय) है : आम, तोंचर, साडी, ईंट और चाय। (१९४२)

७. अल्पकालीन और दीर्घकालीन बाजारों पर एक नोट लिखिये। (१९४३)

[यू]० पी०, इन्टर कामर्स

८ चोर बाजार या ब्लैक मार्केट से आप क्या समझते हैं? कोई वस्तु चोर [बा]जार में क्यों जाती है? (१९४७)

[रा]जपूताना, इटर आर्ट्स

9. Describe the essentials of a market. Illustrate by reference to market for bullion and market for fish. (1948)

10. Define the term 'market'. Explain the conditions which commodity must satisfy to have a wide market. Give Indian [ex]amples. (1942)

[रा]जपूताना, इन्टर कामर्स

11. Define market, and show how price is fixed. (1948)

12 'A single competitive price is both the characteristic [an]d the test of an economic market' Explain this statement [an]d discuss the causes responsible for the extension of markets. [(1]946)

[पट]ना, इन्टर आर्ट्स

13 Explain why under competition there can be only one [pr]ice of a commodity at the same time in the same market. [(1]949 Annual)

14 What is meant by market in Economics? What are the [ca]uses of increasing the area of markets in modern times? (1948 [A]nnual)

[ना]गपुर, इन्टर आर्ट्स

15 Which commodities have a world-wide market? Under [wh]at conditions would the following commodities have a wide [m]arket Oranges, books, raw cotton, glass bottles and medi[ci]nes? (1949)

16 Define a market Why is it that some commodities command a wide market while others have a limited market? (1948)

17. What is the difference between a market in Economics and a market as commonly understood ? (1947)

नागपुर, इन्टर कामर्स

१८ बाजार शब्द के आर्थिक अभिप्राय तथा प्रतिदिन के व्यावहारिक अर्थ में क्या अन्तर है ? (१९४७)

१९ बाजार का क्या अर्थ है ? किसी वस्तु के बाजार का विस्तार किन बातों पर निर्भर होता है ? (१९४६)

सागर, इन्टर आर्ट्स

20 Define market What can you say regarding the extent of market for any three of the following —(a) Oranges, (b) Fresh milk, (c) Gold and silver, (d) Bricks, (e) Cotton (1949)

21. What is a market ? What are the factors that extend the area of a market ? (1946)

सागर, इन्टर कामर्स

22 Define a market. What are the causes for increasing the area of markets in modern times ? (1949)

अध्याय ४६

माँग और पूर्ति

पिछली शताब्दी के मध्य में यह कहा जाता था कि यदि आप किसी तोते को "माँग और पूर्ति" शब्द दुहराना सिखा दे, तो वह भी एक अच्छा अर्थशास्त्री बन जायगा। वास्तव मे, ये दो शब्द प्रत्येक अर्थशास्त्री की जबान पर रहते हैं। इसका कारण यह है कि माँग और पूर्ति का गुरु (formula) अर्थशास्त्र की नींव के समान है। समस्त वस्तुएँ और सेवाएँ जिस मूल्य पर बिकती हैं, वह माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती हैं। माँग और पूर्ति के सिद्धान्त का इस प्रकार सक्षेप मे कथन किया जा सकता है : "किसी वस्तु की **पूर्ति** उस मात्रा को कहते हैं जो बिक्री के लिये प्रस्तावित (offer) की जाती है। उसकी **माँग** उस मात्रा को कहते हैं जो किसी खास मूल्य पर खरीदी जाती है। मूल्य माँग और पूर्ति को समान करती है। विक्रेताओं की पारस्परिक स्पर्द्धा मूल्य घटाती है, और क्रेताओं की पारस्परिक स्पर्द्धा उसे बढाती है[1]।"

§ १. माँग

माँग की परिभाषा

हमे यह ध्यान में रखना चाहिये कि किसी वस्तु की इच्छा होना, उस वस्तु की माँग नहीं कहलाती। माँग से अभिप्राय **प्रभावपूर्ण इच्छा** (Effective Desire) का होता है अर्थात् उस इच्छा से जो कि सतुष्टि के साधन अधिकार में होने के कारण पूर्ण की जा सकती है। अन्य शब्दो मे, इच्छा उसी दशा मे **माँग** कहला सकती है जब कि उसके साथ इच्छित वस्तु के खरीदने के **साधन** उपस्थित हो। एक निर्धन मनुष्य की यह इच्छा हो सकती है कि उसके पास एक आलीशान बँगला हो, वायुयान हो तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ हों, क्योंकि अपनी निर्धनता के कारण वह उन्हें नहीं

---

[1] Cornah, *Simple Economics*, p. 14.

खरीद सकता और इसलिये उसकी उन वस्तुओं की इच्छा मॉग नही होती। किन्तु यदि उसके नाम डर्वी की लाटरी निकल आवे, तो उसे ये सब वस्तुएँ खरीदने के साधन प्राप्त हो जायेंगे। तब उसकी इच्छा **प्रभावपूर्ण** (Effective) हो जायगी और वह मॉग कहलायगी।

इच्छित वस्तुओ के प्राप्त करने के साधन होने के अतिरिक्त, मनुष्य के इच्छित वस्तु के बदले मे इस साधन को दे डालने के लिये **तत्पर** (willing) भी होना चाहिये। हो सकता है कि किसी व्यक्ति के पास किसी वस्तु के खरीदने के साधन भी हो किन्तु वह उसे प्राप्त करने के लिये उन साधनों का त्याग करने को तत्पर न हो। एक कजूस व्यक्ति की यह इच्छा हो सकती है कि वह एक मोटरकार खरीदे किन्तु धन के लोभ के कारण वह रुपया देने के लिये यदि वह तत्पर नहीं है तो उसकी इच्छा मॉग नही हो सकती।

इस प्रकार मॉग के लिये तीन बातो का होना आवश्यक है :

१. किसी वस्तु की **इच्छा** ,

२. उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये **पर्याप्त साधन** , और

३ साधन को देकर वस्तु प्राप्त करने की **तत्परता**।

अत. हम कह सकते हैं कि **मॉग किसी वस्तु को प्राप्त करने की उस इच्छा को कहते है जो उस वस्तु के खरीदने के साधन तथा उन साधनों को उस वस्तु की प्राप्ति के लिये दे देने की तत्परता से सयुक्त होती है**। किसी वस्तु की मॉग होने के लिये उसके लिये इच्छा तो होनी ही चाहिये, साथ मे ही उसके लिये कुछ द्रव्य या वस्तु देने की अथवा कुछ चेष्टा करने की **योग्यता** (Ability) और **तत्परता** (Willingness) भी होनी चाहिये।

यह स्मरण रखना चाहिये कि मॉग शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे किया जाता है . (१) द्रव्य देने की योग्यता और तत्परता से सयुक्त इच्छा के लिये; और (२) वस्तु की उस मात्रा के लिये जो मॉगी जाती है। उदाहरण के लिये, पेंसिलों का मूल्य घट जाने के कारण राम की पेंसिलों की मॉग बढ गई इसका अर्थ यह है कि अब राम अधिक सख्या मे पेंसिलें खरीदेगा।

मॉग और मूल्य

मांग हमेशा किसी ग्राहक द्वारा की जाती है और किसी वस्तु की या के लिये होती है। किसी वस्तु की माग का उसके मूल्य (price) से घनिष्ठ सबन्ध है। बहुत बड़ी सीमा तक मनुष्यों की किसी वस्तु के खरीदने की तत्परता (willingness)

इस बात पर निर्भर होती है कि उन्हे उसके लिये क्या मूल्य देना पड़ेगा[२]। माँग और मूल्य का इतना घनिष्ठ सबन्ध होने के कारण माँग की परिभाषा इस प्रकार भी की जाती है कि माँग किसी वस्तु की वह मात्रा है जो कि कोई व्यक्ति एक दिये हुए मूल्य पर खरीदने को तत्पर होता है[३]। अत जब यह कहा जाता है कि गेहूँ की माँग अधिक हो गई तो इसका अभिप्राय यह होता है कि वर्तमान मूल्य पर अब गेहूँ की पहले से अधिक मात्रा मे माँग होने लगी है। अर्थशास्त्रियो मे यह परिभाषा बहुत ही लोकप्रिय है।

माँग और आवश्यकता

हमने ऊपर लिखा है कि किसी वस्तु को प्राप्त करने की उस इच्छा को माँग कहते हैं जो उस वस्तु के खरीदने के साधन तथा उन साधनों को उस वस्तु की प्राप्ति के लिये दे देने को तत्परता से सयुक्त होती है। यही परिभाषा आवश्यकता की भी है। तो क्या आवश्यकता और माँग मे कुछ भी अन्तर नहीं?

इन दोनों के स्वभाव मे कुछ भी अन्तर नही। यदि आपको किसी वस्तु की आवश्यकता है, तो आप उसकी माँग भी करेंगे। आवश्यकता के होने का अर्थ है उस वस्तु की माँग होना। किन्तु इन दोनों के व्यक्तीकरण (expression) में कुछ अन्तर अवश्य होता है। किसी वस्तु की आवश्यकता बताते समय आपको उसके मूल्य का जिक्र नही करना पड़ता। उदाहरण के लिये, आप कह सकते हैं कि आपको १० अमरूदों की आवश्यकता है। यह वाक्य पूरा है। पर किसी वस्तु की माँग बताते समय आपको कहना पड़ता है कि आपकी माँग कितने मूल्य पर है। यदि आप कहें कि आपको १० अमरूदों की माँग है तो आपसे पूछा जायगा कि यह माँग किस मूल्य पर है, अर्थात् किस मूल्य पर आप १० अमरूद खरीद लेंगे।

माँग-मूल्य (Demand Price)

माँग-मूल्य उस मूल्य को कहते हैं जिस पर कि कोई खरीदार किसी वस्तु का एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिये तत्पर होता है। यदि आप दो रुपये प्रति फाउन्टेनपेन देकर पाँच फाउन्टेनपेन खरीदने के लिये तत्पर हों, तो आप की माँग-मूल्य दो रुपये प्रति फाउन्टेनपेन हुई।

---

[२] Penson, Gp *Cit*, P I, p. 107.

[३] जे० एस० मिल लिखते हैं कि माँग से हमारा आशय माँगी जानेवाली मात्रा से होता है, और यह कोई स्थाई मात्रा नहीं होती प्रत्युत यह मूल्य के अनुसार सामान्यतया परिवर्तित होती रहती है—J S Mill *Principles of Political Economy* III, ii 4.

माँग का नियम

सीमान्त उपयोगिता की घटती के नियम (law of diminishing marginal utility) के अनुसार यदि अन्य बातें समान रहें तो जैसे-जैसे किसी वस्तु की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे उसकी सीमान्त उपयोगिता कम होती जाती है। हम यह भी जानते हैं कि किसी वस्तु के लिये जो मूल्य कोई व्यक्ति देने के लिये तत्पर होता है वह उस वस्तु की उसके लिये जो सीमान्त उपयोगिता होती है, उसके बराबर होता है। अतः खरीदी जाने वाली वस्तु की मात्रा जैसे-जैसे बढ़ती जाती है और उसकी सीमान्त उपयोगिता कम होती जाती है, वैसे ही वैसे खरीदार उसकी क्रमशः इकाइयों के लिये जो मूल्य देने को तत्पर होता है वह घटता जाता है।
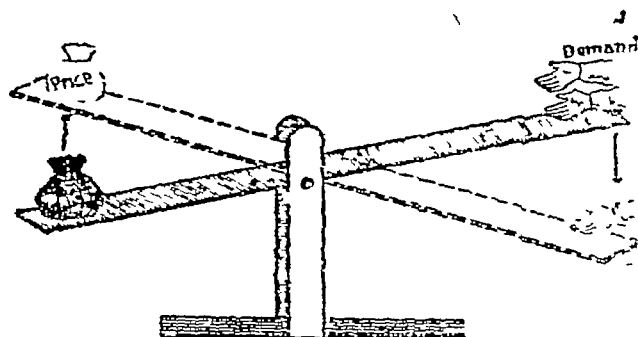
चित्र ५—माँग का नियम

मार्शल के शब्दों में, "बेची जाने के लिये मात्रा जितनी अधिक होती है, जिस मूल्य पर वह बिकने के लिये आती है वह उतना ही कम होता जाता है जिससे कि उसके खरीदने वाले मिल सकें, या अन्य शब्दों में, मूल्य के गिरने के साथ-साथ माँग की मात्रा बढ़ती जाती है। और मूल्य के ऊँचे होने के साथ-साथ वह कम होती जाती है।[४] अतः माँग और मूल्य में विपरीत सम्बन्ध होता है। इसे माँग का नियम (Law of Demand) कहते हैं। माँग और मूल्य "सी-सा" (see-saw) के दो किनारों की भाँति हैं। जब एक सिरा नीचे आता है तो दूसरा सिरा ऊपर हो जाता है। यह बात चित्र ५ से स्पष्ट हो जाती है।

---

[४] Marshall, *Principles of Economics*, p. 99

यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि माँग का नियम मूल्य मे परिवर्तन होने के परिणाम-स्वरूप माँग में जो परिवर्तन होता है उसकी मात्रा के विषय में कुछ भी नहीं कहता। यदि मूल्य में १०% का परिवर्तन हो, तो हो सकता है कि माँग मे केवल ५% का ही परिवर्तन हो या ९५% का। इस विषय पर माँग का नियम मौन है। यह केवल यह बताता है कि मूल्य की वृद्धि का परिणाम यह होगा कि माँग की प्रवृत्ति घटने की होगी, और मूल्य के घटने का परिणाम यह होगा कि माँग की प्रवृत्ति बढने की होगी।

माँग की तालिका (Demand Schedule)

किसी खास स्थान और समय पर किसी व्यक्ति की किसी वस्तु के लिये माँग का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमे इस बात का पता लगाना पडेगा कि जिन-जिन मूल्यो पर वह वस्तु बेची जा सकती है उनमे से प्रत्येक मूल्य पर वह कितनी मात्रा खरीदने के लिये तत्पर होगा। हम ऐसी तालिका तैयार कर सकते हैं जिसमे कि विभिन्न मूल्यो मे से प्रत्येक पर कोई व्यक्ति जिस मात्रा की माँग करेगा, वह मात्रा दिखाई जाय। ऐसी तालिका को **माँग की तालिका** (Demand Schedule) कहते हैं। **माँग की तालिका उस तालिका को कहते हैं जिसमें कि किसी खास स्थान और समय पर किसी वस्तु की विभिन्न माँग-मूल्यों और उन पर माँगी जाने वाली वस्तु की विभिन्न मात्राओ का संबध दिखाया गया हो।**

व्यक्तिगत माँग और बाजार की माँग की तालिका—माँग की तालिका एक व्यक्ति की माँग दिखा सकती है या सारे बाजार की माँग। पिछली दशा में, यह उन सब व्यक्तियों की सामूहिक माँग दिखाती है, जो मिलकर बाजार बनाते हैं। बाजार मे जितने भी व्यक्ति होते हैं, उनकी व्यक्तिगत माँगो को जोड़कर यह मालूम की जा सकती है। जो तालिका एक व्यक्ति की माँग विभिन्न मूल्यों पर दिखाती है उसे **व्यक्तिगत माँग की तालिका** (Individual Demand Schedule) कहते हैं, और जो तालिका समस्त बाजार की माँग दिखाती है उसे **बाजार की माँग की तालिका** (Market Demand Schedule) कहते हैं।

हम नीचे एक विद्यार्थी की इलाहाबाद मे जून १, १९५०, के प्रात ८ बजे पेन्सिलों की माँग की तालिका देते हैं

माँग की तालिका

मूल्य	माँग
६ पैसा	३
५ पैसा	४
४ पैसा	६
३ पैसा	९
२ पैसा	१२
१ पैसा	१८

माँग की उपरोक्त तालिका माँग के नियम के अनुकूल है। जैसे ही जैसे मूल्य कम होता जाता है, वैसे ही वैसे माँग बढती जाती है। जब कि मूल्य ६ पैसा प्रति पेन्सिल है, तब केवल ३ पेन्सिलो की माँग होती है। किन्तु जब मूल्य घटकर ४ पैसा प्रति पेन्सिल हो जाता है, तब माँग ६ पेन्सिलो की होती है। जब मूल्य एक पैसा प्रति पेन्सिल होता है, तब माँग १८ पेन्सिलों की होती है।

माँग की तालिकाएँ अर्थशास्त्र मे बहुत काम आती हैं। वे माँग के नियम के समझने मे बहुत सहायक होती हैं, और माँग की लोच (Elasticity of Demand) को भी भली भाँति स्पष्ट कर देती हैं।

माँग की वक्र-रेखा (Demand Curve)

माँग की तालिका को ग्राफ के कागज पर भी अकित किया जा सकता है। माँग की तालिका का ग्राफ पर अकित चित्र माँग की वक्र-रेखा (Demand Curve) कहलाता है। यह विभिन्न मूल्यो पर खरीदी जानेवाली इकाइयों की सख्या बताती है। ऊपर की माँग की तालिका का ग्राफ का चित्र पृष्ठ ४१ पर अकित किया गया है।

पेन्सिल की इकाइयाँ OX-अक्ष (Axis) पर नापी गई हैं और मूल्य OY-अक्ष पर नापा गया है। विन्दु जिस प्रकार अकित किये गये हैं, वे चित्र मे बूँदद र रेखाओं से दिखाये गये हैं। सारे विन्दुओं को सयुक्त कर देने से माँग की रेखा बन जाती है जो कि गहरी काली स्याही में खींची गई है।

माँग की वृद्धि और तीव्रता

हमने ऊपर बताया है कि किसी वस्तु का मूल्य घट जाने पर माँग बढ जाती है। मूल्य के घटने के कारण माँग के बढ जाने को माँग की वृद्धि कहते हैं। किन्तु यह भी हो सकता है कि मूल्य के उतने ही रहने पर भी माँग बढ जाय, या मूल्य के बढने पर भी माँग बढ जाय। मान लीजिये सरदार पटेल आपके शहर में आने वाले हैं और बिना गाधी टोपी पहने उनकी वक्तृता नही सुन सकते, तो गाधी
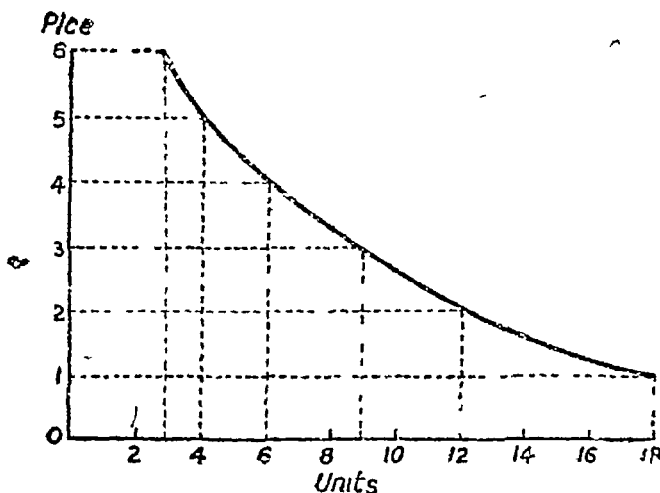
चित्र ६—माँग की वक्ररेखा

टोपियों का मूल्य वढ जाने पर भी उसकी मॉग वढ जायगी। मूल्य के उतने ही रहने पर या वढने पर भी मॉग के वढ़ जाने को माँग की तीव्रता (Intensification) कहते हैं।

इसी प्रकार मूल्य के वढ जाने के कारण मॉग के घटने को **माँग की कमी** कहते हैं। किन्तु उतना ही मूल्य रहने पर, या मूल्य के घट जाने पर भी, मॉग के घट जाने को **मॉग की नम्रता** कहते हैं।

§ २. मॉग की लोच

माँग की लोच का अर्थ

यदि अन्य वाते समान रहें तो मूल्य के वढने पर वस्तु की मॉग कम हो जाती है, और मूल्य के घट जाने से मॉग वढ जाती है। मूल्य में परिवर्तन होने के फ्ल-स्वरूप मॉग में जो परिवर्तन होता है, वह कम होता है या अधिक। **मूल्य में परिवर्तन होने के फलस्वरूप मॉग में परिवर्तन होने को मॉंग की लोच** (Elasticity of Demand) कहते हैं।

समस्त व्यापारियो का यह सामान्य अनुभव है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि यदि उनका मूल्य तनिक-सा भी घटा दिया जाय तो मॉग की मात्रा बहुत वढ़

जाती है और जब ऐसी वस्तुओं का मूल्य थोड़ा-सा भी बढ जाता है, तो माँग बहुत घट जाती है। कुछ अन्य वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी माँग की मात्रा मूल्य के घटने और बढने से बहुत कम प्रभावित होती हैं, यदि मूल्य मे थोडी सी कमी होने से माँग की मात्रा बहुत बढ जाती है। और मूल्य मे थोडी सी वृद्धि होने से माँग की मात्रा बहुत घट जाती है, तो माँग की लोच अधिक कही जाती है, किन्तु यदि माल का मूल्य बहुत कम होने पर भी माँग की मात्रा थोडी ही बढती है, और माल का मूल्य बहुत बढने पर भी माँग की मात्रा में थोडी ही कमी होती है, तो माँग की लोच कम कही जाती है।

माँग की लोच की मात्रा या परिमाण (Degrees)

किसी वस्तु की माग (१) लोचदार हो सकती है, या (२) बहुत लोचदार, या (३) पूर्णतया लोचदार, या (४) साधारणतया लोचदार या बेलोच, या ५) पूर्णतया बेलोच। ये माँग की लोच की पाँच मात्राएँ कहलाती हैं।

(१) लोचदार माँग (Elastic Demand)—आराम की वस्तुओं के विषय में यह बात देखी गई है कि माँग मे परिवर्तन ठीक उसी अनुपात मे होता है जिसमें कि मूल्य का परिवर्तन होता है। यदि ऐसी वस्तुओं का मूल्य दुगुना हो जाय, तो उनकी माँग घटकर आधी हो जायगी, और यदि उनका मूल्य घटकर आधा हो जाय, तो उनकी माँग दुगुनी हो जायगी। ऐसी दशा में माँग लोचदार (Elastic) कहलाती है। अगले पृष्ठ पर चित्र ७ (१) मे इस प्रकार की माँग की वक्र-रेखा दिखाई गई है, यह वक्र-रेखा अध-लेटी (Semi-Horizontal) या अध-खडी (Semi Vertical) है।

(२) बहुत लोचदार माँग (Highly Elastic Demand)—हम अब एक बहुमूल्य सिल्क का उदाहरण लेते हैं जो कमीज बनवाने के लायक है और जिसका मूल्य ८) प्रति गज है। यदि इसी कपडे का मूल्य घटकर ६) प्रति गज हो जाय, तो शायद आप एक कमीज के बजाय दो कमीज का कपडा खरीद लें। इस दशा मे मूल्य में थोडी सी भी कमी होने पर माँग की मात्रा बहुत बढ जाती है, मूल्य मे कमी २५% की ही होती है किन्तु माँग में १००% की वृद्धि हो जाती है, दूसरे शब्दो मे माँग में वृद्धि मूल्य में कमी से अधिक अनुपात मे न होती थी। इसी प्रकार यदि सिल्क का मूल्य थोडा-सा भी बढ जाय, तो माँग बहुत कम हो जायगी, अर्थात् माँग अनुपात से अधिक गिर जायगी। जब माँग मे परिवर्तन मूल्य में होने वाले परिवर्तन से अधिक अनुपात में होता है, तब माँग बहुत लोचदार (Highly Elastic) कहलाती है। विलासिता की वस्तुओं की माँग बहुत लोचदार होती है। इस प्रकार की माँग की वक्र-रेखा

लेटी हुई (Horizontal) या चपटी (flat) होती है, अर्थात् इसकी प्रवृत्ति आधार-रेखा (base) के समानान्तर (parallel) होने की होती है। चित्र ७ (२) मे इसका उदाहरण दिया गया है।

(३) पूर्णतया लोचदार (Perfectly Elastic)—हम ऐसी वस्तुओं की भी कल्पना कर सकते हैं जिनकी कि मॉग पूर्णतया लोचदार हो अर्थात् मूल्य में परिवर्तन न होने पर भी मॉग मे काफी घट-बढ हो जाय। वस्तु का मूल्य उतना ही बना रहने पर भी मॉग बहुत घट सकती है या बहुत बढ सकती है। ऐसी दशा केवल काल्पनिक (hypothetical) है, वास्तविक नहीं। ऐसी दशा में मॉग की वक्र-रेखा आधार-रेखा के बिल्कुल समानान्तर (parallel) होती है। देखिए चित्र ७ (३)।

(४) साधारणतया लोचदार या बेलोच (Moderately Elastic या Inelastic)—अब हम नमक का उदाहरण ले। नमक के बिना हमारा काम हो नहीं चल सकता, और इसके मूल्य मे चाहे कुछ भी घट-बढ (Fluctuations) हों,
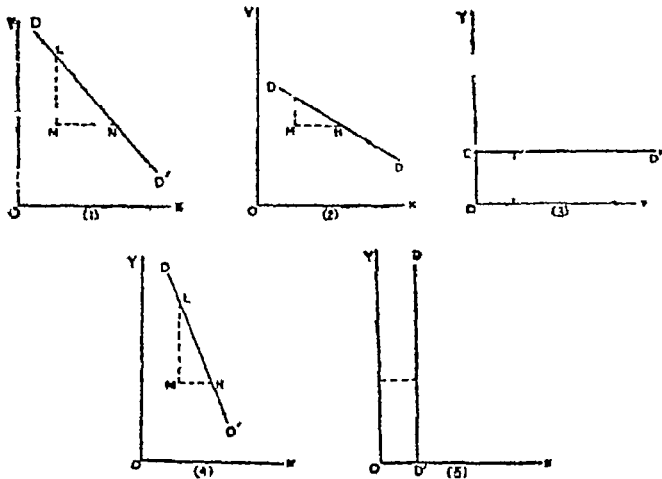
चित्र७— मॉग की लोच

तो भी इसकी मॉग बहुत-कुछ वही रहती है। यदि आज नमक का मूल्य -) प्रति सेर है और हम दो सेर नमक खरीदते हैं, तो कल इसका मूल्य =) प्रति सेर हो जाने पर भी हमारी मॉग शायद बहुत थोडी कम हो। अन्य शब्दों मे, मॉग में कमी मूल्य में वृद्धि से कम अनुपात मे होती है। इसी प्रकार मूल्य में कमी हो जाने से

मॉग में वृद्धि उसी अनुपात से कम होगी। ऐसी दशा मे मॉग में लोच होती ही नहीं, इसीलिये इसे साधारणतया लोचदार या 'बेलोच (Inelastic) कहते हें। जब कि मॉग मे परिवर्तन मूल्य में होने वाले परिवर्तन से कम अनुपात मे होता है, तब मॉग साधारणतया लोचदार या बेलोच कही जाती है। आवश्यकता की वस्तुओं की मॉग इसी प्रकार की होती है। बेलोच मॉग की वक्र-रेखा की प्रवृत्ति खडी होने की ओर (Vertical) होती है। देखिए चित्र ७ (४)।

(५) पूर्णतया बेलोच माँग (Perfectly Inelastic Demand) – जब मूल्य में परिवर्तन होने पर मॉग मे कोई भी परिवर्तन नहीं होता, तब मॉग को पूर्णतया बेलोच कहा जाता है। मूल्य चाहे कुछ भी हो मॉग वही रहती है। पूर्णतया लोचदार मॉग के समान, पूर्णतया बेलोच मॉग भी एक काल्पनिक वस्तु है। बेलोच मॉग की वक्र-रेखा एकदम खडी होती है—यह OY-अक्ष (Axis) के ठीक समानान्तर होती है। देखिए चित्र ७ (५)।

चित्र ८ मे वस्तुओं की मात्रा OX अक्ष पर नापी गई है और वस्तुओं का मूल्य OY अक्ष पर। LM बूँददार रेखा मूल्य में परिवर्तन अंकित करती है; और MN बूँददार रेखा मूल्य मे परिवर्तन होने के कारण जो मॉग मे परिवर्तन होता है उसको अंकित करती है। पाठक को यह बात ध्यान से देखनी चाहिए कि लोच (elasticity) जितनी अधिक होती है, मॉग की वक्र-रेखा उतनी ही अधिक लेटी हुई (horizontal) या चपटी हुई होती है, और माँग जितनी ही बेलोच (inelastic) होती है, मॉग की वक्र-रेखा उतनी ही खडी होती है।

नीचे के चित्र में मॉग की लोच की विभिन्न मात्राएँ दिखाई गई हैं।
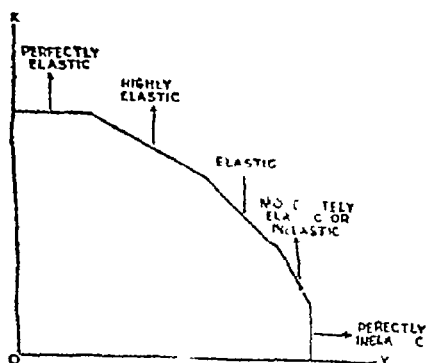
चित्र ८—माँग की लोच की विभिन्न मात्राएँ

माँग की लोच का माप

अर्थशास्त्र मे माँग की लोच ('लो') को नापने के लिए लोच की इकाई एक (१) मानी जाती है। जब किसी वस्तु की माँग मूल्य में परिवर्तन होने के अनुपात में घटती-बढ़ती है, तो उस वस्तु की माँग की लोच एक कही जाती है। उदाहरण के लिए, यदि मूल्य दुगुना हो जाता है, तो माँग आधी हो जाती है, यदि मूल्य मे पचास प्रतिशत कम हो जाता है तो माँग ५०% बढ जाती है। ऐसी अवस्था मे जितना रुपया उस वस्तु के खरीदने में व्यय किया जाता है (प्रति इकाई मूल्य × खरीदी जाने वाली इकाइयों की संख्या), वह हमेशा समान रहता है, चाहे मूल्य मे कितना भी घट-बढ हो। आराम की वस्तुओं के साथ ऐसा ही होता है। आराम की वस्तुओं की माँग की लोच का संकेत निम्नलिखित है :

$$लो = १$$

जब माँग की लोच एक के बराबर होती है, तब माँग लोचदार (Elastic) कहलाती है।

जब माँग मे परिवर्तन मूल्य मे होने वाले परिवर्तन से अधिक अनुपात में होता है, तो उस वस्तु की माँग की लोच एक से अधिक कही जाती है। जैसे यदि मूल्य मे १०% कमी हो जाय, तो माँग मे २०% वृद्धि हो जाय। ऐसी दशा मे उस वस्तु के खरीदने मे जितना रुपया व्यय किया जाता है, वह मूल्य के बढने पर कम हो जाता है, और मूल्य के कम होने पर बढ जाता है। विलासिता की वस्तुओं के साथ ऐसा ही होता है। ऐसी वस्तुओं की माँग की लोच का संकेत निम्नलिखित है

$$लो > १$$

जब माँग की लोच एक से अधिक होती है, तब माँग बहुत लोचदार (Highly-Elastic) कहलाती है।

जब माँग मे परिवर्तन मूल्य मे होनेवाले परिवर्तन से कम अनुपात मे होता है, तब माँग की लोच एक से कम कही जाती है। जैसे यदि मूल्य मे २०% कमी हो, तो माँग केवल २% ही बढे। इस दशा मे वस्तु खरीदने मे जो रुपया व्यय किया जाता है वह मूल्य के बढने पर बढ जाता है और मूल्य के घटने पर घट जाता है। आवश्यकता की वस्तुओं के साथ ऐसा ही होता है। ऐसी वस्तुओं की माँग की लोच का संकेत निम्नलिखित है :

$$लो < १$$

जब माँग की लोच एक से कम होती है, तब माँग बेलोच (Inelastic) कहलाती है।

नीचे की तालिका में ऊपर की व्याख्या संक्षिप्त रूप में दी जाती है

	माँग में परिवर्तन की मात्रा	लोच का संकेत	प्रत्येक वर्ग में आने वाली वस्तुएँ	लोच की मात्रा
(अ)	अनुपात के बराबर	लो=१	आराम की वस्तुएँ	लोचदार
(आ)	अनुपात से अधिक	लो > १	विलासिता की वस्तुएँ	बहुत लोचदार
(इ)	अनुपात से कम	लो < १	आवश्यकता की वस्तुएँ	बेलोच (या साधारणतया लोचदार)

(तालिका जिसमें माँग की लोच दिखाई गई है)

लोचदार माँग की वक्र-रेखा (Elastic Demand Curve)

मोटरकार की माँग लोचदार होती है[५]। हम नीचे कार की माँग की तालिका देते हैं:

कार की माँग की तालिका

मूल्य (रुपये)	माँग (कार की संख्या)
१०,०००	१,०००
८,०००	३,०००
५,०००	८,०००
४,०००	११,०००

[५]कार के लिये एक व्यक्ति की जो माँग होती है, उसकी लोच बहुत कम होती है। चाहे कार कितनी ही सस्ती क्यों न हो जाय, साधारणतया कोई भी व्यक्ति साल में एक से अधिक कार नहीं खरीदना चाहेगा। किन्तु यदि हम पूरे समाज को ले लें, तो समाज की सामूहिक माँग बहुत लोचदार होती है। जैसे-जैसे कार का मूल्य गिरता जाता है, वैसे ही वैसे समाज का एक नया वर्ग कार खरीदने लगता है।

इस तालिका से जो वक्र-रेखा बनाई जायगी, वह विलासिता की वस्तुओं की माँग की प्रतिनिधि होगी। इस वक्र-रेखा की प्रवृत्ति लेटी हुई या चपटी होगी।
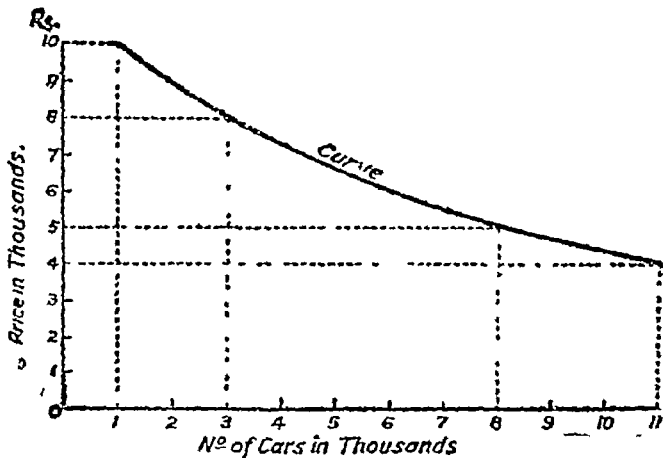
चित्र ६—कार की माँग की लोच

ऊपर के चित्र में कार की इकाइयाँ OX अक्ष पर नापी गई हैं और कार का मूल्य OG अक्ष पर। विन्दुओं के स्थिर करने की रीति बूँददार रेखाओं के द्वारा दिखाई गई है। इस प्रकार स्थिर किये गये विन्दुओं को मिला देने से हमें कार की माँग की वक्र-रेखा प्राप्त होती है जो गहरी काली स्याही में दिखाई गई है। **विद्यार्थियों को ध्यानपूर्वक देखना चाहिये कि यदि वक्र-रेखा चपटी (Horizontal) है।**

बेलोच माँग की वक्र-रेखा (Inelastic Demand Curve)

हम नीचे नमक की माँग की तालिका देते हैं। जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, नमक की माँग बेलोच होती है।

नमक की माँग की तालिका

मूल्य (रुपये प्रति मन)	माँग (मन)
६	१००
४	११०
३	११५
२	१२०

नीचे के चित्र में ऊपर की तालिका की सहायता से नमक की माँग की वक्ररेखा बनाई गई है। इस वक्र-रेखा की प्रवृत्ति खड़ी होने की ओर है। यह स्मरण रखना चाहिये कि लोचदार माँग की वक्र-रेखा लेटी-सी (horizontal) होती है और बेलोच माँग की वक्ररेखा खड़ी-सी (vertical) होती है।

चित्र १०—नमकी माँग का बेलोच होना

लोच में परिवर्तन निश्चित करने वाली दशाएँ (Conditions Governing Variation in Elasticity)
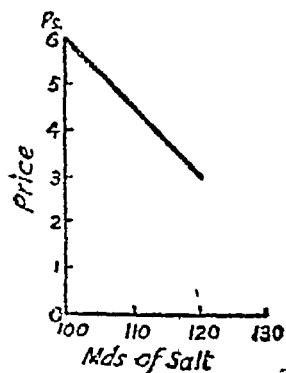
माँग की लोच बहुत परिवर्तनशील होती है। कुछ वस्तुएँ (जैसे फाउन्टेनपेन, मोटरकार, आदि ऐसी होती हैं कि जिनकी माँग की लोच नमक, दियासलाई, आदि वस्तुओं की माँग की लोच से अधिक होती है। इसके अतिरिक्त, एक ही वस्तु की माँग की लोच प्रत्येक व्यक्ति के लिये, उसकी आर्थिक अवस्था के अनुसार, अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिये, मोटरकार की माँग एक धनी व्यक्ति के लिये तो लोचदार होती है, किन्तु एक निर्धन व्यक्ति के लिये बेलोच। नेकटाई की माँग एक विद्यार्थी के लिये लोचदार होती है किन्तु किसान के लिये बिल्कुल बेलोच होती है। साथ में ही, यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि किसी भी वस्तु की माँग कुछ मूल्यों पर लोचदार होती है और कुछ अन्य मूल्यों पर साधारणतया लोचदार।

हम नीचे उन मुख्य दशाओं का वर्णन करते हैं जो किसी वस्तु की माँग की लोच का निश्चय करती हैं।

(१) विलासिता की वस्तुओं की माँग बहुत लोचदार (Highly-Elastic) होती है, आराम की वस्तुओं की लोचदार (Elastic) और आवश्यकता की वस्तुओं की बेलोच (Inelastic)। इसका कारण यह है कि जो वस्तुएँ जीवन के लिये आवश्यक हैं वे किसी भी मूल्य पर खरीदी ही जायँगी, किन्तु विलासिता की वस्तुएँ आसानी से छोड़ी जा सकती हैं, और आराम की वस्तुएँ इन दोनों के बीच में आती हैं।

आवश्यकताओं की वस्तुओं की माँग स्वभाव से ही बेलोच (inelastic) होती है। जीवन-रक्षक वस्तुओं की माँग इतनी जरूरी और स्थिर होती है कि मनुष्य उन्हें एक निश्चित मात्रा में माँगता ही है, चाहे उनका मूल्य कुछ भी हो। प्रतिष्ठा

रक्षक (conventional) वस्तुओं के विषय में भी यही कहा जा सकता है। किसी आयुप्राप्त की मृत्यु पर हिन्दू परिवार के सदस्य से यह आशा की जाती है कि, चाहे खाद्य-पदार्थों का मूल्य कुछ भी हो, वह एक भोज दे। यह उसके लिये बहुत आवश्यक है, नहीं तो समाज में उसकी बहुत बदनामी होगी। कुशलता-रक्षक (efficiency) वस्तुओं की मांग सर्वदा और प्रत्येक स्थान पर इतनी बेलोच नहीं होती। यदि रहन सहन का दर्जा ऊँचा हुआ, तो वे उतनी ही जरूरी हो जाती हैं जितनी कि जीवन-रक्षक वस्तुएँ, किन्तु यदि रहन-सहन का दर्जा नीचा हुआ, तो उनका दवाव कम हो जाता है और वे उपभोग में शामिल ही नहीं होते।

विलासिता की वस्तुओं की मांग बहुत लोचदार (highly elastic) होती है। ये वस्तुएँ ऐसी नहीं होतीं कि इनके बिना काम चल ही न सके, अतः यदि इनका मूल्य बहुत बढ जाता है, तो इनका उपभोग बहुत कम हो जाता है। यदि इनका मूल्य गिर जाय, तो इनका उपभोग बहुत बढ भी जाता है। अतः यदि इनका मूल्य बढ जाता है, तो खरीदार उन्हें अनुपात से कम मात्रा में मांगने लगते हैं, और यदि उनका मूल्य कम हो जाता है, तो उनकी मांग अनुपात से अधिक मात्रा में बढ जाती है।

आराम की वस्तुएँ विलासिता और आवश्यकता की वस्तुओं के बीच में आती हैं, और उनकी मांग लोचदार (elastic) होती है क्योंकि उनकी मांग में परिवर्तन मूल्य में होने वाले परिवर्तन के अनुपात के बराबर होता है।

(२) **उपयोगों की संख्या का प्रभाव**—साधारणतया उन वस्तुओं की मांग की लोच सबसे अधिक होती है जिनके बहुत से उपयोग किये जाते हैं। क्योंकि यदि उनका मूल्य बढ गया, तो उनका उपयोग बहुत से उपयोगों में बन्द कर दिया जाता है, और यदि उनका मूल्य घट गया, तो उनका नई दिशाओं में उपयोग होने लगता है। उदाहरण के लिये, यदि कभी सूखा पड जाय और पानी नाप के हिसाब से ऊँचे मूल्य पर बेचा जाने लगे, तो मनुष्य उसका नहाने, बर्तन धोने आदि में उपयोग मितव्ययता के साथ करेंगे। किन्तु यदि एक निश्चित वार्षिक कर लेकर पानी असीमित मात्रा में दिया जाय, तो उसका उपयोग बहुत अधिक किया जायगा।

(३) **स्थानापन्न वस्तुओं (Substitutes) का प्रभाव**—जिस वस्तु की बहुत सी स्थानापन्न वस्तुएँ होती हैं, उसकी मांग ऐसी वस्तु की अपेक्षा, जिसकी स्थानापन्नवस्तु हो ही नहीं, अधिक लोचदार होगी। क्योंकि यदि स्थानापन्नवाली वस्तु का मूल्य औरों की अपेक्षा कम हो जाय, तो अन्य वस्तुओं के उपभोक्ता उन वस्तुओं के स्थान पर इस वस्तु को खरीदने लगेंगे। अतः मूल्य कम हो जाने पर उसकी मांग उस अवस्था के मुकाबले, जब कि उसके खरीदार केवल मौलिक उपभोक्ता ही होते-

बहुत बढ जायगा। उदाहरण के लिये, कहवा चाय का स्थानापन्न है। यदि कहवे का मूल्य बहुत घट जाय और मनुष्य चाय पीना आरम्भ कर दे, तो कहवे की माँग बहुत घट जायगी और चाय की माँग बहुत बढ जायगी। यदि कोई स्थानापन्न वस्तु उपलब्ध हो न हो, जैसे नमक की, तो मूल्य के घट जाने से माँग मे अधिक कमी नही होगी।

(४) **शौक और आदत**—किसी वस्तु की माँग मनुष्यों के शोक पर भी निर्भर होती है, कुछ व्यक्ति चाय की सुगन्धि और स्वाद पर इतना ध्यान नहीं देते यदि वह उन्हे मनचाही मात्रा में मिल जाय, किन्तु कुछ दूसरे व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अच्छी सुगन्धि तथा स्वाद की चाय पीना पसन्द करते हैं चाहे चाय की मात्रा कम ही हो। लगातार उपयोग करते रहने से आदत भी पड जाती है। जिस व्यक्ति को अच्छे, चिकने और मोटे कागज पर लिखने की आदत पड गई है, वह ऐसा ही कागज खरीदेगा चाहे उसका मूल्य कुछ भी हो। इसी प्रकार जो व्यक्ति कहवा पीना पसन्द नहीं करता, वह उसे नही खरीदेगा चाहे उसका मूल्य कितना ही कम क्यो न हो जाय।

(५) **मूल्य का प्रभाव**—माँग की लोच बहुत कम या बहुत अधिक मूल्यों पर कम होती है, और मध्यम मूल्यों पर अधिक। यदि किसी वस्तु का मूल्य बहुत अधिक हुआ, तो मूल्य मे थोडा-सा घट-बढ माँग पर प्रभाव नही डालेगा, क्योंकि ऐसी दशा में उसे धनी व्यक्ति ही खरीदेंगे जो मूल्य की परवाह नहीं करते। यदि मूल्य बहुत कम हुआ, तो जो भी व्यक्ति उसे खरीदना चाहता है उसे खरीद लेगा, और मूल्य मे और कमी हो जाने पर माँग में कोई खास वृद्धि नहीं होगी। किन्तु मध्यम मूल्यो पर इसका उपभोग धनी तथा ऊँचे मध्यवर्ग के व्यक्तियो तक ही सीमित रहता है अत यदि मूल्य थोडा-सा भी बढा तो ऊँचे मध्यवर्ग के व्यक्ति उसका उपभोग बन्द कर देगे और उसकी माँग कम हो जायगी। इसके विपरीत, यदि मूल्य कम हो जाय, तो नीचे मध्यवर्ग के पुरुष और कदाचित् निर्धन व्यक्ति भी उसका उपभोग आरम्भ कर दे और उसकी माँग काफी बढ जायगी। अत मध्यम मूल्यों पर लोच अधिक होती है।

एक वर्ग का समाज—हमने ऊपर जो कुछ भी कहा है, वह समाज भर की सामूहिक माँग के विषय में लागू होता है। यदि हम समाज के केवल एक वर्ग की ही माँग का विचार करें, तो हमे मालूम पडेगा कि "माँग की लोच ऊँचे मूल्यो पर अधिक होती है, मध्यम मूल्यों पर अधिक या कम से कम काफी होती है, किन्तु जैसे-जैसे मूल्य कम होता जाता है, वैसे ही वैसे लोच भी कम होती जाती है, और यदि मूल्य इतना कम हो जाय कि पूर्ण सन्तुष्टि-विन्दु

(point of satiety) पहुँच जाय, तो लोच धीरे-धीरे अदृश्य हो जाती है[६] ।" जब किसी वर्ग के विचार में किसी वस्तु का मूल्य बहुत अधिक होता है, तो उसके मूल्य मे काफी कमी हो जाने पर मॉग बहुत अधिक बढ जाती है । जब मूल्य घटकर मध्यम स्तर पर आ जाता है, तो उस वर्ग के ऐसे सदस्य जिनकी आर्थिक अवस्था साधारण है, वे भी मॉग करने लगते हैं और पुराने उपभोक्ता अपनी मॉग बढा लेते हैं । मॉग बढ तो जाती है किन्तु बहुत अधिक नही बढती । यदि मूल्य और भी कम हो जाय तो मॉग थोडी-सी बढेगी क्योंकि मॉग अधिकाश में सन्तुष्ट हो चुकी होगी । उस वर्ग की पूर्ण सन्तुष्टि के स्तर पर, मॉग बहुत बेलोच हो जायगी ।

(६) आय का व्यय किया जाने वाला भाग—ऐसी वस्तुओं की मॉग अधिक लोचदार होती है जिन पर किसी व्यक्ति की आय का अधिक भाग खर्च किया जाता है, और उस वस्तु की मॉग की लोच कम होती है जिस पर कि किसी व्यक्ति की आय का थोडा-सा ही भाग खर्च किया जाता है । जब आय का बहुत थोडा भाग किसी वस्तु पर खर्च किया जाता है, तब उस पर कोई अधिक ध्यान नहीं देता । नमक की मॉग बहुत बेलोच होती है क्योंकि उस पर आय का बहुत थोडा-सा भाग खर्च किया जाता है, और इसलिये भी कि उसका कोई स्थानापन्न नही होता । इसी प्रकार धागे की मॉग बेलोच होती है क्योंकि कपडे सीने की लागत का इतना छोटा भाग धागे पर व्यय किया जाता है कि धागे के मूल्य का कोई अधिक चिन्ता नही करता ।

३. पूर्ति या सप्लाई

पूर्ति का अर्थ

पूर्ति किसी वस्तु की उस मात्रा को कहते है जिसे विक्रेता एक निश्चित मूल्य पर बेचने को तैयार होता है । पूर्ति मूल्य पर निर्भर होती है । अधिक मूल्य पूर्ति को बढा देती है और कम मूल्य पूर्ति को घटा देती है । अत यदि हम मूल्य का ख्याल ही छोड दें, तो पूर्ति ऐसी कोई वस्तु रह ही नहीं जाती ।

जिस प्रकार हम इच्छा और मॉग मे अन्तर्भेद करते हैं, उसी प्रकार हमें स्टाक और पूर्ति मे भी अन्तर्भेद करना चाहिये । स्टाक से आशय माल की उस मात्रा से है जो बेची जा सकती है, पूर्ति माल की वह मात्रा है जो किसी दिये हुये मूल्य पर बेची जायगी[७] । यदि बाजार मे किसी निश्चित दिन और निश्चित समय

[६] Marshall, *Principles of Economics*, p 103.
[७] Penson, *op. cit.*, p 110.

पर, चार रुपये प्रति मन के मूल्य पर २,००० मन गेहूँ बिक्री को आता है, तो उस मूल्य पर गेहूँ की पूर्ति २,००० मन हुई। किन्तु उस समय स्टाक में १०,००० मन गेहूँ हो सकते हैं जिसमे से केवल २,००० मन गेहूँ उस मूल्य पर बिकने को आते हैं।

पूर्ति-मूल्य (Supply Price)

पूर्ति-मूल्य से आशय उस मूल्य से है जिस पर कि विक्रेता वस्तु की एक निश्चित मात्रा बेचने को तैयार होते हैं[८]।

पूर्ति का सिद्धान्त

मूल्य मे जब परिवर्तन होता है, तो पूर्ति में भी परिवर्तन हो जाता है। जब मूल्य बढता है, तब पूर्ति भी बढ जाती है, और जब मूल्य घटता है, तब पूर्ति भी घट जाती है। अतः पूर्ति और मूल्य में एक ही दिशा मे और साथ-साथ परिवर्तन होते हैं। इसे पूर्ति का सिद्धान्त कहते हैं।
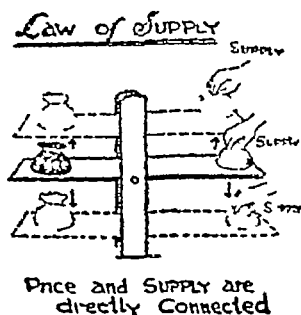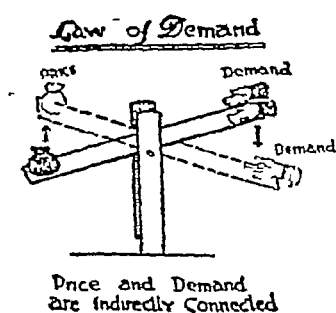
चित्र ११—माँग और पूर्ति के सिद्धान्तों का मिलान

इस नियम के परिचालन का कारण यह है कि जब मूल्य बढ जाता है तब उन कम कुशल उत्पादकों को भी जिनकी कि लागत अधिक होती है माल उत्पन्न

[८]उत्पत्ति के लिये मनुष्यों को कुछ अ-वस्तुएँ (discommodities) भुगतनी पडती हैं, जिन्हें श्रम और बलिदान कहते हैं, मनुष्य मे श्रम और बलिदान करने की अनिच्छा होती है, पूर्ति इसी अनिच्छा पर आधारित है। .....मनुष्यों को ऐसे श्रम और बलिदान करने को राजी करने के लिए उन्हें कोई मूल्य अदा करना पडता है।.. .... . उत्पत्ति की मात्रा दिये जाने वाले मूल्य पर निर्भर होती है। .... . इसे पूर्ति-मूल्य कहते हैं।—John. A. Todd, *Political conomy for Egyptian Students*, p. 35.

करने और वेचने मे लाभ होने लगा है, अत वे उत्पत्ति करने लगते हैं और कुशल उत्पादक अधिक मात्रा मे उत्पत्ति करना आरम्भ कर देते हैं। इस प्रकार कुल उत्पत्ति बढ जाती है। मूल्य जैसे-जैसे बढता जाता है, वैसे ही वैसे कुल उत्पत्ति भी बढती जाती है। इसके विपरीत, यदि मूल्य कम हो गया, तो कुछ उत्पादक जिनकी लागत मूल्य से अधिक होती है, माल वेचना रोक देते है, और इस प्रकार पूर्ति कम हो जाती है। हमने ऊपर चित्र ११ दिया है जिसमे मॉग और पूर्ति के सिद्धान्तों का मिलान किया गया है, मॉग और मूल्य विपरीत दिशा मे चलते हैं, और पूर्ति और मूल्य एक ही दिशा मे चलते हैं।

पूर्ति का तालिका (Supply Schedule)

पूर्ति की तालिका उस सूची को कहते हैं जिसमे किसी खास वाजार मे किसी खास दिन और खास समय किसी वस्तु के विभिन्न मूल्यो और उन पर उसका पूर्ति का सम्वन्ध दिखाया जाता है। हम नीचे एक अनाज के व्यापारी की मॉग की तालिका देते ह जो इलाहावाद के मुट्ठीगज वाजार मे जून १, १९५० को प्रातः दस वजे वनाई गई थी :

मूल्य (रुपये)	पूर्ति (मन)
६	१०,०००
५	९,०००
४	८,०००
३	६,५००
२	४,०००
१	१,६००

पूर्ति की वक्र-रेखा

हम पूर्ति की तालिका को ग्राफ पर चित्रित भी कर सकते हैं। जो वक्र-रेखा चित्र द्वारा अकित की जाती है, उसे पूर्ति की वक्र-रेखा (Supply Curve) कहते हैं। ऊपर की तालिका द्वारा जो पूर्ति की वक्र-रेखा वनेगी वह नीचे चित्र १२ मे दिखाई गई है। मन OX अक्ष पर नापे गये हैं और मूल्य OY अक्ष पर। विन्दु अकित करने की रीति बूँददार रेखाओ द्वारा दिखाई गई है। विन्दुओं को सयुक्त करके जो गहरी काली स्याही वाली रेखा प्राप्त होती है, वही पूर्ति की
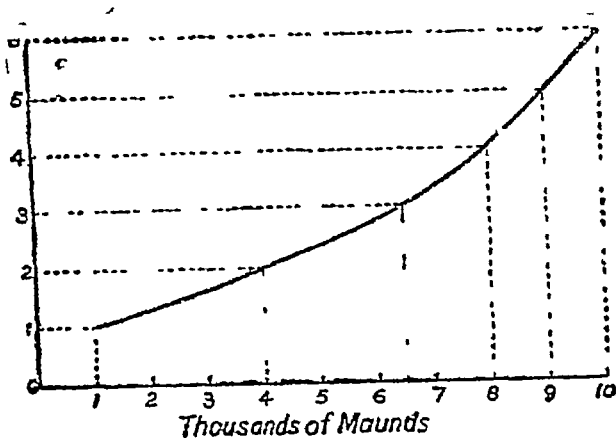
चित्र १२—माग की वक्र-रेखा

वक्र-रेखा है। पाठक को चाहिये कि वह इस वक्र-रेखा का माँग की वक्र-रेखा मे मिलान करे जो हम चित्र ६ में दिखा चुके हैं और नीचे चित्र १३ में दिखाते हैं।

पूर्ति की वक्र-रेखा और उत्पत्ति के नियम

माँग की वक्र-रेखा सदैव बाँयीं ओर से दाहिनी ओर झुकती है। यह इस बात की सूचक है कि वस्तु का मूल्य जैसे-जैसे कम होता जाता है, माँग वैसे ही वैसे बढ़ती जाती है। बगल के चित्र से यह स्पष्ट है। ऐसा सीमान्त उपयोगिता के क्रमशः घटने के नियम के अनुकूल होता है और यह हर वस्तु पर लागू होता है। अत हर वस्तु की माँग की वक्र-रेखा का यही स्वभाव होगा।
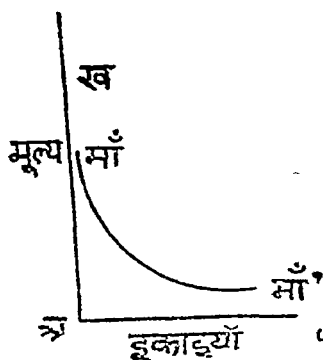
चित्र १३

पर पूर्ति की वक्र-रेखा हर वस्तु के सम्बन्ध में एक सी नहीं होती। पूर्ति की वक्र रेखा का स्वरूप इस बात पर निर्भर होता है कि उस वस्तु की उत्पत्ति सीमान्त उपज के बढ़ने, घटने, या स्थिर रहने के नियम के अनुकूल होती है। यदि किसी

वस्तु की उत्पत्ति सीमान्त उपज के घटने (अर्थात् लागत के बढ़ने) का नियम पालन करती है, तो जितनी अधिक मात्रा उत्पन्न की जायगी, उतनी ही लागत बढ़ती जायगी, और पूर्ति की वक्र रेखा (पू पू') दाहिनी ओर ऊँची होती जायगी (चित्र १४)। यदि इसके विपरीत, उत्पत्ति सीमान्त उपज के बढ़ने (अर्थात् लागत के घटने) के नियम के अनुकूल हो, तो जितनी अधिक मात्रा उत्पन्न होगी लागत उतनी ही कम होगी। अत: पूर्ति की वक्र-रेखा (पू पू') दाहिनी ओर झुकती जायगी जैसा कि चित्र १५ मे दिखाया गया है। यदि उत्पत्ति सीमान्त उपज के स्थिर रहने के नियम के अनुकूल
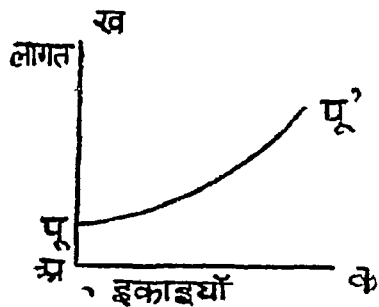
चित्र १४
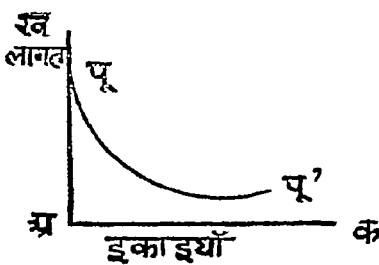
चित्र १५
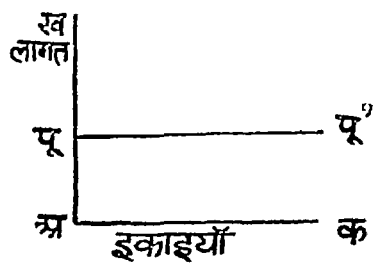
चित्र १६

हो, तो लागत समान रहेगी चाहे उत्पत्ति की मात्रा कितनी ही हो। अत पूर्ति की वक्र-रेखा (पू पू') अ-क आधार के समानान्तर होगी। यह चित्र १६ से स्पष्ट है।

पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply)

अर्थशास्त्र में पूर्ति की लोच शब्द का प्रयोग साधारणतया नहीं होता किन्तु यह उपयोगी शब्द है। किसी वस्तु की पूर्ति लोचदार (Elastic) तब कही जा सकती है जब कि पूर्ति मे परिवर्तन ठीक उसी अनुपात मे ही जिसमे कि मूल्य का परिवर्तन हुआ है। पूर्ति मे अधिक लोच (Highly Elastic) तब कही जायगी जब कि पूर्ति मे परिवर्तन मूल्य के परिवर्तन से अधिक अनुपात मे हो। बेलोच पूर्ति

(inelastic Supply) तब कही जाती है जब कि पूर्ति मे परिवर्तन मूल्य मे होने वाले परिवर्तन से कम अनुपात मे हो।

अभ्यास के प्रश्न

१ मॉग का अर्थ यथाशक्ति पूर्णतया स्पष्ट कीजिये और इसका उपयुक्त परिभाषा भी दीजिये।

२. मॉग के नियम को समझाइये और चित्र द्वारा उसे स्पष्ट कीजिये।

३ मॉग-मूल्य, मॉग की तालिका और मॉग की वक्र-रेखापर सक्षिप्त नोट लिखिये।

४. मॉग की लोच का क्या अर्थ है? लोचदार, बहुत लोचदार और बेलोच मॉग का अर्थ समझाइये।

५ मॉग की लोच निर्धारित करने वाली दशाओं का वर्णन कीजिये।

६. पूर्ति का क्या अर्थ है? पूर्ति की तालिका और पूर्ति की वक्र-रेखा की परिभाषा दीजिये।

७ पूर्ति के नियम को उदाहरण द्वारा समझाइये।

८. "टोपियो की मॉग बढ गई है।" इस कथन के कौन से दो अर्थ निकाले जा सकते हैं? मॉग की परिभाषा दीजिये।

९ निम्नलिखित वस्तुओं की मॉग बेलोच होगी या लोचदार या बहुत लोचदार: मोटरकार, ताश, टेनिस की गेद, स्याही, हजामत, कागज, नमक, हीरा, पुस्तक?

१० निम्नलिखित दशाओं मे किसी वस्तु की मॉग लोचदार होगी या बेलोच—

(क) यदि उसकी बहुत सी स्थानापन्न वस्तुयें प्राप्त हो?

(ख) यदि उसके बहुत से उपयोग सम्भव हों?

(ग) यदि उसका मूल्य उसे जन-साधारण की पहुँच के परे कर दे?

(घ) यदि उसकी आवश्यकता लगभग पूर्णतया सतुष्ट हो चुकी हो?

११. "पूर्ति और स्टाक का एक ही अर्थ है।" क्या आप सहमत हैं? क्या किसी वस्तु की पूर्ति मे उसकी वह मात्रा भी शामिल होती है जो उपभोक्ताओ के पास है? क्या किसी वस्तु की पूर्ति उसकी उपस्थित मात्रा से अधिक हो सकती है?

१२. यदि मोटरकारों और चावल के मूल्य में समान अनुपात की घटती हो, तो इसका उन दोनों की मांगो पर क्या प्रभाव होगा?

१३ सोने की पूर्ति में निरतर वृद्धि होते रहने पर भी उसका मूल्य अधिक क्यों रहा है?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. माँग की लोच का क्या अर्थ है ? कुछ वस्तुओं की माँग अन्य वस्तुओं की माँग से अधिक लोचदार क्यों होती है ? पूरी तरह समझाइये। (१६४७, १६४१)

२. माँग की तालिका और पूर्ति की तालिका पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१६४७, ४६)

३. कुछ वस्तुओं की माँग लोचदार क्यों होती है और दूसरों की बेलोच क्यों होती है ? पिछले युद्ध में दुर्लभता और ऊँचे मूल्यों का माल के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ा ? उदाहरण द्वारा समझाइये। (१६४५)

४. माँग और पूर्ति की वक्र-रेखाओं पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१६४३)

५ माँग और पूर्ति की परिभाषा दीजिये। (१६४२)

६. माँग और पूर्ति की तालिकाओं तथा वक्र रेखाओं की परिभाषा दीजिये, उन्हें समझाइये तथा चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिये। अर्थशास्त्र में इनके अध्ययन का क्या लाभ है ? (१६३७)

७. 'माँग', और 'पूर्ति' की परिभाषा दीजिए। 'माँग की तालिका' तथा 'पूर्ति की तालिका' की परिभाषा दीजिए। माँग तथा पूर्ति की वक्र-रेखाएँ निम्नांकित तालिका के अनुसार खींचिए :

गेहूँ का बाजार

माँग	मूल्य	पूर्ति
मन	रु० प्रति मन	मन
३०	१४ „ „	१००
४२	१० „ „	६०
७०	६ „ „	३०
२१०	२ „ „	१०

(१६२६)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

८ आवश्यकता और माँग का अर्थ बताइये। इस अंतर का किसी वस्तु के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (१६४४)

६. माँग की लोच क्या होती है ? माँग की लोच निम्नलिखित दशाओं में क्या होगी ? (१) आवश्यक पदार्थ, (२) विलासिता-सम्बन्धी पदार्थ, (३) अनेक कामों

में प्रयुक्त होनेवाली वस्तु और (४) जब कोई वस्तु बहुत अधिक या बहुत कम मूल्य पर बेची जाय ? (१९४०)

१०. किसी वस्तु की माँग को लोचदार और बेलोच बनानेवाली दशाओं का वर्णन कीजिये। (१९४३-४१)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

11 Explain elasticity of demand. How would you measure it ? (1948)

12 If price falls demand increases but if demand increases price again rises. It is difficult to see how price ever changes. Solve this difficulty (1944)

13 Write a note on Supply Price (1942)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

14. What is meant by elasticity of demand ? Why is the demand for some commodities more elastic than for others ? Explain fully (1949)

15 Write a short note on elasticity of demand (1948)

16 What do you understand by 'Elasticity of Demand'? Explain why the demand for some commodities is more elastic than for others (1946)

17 State the law of demand and point out the difference between individual demand and market demand What are the limitations of the law of demand ? (1944)

18 What is meant by elasticity of demand ? Determine the nature of demand in the following cases (a) necessaries, (b) luxuries, (c) commodity having several uses, and (d) when the article is offered at a very high or very low price (1940)

पटना, इन्टर आर्ट्स

19. What are the immediate and ultimate effects of an increase in the demand for a commodity on its price ? (1949 Supp.)

20 Explain why a fall in the price of a commodity is followed by its increased sale (1949 Annual)

21 State and explain the law of elasticity of demand Give examples and draw diagrams to illustrate your answer (1948 Annual).

22 Explain the law of elasticity of demand and give illustrations of elastic and inelastic demand (1946 Supp.)

23 What are the circumstances in which the demand for a commodity may increase even if its price rises ? (1946 Annual)

पटना, इंटर कामर्स

24. What do you mean by demand ? What is the relation between demand and value ? (1949 Supp)

25. Write a short note on demand curve. (1948 Supp)

26. What do you mean by elasticity of demand ? Distinguish between elastic and inelastic demand Does elasticity of demand for a commodity vary according to variation in time and the classes of persons concerned ? (1948 Annual.)

27. The greater the demand, the higher the price, and the higher the price, the smaller the demand. Explain why this is so ? (1948 Annual)

28. Write a note on Demand Schedule (1948 Annual)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

29. Write a short note on Inelastic Demand (1949)

30. Explain Elasticity of Demand Why is demand for some commodities more elastic than for others ? (1948)

31. What is demand ? Frame a market demand schedule and explain why demand changes as a consequence of a change in price Is this true under all conditions ? (1948)

32. State the relationship between —
   (a) Demand and price
   (b) Supply and price (1947)

नागपुर, इन्टर कामर्स

३३ माँग और मूल्य तथा पूर्ति और मूल्य का सबन्ध बताइये। (१९४७)

३४ माँग और उपयोगिता पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४६)

३५. माँग की लोच पर एक नोट लिखिये। (१९४५)

सागर, इंटर आर्ट्स

36 Write a short note on Inelastic Demand. (1949)

है, वह घटता जाता है। और यदि वह किसी वस्तु को खरीदता ही जाय तो अवश्य ही एक ऐसी अवस्था आयेगी जब कि जो मूल्य उसे आगामी इकाई के लिये देना पड़ेगा वह उस इकाई की उपयोगिता के बराबर होगा। वह यहाँ पर अपनी खरीदारी बन्द कर देगा। जो मूल्य किसी वस्तु की अंतिम इकाई के लिये दिया जाता है वह उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (Marginal utility) का माप होता है। एक वस्तु की जितनी भी इकाई खरीदा जाती है वह एक सी होती है, अत वह प्रत्येक इकाई उसी मूल्य पर खरीदेगा। इससे यह मतलब निकला कि खरीदार जो मूल्य प्रति इकाई देगा वह वस्तु की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगा। किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उस अधिकतम मूल्य (Maximum Price) को निश्चित करती है जो खरीदार देगा, वह इससे कम मूल्य दे सकता है, पर वह इससे अधिक मूल्य नहीं देगा।

मूल्य क्यों लिया जाता है?

विक्रेता किसी वस्तु के लिये मूल्य इसलिये लेता है कि उसे उस वस्तु के उत्पन्न करने या प्राप्त करने मे कुछ व्यय करना पडता है। यह तो स्पष्ट है कि वह उत्पत्ति के व्यय से कम पर वस्तु नहीं बेचेगा। साधारणतया यह न्यूनतम मूल्य (minimum price) होता है, वह चाहे इससे अधिक मूल्य वसूल न करे किन्तु साधारणतया वह इससे कम मूल्य लेने को राजी न होगा।

मूल्य का निर्धारण

इस प्रकार हम देखते हैं कि खरीदार का एक अधिकतम मूल्य होता है, जो वस्तु की सीमांत उपयोगिता द्वारा निर्धारित होता है। वह इससे अधिक मूल्य नहीं देता, और चेष्टा इसी बात की करता है कि जहाँ तक हो सके उसे कम से कम ही मूल्य देना पड़े। साथ मे विक्रेता का भी एक न्यूनतम मूल्य होता है, जोकि उत्पत्ति के व्यय (expenses of production) के द्वारा निर्धारित होता है। वह इससे कम मूल्य स्वीकार नहीं करेगा, और चेष्टा इसी बात की करेगा कि हमसे जितना अधिक मूल्य उसे मिल सके वह वसूल करे। जो मूल्य वास्तव में निर्धारित होता है वह इन्हीं अधिकतम और न्यूनतम सीमाओं के बीच में, माँग और पूर्ति के सापेक्षिक (relative) प्रभाव के अनुसार, निर्धारित होता है। जब खरीदार की अवस्था उसकी माँग तीव्र (urgent) न होने के कारण अथवा उसके सौदा करने मे कुशल होने के कारण सुदृढ होती है, तो मूल्य की प्रवृत्ति उत्पादन-व्यय के समान होने की होती है। किन्तु जब विक्रेता की अवस्था उसकी माल बेचने की इच्छा तीव्र न होने के कारण अथवा उसके भाव-ताव करने में अधिक निपुण होने के कारण सुदृढ़ होती है, तो मूल्य की प्रवृत्ति सीमान्त उप-

योगिता के बराबर होने की होती है। जिस मूल्य पर वास्तव में व्यापार किया जाता है वह इस प्रकार माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है, और वह मूल्य ऐसा होता है जिस पर कि माँग-पूर्ति के बराबर होती है। यह बात हमने आगे चलकर विस्तारपूर्वक समझाई है। माँग और पूर्ति के इस प्रकार बराबर होने को संतुलन (equilibrium) कहते हैं, और मूल्य को संतुलन मूल्य (equilibrium price) कहते हैं।

यही अर्घ का सिद्धांत (theory of value) है। इसको इस प्रकार संक्षिप्त किया जा सकता है: **अर्घ (या मूल्य) सीमांत उपयोगिता और उत्पादन-व्यय के बीच में माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है और ऐसे मूल्य पर वस्तु की पूर्ति उसकी माँग के बराबर होती है।** अल्पकाल (short period) में माँग का महत्त्व अधिक होता है, और दीर्घकाल (long period) में पूर्ति का महत्त्व अधिक होता है। यह बात आगे चलकर स्पष्ट की गई है।

वास्तविक लागत और द्राव्यिक लागत

अर्घ के सिद्धांत के अध्ययन करने में हमें वास्तविक लागत और द्राव्यिक लागत (या लागत) शब्दों का बहुत प्रयोग करना पड़ेगा। अतः इन दोनों शब्दों का अन्तर्भेद जान लेना आवश्यक है।

वास्तविक लागत—उत्पत्ति के लिये श्रम और बलिदान की आवश्यकता होती है। जो श्रम और बलिदान किसी वस्तु के उत्पन्न करने में काम आते हैं, उन्हीं को वास्तविक लागत (real cost) कहते हैं। मार्शल का कथन है कि "किसी वस्तु के बनाने में विभिन्न प्रकार के श्रम प्रत्यक्ष (direct) या परोक्ष (indirect) रीति से करने पड़ते हैं, वे और उसके उत्पन्न करने में काम आने वाली पूँजी के बचाने में जो संयम (abstinence) या प्रतीक्षा (waiting) आवश्यक होती है—ये सब श्रम और बलिदान सामूहिक रूप से वस्तु की उत्पत्ति की वास्तविक लागत कहलाते हैं[1]।"

द्राव्यिक लागत या लागत—किन्तु श्रम और बलिदान का नापना असम्भव है। इसलिये अर्थशास्त्र में जितने द्रव्य को देकर वे खरीदे जाते हैं, उस द्रव्य को उनका माप माना जाता है। जितना रुपया एक वस्तु के उत्पादन में व्यय किया जाता है, उसे उसकी उत्पत्ति की द्राव्यिक लागत (money cost of production) या लागत (cost) या उत्पादन-व्यय (expenses of production)

---

[1] Marshall, *Principles of Economics*, pp. 338-339.

कहा जाता है। मार्शल के शब्दों मे, 'इन श्रम और बलिदानों के लिये जो द्रव्य देना पडता है उसे उत्पत्ति की द्राव्यिक लागत, या सक्षेप मे, उत्पादन व्यय कहते है, वे ऐसे मूल्य हैं जो श्रम और प्रतीक्षा, जो वस्तु के उत्पादन मे आवश्यक होते हैं, पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त करने के लिये देने पडते हैं, या, दूसरे शब्दो मे, वे वस्तु का पूर्ति-मूल्य (supply price) होते हैं[२]।" लागत शब्द से आशय द्राव्यिक लागत से होता है।

अर्घ-सिद्धान्त मे समय का तत्त्व

अर्घ के सिद्धान्त मे समय के तत्त्व (time element) का बहुत महत्त्व होता है, और यह इस सिद्धान्त को विशेष दशाओ मे विशेष रूप दे देता है। हमने जो अर्घ का सिद्धान्त ऊपर दिया है वह सामान्य (generalised) है। मूल्य के निर्धारण मे जो समय लगता है, उसके अनुसार इस सिद्धान्त मे कुछ परिवर्तन करने पडते हैं। इस दृष्टिकोण से दो दशाओं मे अन्तर्भेद करना आवश्यक है

(१) **अल्पकालीन या बाजार मूल्य**—यह मूल्य अल्पकाल मे निर्धारित होता है। अल्पकाल (Short period) **वह समय है जिसमें किसी वस्तु की पूर्ति उसकी माँग के बराबर नहीं की जा सकती।** कौन-सा काल अल्प कहा जा सकता है, यह प्रत्येक वस्तु के स्वभाव पर निर्भर होता है।

(२) **दीर्घकालीन या स्वाभाविक मूल्य** (Long Period or Normal Value)—यह मूल्य दीर्घकाल मे निर्धारित होता है। **दीर्घकाल वह समय है जिसमे किसी वस्तु की पूर्ति उसकी माँग के बराबर की जा सकती है।** कौन-सा काल दीर्घ कहा जा सकता है, यह प्रत्येक वस्तु के स्वभाव पर निर्भर होता है।

---

[२] देखिये उद्धृत ग्रन्थ, p 339 बहुत सी पुस्तकों में वास्तविक लागत और उत्पादन-व्यय को समान अर्थ वाला मान लिया जाता है। किन्तु मार्शल ने इस दिशा में सावधान होने की ओर सकेत किया था। उन्होंने लिखा था कि मिल (Mill) तथा कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो ने, प्रतिदिन के प्रयोग की भाँति, लागत शब्द का दो अर्थो मे प्रयोग किया है। कभी तो वे इस शब्द को वस्तु के उत्पन्न करने में होने वाली कठिनाई के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं और कभी इस कठिनता को दूर करने के लिये और वस्तु के उत्पन्न करने के लिये जो द्रव्य खर्च करना पडता है उसके अर्थ मे। यह त्रुटि बहुत से मत-भेद और व्यर्थ वाद-विवाद का कारण हुई है। –Marshall, *Economics of Industry*, pp 195 n.

अल्पकाल और दीर्घकाल, दोनों मे ही मूल्य माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है, किन्तु अल्पकाल मे, माँग का महत्त्व अधिक होता है, और दीर्घकाल मे पूर्ति का महत्त्व अधिक होता है। यह इसी अध्याय के § ५ मे समझाया गया है।

§ २. बाजारू या अल्पकालीन मूल्य

अब हम यह समझायेंगे कि किसी वस्तु का मूल्य अल्पकाल मे—किसी खास दिन—बाजार में किस प्रकार निर्धारित होता है। इसे **अल्पकालीन** (short period) या बाजारू (market) मूल्य कहते हैं।

अल्पकाल में सतुलन

हम गेहूँ के बाजार का उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए कि बाजार में जितना भी गेहूँ है, वह एक ही किस्म का है। किसी खास मूल्य पर प्रत्येक विक्रेता जितनी भी मात्रा बेचने को तत्पर होता है, वह उसकी द्रव्य के लिये आवश्यकता और उसके गेहूँ के बाजार के सम्बन्ध मे वर्तमान और भावी रुख के अनुमान पर निर्भर होती है। कुछ मूल्य तो ऐसे हैं जिन्हें कोई भी विक्रेता स्वीकार नहीं करेगा, और कुछ मूल्य ऐसे होते हैं जिन्हे कोई भी विक्रेता अस्वीकृत नहीं करेगा। कुछ और मध्यम मूल्य ऐसे होते हैं जिन्हें कुछ विक्रेता तो स्वीकार कर लेंगे पर अन्य विक्रेता उन्हे अस्वीकार कर देंगे। किसी खास मूल्य पर कुछ विक्रेता एक निश्चित मात्रा बेचने को तैयार होंगे, किन्तु यदि मूल्य अधिक हो जाय तो वे उससे अधिक मात्रा बेचने को तैयार होंगे। जब कि गेहूँ का मूल्य दो रुपये पसेरी है, तो ५०० पसेरी गेहूँ बिकने को आता है। यदि मूल्य बढ़कर ढाई रुपये पसेरी हो जाय, तो २०० पसेरी गेहूँ बिकने को और आयेगा, और यदि मूल्य तीन रुपये पसेरी हो जाय, तो २०० पसेरी गेहूँ और बिकने आयेगा।

यह भी मान लीजिये कि यदि मूल्य तीन रुपये पसेरी हुआ, तो ६०० पसेरी खरीदा जायगा, यदि मूल्य ढाई रुपये पसेरी हुआ, तो १०० पसेरी गेहूँ और खरीदा जायगा, और यदि मूल्य दो रुपये पसेरी होगा, तो २५० पसेरी और खरीदा जायगा।

उपरोक्त बातों को हम नीचे एक कोष्ठक (table) के रूप में देते हैं :—

मूल्यपर	बिक्रेता बेचने को तैयार होंगे	खरीदार खरीदने को तैयार होंगे
रु० आ०	पसेरी	पसेरी
३—०	९००	६००
२—८	७००	७००
२—०	५००	९५०

अब मान लीजिए कि किसी समय मूल्य ढाई रुपये प्रति पसेरी से कम है। इस

मूल्य पर वे विक्रेता भी जो गेहूँ वेचने को तैयार होगे, यह सोचेंगे कि इस मूल्य पर मॉग पूर्ति से अधिक होगी इसलिये वे रुक जायँगे और उनके रुक जाने में मूल्य की वृद्धि मे सहायता मिलेगी।

यदि मूल्य ढाई रुपये प्रति पसेरी से अधिक हुआ, तो खरीदार सोचेंगे कि उस मूल्य पर पूर्ति मॉग से कहीं अधिक है अत वे खरीदार जो कि उस मूल्य पर माल खरीदने को तैयार हैं, रुक जायँगे. और उनके रुक जाने के कारण मूल्य के कम होने में सहायता मिलेगी।

इस प्रकार मूल्य इधर या उधर गेंद की तरह लुटकती रहेगी जैसे जैसे कभी एक पक्ष और कभी दूसरा पक्ष भाव-ताव करने मे अधिक सुदृढ स्थान प्राप्त करेगा[3]। किन्तु अन्त में विक्री ढाई रुपये पसेरी पर ही होगी जिस मूल्य पर मॉग और पूर्ति बराबर हैं, क्योंकि, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, विक्री न तो इससे अधिक मूल्य पर हो सकती है और न इससे कम मूल्य पर।

चित्र १७—मूल्य का निर्धारण

ऊपर के अकों को ग्राफ पर चित्रित करने के लिये, हमे चाहिये कि हम वस्तु की मात्रा OX अक्ष पर नापें और मूल्य OY अक्ष पर। ऊपर के अकों क चित्रित करने से, हमे DD' मॉग की वक्र-रेखा और SS' पूर्ति की वक्र-रेखा प्राप्त होती हैं। ये वक्र-रेखाएँ P विन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं। अतः, PQ मूल्य पर विक्री होगी और उस मूल्य पर OQ मांग और पूर्ति होगी।
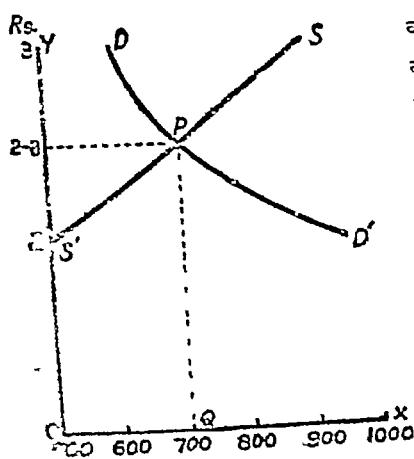
अत यह निष्कर्ष निकलता है कि बाजार में किसी भी समय खरीदार और विक्रेताओं की स्पर्द्धा के द्वारा मूल्य इस प्रकार निर्धारित होगा कि उस मूल्य पर मॉगी जाने वाली मात्रा बिक्री के लिये आनेवाली मात्रा के बराबर होगी[4]। इसे अस्थाई सतुलन मूल्य (Temporary Equilibrium price) (मार्शल) या सतुलन मूल्य (Equation price) (मिल) कहते हैं।

---

[3] Marshall, *Economics of Industry*.

[4] Nicholson, *Elements of Political Economy*, p 225.

बाजारू मूल्य में मॉग और पूर्ति का सापेक्षिक प्रभाव

यह तो हम बता ही चुके हैं कि बाजारू मूल्य सीमान्त उपयोगिता और उत्पादन व्यय के बीच मे मॉग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्ति द्वारा निर्धारित होता है किन्तु प्रश्न यह है कि इन दोनों शक्तियों मे से अल्पकाल (short period) मे किस शक्ति का प्रभाव मूल्य के निर्धारण पर अधिक पडता है ?

अल्पकाल मे पूर्ति स्थिर होती है। उदाहरण के लिये, किसी खास दिन और किसी खास समय मछली-बाजार मे मछली की पूर्ति स्थिर होती है, और मूल्य चाहे कितना ही बढ़ जाय, यह पूर्ति उतनी ही रहेगी। किन्तु मॉग के विषय मे ऐसी कोई स्थिरता नही, मॉग बढ सकती है और घट भी सकती है। बाजारू मूल्य के निर्धारण में, पूर्ति स्थिर और दी हुई होती है, और मॉग मे होने वाले परिवर्तन ही मूल्य का निर्धारण करते हैं। यदि मॉग बढ जाती है, तो मूल्य भी बढ जाता है और यदि मॉग कम हो जाती है, तो मूल्य भी कम हो जाता है।

२. स्वाभाविक (Normal) या दीर्घकालीन मूल्य

अब हम यह समझायेंगे कि दीर्घकाल (Long period) मे मूल्य का निर्धारण कैसे होता है। दीर्घकाल उस समय को कहते हैं जिसमें वस्तु की पूर्ति घट बढ सकती है। दीर्घ-काल में जो मूल्य बाजार मे होता है, उसे **दीर्घकालीन मूल्य (Long period price)** या **स्वाभाविक मूल्य (Normal price)** कहते हैं।

स्वाभाविक मूल्य

किसी वस्तु का बाजारू मूल्य प्रत्येक दिन या एक ही दिन मे कई बार बदल सकता है, किन्तु यदि हम बाजारू मूल्य में होने वाले ऐसे परिवर्तनों का लम्बे समय तक अध्ययन करते रहें, तो हमें पता चलेगा कि एक ऐसा स्थिर मूल्य है जिसके ऊपर और नीचे बाजारू मूल्य घटता-बढता रहता है। वह मूल्य जिसके पास बाजारू मूल्य बार-बार आने की प्रवृत्ति दिखाता है, दीर्घकाल का मूल्य होता है और इसी को **दीर्घकालीन मूल्य** या **स्वाभाविक मूल्य** कहते हैं[५]। स्वाभाविक मूल्य

[५] "बाजारू मूल्य, अर्थात् वह मूल्य जिस पर कि माल वास्तव मे बिकता है, परिवर्तनशील और अस्थिर होता है। . . . .किन्तु अधिकाश बाजारू मूल्यों के पीछे **स्वाभाविक मूल्य** होते हैं जिनमे परिवर्तन बहुत कम होते हैं। इसका कारण यह है कि उत्पत्ति की अवस्था, उन बाजारू अवस्थाओं से जिनमें माल खरीदा और बेचा जाता है, अधिक स्थिर होती हैं, और वे भीषणता से घटने बढने वाले बाजारू मूल्य को बराबर अपने पास वापस बुलाती रहती हैं।"—Seager, *Principles of Economics*, p. 120

लागत के बराबर होता है, अत यह भी कहा जाता है कि दीर्घकालीन मूल्य वह मूल्य है जो लागत के बराबर होता है [६] ।

स्वाभाविक मूल्य का निर्धारण

जैसा कि अल्पकाल मे होता है, वैसे ही दीर्घकाल में वस्तु का स्वाभाविक मूल्य मॉग और पूर्ति की शक्तियाँ ही निर्धारित करती हैं। किन्तु दीर्घकाल मे **उत्पादन-व्यय का प्रभाव निश्चयात्मक (decisive) होता है।** यदि स्वाभाविक मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक हो, तो लाभ होने लगेगा, अत. उत्पत्ति बढ जायगी क्योंकि कुछ नये उत्पादक उद्योग की ओर आकर्षित होगे और पुराने उत्पादक अपनी उत्पत्ति बढा देंगे। इस प्रकार पूर्ति बढ जाने के कारण मूल्य गिर जायगा। इसके विपरीत, यदि स्वाभाविक मूल्य उत्पादन व्यय से कम हुआ तो हानि होने लगेगी और उत्पत्ति कम हो जायगी—कुछ उत्पादक माल उत्पन्न करना बन्द कर देंगे और शेष उत्पादक कम माल उत्पन्न करेगे। इससे पूर्ति कम हो जायगी और मूल्य मे वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार दीर्घकाल में दी हुई उत्पत्ति का स्वाभाविक मूल्य उसके उत्पादन-व्यय के बराबर होता है[७]। अतः यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु का स्वाभाविक मूल्य उसके उत्पादन-व्यय से बहुत ऊँचा या नीचा स्थायी रूप से नहीं हो सकता, स्वाभाविक मूल्य की प्रवृत्ति उत्पादन-व्यय के समान होने की होती है।

स्वाभाविक मूल्य को निर्धारित करने मे लागत का निश्चयात्मक प्रभाव होता है, अत स्वाभाविक मूल्य मे लागत में होने वाले परिवर्तन की भाँति ही परिवर्तन होता है। लागत मे परिवर्तन उत्पत्ति के नियमो (laws of returns) के अनुसार होता है।

(१) यदि किसी वस्तु की उत्पत्ति क्रमश **घटने वाली उपज के नियम** (law of diminishing returns) अर्थात् क्रमश बढने वाली लागत के नियम के आधीन है, तो माँग के बढने पर लागत बढ जायगी और

[६] देखिये Moreland, *An Introduction to Economics* pp 208 9.

[७] विभिन्न फर्मों का उत्पादन-व्यय अलग-अलग होता है। अत यह पूछा जा सकता है कि स्वाभाविक मूल्य किस फर्म की लागत के बराबर होता है? यह औसत या प्रतिनिधि फर्म (representative firm) की लागत के बराबर होता है। देखिए Marshall, *Principles of Economics.* pp. 342-343 और Pigou, *Economics of Welfare.* कुछ लेखकों ने बताया है कि स्वाभाविक मूल्य सीमान्त फर्म की लागत के बराबर होता है, किन्तु यह गलत है।

मॉग के कम होने से लागत कम हो जायगी। स्वाभाविक मूल्य में भी इसी प्रकार का परिवर्तन होगा।

चित्र १८ मे DD' मॉग की वक्र-रेखा है और SS' पूर्ति की वक्र-रेखा है और वस्तु की उत्पत्ति क्रमश: घटने वाली उत्पत्ति या बढने वाली लागत के नियम के अधीन है। पूर्ति की वक्र-रेखा ऊँची होती जाती है, जिससे पता चलता है कि अधिक पूर्ति अधिक मूल्य देने पर ही आवेगी।

चित्र १८

ये दोनों वक्र-रेखाएँ विन्दु P पर मिलती हैं। अत PQ स्वाभाविक मूल्य होगा। अब यदि मॉग किसी कारण से बढ जाय, तो यह D_1D_1' का रूप ले लेगी। यह वक्र-रेखा से SS' वक्र-रेखा को P_1 विन्दु पर काटती है, अत अब मूल्य बढ जायगा, यह P_1Q_1 हो जायगा। इसके विपरीत, यदि मॉग घट जाय, तो मॉग की वक्र-रेखा D_2D_2 का रूप ले लेगी। यह SS' वक्र-रेखा को P_2 विन्दु पर काटती है। अत. मूल्य घटकर P_2Q_2 हो जाता है।
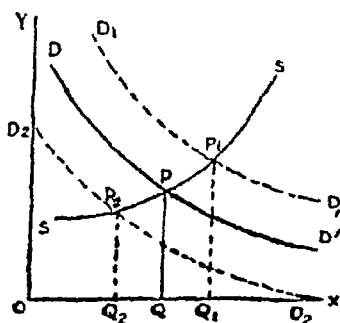
इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि यदि किसी वस्तु का उत्पादन **घटने वाली उपज या बढने वाली लागत के नियम के अनुसार होती है, तो माँग के बढ़ने पर स्वाभाविक मूल्य बढ जायगा और माँग के घटने पर स्वाभाविक मूल्य घट जायगा।**

(२) यदि कोई वस्तु **क्रमश: बढने वाली उपज** (increasing returns) या **घटने वाली लागत** (diminishing cost) के अनुसार उत्पन्न होती है तो मॉग के बढने पर लागत घट जायगी और मॉग के घटने पर लागत बढ जायगी। स्वाभाविक मूल्य में भी इसी प्रकार का परिवर्तन होगा।

चित्र १९ में DD' मॉग की वक्र-रेखा है और SS' पूर्ति की वक्र-रेखा, और वस्तु की उत्पत्ति क्रमश बढने वाली उत्पत्ति या घटने वाली लागत के नियम के आधीन है। यही कारण है कि पूर्ति की वक्र-रेखा झुकती हुई है जिससे यह स्पष्ट होता है कि जैसे-जैसे पूर्ति बढती जाती है वैसे ही वैसे लागत कम होती जाती है। ये दोनो वक्र-रेखाएँ विन्दु P पर मिलती हैं इसलिए PQ स्वाभाविक मूल्य है।

अब यदि माँग बढ जाय, तो इसकी वक्र-रेखा D_1D_1' रूप ले लेगी। यह

SS' से P_1 विन्दु पर मिलती है, इसलिये P_1Q_1 स्वाभाविक मूल्य होगा। अत मॉग के वट जाने से मूल्य घट जाता है।

चित्र १६

यदि मॉग घट जाय तो इसकी वक्र-रेखा D_2D_2' का रूप ग्रहण कर लेगी। यह SS' से P_2 विन्दु पर मिलती है, अत P_2Q_2 स्वाभाविक मूल्य होगा। इसी प्रकार मॉग के कम हो जाने से मूल्य वट जाता है।
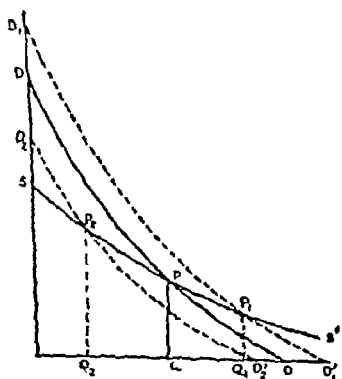
अत यह स्पष्ट है कि यदि किसी वस्तु का उत्पादन क्रमश' बढने वाली उपज या घटने वाली लागत के नियम के आधीन हो, तो मॉग के वढ जाने से स्वाभाविक मूल्य कम हो जाता है और मॉग के कम हो जाने से स्वाभाविक मूल्य वढ जाता है।

(३) यदि कोई वस्तु क्रमश' स्थिर उप (constant returns) या स्थिर लागत (constant cost) के अनुसार उत्पन्न होती है तो चाहे मूल्य घटे या वढे, लागत वही रहेगी। अत स्वाभाविक मूल्य भी स्थिर रहेगा।

चित्र २० मे DD मॉग की वक्र-रेखा है और SS' पूर्ति की वक्र रेखा है, और वस्तु की उत्पत्ति क्रमश स्थिर उत्पत्ति या स्थिर लागत के आधीन है।

चित्र २०

पूर्ति की वक्र-रेखा OX अक्ष के समानान्तर (parallel) है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि माल की पूर्ति चाहे कुछ भी हो, उसकी लागत वही रहेगी। DD' मॉग की वक्र-रेखा SS' पूर्ति की वक्र-रेखा को P विन्दु पर काटती है, अत मूल्य PQ होगा।
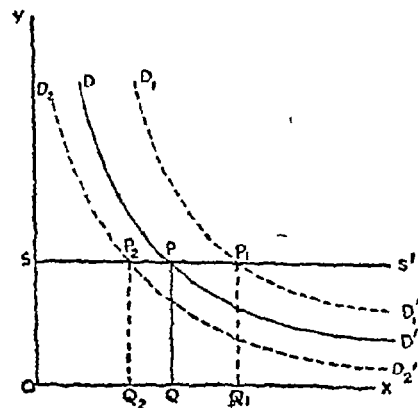
D_1D_1' वक्र-रेखा मॉग के वढ जाने को चित्रित करती है और यह SS' से P_1 विन्दु पर मिलती है, अत स्वाभाविक मूल्य P_1Q_1 होगा। किन्तु

P_1Q_1' PQ के बराबर है। इसी प्रकार D_2D_2' माँग के घट जाने को चित्रित करती है और अब स्वाभाविक मूल्य P_2Q_2 है, किन्तु P_2Q_2 और PQ बराबर है।

अत यह स्पष्ट है कि यदि कोई वस्तु क्रमश स्थिर उपज या स्थिर लागत के अनुसार उत्पन्न होती है, तो चाहे माँग मे कितना ही घट-बढ क्यों न हो, स्वाभाविक मूल्य वही रहेगा।

वे वस्तुएँ जिनकी लागत नहीं होती या बहुत थोडी होती है

इस कथन से कि "किसी वस्तु का मूल्य दीर्घ-काल मे उसकी लागत के बराबर होता है" विद्यार्थी कभी-कभी यह गलत मतलब निकाल लेते हैं कि "किसी वस्तु के मूल्य का कारण उसकी लागत होती है, और यदि किसी वस्तु की कोई लागत न हो तो उसका मूल्य भी नहीं होगा।" किन्तु इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि लागत विनिमय के समीकरण (equation of exchange) का केवल पूर्ति वाला पक्ष है किन्तु मूल्य माँग और पूर्ति दोनों के ही द्वारा निर्धारित होता है। अत ऊपर का कथन ठीक नहीं।

हो सकता है कि किसी वस्तु की लागत कुछ भी न हो या बहुत कम हो किन्तु उसका मूल्य बहुत हो। मान लीजिये, आप किसी जगल मे जा रहे हैं और आपको एक हीरा पडा हुआ मिल गया। आप उसे उठा लेते हैं। आपके लिये इसकी लागत कुछ भी नहीं है, किन्तु इसका मूल्य बहुत अधिक है। क्यों? क्योंकि हीरे की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा बहुत अधिक होती है।

ऐसा भी हो सकता है कि किसी वस्तु की लागत बहुत हो किन्तु उसका मूल्य बहुत कम हो। यदि कोई व्यक्ति मरुस्थल मे एक मकान बनवाये, तो इसकी लागत बहुत होगी। किन्तु रेगिस्तान मे थोडे से ही व्यक्ति रहना चाहेंगे, इसलिये इसका मूल्य बहुत कम होगा। इसकी लागत तो बहुत अधिक होगी किन्तु इसकी माँग कम होने के कारण इसका मूल्य बहुत थोडा होगा।

इस बात का सदैव स्मरण रखना चाहिये कि मूल्य माँग और पूर्ति दोनों पर निर्भर होता है।

बाजारू और स्वाभाविक मूल्य

पाठक को बाजारू मूल्य और स्वाभाविक मूल्य का अन्तर स्पष्ट हो चुका होगा। बाजारू मूल्य वह मूल्य है जो किसी खास समय बाजार में पाया जाता है, और स्वाभाविक मूल्य वह मूल्य है जो लम्बे समय में होता है। स्वाभाविक मूल्य लागत के बराबर होता है, किन्तु बाजारू मूल्य की केवल यह प्रवृत्ति होती है कि वह स्वाभाविक मूल्य के बराबर, और इसलिये लागत के बराबर हो।

४. बाजारू मूल्य, स्वाभाविक मूल्य और लागत का पारस्परिक सम्बन्ध

ऊपर के विवरण से यह साफ है कि बाजारू मूल्य, स्वाभाविक मूल्य और लागत में घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वाभाविक मूल्य लागत के बराबर होता है। और बाजारू मूल्य स्वाभाविक मूल्य के इधर-उधर घटता-बढता रहता है। यह कभी कभी स्वाभाविक मूल्य से बहुत कम या बहुत अधिक हो जाता है, किन्तु यह अधिक समय तक स्वाभाविक मूल्य से दूर नहीं रह सकता। यदि यह स्वाभाविक मूल्य से काफी समय तक ऊँचा रहे, तो असाधारण लाभ होने लगेगा जिसके कारण उत्पत्ति बढ जायगी, और यदि माँग स्थिर रहे तो मूल्य गिरने लगेगा। मूल्य का गिरना तभी बन्द होगा जब कि वह स्वाभाविक मूल्य के लगभग बराबर हो जाय और असाधारण लाभ होना बन्द हो जाय। इसी प्रकार बाजारू मूल्य स्वाभाविक मूल्य से लम्बे समय तक कम भी नहीं रह सकता। ऐसा होने से असाधारण हानि होने लगेगी, उत्पत्ति कम हो जायगी और यदि माँग स्थिर रहे तो बाजारू मूल्य की प्रवृत्ति बढने की होगी। बाजारू मूल्य का बढना तब बन्द होगा जब कि वह स्वाभाविक मूल्य के लगभग समान हो जाय और असाधारण हानि का होना बन्द हो जाय। इससे स्पष्ट होता है कि बाजारू मूल्य बहुत काल तक स्वाभाविक मूल्य से अधिक दूर नहीं रह सकता, यह केवल स्वाभाविक मूल्य के इधर-उधर रहता है और बारबार उस मूल्य के समीप आता रहता है।
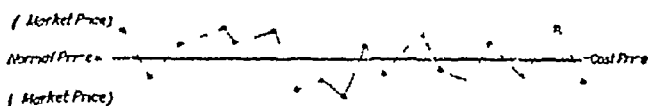
चित्र २१—बाजारू मूल्य, स्वाभाविक मूल्य और लागत का पारस्परिक सबध।

अतः स्वाभाविक मूल्य लागत के बराबर होता है, और बाजारू मूल्य स्वाभाविक मूल्य या लागत के आस-पास घूमता रहता है और रह-रहकर उसे स्पर्श करता रहता है। चित्र २१ मे यह बात स्पष्ट की गई है।

§ ५ उपयोगिता और लागत का मूल्य पर प्रभाव

यह कभी-कभी पूछा जाता है कि मूल्य लागत द्वारा निर्धारित होता है या उपयोगिता द्वारा। वास्तव में, चाहे हम अल्प-काल को ले या दीर्घ-काल को, मूल्य के निर्धारण मे इन दोनों का ही हाथ होता है। किन्तु अल्प-काल मे पूर्ति स्थिर होती है और माँग बदलती रहती है, इसलिये माँग या (सीमान्त) उपयोगिता का

मूल्य पर निश्चयात्मक प्रभाव होता है । अतः अल्प-काल मे मूल्य मे का निर्धारण मॉग पूर्ति के साथ करती है, या सीमान्त उपयोगिता लागत के साथ करती है। दीर्घ-काल मे लागत का सबसे अधिक और निश्चयात्मक प्रभाव होता है। अत स्वाभाविक मूल्य को पूर्ति मॉग के साथ या लागत उपयोगिता के साथ निर्धारित करनी है।

इस विवाद के सम्बन्ध मे मार्शल ने बहुत उपयुक्त विचार प्रकट किये थे। उन्होंने कहा था कि इस बात पर वाद-विवाद करना कि मूल्य उपयोगिता द्वारा निर्धारित होता है या लागत द्वारा उसी प्रकार का है कि जिस प्रकार यह वाद-विवाद करना कि कागज के एक टुकडे को कैंची का ऊपरी फल (blade) काटता है या नीचे वाला फल। यह सच है कि यदि हम एक फल को स्थिर रक्खे और दूसरे फल को चलाकर कागज काटे, तो हम सक्षेप में कह सकते हैं कि दूसरे फल ने कागज को काटा है, किन्तु यह कथन पूर्णतया ठीक नहीं। इसी प्रकार अल्प-काल मे यदि कोई व्यक्ति वस्तु की पूर्ति को स्थिर माने और यह कहे कि मूल्य मॉग द्वारा निर्धारित होता है, तो यह सक्षेप तभी तक क्षम्य है जब कि वह इस कथन को पूर्णतया ठीक होने का दावा न करे। इसी प्रकार दीर्घकाल में यदि कोई व्यक्ति यह मान ले कि वस्तु के लिये पर्याप्त मॉग होगी, तो उसका मॉग के प्रभाव की उपेक्षा करना और यह कहना कि स्वाभाविक मूल्य लागत द्वारा निर्धारित होता है तभी क्षम्य है जबकि वह अपना कथन पूर्णतया ठीक होने का दावा न करे। अत हम यह कह सकते हैं कि सामान्यतया (as a general rule) समय जितना अल्प होता है उतना ही मूल्य पर मॉग का प्रभाव अधिक होता है और समय जितना लम्बा होता है मूल्य पर लागत का प्रभाव उतना ही अधिक होता है।[८]

§ ६. एकाधिकार (Monopoly)[९]

अब तक हमने मूल्य के निर्धारण का वर्णन पूर्ण स्पर्द्धा के अतर्गत किया है। अब हम यह बतावेंगे कि एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होती है।

एकाधिकार का अर्थ

जब बाज़ार मे केवल एक ही विक्रेता होता है, तो ऐसी अवस्था को एकाधिकार (monopoly) कहते हैं। एकाधिकारी (monopolist) का

[८] Marshall, *Principles of Economics*, pp 348-350

[९] यह विषय केवल पटना विश्वविद्यालय, नागपुर विश्वविद्यालय तथा सागर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित है, यू० पी० और राजपूताना में नहीं।

बाजार पर पूर्ण अधिकार होता है। वह जिस मूल्य पर चाहे, अपनी वस्तु बेच सकता है। मूल्य पर अकेले उसी का अधिकार होता है, अत उसे एकाधिकारी कहते हैं। एकाधिकारी यह तो स्थिर कर सकता है कि वस्तु किस मूल्य पर बिकेगी, किन्तु इसके साथ ही वह यह भी स्थिर नहीं कर सकता कि खरीदार कितनी मात्रा मे वस्तु खरीदेगे। वास्तव मे, यदि वह अधिक मूल्य वसूल करेगा, तो उसकी वस्तु की मांग कम होगी, और यदि वह कम मूल्य रक्खेगा, तो उसकी वस्तु की माँग अधिक होगी। मूल्य तो एकाधिकारी के हाथ मे है, किन्तु माँग उसके अधिकार मे नहीं होती। माँग के निर्णायक खरीदार ही होते हैं।

व्यावहारिक जगत मे हमें ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जब कि विक्रेता १००% पूर्ति पर अधिकार हो। ब्राजील कहवा सघ का ससार में उत्पन्न होने वाले कहवे के ६०% भाग पर ही अधिकार है। जे० पी० कोट्स एन्ड सन्स सिलाई के धागे की लगभग ६०% प्रतिशत पूर्ति पर ही अधिकार है। पूर्णाधिकार संसार मे देखने को नहीं मिलता।

एकाधिकार के प्रकार

एकाधिकार के कई प्रकार हैं (१) प्राकृतिक एकाधिकार—जब किसी वस्तु की पूर्ति एक ही स्थान मे केन्द्रित होती है, तो प्राकृतिक एकाधिकार का उदय होता है। उदाहरण के लिये, पाकिस्तान के पास जूट का एकाधिकार है और भारत के पास मैंगनीज (Manganese) का। (२) कानूनी एकाधिकार—कोई-कोई एकाधिकार कानून द्वारा उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिये, नोट बनाने का एकाधिकार रिजर्व बैंक आव इंडिया को है। (३) सार्वजनिक एकाधिकार—कभी कभी किसी वस्तु का एकाधिकार सार्वजनिक हित मे दे दिया जाता है। रेलों, टेलीफोन आदि सार्वजनिक उपयोगिता सम्बन्धी उद्योगों का एकाधिकार किसी एक कम्पनी को इसलिये दिया जाता है कि अगर बहुत सी कम्पनियाँ सडक पर टेलीफोन के खम्भे गाडने लगे या जगह-जगह रेल की पटरियाँ डालने लगे, तो इससे जनता को बहुत असुविधा होगी। (४) व्यापारिक एकाधिकार—व्यापारी बहुधा स्पर्द्धा द्वारा अपने प्रतियोगियों पर विजय प्राप्त करके एकाधिकार प्राप्त करता है। यह साधारण प्रकार का एकाधिकार है।

एकाधिकार मे मूल्य का निर्धारण

एकाधिकारी का उद्देश्य यह होता है कि वह अधिकतम लाभ प्राप्त करे। वह मूल्य इस प्रकार निर्धारित करता है कि उसे अधिकतम लाभ हो। वह जानता है कि यदि वह मूल्य ऊँचा रखता है तो बिक्री कम होगी, और यदि वह मूल्य कम रक्खे तो बिक्री अधिक होगी। जिस अवस्था मे उसे अधिकतम लाभ होगा, वह वैसा

ही करेगा। कौन सी अवस्था उसे अधिकतम लाभ प्रदान करेगी, इसका कोई खास नियम नही है। यह वस्तु के स्वभाव पर निर्भर होता है। यदि वस्तु प्रतिदिन के व्यवहार की है, जैसे नमक, तो एकाधिकारी मूल्य ऊँचा भी रक्खे तो भी ग्राहकों को उसे खरीदना पड़ेगा और एकाधिकारी को लाभ अधिक होगा। यदि वस्तु विलासिता की वस्तु है, जैसे मोटरकार, तो अधिकारी मूल्य कम रख कर अधिकतम लाभ कमा सकता है।

उदाहरण—हम एक उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिये एक प्रकाशक की किसी पुस्तक की माँग मूल्य और लागत की तालिका इस प्रकार है :

मूल्य (प्रति पुस्तक)	माँग	लागत (प्रति पुस्तक)
रु०		रु०
१०	१,०००	६
८-८	२,०००	
६	३०००	५
३	४,०००	३
२-८	५,०००	२
२	८,०००	१-८

उसे यह निर्णय करने के लिये कि वह किस मूल्य पर अपनी पुस्तक बेचे, उसे हर मूल्य पर अपने क्रय लाभ का अनुमान लगाना चाहिये। यदि मूल्य में से लागत घटा दें, तो हमें प्रति पुस्तक लाभ मालूम हो जायगा। यदि १,००० पुस्तकें छपाई जायँ, तो वे १०) प्रति पुस्तक के हिसाब से बेची जा सकती हैं और उनकी लागत ६) प्रति पुस्तक होगी, तो १) प्रति पुस्तक लाभ होगा। क्योंकि १,००० पुस्तकें बेची जायँगी, इसलिये प्रकाशक को १,०००) कुल लाभ होगा। इसी प्रकार अन्य मात्राओं का कुल लाभ इस प्रकार लगाया जा सकता है

मूल्य (प्रति पुस्तक)	माँग	लागत (प्रति पुस्तक)	लाभ (प्रति पुस्तक)	कुल लाभ
रु०		रु०	रु०	रु०
१०	१,०००	६	१	१,०००
८-८	२,०००	७	१-८	३,०००
६	३,०००	५	१	३,०००
३	४,०००	३	०	०
२-८	५,०००	२	०-८	२,५००
२	८,०००	१-८	०८	४,०००

पीछे की तालिका से स्पष्ट है कि यदि प्रकाशक ८,००० पुस्तकें छापे और १॥) प्रति पुस्तक के हिसाब से बेचे, तो उसे अधिकतम लाभ होगा। अत: वह अपनी पुस्तक का मूल्य १॥) निर्धारित करेगा।

इससे यह भी स्पष्ट है कि एकाधिकारी को अधिकतम लाभ होने के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह ऊँचे से ऊँचे मूल्य पर वस्तु बेचे, या अधिकतम मात्रा में वस्तु बेचे। उसे ऐसा मूल्य निर्धारित करना चाहिये जिस पर कि उसे अधिकतम लाभ हो।

एकाधिकार और पूर्ण स्पर्द्धा में मूल्य

एकाधिकार और पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण में क्या अंतर होता है? पूर्ण स्पर्धा में मूल्य ऐसे स्थान पर नियत किया जाता है जहाँ कि माँग पूर्ति के बराबर हो। ऊपर की तालिका के हिसाब से, पूर्ण स्पर्द्धा के अंतर्गत पुस्तक का मूल्य ३) होगा क्योंकि इस मूल्य पर माँग ३,००० पुस्तकों की है और इसी लागत पर पूर्ति भी ३००० पुस्तकों की है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि इस मूल्य पर प्रति-पुस्तक लाभ शून्य है और कुल लाभ भी शून्य है। इसके विपरीत, एकाधिकार के अंतर्गत मूल्य ऐसे स्थान पर नियत किया जाता है कि जब कुल लाभ अधिकतम हो। एकाधिकार में मूल्य लागत से अधिक होता है।

७. नियन्त्रित (Controlled) मूल्य और राशनिंग

हमने ऊपर यह बताया है कि स्पर्द्धा और एकाधिकार के अंतर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। इन दोनों अवस्थाओं में मूल्य का निर्धारण माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है। कभी-कभी देश के इतिहास में ऐसा समय आता है जब कि मूल्य को इन दोनों शक्तियों के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता। युद्ध का ही समय ले लीजिये। ऐसे समय में सेनाओं के उपभोग के लिये बहुत सा माल चला जाता है और कभी-कभी कारखानों-खेतों आदि का विनाश भी बहुत होता है। अत साधारण जनता के उपभोग के लिये माल की बहुत कमी हो जाती है। अर्थात् माल की पूर्ति कम होती है और माँग बहुत अधिक। इसके परिणाम स्वरूप मूल्य ऊँचा होने लगता है। मूल्य ऊँचा होते जाना जनता के लिए बहुत कष्टमय होता है। मुख्यतया नौकरी पेशेवालों की आय स्थिर रहती है, और यदि सब वस्तुओं के मूल्य बढ़ते जायँ, तो उन्हें बहुत कष्ट होता है। इसलिये सरकार वस्तुओं का मूल्य कानून द्वारा निश्चित कर देती है। इसे नियन्त्रित या कन्ट्रोल्ड (Controlled) मूल्य कहते हैं। कोई भी व्यापारी इस मूल्य से अधिक मूल्य पर माल नहीं बेच सकता। ऐसा करना गैरकानूनी हो जाता है। जब मूल्य का नियन्त्रण कर

दिया जाता है और बाजार मे वस्तुएँ नियन्त्रित मूल्य पर मिलती हैं, तो बाजार अच्छा बाजार (fair market) कहलाता है। यदि वस्तु की कमी बहुत होती है, तो व्यापार चोरी से नियन्त्रित मूल्य स अधिक पर वस्तु बेचते हैं, और जरूरत होने पर खरीदारों को उसे खरीदना पडता है। जब व्यापार मे नियन्त्रित मूल्य से ऊँचे पर वस्तु बिकती हैं, तो उसे चोर बाजार या ब्लेक मार्केट कहते है। ब्लैक मार्केट होने का यह अर्थ हेता है कि बलवती आर्थिक शक्तियों के समक्ष सरकारी शासन शिथिल है।

ऐसी दशा में सरकार द्वारा वस्तु का राशनिंग (rationing) भी कर दिया जाता है। राशनिंग का अर्थ होता है कि प्रति व्यक्ति एक सप्ताह में या मास मे जितनी वस्तु खरीद सकता है, इसकी मात्रा स्थिर कर दी जाती है। वह उसे अधिक मात्रा में नही खरीद सकता। राशनिग से हर व्यक्ति को थोडा-बहुत कष्ट होना निश्चय है। पर अगर राशनिग न किया जाय, तो उपभोक्ताओ को केवल बहुत ऊँचे मूल्य पर ही माल मिल सकेगा। इससे मुख्यतया मध्यम वर्ग और निर्धन-वर्ग के सदस्यों को बहुत कष्ट भुगतना पडेगा। इसके रहन-सहन का दर्जा गिर जायगा और उनकी कार्यक्षमता का ह्रास होने लगेगा।

भारत मे मूल्य का स्तर

भारत मे युद्ध काल मे मूल्य-नियन्त्रण और राशनिंग दोनो ही प्रयुक्त किये गये पर इस पर भी मूल्य बढ़ते चले गये और सब व्यक्तियों को बहुत कष्ट होने लगा। सरकार नियन्त्रित मूल्य पर माल बिकवाने मे असमर्थ सिद्ध हुई, और स्थान स्थान पर ब्लैक मार्केट उत्पन्न हो गये। जब व्यापारियो को एक बार अधिक मूल्य और अधिक लाभ का चसका पड गया, तो वे माल को कमी न होने पर भी माल की कमी बताने लगे और मनमाना लाभ कमाने लगे। अत गाधी जी ने यह नीति सुझाई कि मूल्यो पर नियन्त्रण और राशनिंग हटा दिया जाय। ऐसा करने से कुछ ही दिनों में परिस्थिति सुधरने पर मूल्य कम हो जायँगे। सरकार ने इस नीति को कार्य रूप में परिणित भी किया। इससे मूल्य और बढने लगे। अत उन्होंने फिर नियन्त्रण और राशनिंग जारी कर दिया। पर इससे मूल्यों में कुछ कमी नहीं हुई है। भारतवर्ष के इतिहास मे मूल्य इतने अधिक कमी नहीं रहे जितने कि वे आजकल हैं।

मूल्यों के ऊँचे होने का प्रभाव विभिन्न वर्गो पर अलग-अलग हुआ है। धनी वर्ग ने ब्लैक मार्केटिंग आदि से खूब लाभ कमाया है और कमा रहे हैं, अतः ऊँचे मूल्यों से उन्हें लाभ ही हुआ है। मध्यम वर्ग के सदस्यों को—मुख्यतया जो नौकरी करते और स्थिर आय कमाते हैं—इससे बहुत हानि हुई है। उतनी स्थिर आय अब बहुत कम वस्तुएँ खरीद पाती हैं, और उनका रहन-सहन का दर्जा बहुत गिर

गया है। किसानों को गेहूँ आदि का ऊँचा मूल्य मिल रहा है पर उनका व्यय इतना नही बढा। अत वे भी खुशहाल हैं। किन्तु मजदूरों की आय उतनी नहीं बढी जितने कि मूल्य बढ गये हैं, इसलिये उनको भी कष्ट भुगतना पड रहा है।

§ ८. सट्टा (Speculation)

सट्टा (Speculation) व्यापार को उस विशेष किस्म को कहते हैं जिसका उद्देश्य विभिन्न समयों पर प्रचलित मूल्यों के अन्तर से लाभ कमाना होता है। सट्टेवाज (speculator) माल तब खरीदता है जबकि उसका मूल्य कम होता है, और उसे कुछ समय बाद तब बेचता है जबकि मूल्य बढ जाता है। उदाहरण के लिये, मई के महीने में गेहूँ मडियों में बडी मात्रा में आने लगता है और उस समय उसका मूल्य कम होता है। कुछ समय पश्चात् गेहूँ का मूल्य बढ जाता है। सट्टेवाज गेहूँ मई में खरीद लेते हैं और बाद को ऊँचे दामों पर बेचते हैं और इस प्रकार लाभ कमाते हैं। माल की खरीद और बिक्री के बीच में काफी समय होता है। खेती द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले पदार्थों के मूल्य के निर्धारण में सट्टे का बडा हाथ होता है।

सट्टेवालों की आर्थिक सेवाएँ महान् होती हैं। जब माल की पूर्ति अधिक होती है और मूल्य गिरने लगता है, तब सट्टेवाज माल खरीदकर उसका मूल्य ऊँचा रखने में सहायक होते हैं। किन्तु कुछ समय पश्चात् जब कि माल की पूर्ति कम हो जाती है और मूल्य अधिक होने लगता है, तब वे माल की पूर्ति बढाकर मूल्य कम करने में सहायक होते हैं। इस प्रकार वे मूल्य को स्थिर रखने की चेष्टा करते हैं। मूल्य का स्थिर होना बहुत आवश्यक और उपयोगी है क्योंकि ऐसा होने पर उत्पादक और उपभोक्ता दीर्घ-कालीन निर्णय कर सकते हैं और उन्हें इस बात का भय नहीं रहता कि उनके अनुमान मूल्य में किसी बडे परिवर्त्तन के कारण उलट जायेंगे।

मूल्य के अन्तर से लाभ कमाने के लिये यह आवश्यक है कि सट्टेवाज को माँग और पूर्ति की शक्तियों के कार्यों का अच्छा ज्ञान हो, माँग, पूर्ति, फैशन, आदि के भावी रुख और असावधान और विवेक शून्य होकर काम करने की प्रवृत्ति पर रोक थाम करना उसके लिये बहुत उपयोगी होते हैं।

बहुधा ऐसा भी होता है कि सट्टेवाजी एक हानिकारक रूप धारण कर लेती है। यदि इसे कोरा जुआ बना दिया जाय, तो बाजार में कृत्रिम कमी (scarcity) या कृत्रिम आधिक्य या (surplus), बाजार मुट्ठी में करना (cornering), माँग और पूर्ति के सबन्ध में झूठे समाचार फैलाना, और माल के मूल्यों में रह-रह कर भारी उथल-पुथल करना—ये सब दुष्परिणाम दीख पडते हैं। ऐसा

अन्धी सट्टेबाजी भावी रुख का ख्याल किये बिना और असावधानी से की जाती है। यही कारण है कि हमें ऐसी मिसालें मिलती हैं कि लखपति और करोड़पति सट्टेबाज रातों रात कंगाल हो जाते हैं। इसीलिये सट्टेबाजी को बुरी निगाह से देखा जाता है। सट्टेबाजी के इस हानिकारक स्वरूप को रोकने के लिये विभिन्न देशों की सरकारों ने बहुत से उपाय किये हैं किन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली।

अभ्यास के प्रश्न

१. किसी वस्तु का मूल्य क्यों लिया और दिया जाता है? पूर्णतया समझाइये।

२. "माँग और पूर्ति ही मूल्य निर्धारित करती हैं।" यह कैसे होता है?

३. उत्पादन-व्यय और लागत का अन्तर बताइये। इनमें से कौन मूल्य के निर्धारण में क्रियाशील होता है?

४. बाजारू मूल्य का अर्थ समझाइये और यह बताइये कि यह किस प्रकार निश्चित होती है?

५ स्वाभाविक मूल्य का अर्थ बताइये और इसके निश्चित होने को समझाइये।

६. बाजारू मूल्य, स्वाभाविक मूल्य और लागत का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये।

७ "उपयोगिता और लागत दोनों ही मूल्य निर्धारित करती हैं।" इस कथन को अल्पकालीन और दीर्घकालीन बाजारों के सबन्ध में स्पष्ट कीजिये।

८ क्या निम्नलिखित कथन विरोधी हैं?

(क) मूल्य लागत द्वारा निर्धारित होता है।

(ख) मूल्य माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है।

६ "ऐसा बाजारू मूल्य जिस पर कि सीमान्त लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर नहीं होती स्थायी नहीं हो सकता।" इस कथन को चित्र द्वारा समझाइये।

१० 'यदि माँग दुगुनी हो जाय और पूर्ति अपरिवर्तित रहे, तो मूल्य भी दुगुना हो जायगा, और यदि पूर्ति दुगुनी हो जाय किन्तु माँग स्थिर रहे, तो मूल्य आधा हो जायगा।" क्या आप इससे सहमत हैं?

११ सट्टा किसे कहते हैं? इसका आर्थिक महत्त्व क्या है?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. "किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन-व्यय से बहुत ऊँचा या नीचा स्थायी रूप से नहीं हो सकता।" इस वाक्य को पूर्णरूप से समझाइये। (१६४६)

२. "मूल्यों में कोई सामान्य वृद्धि तथा सामान्य ह्रास नहीं हो सकता।" इसे समझाइये तथा उदाहरण दीजिए। (१६४७)

३. किसी वस्तु के "साधारण मूल्य" से आप क्या समझते हैं ? अन्य तथ्यों के समान रहते हुए, किस प्रकार माँग की वृद्धि किसी वस्तु के उत्पादन उपज के क्रमशः घटने के नियम के अनुसार है, साधारण मूल्य को प्रभावित करेगी ? (१९४६)

४. पिछले कुछ वर्षों मे मूल्य की महान् वृद्धि के कारण बतलाइये। भारत के विभिन्न जन-वर्गों पर इसका क्या प्रभाव पडा है ? (१९४६)

५ माँग और पूर्ति के अस्थायी सतुलन से क्या अभिप्राय है ? यह माँग और पूर्ति के स्वाभाविक सतुलन से किस प्रकार भिन्न है ? दोनों मे क्या अतर है ? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए। (१९४५)

६. बाजारू मूल्य की परिभाषा दीजिए और बताइये कि इसका निर्धारण कैसे होता है। इसमे इतनी अधिक घट-बढ क्यो होती है। (१९४४)

७ "किसी वस्तु का बाजारू मूल्य उसके स्वाभाविक मूल्य के इधर उधर मँडराया करता है।" इस कथन को समझाइये। (१९४३)

८. माँग और पूर्ति की परिभाषा दीजिए और यह बतलाइये कि किसी वस्तु के मूल्य के निर्धारण मे इनका क्या हाथ होता है। (१९४२)

९. पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत किसी वस्तु का अर्घ दीर्घकाल में उसकी लागत के बराबर कैसे हो जाता है ? चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए। (१९३९)

१० स्वाभाविक अर्घ और बाजारू अर्घ का अतर बताइये। अर्घ के सिद्धान्त मे समय के तत्त्व का क्या महत्त्व है ? (१९३८)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

११ "माँग और पूर्ति बाजारू मूल्य निर्धारित करती हैं।" बताइये कैसे। (१९४६)

१२ किसी वस्तु का बाजारू मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ? स्पष्टतया समझाइये और चित्र द्वारा निरूपित कीजिए। (१९४४)

१३. जुए और सट्टे का अतर बताइये। सट्टे के आर्थिक परिणामों का वर्णन कीजिए। (१९४३)

१४. बाजारू मूल्य और स्वाभाविक मूल्य का अतर बताइये। मूल्य के निर्धारण में लागत का हाथ किन दशाओं में सर्वोपरि होता है ? (१९४२)

१५. "किसी वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है।" इस कथन को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए। (१९४०)

१६. मूल्य की परिभाषा दीजिए और रीति-रिवाज तथा स्पर्द्धा का इस पर प्रभाव दिखाइये। मूल्य और अर्घ में क्या अतर है ? (१९३४)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

17. Explain fully the difference between Normal value and Market value, and point out the importance of the time element in the theory of value (1949)

18 Contrast economy of free supply with rationed supply. How is the latter justified ? (1948)

19 Explain the part played by marginal utility and marginal cost of productn in the determination of (1) market price (2) normal price. (1944)

20. Carefully explain how demand, supply and price are mutually dependent (1943)

21 Discuss the following statements —

(a) The 'demand price for a given quantity of a commodity is governed by the marginal utility of that quantity'

(b) 'Value is determined by marginal utility' (1942)

22 Explain what is meant by 'demand' and 'supply' and show how market price is determined (1941)

23. Explain the terms 'marginal utility' and 'marginal cost of production and show how they determine the value of a commodity in a market (1939)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

24 Define value and explain the factors which determine it (1949)

25 Define market and show how price is fixed (1948)

26 Fully explain the operation of the forces which fix the price of an article in a market (1947)

27 'Value can never exist unless scarcity and demand are present' Do you agree with this statement ? Give reasons. (1945)

28 "The value of a commodity can not be permanently above or below the cost of production" Explain why. (1944).

29. Distinguish between market price and normal price. (1943).

पटना, इन्टर आर्ट्स

30. What is the relation between cost of production and value under competitive and monopoly conditions? (1947 Supp)

31 What do you understand by market price? How is it determined? (1946 Supp)

32 The value of a commodity cannot be permanently much above or below its cost of production Explain (1945).

पटना, इन्टर कामर्स

33 What do you mean by monopoly? What are the different kinds of monopolies? (1949 Supp)

34 Write short notes on supplementary cost and marginal cost (1949 Supp)

35 What is the relation of cost of production and value? Can a commodity be produced if the price does not cover the cost of production? (1949 Annual)

36 What do you mean by value? How is it determined in the long run? (1948 Supp)

37 What do you mean by normal value? How is it determined (1947 Supp)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

38 How is the price of a commodity fixed under a monopoly? A publisher has prepared the following statement of demand and cost of production of a certain book —

Price	Demand	Cost of production per copy
Rs 10	1,000	Rs 9 0 0
Rs 8	2,000	Rs 7 8 0
Rs 6	3,000	Rs 5 10 0
Rs 4	4 000	Rs 3 12 0
Rs 3	5,000	Rs 2 12 0
Rs 2	8,000	Rs 1 14 0

At what price would the book be sold? (1949)

39 What is 'equilibrium of demand and supply?' Explain with the help of an example that value under competition tends

to be determined at the point of equilibrium of demand and supply. (1948)

40 What is a monopoly? Does a monopolist charge a price which brings him greatest sale or greatest profit? Does he always charge this price? (1947)

41 What factors determine the value of a commodity in a competitive market? Give suitable illustrations (1945)

नागपुर, इन्टर कामर्स

४२. एकाधिकार मूल्य का नियम क्या स्पर्धी मूल्य (Competitive values) के नियमों से भिन्न है? यदि है, तो कैसे?

४३ एकाधिकार मूल्य का निर्धारण कैसे होता है? एकाधिकार के अन्तर्गत जो वस्तुएँ न्यूनतम मूल्य पर बिकती हैं, उनके नाम बताइये। (१६४८)

४४. एकाधिकार क्या होता है? एकाधिकार का उद्देश्य क्या होता है—अधिकतम बिक्री या अधिकतम लाभ? क्या वह सदैव इस उद्देश्य का पालन करता है? (१६४६)

सागर, इन्टर आर्ट्स

45 How is value of a commodity determined under monopoly conditions? Explain and illustrate (1949)

46 Show how is the price of a commodity determined under competition (1949 Supp.)

47 How is the price of a commodity determined under competitive conditions? (1948)

सागर, इंटर कामर्स

48 Under what conditions does a commodity demand exchange value? The following are the conditions of demand and supply for Fountain Pens —

No of Pens	Demand price per unit Rs	Supply price per unit Rs
1,00,000	29	24
1,50,000	26	22
2,00,000	23	21
2,50,000	20	20
3,00,300	18	19

What will be the price of pens in the market under (a) competition and (b) monopoly conditions? What difference do you find between competitive price and monopoly price? (1948)

अध्याय ४८

द्रव्य (Money)

अर्घ के सिद्धान्त की विवेचना के पश्चात् अब हम विनिमय-यंत्र (exchange mechanism) के विभिन्न अंगों का अध्ययन करेंगे। हम पहले द्रव्य (money) को लेते हैं।

§ १. द्रव्य का अर्थ और उसके कार्य

द्रव्य का जन्म और इतिहास

आजकल हम हर वस्तु द्रव्य (रुपया) देकर खरीदते हैं और द्रव्य लेकर बेचते हैं किन्तु द्रव्य का प्रयोग कुछ समय से ही होने लगा है। प्राचीन काल में बार्टर या अदल-बदल का चलन था और वस्तु का दूसरी वस्तु से विनिमय कर लिया जाता था, पर अदल-बदल की प्रथा में तीन कठिनाइयाँ होती थीं जिनका हम अध्याय ४४ में जिक्र कर चुके हैं, अर्थात आवश्यकताओं की दुहरी समानता की अनुपस्थिति, विनिमय का किसी एक वस्तु के साथ न होना, और अर्घ के उपविभाजन के साधन का न होना। इन दोषों से छुटकारा पाने के लिये मनुष्यों ने इतिहास के प्रारम्भिक युग में ही एक ऐसी मध्य वस्तु (intermediate commodity) का आविष्कार किया जिसको हर वस्तु के बदले में स्वीकार किया जाने लगा, और साथ मे ही अन्य वस्तुओं के अर्घ के नापने के काम आने लगा और जिसके रूप में अघ का उपविभाजन भी होने लगा। इसी मध्य-वस्तु को द्रव्य (money) कहा जाता है।

आज कल के समाज में धातु के सिक्के और कागज के नोट, यही द्रव्य की दो किस्में हैं। इससे बहुधा यह सोच लिया जाता है कि द्रव्य के ये ही दो रूप होते या हो सकते हैं। किन्तु यदि हम द्रव्य का प्रारम्भिक इतिहास देखें तो हमें मालूम होगा द्रव्य ने समय-समय पर बहुत से रूप धारण किये हैं[1]। आखेट युग में खाल को द्रव्य की भाँति प्रयुक्त किया जाता था। सभ्यता के दूसरे युग, अर्थात् चरागाह युग में भेड़ों और गायों को द्रव्य की भाँति इस्तेमाल किया जाने लगा।

---

[1] देखिये Ridgeway, *The Origin of Metallic Currency and Weight Standards*, Powers, *The Tribes of California*, Powell, *Wanderings in a Wild Country*, आदि।

मनुष्य-जाति में शरीर के शृंगार करने की इच्छा सदैव से बलवती रही है, अत कुछ काल बाद गहने आदि द्रव्य की भाँति काम में लाये जाने लगे। कृषि-युग में द्रव्य ने कौड़ी का रूप लिया। बाद को सूती कपड़े, नमक, आदि का भी प्रयोग किया गया किन्तु ये सब किसी न किसी दशा में दूषित पाये गये। अतः कालान्तर में इनका स्थान सोने और चाँदी ने ले लिया। द्रव्य का सबसे नया रूप कागजी द्रव्य है, जो द्रव्य की सबसे अधिक सुविधा-जनक और किफायतशार किस्म है।

द्रव्य की परिभाषा

विभिन्न लेखकों ने द्रव्य (money) या चलन (currency) की अलग-अलग परिभाषायें दी हैं। कभी तो इसकी परिभाषा संकीर्ण अर्थ में दी जाती है और कभी विस्तृत अर्थ में। संकीर्ण अर्थ में द्रव्य से अभिप्राय केवल धातु के सिक्कों से होता है। विस्तृत अर्थ में द्रव्य का आशय प्रत्येक प्रकार के विनिमय के साधन से होता है और उसमें धातु के सिक्के, कागजी नोट, चैक और बिल आव एक्सचेंज, सभी शामिल किये जाते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री द्रव्य की बीच की परिभाषा देते हैं। उनके अनुसार द्रव्य वह वस्तु है जोकि ऋण के अन्तिम भुगतान में साधारणतया स्वीकार की जाती है। ऐली (Ely) के अनुसार द्रव्य वह वस्तु है जो विनिमय के माध्यम के रूप में ली जाती है और साधारणतया ऋण के अन्तिम भुगतान के लिये स्वीकार की जाती है[१]। इस परिभाषा के अनुसार द्रव्य में केवल धातु के सिक्के और कागजी नोट ही सम्मिलित किये जाते हैं। सिक्के और नोट लेने से कोई व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता क्योंकि कानून की दृष्टि से यह अपराध है। किन्तु चैक और बिल आव ऐक्सचेंज स्वीकार करना या न करना आदमी की इच्छा पर है। अधिकतर ये सिक्के केवल परिचित व्यक्तियों से ही लिए जाते हैं, अपरिचित व्यक्तियों से नहीं। सामान्यतया स्वीकृत न होने के कारण, ये द्रव्य में नहीं माने जाते।

---

[१]राबर्टसन के अनुसार द्रव्य ऐसी वस्तु का द्योतक है जो माल के बदले में या अन्य प्रकार का व्यापारिक उत्तरदायित्व से मुक्त करने के लिये स्वीकार की जाती है।—Robertson, *Money* लार्ड कैन्स के अनुसार द्रव्य वह वस्तु है जिसको देकर ऋण के प्रसंविदे (contracts) और मूल्य के प्रसंविदे से छुटकारा मिलता है और जिसके रूप में सामान्य क्रय-शक्ति (general purchasing power) रक्खी जाती है। J. M Keynes, *Treatise on Money* Vol I.

पाठक को चलन या करेन्सी (currency) शब्द से भी परिचित होना चाहिये। द्रव्य और चलन समान अर्थ वाले या पर्यायवाची शब्द हैं। जो भी वस्तुएँ द्रव्य की भांति चालू होती हैं, वे सब चलन कहलाती हैं।

चित्र २२ से द्रव्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। सबसे छोटा वृत्त या गोला द्रव्य का सकीर्ण रूप है, उससे बड़ा वृत्त या गोला, उसका वास्तविक और सच्चा रूप है, तथा सबसे बड़ा वृत्त या गोला, उसका विस्तृत रूप है[3]।
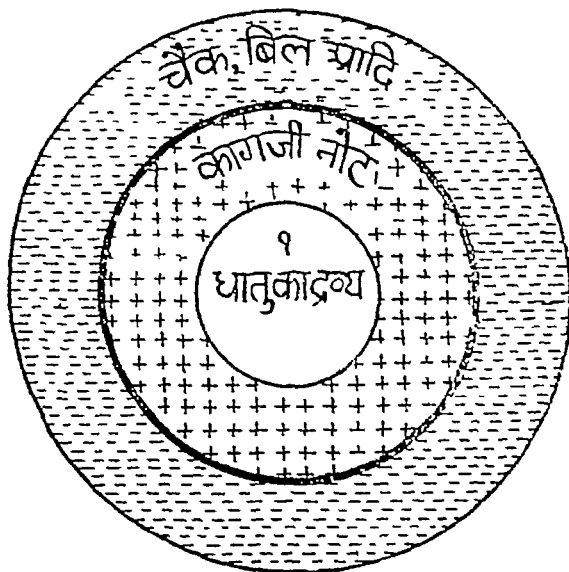
चित्र २२—द्रव्य का अर्थ

(वृत्त १+२=द्रव्य)

हमने द्रव्य की जो परिभाषा ऊपर दी है, उसके अनुसार चैक द्रव्य में शामिल नहीं किये जाते। वे कानूनी द्रव्य या कानूनी ग्राह्य (legal tender) नहीं और उन्हे कोई अपरिचित व्यक्तियों से या सदेहपूर्ण साख वाले व्यक्तियों से

---

[3] विद्यार्थियों को स्मरण रखना चाहिये कि—

संकीर्ण अर्थ में—द्रव्य = धातु के सिक्के

विस्तृत अर्थ में—द्रव्य = धातु के सिक्के + करेंसी नोट + चैक, बिल आदि

ठीक अर्थ में—द्रव्य = धातु के सिक्के + करेंसी नोट

नहीं लेता। अत वे स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकृत नहीं किये जाते और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास नहीं आते-जाते, और इसलिये उन्हें द्रव्य नहीं माना जाता। यही बात हुंडी पर भी लागू होती है। इसके विपरीत, **करेन्सी नोट** कानूनी द्रव्य या वैधानिक 'ग्राह्य' (legal tender) होते हैं और उनको सब स्वीकार कर लेते हैं, अत वे द्रव्य माने जाते हैं। पैसे एक रुपये तक वैधानिक ग्राह्य होते हैं।
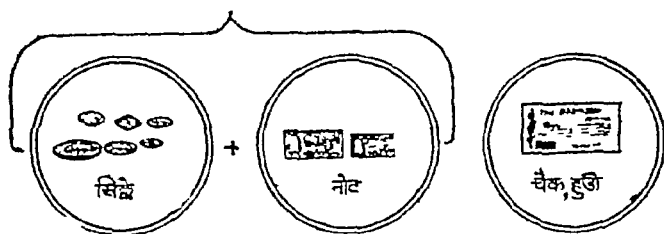
चित्र १३—द्रव्य का क्षेत्र

६४ पैसों से अधिक वे स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार नहीं किये जाते, कुछ तो इसलिये कि वे इस संख्या के बाद वैधानिक ग्राह्य नहीं रहते और कुछ इसलिये भी कि वे इसके बाद बहुत असुविधा-जनक हो जाते हैं, अत इस सीमा के बाहर वे द्रव्य नहीं माने जाते। सोना, हीरा या गेहूँ द्रव्य नहीं होते।

द्रव्य के कार्य

द्रव्य के चार प्रमुख कार्य[४] (functions) होते हैं

(१) विनिमय का सामान्य माध्यम (Common Medium of Exchange)—द्रव्य का सबसे मूलरूपी काम यह है कि वह विनिमय का सामान्य माध्यम हो। "माध्यम" शब्द का आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु की खरीद और बिक्री इसी के द्वारा हो[५]। अदल-बदल या बार्टर के अन्तर्गत एक वस्तु का दूसरी वस्तु से विनिमय होता है, किन्तु जब द्रव्य का प्रयोग होने लगता है तब प्रत्येक वस्तु द्रव्य से खरीदी और द्रव्य लेकर बेची जाती है। इस प्रकार द्रव्य विनिमय का एकमात्र माध्यम बन जाता है। यह समस्त वस्तुओं के बदले में स्वतन्त्रता-पूर्वक स्वीकार किया जाता है, और इसका स्वामी इसके बदले में जो भी वस्तु चाहे वह बिना किसी कठिनाई के प्राप्त कर सकता है। यह द्रव्य का प्राथ-

---

[४] इन कार्यों को याद रखने के लिये निम्नलिखित उपयोगी है •

Money is a Matter of functions four,
A medium, a measure, a standard, a store

[५] Walker, *Political Economy*, p 122

मिक (primary) कार्य है, इसके अन्य कार्य इसी के अधीन हैं। यह वास्तविक रूप में द्राव्यिक काम (Money Functions) माना जाता है। जो भी वस्तु इस काम को सपन्न करती है, वही द्रव्य है। जब यह कार्य सम्पन्न होने लगता है तब आवश्यकताओं की दुहरी समानता, जिसके बिना अदल-बदल या बार्टर के अन्तर्गत काम ही नहीं चल सकता, जरूरी नहीं रहती।

(२) अर्घ का सामान्य माप (A Common Measure of Value)—द्रव्य का दूसरा काम अर्घ का सामान्य माप होना है। यह काम पहले काम के अधीन है। जब प्रत्येक व्यक्ति समस्त वस्तुओं का एक खास वस्तु (द्रव्य) से बदला करने लगता है, तो वह समस्त वस्तुओं का मूल्य उस वस्तु से नापने लगता है। जिस प्रकार कि हम कपडे को गज से नापते हैं और सोने को तोले से नापते हैं, उसी प्रकार हम वस्तुओं का अर्घ द्रव्य से नापते हैं। अत, वस्तुओ के द्राव्यिक अर्घ (या मूल्य) की तुलना करके, उनका विनिमय उचित अनुपात में किया जा सकता है। इस प्रकार द्रव्य अर्घ का सामान्य माप हो जाता है।

(३) अर्घ के संचय का साधन (Store of Value)—द्रव्य का तीसरा काम यह है कि वह अपने स्वामी को अर्घ के लम्बे समय तक और बिना किसी हानि के डर के अर्घ-सचय करने के योग्य बनाये [१]। धातु के सिक्के बहुत धीरे-धीरे घिसते हैं और अर्घ के सचय के लिये आदर्श-साधन हैं। कागजी नोट यह काम भली-भाँति सम्पन्न नहीं करते।

वस्तुओ के रूप में अर्घ को सचित रखने की अपेक्षा द्रव्य के रूप में सचित रखना अधिक सुविधा-जनक होता है, क्योंकि समय व्यतीत होने के साथ-साथ माल छीजता जाता है (deteriorates) और उनके मूल्य में बहुत घट-बढ भी होती है। इसके अतिरिक्त, वे स्थान भी अधिक घेरते हैं। ऐसी कठिनाइयाँ द्रव्य के सम्बन्ध में सामने नहीं आती। अत, अब यह माना जाने लगा है कि अर्घ के सचित रखने का द्रव्य ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। यदि ऐसा होता कि द्रव्य के तुरत विनिमय न करने से उसके स्वामी को हानि उठानी पड़ती, तो द्रव्य की बहुत कुछ उपयोगिता नष्ट हो जाती।

८

---

[१] जब यह कहा जाता है कि अर्घ द्रव्य के रूप में सञ्चित किया जाता है, तो इससे यह आशय नहीं होता कि अर्घ द्रव्य की कोई भीतरी या स्वाभाविक वस्तु है; हमारा मतलब केवल इतना ही होता है कि द्रव्य एक टिकाऊ वस्तु है और इसको किसी भी समय बेचा जा सकता है—Turner, *Introduction to Economics*, p 202

सामान्यतया मान्य (generally acceptable) होता है। यह तभी हो सकता है जबकि वह कानूनी या वैधानिक ग्राह्य हो। अतः, द्रव्य हमेशा कानूनी ग्राह्य होता है, और जो वस्तु कानूनी ग्राह्य होती है वह द्रव्य मानी जाती है। जो वस्तु कानूनी ग्राह्य नहीं होती वह कभी भी द्रव्य नहीं मानी जा सकती।

द्रव्य सदैव कानूनी या वैधानिक ग्राह्य तो होता है, किन्तु जिस सीमा तक वह कानूनी या वैधानिक ग्राह्य होता है वह एक नहीं होती। वास्तव में उसके कानूनी ग्राह्य होने की सीमा के अनुसार उसका वर्गीकरण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, द्रव्य सीमित कानूनी ग्राह्य (Limited Legal Tender) या असीमित कानूनी ग्राह्य (Unlimited Legal Tender) हो सकता है। असीमित कानूनी ग्राह्य उस द्रव्य को कहते हैं जिसे ऋणदाता को ऋणी से भुगतान में किसी भी सीमा तक ग्रहण करना पड़ेगा। भारत में रुपये और अठन्नियाँ असीमित कानूनी ग्राह्य हैं, और यही बात रिजर्व बैंक के नोटों पर भी लागू होती है। इसके विपरीत, सीमित कानूनी ग्राह्य उस द्रव्य को कहते हैं जिसे ऋणदाता भुगतान में केवल एक निश्चित सीमा तक ही ग्रहण करने के लिये बाध्य किया जा सकता है। हमारे देश में चवन्नी, दोअन्नी, पैसा और पाई सीमित कानूनी ग्राह्य हैं।

द्रव्य का महत्व

द्रव्य का समाज में सदैव ही सम्मान होता रहा है, यहाँ तक कि हमारे नैतिक विचार भी द्रव्य द्वारा प्रभावित होते हैं। जैसा कि कवि हारेस ने लिखा है, समस्त मानवीय और दैवी वस्तुएँ, ख्याति, सम्मान आदि द्रव्य के मन्दिर के सामने सिर झुकाती हैं। इसी प्रकार तुलसीदासजी ने भी धन की महत्ता के विषय में लिखा है "नहि दरिद्र सम दुख जग माही"

द्रव्य की सामाजिक महत्ता का वर्णन प्रोफेसर डेवनपोर्ट ने इन शब्दों में किया है: अधिकाधिक मानवीय चेष्टाएँ, मानवीय हित और इच्छाएँ तथा आकांक्षाएँ द्रव्य के सामान्य प्रभुत्व के अधीन होती जा रही हैं। अच्छा स्वास्थ्य उस व्यक्ति के लिये आसान है जिसके पास भोजन तथा औषधि के लिए, यात्रा करने, अच्छी नर्सिंग रखने तथा योग्य डाक्टरों की सेवाओं से लाभ उठाने के लिए द्रव्य हो। और कुछ सीमा तक प्रेम, दया, आदर और शान्ति बाजार में खरीदे और बेचे जाते हैं। समस्त आर्थिक तुलनाएँ द्रव्य के रूप में की जाती हैं, सौन्दर्य या कला या नैतिक बातों में नहीं।

द्रव्य का आर्थिक महत्व उसके सामाजिक महत्व से कहीं अधिक है।

रसायन शास्त्री के पास नापने के लिये कोमल तराजू होता है, भौतिक शास्त्री के पास उसका रूलर, उसी प्रकार अर्थशास्त्री द्रव्य को अपना माप-दण्ड बनाता है। समस्त आर्थिक विज्ञान, द्रव्य पर आधारित है, आर्थिक इच्छाएँ और क्रियायें इसी द्वारा नापी जाती हैं।

उपभोग का अध्ययन करते समय हमने पग-पग पर द्रव्य का सहारा लिया था। हमने उपभोग की वस्तुएँ उनकी उपयोगिता के क्रम में रखी थीं, और उनकी उपयोगिता को द्रव्य में नापा था। हमारी आवश्यकताओं की तीव्रता किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त होनेवाली सतुष्टि तथा अन्य ऐसी ही प्रेरणाएँ द्रव्य में ही नापी जाती हैं।

द्रव्य के उपयोग से उत्पत्ति में भी बहुत सुविधा होने लगी है। आधुनिक बड़े पैमाने की उत्पत्ति श्रम-विभाजन पर आधारित है जो स्वयं द्रव्य के प्रवेश का परिणाम है।

द्रव्य का सब से अधिक महत्त्व हमें विनिमय के अन्तर्गत स्पष्ट होता है। प्राचीन अदल-बदल की प्रथा में बहुत से दोष थे जिनको दूर करने के लिये मनुष्यों ने वस्तुओं के विनिमय का एक सामान्य माध्यम खोज निकाला। आजकल प्राय समस्त सौदे द्रव्य द्वारा ही किये जाते हैं।

उत्पत्ति के सहयोगी साधकों ने आय का वितरण भी द्रव्य के रूप में किया है। विभिन्न साधकों का हिस्सा द्रव्य में आँका जाता है और उसी में दिया भी जाता है। विभिन्न प्रकार के उद्योगों और व्यवसायों में सामाजिक साधनों का विभाजन द्रव्य के माध्यम द्वारा ही होता है। जब भी किसी उद्योग में लाभ अधिक होने लगता है, मनुष्य उसी में रुपया लगाना आरम्भ कर देते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के प्रत्येक पहलू में द्रव्य का महत्व बहुत ऊँचा है। मार्शल ने उचित ही कहा है कि समस्त अर्थशास्त्र द्रव्य पर केन्द्रित है।

§ २. धातु का द्रव्य

सिक्का या मुद्रा

धातु के द्रव्य को सिक्का कहा जाता है। पुराने समय में बहुमूल्य धातुएँ बिना सिक्के के रूप में द्रव्य की भाँति काम में लाई जाती थीं। इसमें बहुत असुविधा होती थी। क्योंकि जब भी कभी विनिमय होता था और सोना या चाँदी मिलता था तभी धातु को तौलना और जाँचना पड़ता था। अतः धातु के टुकड़े जिनकी तौल और पवित्रता उन पर अंकित चिन्ह या मुहर से प्रमाणित होते थे, चलने लगे। किन्तु इस प्रकार के द्रव्य को किनारों से काटा जाने लगा और

उनको थैले में डालकर और हिलाकर उसमें से छोटे-छोटे कण निकाले जाने लगे। कटाई (clipping) और घिसाई (abrasion) से रक्षा करने के लिये, सिक्कों के किनारों पर कटाई (milling) होने लगी और उनकी तौल और पवित्रता प्रमाणित करने के लिये उन पर नियम तथा कलात्मक मुहर अंकित की जाने लगी। इस प्रकार वर्तमान सिक्के या मुद्रा का जन्म हुआ। सिक्का धातु के उस टुकड़े को कहते हैं जिसकी तौल और पवित्रता उस पर अंकित मुहर द्वारा प्रमाणित होती है'[१०]।

सिक्कों का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप वह होता है जिसकी बनावट में निम्नलिखित बातों का ध्यान रक्खा जाता है (१) जालसाजी को रोकना, (२) कपटपूर्वक सिक्के से धातु के कण हटाना, (३) चलन के कारण सिक्के की घिसावट का कम होना, और (४) उसको निर्गम (issue) करने वाली सरकार और प्रयुक्त करने वाले व्यक्तियों का कलात्मक और ऐतिहासिक स्मारक होना।

सिक्कों का बनाना सिक्का-ढलाई (coinage) कहलाता है। आधुनिक समाज में मुद्रा बनाने का काम सरकार का होता है। जिस जगह सिक्के बनाये जाते हैं उसे टकसाल (mint) कहते हैं।

स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई और सीमित मुद्रा-ढलाई (Free and Limited Coinage)

मुद्रा-ढलाई स्वतन्त्र हो सकती है या सीमित। यदि टकसाल जनता के लिये खुली हो अर्थात् जनता को यह अधिकार हो कि वह टकसाल में सोना ले जाय और उसके सिक्के बनवा ले, तो इस प्रथा को स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई कहते हैं। सितम्बर, १९३१, तक इंगलैंड स्वर्ण-स्टैंडर्ड पर था और जनता अपना सोना ले जाकर टकसाल से सिक्के ढलवा सकती थी। भारतवर्ष में सन् १८९३ तक यही बात था, किन्तु उस वर्ष टकसाल जनता के लिये बन्द कर दी गई और उसके बाद वह कभी खुली ही नहीं। स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई की प्रथा में सिक्का ढालने का खर्च जनता से कभी लेती है, और कभी नहीं भी लेती।

जबकि सरकार सिक्के ढालने का अधिकार अपने लिये सुरक्षित कर लेती है और जनता को यह अधिकार नहीं होता कि वह टकसाल में धातु ले आये और उसके सिक्के बनवा ले, तो इस प्रथा को सीमित मुद्रा-ढलाई कहते हैं। भारतवर्ष

---

[१०] W S Jevons *Money and the Mechanism of Exchange*, p. 57

में सन् १८६३ से और इंगलैंड में सन् १६३१ से सीमित मुद्रा-ढलाई की प्रथा स्थापित है[११]।

मुफ्त ढलाई (Gratuitous Coinage), टाँका (Brassage) और ढलाई-लाभ (Seigniorage)

यह हम फिर स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि स्वतंत्र मुद्रा-ढलाई का यह आशय नहीं कि सरकार जनता को धातु के सिक्के मुफ्त में बनाती है। यह धातु से सिक्के ढालने के लिये चाहे तो जनता से कुछ खर्च वसूल कर सकती है और चाहे तो ढलाई मुफ्त कर सकती है।

जब यह सिक्का ढालने का कोई भी खर्च नहीं लेती तब ढलाई की प्रथा **मुफ्त ढलाई (Gratuitous)** कहलाती है। जब सरकार जनता से ढलाई का वास्तविक खर्चा वसूल करती है तो इस खर्चे को **टाँका या ढलाई-व्यय** (Brassage या Mintage) कहते हैं। यदि सरकार ढलाई का लागत से कुछ अतिरिक्त रकम वसूल करे, तो इस अतिरिक्त भाग को **ढलाई-लाभ** (Seigniorage) कहते हैं[१२]।

उदाहरण—मान लीजिये किसी देश में स्वतंत्र मुद्रा-ढलाई की प्रथा जारी है। यदि आप एक तोला सोना देकर बिना किसी खर्चे के उसके सिक्के ढलवा सकते हैं, तो मुद्रा-ढलाई मुफ्त कही जायगी। किन्तु यदि ढलाई की लागत आठ आने प्रति तोले आती है, और आप से वही खर्च वसूल भी किया जाता है, तो प्रति तोले आठ आने टाँका या ढलाई व्यय हुआ। यदि सरकार आप से बारह आने प्रति तोले ढलाई के लिये वसूल करे तो चार आने प्रति तोले ढलाई-लाभ हुआ।

ढलाई की ये तीन प्रथाएँ स्वतंत्र मुद्रा ढलाई वाले देश में ही प्रचलित हो सकती हैं, सीमित ढलाई वाले देश में नहीं। नीचे के चार्ट में चार प्रकार की ढलाई प्रथाएँ दिखाई गई हैं:—

---

[११] विद्यार्थियों को सीमित कानूनी ग्राह्य और सीमित मुद्रा-ढलाई में अन्तर्भेद करना चाहिये।

[१२] जब सरकार मुद्रा ढलाई से कुछ लाभ कमाती है, तो ढलाई की लागत के अतिरिक्त जो रकम ली जाती है वह ढलाई-लाभ कहलाता है।—Penson, *Op. cit*, pp 122-123

चित्र २४—मुद्रा ढलाई प्रथाएँ
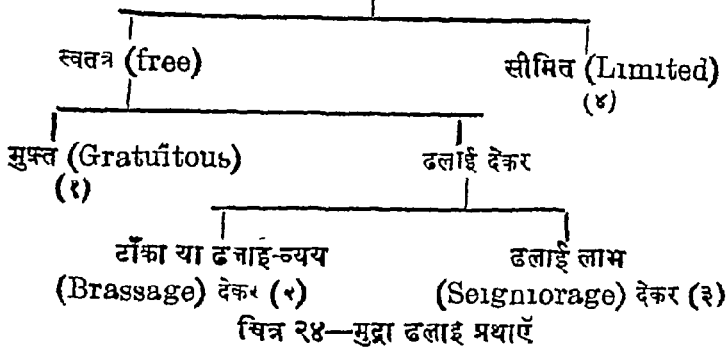
निकृष्टता (Debasement)

सिक्के की तौल या शुद्धता (fineness) या दोनों को कम करना निकृष्टता कहलाता है[13]। धातु की शुद्धता का कम करके सिक्के को निकृष्ट बनाना, सरकार

---

[13] कभी-कभी ऐसा भी हो चुका है, जैसा कि इंगलैंड में ट्यूडर काल में हुआ था, कि राजा जो मुद्रा निर्गमित करता था, उसमें निश्चित मात्रा से कम मात्रा में धातु होती थी। निश्चित या स्टैंडर्ड अर्घ और वास्तविक अर्घ के ऐसे अन्तर को निकृष्टता (debasement) कहते हैं जैसा कि नीचे के चित्र से स्पष्ट है :

क ख ग घ ङ

सिक्के का अंकित अर्घ

कानून के अनुसार होनेवाली धातु की मात्रा

ढलाई फीस

धातु की वास्तविक मात्रा

ढलाई व्यय

निकृष्टता

ढलाई लाभ
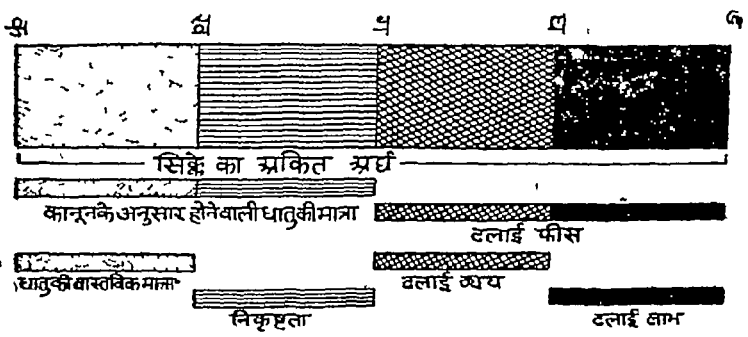
चित्र २५

यदि कङ = सिक्के का अंकित अर्घ

कघ = सिक्के में कानून के अनुसार होने वाली धातु की मात्रा

कख = सिक्के में धातु की वास्तविक मात्रा

गघ = सिक्का ढलाई का व्यय

ही कर सकती है। किन्तु सिक्के की तौल अन्य व्यक्ति भी घटा सकते हैं। ऐसा करने के लिये निम्नलिखित तरीके काम में लाये जाते हैं :

(१) कटाई (Clipping) अर्थात् सिक्कों के किनारे से छोटे-छोटे टुकड़े काट लेना।

(२) जलाई या संघर्ष (Sweating) अर्थात् तेजाब या अन्य तीव्र रसायन का प्रयोग करके सिक्के में धातु की मात्रा कम करना।

(३) घिसाई (Abrasion) अर्थात् सिक्कों को एक थैले मे रखकर हिलाना जिससे कि उसके कण अलग हो जायें।

प्रामाणिक (Standard) और सांकेतिक (Token) सिक्के

जिस सिक्के का नियत अर्घ (face value) और वास्तविक अर्घ (intrinsic value) बराबर हो, उसे प्रामाणिक सिक्का कहते हैं। यह देश का सबसे प्रधान द्रव्य होता है और यह असीमित कानूनी ग्राह्य है तथा इसकी स्वतन्त्र ढलाई कराई जा सकती है। इसका नियत अर्घ और वास्तविक अर्घ समान होने के कारण इसे पूर्णकाय सिक्का (Full-Bodied Coin) कहते हैं।

इसके विपरीत, सांकेतिक सिक्का वह होता है जिसका नियत मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। यह सहायक द्रव्य होता है, और यह सीमित कानूनी ग्राह्य होता है तथा इसकी सीमित ढलाई (limited coinage) होती है। प्रामाणिक सिक्के कानूनी सिक्के (Fiat Coins) भी कहलाते हैं क्योंकि उनका अर्घ उनके वास्तविक अर्घ पर निर्भर नहीं होता।

हम नीचे के कोष्टक में प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्कों के भेद बताते हैं :

प्रामाणिक सिक्के	सांकेतिक सिक्के
१. ये द्रव्य के प्रधान स्वरूप होते है।	१ ये द्रव्य के सहायक स्वरूप होते हैं।
२. उनका नियत अर्घ उनके वास्तविक अर्घ के बराबर होता है।	२ नियत अर्घ वास्तविक अर्घ से अधिक होता है।
३. यह असीमित कानूनी ग्राह्य होता है।	३. यह सीमित कानूनी ग्राह्य होता है।
४ इनकी स्वतन्त्र ढलाई होती है	४. इनकी सीमित ढलाई होती है।

तो गङ = ढलाई-व्यय
घङ = ढलाई लाभ
घघ = मितव्ययता

सितम्बर १६३१ के पहले इंगलैंड में सोने का सिक्का, जिसे सावरेन (sovereign) कहते थे, उस देश का प्रामाणिक सिक्का था, किन्तु अब इंगलैंड ने स्वर्ण स्टैंडर्ड त्याग दिया है, अत कागजी सिक्का जो पाउण्ड स्टर्लिङ्ग कहलाता है वहाँ का प्रामाणिक सिक्का है। भारत में कानूनी दृष्टि से कोई प्रामाणिक सिक्का है ही नहीं। हमारा प्रधान सिक्का रुपया है। यह इस अर्थ में प्रामाणिक माना जा सकता है कि यह देश का प्रधान सिक्का है और यह असीमित कानूनी ग्राह्य भी है। किन्तु इसमें सांकेतिक सिक्के के लक्षण भी विद्यमान हैं क्योंकि इसका वास्तविक अर्घ इसके नियत अर्घ से अधिक है और इसकी सीमित ढलाई होती है। इसमें दोनों प्रकार के सिक्कों के लक्षण उपस्थित होने के कारण इसे सांकेतात्मक प्रामाणिक सिक्का (Token Standard Coin) कहते हैं। किन्तु यह बात अधिकांश अर्थशास्त्री मानते हैं कि जब तक हमारा प्रधान चलन रुपयों के स्वरूप में है, हमारे समस्त प्रसंविदे (contracts) इसी में होते हैं और हमारे टैक्स इसी में आँके जाते हैं और रुपया बिना किसी सीमा के कानूनी ग्राह्य है, तब तक हम रुपये को ही प्रामाणिक सिक्का मान सकते हैं।

§ ३. कागजी द्रव्य

हम ऊपर बता चुके हैं कि कागज पर बना और कागज पर छपा द्रव्य कागजी द्रव्य कहलाता है। आधुनिक राष्ट्र में, हमें काफी तादाद में कागजी द्रव्य का चलन धातु द्रव्य के साथ-साथ होता है। कागजी द्रव्य से अभिप्राय सरकारी या बैंकों के नोटों से है जो कि एक हाथ से दूसरे हाथ में स्वतन्त्रता पूर्वक गुजरते रहते हैं। चैक तथा बिल ग्राव एक्सचेन्ज कागजी द्रव्य नहीं माने जाते।

रिकार्डो (Ricardo) ने कागजी द्रव्य के वास्तविक स्वभाव का यह कह कर उचित निरूपण किया था कि कागजी मुद्रा का सम्पूर्ण अर्घ ढलाई-लाभ (Seigniorage) माना जा सकता है। कागजी मुद्रा का कोई वास्तविक मूल्य नहीं होता, किन्तु उसकी पूर्ति इतनी सीमित रक्खी जाती है कि उसका अर्घ सिक्कों या सिक्कों में होनेवाली धातु की मात्रा के बराबर हो। कागजी द्रव्य के अर्घ बनाये रखने के लिये यह आवश्यक नहीं कि कागजी द्रव्य का धातु के द्रव्य में बदला जाना अनिवार्य हो। आवश्यक केवल यह है कि कागजी मुद्रा की मात्रा इस प्रकार नियमित की जाय कि इसका अर्घ समान नियत अर्घ वाले सिक्के के बराबर रहे।

कागजी द्रव्य के लाभ

आधुनिक काल में कागजी द्रव्य बहुत लोकप्रिय हो गया है। इसका कारण

यह है कि ऐसे द्रव्य के बहुत से लाभ हैं: (१) यह बहुत हल्का होता है और आसानी से पकड़ा और रक्खा जा सकता है; अतः यह दूर-दूर तक सुविधा पूर्वक ले जाया जा सकता है। जब द्रव्य की बड़ी रकम किसी दूर स्थान को ले जानी होती है तब यह लाभ बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। (२) यह बहुत किफायत का द्रव्य है। इसको बनाने में बहुत कम खर्च पड़ता है। कागज के एक टुकड़े पर हजारों और लाखों रुपये के नोट छापे जा सकते हैं। इसके विपरीत, धातु के सिक्के बनाने में, धातु खोदकर निकालनी पड़ती है, शुद्ध करनी पड़ती है, टकसाल को लानी पड़ती है और ढलाई करनी पड़ती है। (३) यह थोड़े से आकार में बहुत-सा मूल्य केन्द्रित कर देता है। (४) राष्ट्रीय संकट और द्रव्य-सम्बन्धी कमी के समय में सरकार नोट छापकर काम चला सकती है।

कागजी द्रव्य की हानियाँ

कागजी द्रव्य की दो प्रमुख हानियाँ भी हैं: (१) सरकार कागजी मुद्रा इतनी मात्रा में छाप सकती है कि उसका अर्घ बहुत कम हो जाय। यह भय बहुत वास्तविक है। यदि नोट बनाने का काम किसी रिजर्व बैंक या केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाय तो यह भय बहुत-कुछ कम हो जाता है। (२) क्योंकि कागजी द्रव्य का वास्तविक अर्घ शून्य होता है, अतः इसका चलन बहुत सीमित रखना पड़ता है। किन्तु व्यवहार में यह भय बहुत-कुछ निर्मूल सिद्ध हो चुका है। भारत ऐसे देश में भी जहाँ के निवासी बिना पढ़े-लिखे और सन्देहपूर्ण होते हैं, कागजी मुद्रा काफी लोकप्रिय है। वास्तव में, जब तक कि नोट बनाने वाली संस्था की साख ऊँची रहती है और उसका वायदा अटल और सच्चा माना जाता है, तब तक उसके चलन को सीमित होने की कोई आवश्यकता नहीं।

परिवर्तनशील (Convertible) और अपरिवर्तनशील (Inconvertible) कागजी द्रव्य

कागजी द्रव्य के दो मुख्य स्वरूप होते हैं: परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील। इनका वर्णन नीचे किया जाता है:

परिवर्तनशील या बदला जा सकने वाला (Convertible) द्रव्य—कागजी द्रव्य परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील दो प्रकार का होता है। यदि कागजी द्रव्य के बदले में माँगने पर प्रामाणिक धातु का द्रव्य प्राप्त किया जा सके तो उसे परिवर्तनशील कागजी द्रव्य कहते हैं। उदाहरण के लिये, रिजर्व बैंक के नोटों पर यह प्रतिज्ञा छपी रहती है कि धारक (bearer) को माँगने पर उसके बदले

में उतनी ही रकम के रुपये अदा कर दिये जायेंगे और यह प्रतिज्ञा हमेशा पूरी की जाती है। अतः रिजर्व बैंक के नोट परिवर्तनशील होते हैं।

परिवर्तनशीलता की गारंटी करने के लिये, नोट छापने वाली संस्था नोटों के पीछे कुछ सोना और चाँदी तथा धातु के सिक्के रिजर्व या रक्षित कोष में रखती है। सारे नोट एक ही समय भुनाने के लिये उपस्थित नहीं किये जाते। नोट छापने वाली संस्था अनुभव द्वारा पता लगा लेती है कि नोटों का कितना प्रतिशत किसी समय भुनाया जाता है। जितने भी नोट छापे जाते हैं उसके इतने प्रतिशत के बराबर धातु और सिक्के रिजर्व में रख लिये जाते हैं। कुल नोटों का वह भाग या जिसके पीछे रिजर्व रक्खा जाता है, **रक्षित भाग (Covered Issue)** कहलाता है, और जिस भाग के पीछे रिजर्व नहीं होता, उसे **अरक्षित भाग (Uncovered or Fiduciary Issue)** कहते हैं।

यदि कागजी द्रव्य के पीछे १००% का रिजर्व रक्खा जाय तो उसे **प्रतिनिधि द्रव्य (Representative Money)** कहते हैं। किन्तु ऐसे द्रव्य से कोई खास लाभ नहीं होता। क्योंकि कागजी द्रव्य का प्रधान लाभ यह होता है कि उसके प्रयोग से बहुमूल्य धातुओं में किफायत हो जाती है।

अपरिवर्तनशील (Inconvertible) या अरक्षित (Irredeemable) कागजी द्रव्य—यदि कागजी द्रव्य को देश के प्रमाणिक धातु के द्रव्य मे बदली न की जा सके, तो वह अपरिवर्तनशील कागजी द्रव्य कहलाता है। ऐसा होने पर भी कागजी द्रव्य सरकार के प्रभुत्व के कारण चालू रहता है। अतः इसे कभी-कभी "फाएट द्रव्य" (Fiat money) कहते हैं।

यदि अपरिवर्तनशील कागजी द्रव्य की मात्रा व्यापारिक और औद्योगिक आवश्यकता से अधिक न हो, तो कोई कारण नहीं कि वह ठीक प्रकार से काम न करे। किंतु अभाग्यवश नोट छापने वाली अधिकारी संस्था अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगती है और इतनी मात्रा में नोट छाप देती है कि कभी-कभी तो नोट बेकार कागज के समान हो जाता है। पहले महायुद्ध के समय में योरप के कई देशों में ऐसा ही हुआ। खासकर जर्मनी में नोट इतनी तादाद में छापे गये कि उनका अर्घ उस कागज से भी कम हो गया जिस पर कि वे छपे थे।

अमेरिका के घरेलू युद्ध के समय अमेरिकन नोट (Green Back) और फ्रांस की क्रान्ति के समय फ्रांसीसी नोट (Assignat) अपरिवर्तनशील हो गये थे। द्वितीय महायुद्ध के समय में भारत सरकार ने एक रुपये के नोट निर्गमित किये थे जो अब भी चालू हैं और ये अपरिवर्तनशील हैं।

प्रश्न

१. द्रव्य के उदय का इतिहास बताइये। क्या आरम्भ से ही सोने और चाँदी का द्रव्य के लिये उपयोग होता रहा है ?

२. द्रव्य की परिभाषा दीजिये। इस शब्द का विस्तृत और संकीर्ण अर्थ बताइये। क्या हुंडी और चैक द्रव्य में परिगणित किये जाते हैं ?

३. द्रव्य के कार्य स्पष्ट रूप से समझाइये।

४. द्रव्य-पदार्थ के आवश्यक गुणों का वर्णन कीजिये।

५. कानूनी ग्राह्य का क्या अर्थ है ? सीमित कानूनी ग्राह्य और असीमित कानूनी ग्राह्य का अन्तर बताइये। उदाहरण दे कर समझाइये।

६. द्रव्य का सामाजिक और आर्थिक महत्व बताइये। धातु के द्रव्य और कागजी द्रव्य का भेद बताइये।

७. सिक्का या मुद्रा क्या होता है ? स्वतंत्र और सीमित मुद्रा-ढलाई का क्या अभिप्राय है ?

८. मुफ्त ढलाई, टाँका और ढलाई-लाभ का अर्थ समझाइये।

९. निकृष्टता का अर्थ स्पष्ट कीजिये। प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्कों से आप क्या समझते हैं।

१०. द्रव्य का स्वभाव बताइये और इसके लाभ और हानियों का वर्णन कीजिये।

११. परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील कागजी द्रव्य का अन्तर बताइये। फ्रायट द्रव्य (Fiat money) का क्या अर्थ है ?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. कागजी द्रव्य क्या होता है ? उसके प्रधान गुण क्या होते हैं ? भारत में कागजी द्रव्य का चलन कैसे किया जाता है ? (१९४६)

२. प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्कों तथा द्रव्य-प्रसार पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४०)

३. कागजी द्रव्य के मुख्य स्वरूपों को समझाइये और उनके अन्तर्भेद बताइये ? एक अच्छी कागजी द्रव्य-प्रणाली के क्या लाभ होते हैं ? (१९४४)

४. कागजी मुद्रा पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४५)

५. कानूनी ग्राह्य का अर्थ बताइये। द्रव्य कौन से कार्य सपन्न करता है ? (१९४४)

६. द्रव्य का क्या अर्थ है ? द्रव्य का कार्य करने के लिये किसी पदार्थ में कौन से गुण होने चाहिये (१९४१)

७. प्रामाणिक सिक्का तथा सांकेतिक सिक्के पर एक संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४१)

८. सीमित तथा स्वतंत्र सिक्कों पर एक संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४२)

९. द्रव्य की परिभाषा दीजिए और इसके कार्यों का पूर्णतया वर्णन कीजिए। (१९४२)

१०. कागज़ी द्रव्य के क्या लाभ हैं ? इसकी परिवर्तनशीलता भारत में किस प्रकार रक्खी जाती है ? (१९४२)

११. (अ) कानूनी ग्राह्य और सांकेतिक द्रव्य में तथा परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील कागज़ी द्रव्य के भेद बताइये।

(इ) परिवर्तनशील कागज़ी द्रव्य धात्विक द्रव्य से किस प्रकार श्रेष्ठ है ? (१९४१)

१२. द्रव्य के विभिन्न कार्यों को बतलाइये और किसी वस्तु को द्रव्य के रूप में कार्य करने के लिये जिन गुणों की आवश्यकता पड़ती है उन्हें बतलाये। (१९४०)

१३. द्रव्य के कार्य बताइये। प्रामाणिक द्रव्य की भाँति प्रयुक्त होने के लिये सोना और चाँदी सर्वमान्य क्यों है। (१९३८)

यू० पी० इन्टर कामर्स

१४. कागज़ी द्रव्य के क्या लाभ होते हैं ? क्या धात्विक द्रव्य का कागज़ी द्रव्य से पूर्णतया स्थानापन्न करना सम्भव है ? (१९४२, १९४३)

१५. प्रामाणिक सिक्का क्या होता है ? क्या रुपया प्रामाणिक सिक्का है ? रुपये की वर्तमान दशा समझा कर लिखिये। (१९४०)

१६. द्रव्य की परिभाषा दीजिए और उसके मुख्य कार्य बताइये। (१९४४)

१७. द्रव्य के क्या कार्य हैं ? द्रव्य की भाँति प्रयुक्त की जाने वाली धातु में क्या-क्या गुण होने चाहिए। (१९४२)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

18 Describe briefly the chief functions of money, and point out the reasons for the general acceptability of the precious metals for being used as money (1949)

19 Write a short note on Standard and Token coins. (1949)

20 Indicate the reasons for the use of gold as support for the currency system of a country. How does this apply to this country ? (1948)

21. Carefully define money According to your definition, will the following come under the category of money? (a) a lump of gold, (b) a pice, (c) one rupee note, (d) a diamond, (e) wheat? (1944)

22 Write short notes on —

(a) Dangers of inconvertible paper money

(b) Legal tender, free coinage, fiduciary money (1944)

24 (a) Carefully explain whether there can be any difference between the legal value of the rupee and its intrinsic value, if there is free coinage and people are allowed to melt the coin

(b) What is legal tender? Give illustrations from Indian currency (1443)

25. What is meant by 'depreciation' of money? How will depreciation of money affect different classes of people in India? (1942)

26 Distinguish between Standard Money and Token Money Discuss whether rupee in India is Standard Money or Token Money (1941)

27 Define 'Money' In the light of your definition, explain whether cheques are money. What are the advantages of cheques? (1941)

28 What is Standard Money or Token Money? Is the rupee in India Standard Money or Token Money? Give reasons for your answer. (1940)

29 State and fully explain the functions of money. (1939)

30 Write a short note on Paper money its merits and demerits (1939)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

31 Distinguish and explain the principal forms of paper money. Indicate the advantages of a good system of paper money (1949)

32 Explain the functions of money Why has money exchange replaced barter? (1948)

33 Define money, and explain its essential characteristics (1947)

34 Writer a short note on Legal Tender. (1947)

35 Distinguish and explain the principal forms of paper money Indicate the advantages of a good system of paper money (1946)

पटना, इन्टर आर्ट्स

36 Define money What are its functions ? (1949 Supp.)

37. Define money. What are the difficulties of barter ? (1948)

38 What are the different kinds of money you see, and what are the special advantages of each over the other forms of money ? (1948 Supp)

39 What are the advantages of conducting transactions through money rather than by barter ? (1946)

40 What are the different kinds of medium of exchange we use, and what are the special advantages of each ? (1 46 Supp)

पटना, इन्टर कामर्स

41 What are the different kinds of money issued by a modern commnuity ? (1949 Supp)

42. What disadvantages will you have if there were no money in a community ? (1949)

43 What is meant by Inconvertible Paper Currency ? Is there any advantage in keeping paper currency convertible ? (1948 Supp.)

44. What are the different kinds of money used in India ? What advantages do we get by using these different kinds of money instead of only one kind, say, the rupee coin ? (1947 Supp.)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

45 Explain clearly the difference between (a) Standard and token coins, (b) Good and bad money (1947)

46 What are coins ? In what respects do token coins differ from standard coins ? Illustrate (1949)

47 Clearly explain how convertible paper money secures economy of precious metals.

Describe the paper currency system now prevailing in India. (1948.)

48. Write a short note on "Gold as an ideal money material" (1948)

49. What are the functions of money? What commodities can perform these functions best and why? (1945)

50 Explain the nature of paper currency What is the importance of reserves in this connection? (1945)

नागपुर, इन्टर कामर्स

५१ निम्नलिखित के अंतर स्पष्ट कीजिए (क) प्रामाणिक सिक्के तथा सांकेतिक सिक्के : (ख) अच्छा और बुरा द्रव्य। (१९४७)

५२. एक अच्छे द्रव्य पदार्थ में कौन से गुण आवश्यक हैं? प्रामाणिक तथा सांकेतिक सिक्कों से आप क्या समझते हैं, समझाइये। (१९४६)

५३. अपरिवर्तनशील कागजी चलन पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४६)

सागर, इंटर आर्ट्स

54 Define money What are the functions of money? (1949)

55 Explain the different kinds of paper money (1949)

56 Describe the various systems of note issue (1949 Supp)

57. What are the essential qualities of a good money material? (1949 Supp)

58 Write short notes on (i) standard and token coins, (ii) convertible and inconvertible paper currency, (iii) fixed and fiduciary system of paper currency (1948)

अध्याय ४६

द्रव्य का मान (Standard), अर्घ और ग्रेशम का नियम

हमने पिछले अध्याय में द्रव्यसंबंधी कुछ प्रारंभिक बातों की चर्चा की थी। अब हम द्रव्य के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर प्रकाश डालेंगे। ये समस्यायें निम्नलिखित हैं : (१) द्रव्य के मान या स्टैंडर्ड, (२) द्रव्य का अर्घ, और (३) ग्रेशम का नियम। इस अध्याय की परिशिष्टियों में स्वर्ण मान (gold standard) और द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) पर प्रकाश डाला गया है।

§ १. द्रव्य का मान या स्टैंडर्ड

द्रव्य के मान की परिभाषा

किसी देश की चलन-प्रणाली (currency system) जिस भाँति नियन्त्रित होती है उसका देश की आर्थिक अवस्था पर तात्विक प्रभाव होता है। अतः चलन-प्रणाली का नियन्त्रण ऐसे उद्देश्य या मान को लेकर करना चाहिए जो देश का अधिकाश कल्याण (welfare) करे। ऐसे उद्देश्य को द्रव्य का मान (monetary or currency standard) कहते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि **द्रव्य का मान या स्टैंडर्ड उस उद्देश्य को कहते हैं जिसकी पूर्ति के लिए द्रव्य का नियन्त्रण किया जाता है**[१]।

आधुनिक काल में बहुत से द्रव्य के मान खोजकर निकाले गये हैं और उनको व्यवहार में भी लाया गया है। उनके अनुसार अनेक चलन-प्रणालियो का भी आविष्कार हुआ है। इनमें से खास-खास किस्में निम्नलिखित हैं : (१) एक-धातुवाद (Mono-metallism), (२) दो-धातुवाद (Bi-metallism), और (३) वैकल्पिक दो-धातुवाद (Limping Bimetallism)।

एक-धातुवाद (Mono-metallism)

यदि प्रामाणिक द्रव्य बनाने के लिए केवल एक ही वस्तु का प्रयोग किया जाय, तो ऐसी चलन-प्रणाली एक-धातुवाद (Mono-metallism)

---

[१] इस सम्बन्ध में देखिये B R. Shenoy, *A Classification of Currency Standards, Indian Journal of Economics*, October, 1936

कहलाती है, और जिस देश में ऐसी चलन-प्रणाली प्रचलित होती है उसे एक-धातुवादी देश कहते हैं। प्रामाणिक सिक्का बनाने के लिये या तो सोने का प्रयोग किया जाता है या चाँदी का। अभी तक इस काम के लिये और कोई धातु उपयुक्त नहीं पाई गई। ऐसी प्रणाली में द्रव्य के दो मान या स्टैंडर्ड हो सकते हैं: स्वर्ण-मान (gold standard) या रजत-मान (silver standard)।

(१) स्वर्ण-मान (Gold Standard)—स्वर्ण-मान उस एक-धातुवाद को कहते हैं जिसमें प्रामाणिक सिक्का केवल सोने का होता। आधुनिक काल में संसार भर में द्रव्य का यह मान बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। इंगलैंड सितम्बर १९३१ तक स्वर्ण मान पर था, किन्तु उस महीने में उसने स्वर्ण मान का त्याग कर दिया। इसके बहुत से उप भेद होते हैं। इसके विशेष विवरण के लिए परिशिष्ट (१) देखिये

रजत-मान (Silver Standard)—जिस चलन-प्रणाली में प्रामाणिक सिक्का केवल चाँदी का बना होता है, उसे रजत मान कहते हैं। रजत-मान के अन्तर्गत चलन का अर्घ बहुत घटता-बढ़ता रहता है, क्योंकि प्रत्येक साल बहुत सी चाँदी भूगर्भ से खोदकर निकाली जाती है। इस दोष के कारण अब रजत-मान कहीं भी व्यवहार में नहीं। केवल चीन और हाँगकांग इसका आखीर तक प्रयोग करते रहे; चीन ने इस मान का नवम्बर ३, १९३५ को त्याग किया और हांगकांग ने पाँच दिन बाद।

दो-धातुवाद (Bi metallism)

दो-धातुवाद के अन्तर्गत दो धातुयें—सामान्यतया सोना और चाँदी—प्रामाणिक सिक्का बनाने के लिये काम में लाई जाती हैं। सोने और चाँदी के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं और टकसाल दोनों धातुओं के लिये खुली होती हैं। दोनों के सिक्कों के एक ही नाम होते हैं और वे एक-से होते हैं। एक धातु के सिक्के के बदले में दूसरी धातु के सिक्के एक स्थिर दर पर प्राप्त किये जा सकते हैं। दो-धातुवाद के आवश्यक लक्षण निम्नलिखित हैं। दो विभिन्न धातुओं के बने हुए प्रामाणिक सिक्कों का होना, दोनों प्रकार के प्रामाणिक सिक्कों का असीमित कानूनी ग्राह्य होना, दोनों प्रकार के सिक्कों के लिये टकसाल का खुला होना, प्रत्येक प्रकार के सिक्कों के बदले में दूसरे प्रकार के सिक्कों का निश्चित दर पर प्राप्त हो सकना।

कुछ समय पूर्व बहुत से देशों ने दो-धातुवाद के सिद्धान्त को अपनाया, किन्तु उन्हें यह सिद्धान्त शीघ्र ही छोड़ना पड़ा। दो धातुओं के सिक्कों के बीच में परिवर्तन की स्थिर दर बहुत समय तक रक्खी न जा सकी। यदि चाँदी की पूर्ति में वृद्धि

अधिक हो गई, तो सोने की अपेक्षा चाँदी बहुत सस्ती हो जाती थी. अतः, सोने के एक सिक्के के बदले में चाँदी के सिक्के निश्चित संख्या से अधिक मात्रा में प्राप्त होने लगते थे। इसके विपरीत, यदि सोने की मात्रा बहुत बढ़ जाती थी, तो चाँदी के सिक्के सोने के सिक्के की अपेक्षा तेज हो जाते थे; अतः सोने के एक सिक्के के बदले में चाँदी के सिक्के नियत मात्रा से कम में मिलने लगते थे। ऐसी दशा में ग्रेशम का नियम[2] लागू हो जाता था और बुरा द्रव्य अच्छे द्रव्य को चलन से निकाल देता था[3]।

सन् १८०३ में फ्रांस ने यह प्रणाली इस कारण अपनाई कि यदि किसी एक धातु की पूर्ति किसी कारण काफी कम हो जाय, तो देश को सिक्कों की कमी का सामना न करना पड़े। किन्तु वास्तव में हुआ यह कि जिस धातु की पूर्ति बहुत अधिक होती थी और जो इस कारण दोनों धातुओं में से सस्ती होती थी, केवल वही चलन में रहती थी, अतः किसी खास समय एक धातुवाद ही विद्यमान होता था। अत. १८०३-१८७० के समय में, लगभग ५० वर्ष तक फ्रांस से रजत-मान (silver standard) था, और सत्ताईस साल तक स्वर्ण-मान (gold standard)। फ्रांस ने दो-धातुवाद (Bi-metallism) का सन् १८७० में त्याग किया।

वैकल्पिक मान (Limping Standard)

वैकल्पिक मान दो धातुवाद का एक आंशिक स्वरूप होता है। इसके अन्तर्गत दो धातुएँ—सोना और चाँदी—असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं, किन्तु इनमें से केवल एक ही धातु की स्वतन्त्र ढलाई हो सकती है। ऐसी धातु बहुधा

---

[2] देखिये § ३.

[3] दो धातुवाद के पक्ष में निम्नलिखित बातें हैं • (१) दो धातुओं की संयुक्त उत्पत्ति में इतना परिवर्तन नहीं होगा जितना कि उनमें से एक धातु की उत्पत्ति में; (२) यह दुहरी प्रथा मूल्यों को स्थिर रखने में सहायक हो; और (३) यदि संसार के सारे देश स्वर्ण-मान का प्रयोग करने लगें, तो पर्याप्त मात्रा में सोना नहीं मिल सकेगा। किन्तु इन लाभों से दो-धातुवाद की हानियाँ अधिक हैं • (१) सोने और चाँदी के विनिमय-अनुपात में परिवर्तन होता रहता है और इसलिये सोने और चाँदी के सिक्कों की परिवर्तन-दर बनाये रखना कठिन हो जाता है। (२) ग्रेशम का नियम समय-समय पर लागू हो जाता है जिसके कारण बुरा द्रव्य अच्छे द्रव्य को चलन से हटा देता है, अतः किसी समय या तो स्वर्ण-मान क्रियाशील होता है या रजत-मान।

सोना होती है। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के पहले यह प्रणाली संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका और फ्रांस में प्रचलित थी।

§ २. द्रव्य का अर्घ और उसमें घट-बढ़

द्रव्य के अर्घ का अर्थ

हम समस्त वस्तुओं और सेवाओं का अर्घ द्रव्य से नापते हैं। उसी प्रकार द्रव्य का अर्घ सामान्य वस्तुओं और सेवाओं (General Goods and Services) द्वारा नापा जाता है। द्रव्य के अर्घ का आशय सामान्य वस्तुओं और सेवाओं[4] की उस मात्रा से है जो द्रव्य की एक इकाई द्वारा खरीदी जा सकती है, दूसरे शब्दों में, द्रव्य की सामान्य क्रय-शक्ति (general purchasing power) से।

द्रव्य का अर्घ और सामान्य मूल्य का स्तर (General Price Level)

हमने ऊपर बताया है कि सामान्य वस्तुओं और सेवाओं की जो मात्रा द्रव्य की एक इकाई खरीद सकती है, वही द्रव्य का अर्घ होती है। सामान्य वस्तुओं और सेवाओं की एक इकाई का द्राव्यिक अर्घ (money price) सामान्य मूल्य का स्तर (General Price Level) कहलाता है।

सामान्य मूल्य के स्तर और द्रव्य के अर्घ में विपरीत सम्बन्ध (inverse relation) है, यदि एक बढ़ता है, तो दूसरा घट जाता है। मान लीजिये, गेहूं एक रुपये का दो सेर बिक रहा है। यदि रुपये का अर्घ बढ़ जाय और एक रुपये में चार सेर गेहूँ बिकने लगे, तो गेहूँ के अर्घ पर क्या प्रभाव होगा? गेहूं का अर्घ घट जायगा : यह पहले आठ आने सेर था किन्तु अब चार आने सेर हो जायगा। इससे स्पष्ट है कि जब द्रव्य का अर्घ बढ़ जाता है, तो गेहूँ का अर्घ घट जाता है। जो बात गेहूँ के अर्घ के विषय में कही गई है, वह सामान्य वस्तुओं और सेवाओं के विषय में, या सामान्य मूल्य के स्तर के विषय में, लागू होती है[5]।

---

[4] 'सामान्य वस्तुएं और सेवाएं' स्पष्ट अर्थ वाला नहीं। इसका अभिप्राय वस्तुओं और सेवाओं के उस समूह से है जो वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्रा का प्रतिनिधित्व करता है। इसे "प्रतिनिधि तथ्य" (representative data) कहते हैं। द्रव्य का अर्घ इन्हीं प्रतिनिधि वस्तुओं और सेवाओं द्वारा नापा जाता है।

लार्ड कन्स (Lord J M Keynes) का कथन है कि "सामान्य वस्तुएँ और सेवाएं" तथा "सामान्य मूल्य का स्तर" (genral price level) कल्पना की बातें हैं। देखिए Keynes, *A Treatise on Money*, Vol. 1, Ch VI.

5 J M Mill, *Principles of Political Economy*, p 229

मिल (J. S. Mill) के शब्दों में, किसी वस्तु के बदले में जो कुछ मिलता है वही उस वस्तु का अर्घ होता है, द्रव्य के बदले में जो कुछ मिलता है वही द्रव्य का अर्घ होता है, या उसकी क्रय-शक्ति कहलाती है। यदि मूल्य कम हुए, तो द्रव्य अन्य वस्तुएँ अधिक मात्रा में खरीद सकेगा और उसका अर्घ अधिक होगा, यदि मूल्य ऊँचे हुए, तो यह अन्य वस्तुएँ कम मात्रा मे खरीद सकेगा और इसका अर्घ कम होगा। द्रव्य के अर्घ में सामान्य मूल्यों से विपरीत दशा में परिवर्तन होता है, सामान्य मूल्य बढने से यह घट जाता है और सामान्य मूल्य घटने से यह बढ जाता है।

द्रव्य के अर्घ मे वृद्धि (Appreciation) और ह्रास (Depreciation)

वस्तुओं के अर्घ की भाँति द्रव्य के अर्घ में भी घटती-बढती होती रहती है। द्रव्य के अर्घ (अर्थात् उसकी क्रय-शक्ति) बढ जाने को वृद्धि (Appreciation) कहते हैं, और उसके गिरने को ह्रास (Depreciation)।

मान लीजिये, अप्रैल १, १९४५ को द्रव्य का अर्घ दस सेर प्रति रुपया था। यदि अप्रैल ६, १९४५ को एक रुपये मे ग्यारह सेर गेहूँ खरीदा जा सके, तो रुपये के अर्घ में वृद्धि हो जायगी, किन्तु यदि उस दिन एक रुपये का केवल नौ सेर गेहूँ मिले, तो रुपये के अर्घ में ह्रास हो जायगा।

ह्रास (Depreciation) को घिसाई (Deterioration) और निकृष्टता (Debasement) से अलग रखना चाहिये। जब सिक्कों के लगातार प्रयोग के कारण उनकी धातु की मात्रा कम हो जाती है, तो ऐसी कमी को घिसाई (Deterioration) कहते हैं, और जब सरकार सिक्के की धातु की मात्रा कम कर देती है या उसकी शुद्धता (fineness) घटा देती है, तो ऐसी कमी को निकृष्टता (debasement) कहते हैं। इसके विपरीत, ह्रास द्रव्य के अर्घ में कमी हो जाने का द्योतक है, जो द्रव्य की माँग और पूर्ति में परिवर्तन होने के कारण होती है।

प्रसार (Inflation), सकुचन (Deflation) और संकुचन-सुधार (Reflation)

चलन की मात्रा कितनी हो, इसका निर्धारण देश मे चलन की माँग के अनुसार किया जाता है। यदि इस दृष्टिकोण को ध्यान में न रक्खा जाय, तो हो सकता है कि चलन की पूर्ति, माँग से कम या अधिक हो जाय; इसका प्रभाव बहुत चिन्ताजनक हो सकता है।

कभी-कभी सरकार द्रव्य की आवश्यकता होने पर चलन की मात्रा बढ़ाती चली जाती है, यहाँ तक कि यह मात्रा देश की वास्तविक चलन-सम्बन्धी आवश्यकता से अधिक हो जाती है। जब चलन की मात्रा में जान-बूझकर इतनी असाधारण अधिकता कर दी जाती है कि चलन की मात्रा उसकी वास्तविक माँग से भी अधिक हो जाती है, तो इसे **चलन का प्रसार (Currency Inflation)** कहते हैं। प्रसार के कारण द्रव्य के अर्घ में ह्रास (depreciation) हो जाता है और सामान्य मूल्य का स्तर ऊँचा हो जाता है। प्रथम महायुद्ध के समय में बहुत से देशों में चलन का प्रसार हुआ। जर्मनी में तो यह प्रसार इस सीमा तक पहुँचा कि उस देश के कागजी मूल्य का अर्घ उस कागज से भी कम हो गया जिस पर कि दर छपा था। इसे **अत्यधिक चलन-प्रसार (Hyper-inflation)** कहते हैं।

जब चलन की मात्रा में इतनी कमी कर दी जाती है कि उसकी पूर्ति उसकी वास्तविक माँग से कम हो जाती है, तो इसे संकुचन (Deflation) कहते हैं। संकुचन के कारण द्रव्य के अर्घ में वृद्धि (Appreciation) हो जाती है और सामान्य मूल्य का स्तर नीचा हो जाता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् बहुत से देशों ने चलन का संकुचन किया था।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् चलन का संकुचन इस सीमा तक होता गया कि वस्तुओं के मूल्य बहुत गिर गये और संसार के सामने आर्थिक संकट आ गया। इस दशा को सुधारने के लिये चलन की मात्रा बढ़ाना आवश्यक हो गया। **पूर्व संकुचन को सुधारने के लिये चलन की मात्रा के बढ़ाने को संकुचन-सुधार (Reflation)** कहते हैं।

वृद्धि और ह्रास के प्रभाव

चलन में वृद्धि और ह्रास होने से द्रव्य के अर्घ और मूल्यों के स्तर में अनावश्यक घट-बढ़ हो जाती है, जिसके कारण व्यापार और उद्योग का आधार हिल जाता है, समाज के एक वर्ग का दूसरे वर्ग के मूल्य पर लाभ होता है, और आर्थिक प्रणाली में उथल पुथल हो जाती है। इन प्रभावों का तीन श्रेणियों में अध्ययन किया जा सकता है, (१) उद्योग-पतियों और व्यापारियों पर प्रभाव, (२) उपभोक्ताओं पर प्रभाव, (३) ऋणदाताओं और ऋणियों पर प्रभाव।

प्रसार या द्रव्य के ह्रास या मूल्यों के ऊँचे होने के प्रभाव—(क) जब मूल्य ऊँचे होने लगते हैं, तो उद्योगपति बहुत लाभ कमाते हैं। वस्तुओं की लागत बहुत कुछ वही रहती है, और बढ़ती भी है तो बहुत कम, किन्तु मूल्य बहुत

अध्याय ४६ का परिशिष्ट

परिशिष्ट १

स्वर्ण-मान (Gold Standard)

हम ऊपर मुख्य-मुख्य द्रव्य सम्बन्धी मानों (standards) का वर्णन कर चुके हैं। नीचे के कोष्टक में इन मानों (standards) का विस्तृत वर्गीकरण दिया जाता है:
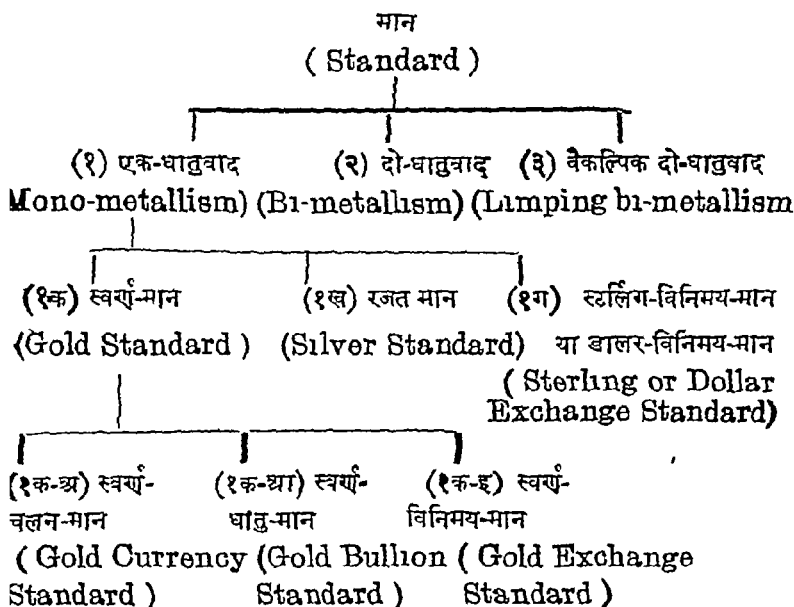
ऊपर का वर्गीकरण अधिक विस्तृत नहीं है, किन्तु यह हमारे लिये काफी है[1]। हम एक-धातुवाद, दो-धातुवाद और वैकल्पिक दो-धातुवाद का वर्णन कर

---

[1] ऊपर जितने भी मान या स्टैंडर्ड हमने बताए हैं, वे सब बाहरी मान या स्टैंडर्ड (External Standards) हैं। कुछ आभ्यांतरिक मान या स्टैंडर्ड Internal Standard) निम्न लिखित हैं: कोष्टकीय मान (Talular Standard) श्रम-मान (Labour Standard) और लागत-मूल्य-संतुलन-मान (Cost Price Equilibrium Standard)

चुके हैं, और अब हम स्वर्ण-मान तथा उसकी शाखाएँ और स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान का वर्णन करेंगे।

स्वर्ण मान (Gold Standard)

स्वर्ण-मान एक-धातुवाद के अन्तर्गत आता है। इसके अनुसार केवल सोने के सिक्के ही प्रामाणिक सिक्के घोषित होते हैं, उनकी स्वतन्त्र ढलाई होती है और वे असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं। सोने के सिक्कों का वास्तव में चालू होना या न चालू होना, अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। कागजी नोट सोने की किसी निश्चित रूप मे परिवर्तनशील होते हैं। स्वर्ण-मान इस निश्चय का द्योतक है कि द्रव्य की इकाई का अर्घ और एक निश्चित सोने की मात्रा का अर्घ समान रक्खा जायगा[२]। यह सोने का एक निश्चित द्रव्य पर बिना किसी सीमा के खरीदकर और बेचकर किया जाता है।

स्वर्ण-मान तीन प्रकार का होता है: स्वर्ण-चलन-मान, स्वर्ण-धातु-मान और स्वर्ण-विनिमय-मान[३]।

(१-क-अ) स्वर्ण-चलन-मान (Gold Currency Standard)—स्वर्ण-चलन-मान के अधीन सोने के सिक्के चलन में काम आते हैं। कागजी नोट इन्हीं सोने के सिक्को में परिवर्तनशील होते हैं। प्रथम महायुद्ध के पहले यह विश्वास किया जाता था कि सोने के सिक्कों का चालू होना स्वर्ण-मान का एक आवश्यक लक्षण है। किन्तु अब यह विचार त्याग दिया गया है।

इस मान या स्टैंडर्ड के अनुसार, सोने के सिक्के में जो धातु की मात्रा होती है, वह कानून द्वारा निश्चित कर दी जाती है, और स्वतन्त्र ढलाई के द्वारा सोने के सिक्के का अर्घ और सोने की निश्चित मात्रा का अर्घ बराबर रक्खा जाता है। यदि किसी समय सोने का सिक्का रूपी अर्घ घट जाय, अर्थात् सिक्कों का सोना रूपी अर्घ बढ़ जाय, तो मनुष्य सोने को ढलाई के लिये टकसाल में लाने लगेंगे, और कुछ ही समय में सिक्के और निश्चित मात्रा के सोने का अर्घ बराबर हो जायगा। इसके विपरीत, यदि सिक्कों का स्वर्ण रूपी अर्घ कम हो जाय अर्थात् सोने का सिक्का

---

[२] स्वर्ण-मान उस दशा को कहते हैं जिसमें कि कोई देश अपनी द्रव्य की इकाई का अर्घ और सोने की एक निश्चित तौल का अर्घ एक दूसरे के बराबर रखता है।—Robertson, Money, Ch IV. § I

[३] देखिये लेखक का, Pure and Applied Economics in India (Mysore Economic Journal, Vol 24, No 11, 1938)

रूपी अर्घ बढ जाय, तो मनुष्य सोने के सिक्के गलाना आरम्भ कर देंगे और कुछ ही समय में सिक्के का अर्घ समान हो जायगा।

(१-क-आ) स्वर्ण धातु मान (Gold Bullion Standard)—स्वर्ण-चलन-मान बहुत कीमती होता है क्योंकि सोना खोदने और उसके सिक्के बनाने में काफी खर्च पड़ता है। इसकी अपेक्षा स्वर्ण-धातु-मान अधिक किफायत का है। इसके अन्तर्गत कागजी नोट एक निश्चित दर पर सोने की धातु में परिवर्तनशील होते हैं, सोने के सिक्कों में नहीं। इस प्रकार सोने का चलन अनावश्यक हो जाता है और सिक्के बनाने का खर्च बच जाता है।

स्वर्ण-धातु-मान के अन्तर्गत सरकार द्रव्य की कम से कम एक मुख्य क़िस्म सोने की धातु में एक निश्चित दर पर परिवर्तन करने के लिये तैयार रहती है, और साथ ही साथ वह सोने के सिक्के या द्रव्य एक निश्चित दर पर खरीदने के लिये तैयार रहती है।

(१ क-इ) स्वर्ण-विनिमय-मान (Gold Exchange Standard)—स्वर्ण-धातु-मान स्वर्ण-चलन-मान से श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें सिक्के बनाने का खर्च बच जाता है, किन्तु इसके अन्तर्गत सोना खोदकर निकालने का व्यय करना ही पड़ता है। स्वर्ण-विनिमय-मान के अन्तर्गत सोने का प्रयोग और भी कम हो जाता है। आभ्यांतरिक कामों के लिये, सोने के सिक्के और धातु सरकार से प्राप्य नहीं होते। किन्तु विदेशों को भुगतान करने के लिये सोना (या विदेशी चलन), किसी दूसरे स्वर्ण-मान (स्वर्ण-चलन-मान या स्वर्ण धातु-मान) वाले देश के चलन में निश्चित दर पर, प्राप्त किया जा सकता है। सितम्बर, १९३१, के पहले इंगलैंड स्वर्ण-मान पर था, रुपया इगलैंड के चलन से रु॰ १=१ शि॰ ६ पें॰ की दर पर बँधा हुआ था। देश के भीतरी कामों के लिये रुपये के बदले में सोना नहीं मिल सकता था, किन्तु विदेशी भुगतान के लिये, सोना (या विदेशी चलन) १ शि॰ ६ पे॰ की दर से लिया जा सकता था। अत उस समय हमारा देश स्वर्ण-विनिमय-मान पर था।

इस मान के अन्तर्गत, देश का चलन स्वर्ण से प्रत्यक्ष रूप में बँधा हुआ नहीं होता, किन्तु किसी प्रत्यक्ष स्वर्ण-मान वाले देश के चलन के माध्यम द्वारा उस पर परोक्ष रूप से (indirectly) आधारित होता है, और सोने की (या विदेशी चलन या विदेशी विनिमय) के स्वतन्त्र क्रय-विक्रय द्वारा, विनिमय की दर निश्चित दर के समान रक्खी जाती है।

स्टर्लिङ्ग (या डालर)-विनिमय मान

हमने ऊपर एक-धातुवाद की एक किस्म, स्वर्ण-मान, के तीन उपविभागों का वर्णन किया है। हम रजत-मान का वर्णन पहले ही कर चुके हैं। अब हम एक-धातुवाद की तीसरी किस्म—स्टर्लिङ्ग (या डालर) विनिमय-मान—का वर्णन करेंगे।

यदि किसी देश का चलन ग्रेट ब्रिटेन के चलन से बँधा हुआ (linked) हो, और ब्रिटेन का चलन स्वर्ण-मान पर आधारित न हो, तो इसे स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान कहते हैं। इसी प्रकार यदि किसी देश का चलन अमेरिका के डालर से बाँध दिया जाय और डालर स्वर्ण-मान पर आधारित न हो, तो इसे डालर-विनिमय-मान कहेंगे।

हमारे स्वतंत्र होने के पूर्व रुपया स्टर्लिङ्ग से बँधा हुआ था, और स्टर्लिङ्ग स्वर्ण-मान पर आधारित नहीं था। अतः हमारे देश में स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान था।

बहुधा स्वर्ण-विनिमय-मान और स्टर्लिंग-विनिमय-मान में भेद करने में त्रुटि हो जाती है। विद्यार्थियों को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि इन दोनों मानों के अनुसार एक देश के चलन का अर्घ दूसरे देश के चलन में स्थिर कर दिया जाता है, और यदि दूसरे देश का चलन स्वर्ण-मान पर आधारित है तो वह स्वर्ण-विनिमय-मान कहलायेगा, और यदि दूसरे देश का चलन स्वर्ण-मान पर आधारित न हो तो पहले देश का मान स्टर्लिंग (या डालर)-विनिमय-मान कहलायेगा।

परिशिष्ट २

द्रव्य का परिमाण-सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)[४]

द्रव्य का अर्घ या उसकी क्रय-शक्ति द्रव्य की माँग और पूर्ति पर निर्भर होती है।

द्रव्य की पूर्ति—किसी वस्तु की पूर्ति से हमारा अभिप्राय उसकी उस मात्रा से होता है जो बिकने के लिये आती है। किन्तु रुपया बिकने के लिये आया है,

---

[४] यहाँ हमने इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया है। इसके लिये देखिये Chablani, *Indian Currency Banking and Exchange*, Ch II, और Thomas, *Elements of Economics* इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना भी की गई है और इसके स्थानापन्न सिद्धान्त भी बताये गये हैं। देखिये J. M Keynes, *A Treatise on Money*. Vol I, Book III, और *A Tract on Monetary Reforms*

हम ऐसा नहीं कहते। किन्तु यह तो केवल भाषा या बोल-चाल की एक रिवाज की बात हुई। जब खरीदार किसी वस्तु या सेवा के खरीदने के लिये कुछ रुपया अदा करने का प्रस्ताव करता है, तो हम कह सकते हैं कि वह रुपया बिक्री के लिये लाता है। अत. द्रव्य की पूर्ति से अभिप्राय उसकी उस मात्रा से है जिसका व्यय किया जाता है : अर्थात्, व्यक्तियो के पास जितना भी रुपया हो, उसमें से यदि हम वह द्रव्य घटा दें जो या तो दबाकर रक्खा गया है या भावी संकटों के समय के लिये, तो हमें द्रव्य की पूर्ति का अनुमान हो जायगा। संक्षेप में द्रव्य की पूर्ति से आशय उस समस्त द्रव्य से है जो किसी समय चलन (circulation) में हो।

द्रव्य की माँग—द्रव्य की माँग उन समस्त वस्तुओं और सेवाओं की ओर संकेत करती है जो बिकने के लिये आती हैं। वस्तुओ का प्रत्येक विक्रेता रुपये का खरीदार होता है, और जो वस्तुएँ वह बेचने लिये लाता है उन्हीं को द्रव्य की माँग समझना चाहिये।

अब मान लीजिये, द्रव्य की पूर्ति बढ़ गई और, यदि अन्य बातें स्थिर रहें, तो मूल्य बढ़ जायँगे। मूल्य उसी अनुपात में बढ़ेगे जिसमें कि द्रव्य की मात्रा बढ़ी हो। यदि चालू द्रव्य दुगुना हो जाय, तो मूल्य भी दुगुने हो जायगे। यदि चालू द्रव्य की मात्रा आधी कर दी जाय, तो मूल्य भी आधे रह जायँगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि अन्य बातें स्थिर रहें तो द्रव्य के अर्घ में, द्रव्य की मात्रा से विपरीत परिवर्तन होता है[५]।

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त—यही सुविख्यात द्रव्य का परिमाण-सिद्धान्त है। इसके अनुसार, **यदि अन्य बातें समान रहें**, तो चालू द्रव्य की मात्रा में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन सामान्य मूल्य के स्तर (general price level) मे प्रत्यक्ष अनुपातिक परिवर्तन (direct proportional change) करता है, या द्रव्य के अर्घ में विपरीत अनुपातिक परिवर्तन (reverse proportional change) करता है। यदि आप किसी वस्तु की मात्रा घटा दें या बढ़ा दें, तो उसका अर्घ बढ़ या घट तो अवश्य जायगा, किन्तु यह परिवर्तन अनुपातिक नहीं होगा। द्रव्य के साथ यह होता है कि, यदि अन्य बातें समान रहें, तो, द्रव्य की मात्रा बढ़ाने या घटाने से इसके अर्घ में अनुपातिक परिवर्तन होता है।

अन्य बातों का समान रहना—यह एक महत्त्वपूर्ण वाक्यांश है, और

---

[५] J. S Mill, *Principles of Political Economy*, Book III, Ch VIII.

उपरोक्त सिद्धान्त तभी लागू होगा जब कि यह कल्पना कर ली जाय कि अन्य बातें समान हैं। ये बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) व्यापार की मात्रा (Volume of Trade)—व्यापार की मात्रा इस बात को निश्चित करती है कि देश को कितने द्रव्य की आवश्यकता है, दूसरे शब्दों में यह द्रव्य की माँग निर्धारित करती है। यह सिद्धान्त इस बात की कल्पना करता है कि व्यापार की मात्रा समान रहती है। यदि इस मात्रा में कुछ वृद्धि हो जाय, तो द्रव्य की प्रत्येक इकाई पहले से अधिक मात्रा में माल और सेवाएँ खरीदने लगेंगी, और चाहे द्रव्य की मात्रा बढ़ाई ही क्यो न गई हो, फिर भी इसका अर्घ बढ़ सकता है।

(२) साख के रुक्के (Credit Instruments)—साख के रुक्के द्रव्य का काम करते हैं। जो सम्बन्ध द्रव्य का सामान्य मूल्य के स्तर से है वही सम्बन्ध साख के रुक्कों का भी है। इसलिये इन रुक्को को साख-द्रव्य (Credit Money) कहते हैं। सिद्धान्त इस बात की कल्पना करता है कि साख के रुक्कों या साख द्रव्य की पूर्ति समान रहती है।

(३) चलन की गति (Velocity of Circulation)—एक सिक्का माल और सेवाओं के विनियम के लिये कई बार काम में लाया जाता है, और बहुत से सिक्कों का काम करता है। अत यदि एक रुपया एक महीने में १०० सौदों में काम आता है, तो यह १०० रुपयों का काम करता है। जितनी बार एक सिक्का चलन में काम में आता है, उसे उसकी गति (Velocity) कहते हैं। यदि हम द्रव्य की प्रभाव-पूर्ण (effective) मात्रा का पता लगाना चाहते हैं, तो यह हमें द्रव्य की वास्तविक मात्रा का उसकी गति से गुणा करने पर मालूम हो जायगा। सामान्य मूल्य के स्तर पर द्रव्य की गति के परिवर्तन का वही प्रभाव पड़ता है जो कि द्रव्य की मात्रा के परिवर्तन का। यह सिद्धान्त इस बात की कल्पना करता है कि द्रव्य की गति समान रहती है।

समीकरण (The Equation)—प्रोफेसर अरविंग फिशर (Irving Fisher) ने यह संबंध इस प्रकार बताये हैं —

यदि मू = सामान्य मूल्य का स्तर

द्र = चलन में होने वाले द्रव्य का परिमाण

द्र′ = चलन में होने वाले साख-द्रव्य का परिमाण

ग = द्रव्य की गति

ग′ = साख-द्रव्य की गति

व्या = कुल व्यापारिक सौदे

$$\text{तो} \quad \text{मू} = \frac{\text{द्र ग} + \text{द्र}' \text{ग}'}{\text{व्या}}$$

$$\text{या मू व्या} = \text{द्र ग} + \text{द्र}' \text{ग}'$$

इस सिद्धान्त में इस बात की कल्पना कर ली जाती है कि व्या, ग', द्र' और ग' अपरिवर्तनशील रहते हैं : अब यदि आप द्र बढा दे तो मू उसी अनुपात में बढ जायगा, और यदि आप द्र घटा दे, तो मू उसी अनुपात मे घट जायगा। द्रव्य का अर्घ उसके परिमाण पर निर्भर होता है, इसीलिये इस सिद्धान्त को द्रव्य का परिमाण-सिद्धान्त कहते हैं।

परिशिष्ट ३

द्रव्य के अर्घ को नापना

द्रव्य का अर्घ प्रत्यक्ष रूप से नहीं नापा जा सकता। किन्तु सामान्य मूल्य के स्तर को, या कुछ वस्तुओं के सामूहिक मूल्य को जो द्रव्य के अर्घ से विपरीत दशा में बदलता रहता है, आसानी से नापा जा सकता है। सामान्य मूल्य का स्तर **सामान्य मूल्य के संकेतांक या इन्डैक्स नम्बर** (General Price Index Number) द्वारा नापा जाता है। किसी एक साल को आधार मानकर उसमें जो भी सामान्य मूल्य का स्तर होता है वह १०० के बराबर मान लिया जाता है। इसी प्रकार और सालों के अंक मालूम कर लिये जाते हैं, यदि वे १०० से अधिक हुए तो इसका अर्थ हुआ कि सामान्य मूल्य का स्तर बढ गया, और यदि यह अक १०० से कम हुआ तो इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्य मूल्य का स्तर घट गया। ये अक **जो सामान्य मूल्य के स्तर के परिवर्तन को बताते हैं सामान्य मूल्य के सकेतांक या इन्डैक्स नम्बर** कहलाते हैं। यदि सामान्य मूल्य का स्तर ऊँचा हो जाय तो इसका यह अर्थ हुआ कि द्रव्य के अर्घ में अनुपातिक कमी हो गई।

संकेतांक या इडैक्स नम्बर बनाना—मूल्य के सकेताक या इन्डैक्स नम्बर इस प्रकार बनाये जाते हैं. (१) पहले वस्तुओ और सेवाओ की एक ऐसी सूची बनाई जाती है कि वह समस्त वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के परिवतनो का प्रतिनिधित्व कर सके। (२) एक साधारण या औसत (normal) प्रकार का समय आधार-समय (basic period) मान लिया जाता है और इसी से हर साल का मुकाबला किया जाता है। (३) वस्तुओ के मूल्य प्रतिनिधि स्थानो (representative localities) से मालूम किये जाते हैं। एक स्थान से वर्ष

में कई बार मूल्य इनट्ठे किये जाते हैं। फिर उनका साल भर का औसत निकाल लिया जाता है। यह औसत प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग निकाला जाता है। (४) प्रत्येक वस्तु का आधार-समय में जो औसत मूल्य होता है, वह १०० के बराबर मान लिया जाता है, और किसी दिये हुए समय में उसी वस्तु के मूल्य का प्रतिशत अक (percentage figure) मालूम कर लिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का प्रतिशत मूल्य निकाल लिया जाता है। (५) समस्त प्रतिशत मूल्यों को फिर जोड़ दिया जाता है और इस योग में वस्तुओं की कुल संख्या से भाग दे दिया जाता है। भाग देकर जो संख्या आती है वह उस वर्ष का **संकेतांक या इन्डेक्स नम्बर** होती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. द्रव्य के मान या स्टैंडर्ड से आप क्या समझते हैं? द्रव्य के मान का एक उपयुक्त वर्गीकरण दीजिये।

२. एक-धातुवाद, दो-धातुवाद और वैकल्पिक मान का वर्णन कीजिये।

३. स्वर्ण मान पर एक निबन्ध लिखिये।

४. स्वर्ण-चलन मान, स्वर्ण-धातु मान और स्वर्ण-विनिमय मान में अन्तर बताइये।

५. द्रव्य के अर्घ से आप क्या समझते हैं? द्रव्य का अर्घ किस प्रकार निर्धारित होता है?

६. द्रव्य का परिमाण-सिद्धान्त अच्छी तरह समझाइये।

७. संकेतांक या इन्डैक्स नम्बर क्या होते हैं और उनका क्या महत्व है? वे किस तरह बनाये जाते हैं?

८. द्रव्य के अर्घ में वृद्धि, द्रव्य के अर्घ में ह्रास, प्रसार, सकुचन और सकुचन सुधार को समझाइये।

९. द्रव्य के प्रसार और संकुचन के प्रभाव बताइये।

१०. ग्रेशम का नियम बताइये। इसका क्या कारण है? क्या इस नियम की कुछ सीमाएँ भी है?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. ग्रेशम के नियम पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४९)

२. स्वर्ण-धातु मान और द्रव्य के अर्घ में वृद्धि और ह्रास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४८)

३. एक-धातुवाद और दो-धातुवाद पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४६)

४. अच्छे और बुरे द्रव्य का भेद स्पष्ट कीजिये और बताइये कि बुरा द्रव्य अच्छे द्रव्य को चलन से कैसे निकाल देता है ? क्या इस नियम की कोई सीमाएँ भी हैं ? (१९४५)

५. द्राव्यिक मान क्या होता है ? स्वर्ण मान, स्वर्ण-धातु मान, स्वर्ण विनिमय मान और स्टर्लिंग विनिमय मान का अन्तर बताइये। (१९४५)

६. ग्रेशम के नियम का कथन कीजिए और उसे उदाहरण सहित समझाइये। इसकी सीमाओं का वर्णन कीजिए। (१९४३)

७. एक धातुवाद तथा दो धातुवाद पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये। (१९४२)

८. ग्रेशम के नियम के विभिन्न स्वरूपों को समझाइये। (१९४१)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

९. ग्रेशम के नियम पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४२)

१०. (अ) कानूनी-ग्राह्य और सांकेतिक द्रव्य में तथा परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील कागजी द्रव्य में अन्तर बताइये।

(ब) धात्विक द्रव्य की अपेक्षा परिवर्तनशील कागजी द्रव्य के क्या लाभ हैं ? (१९४१)

११. निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखिये : द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त, ग्रेशम का नियम और स्वर्ण विनिमय मान। (१९४०)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

12 Explain the meaning of the term Gresham's Law, and the remedies prescribed in such currency situations (1948)

13. What do you mean by saying that a country has 'a gold standard'? How does it differ from a 'gold exchange standard' and a 'gold bullion standard' ? What is the present standard of value in India ? (1944)

14 Write a short note on Gresham's Law (1942)

15 Write a short note on Gresham's Law. (1939)

पटना, इन्टर कामर्स

16. Write a short note on gold standard (1948 Supp)

17 Write short notes on Gresham's law and its limitations and the Gold Exchange Standard (1949)

18 Explain how and why bad money drives good money out of circulation ? Under what conditions can the two circulate side by side ? (1948)

19 Give the essential features of (*a*) gold currency standard and (*b*) gold exchange standard (1948)

10 Explain clearly the difference between (*a*) Standard and token coins, (*b*) Good and bad money (1947)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

21 Discuss the merits and defects of the Sterling Exchange Standard in India Differentiate between a cheque and a bill of Exchange (1947)

नागपुर, इंटर कामर्स

२१. भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान के लाभों तथा हानियों की व्याख्या कीजिए। चैक तथा बिल आव एक्सचेंज का अन्तर स्पष्ट कीजिए। (१९४७)

२३. ग्रेशम के नियम को पूर्णतया समझाइये। (१९४६)

सागर, इन्टर आर्ट्स

24 What is Gresham's Law ? In what various circumstances does the Law operate ? (1949)

25 Write a short note on Gold Exchange Standard. (1949)

26 How is the paper money managed in India ? (1949 Supp)

27. Write a short note on gold standard (1949 Supp)

28 Give the fundamentals of the Gold Currency Standard. How does it differ from the gold exchange standard ? (1948)

अध्याय ५०

भारतीय चलन-प्रणाली

§ १. भारतीय चलन या द्रव्य प्रणाली

भारतवर्ष की आभ्यान्तरिक चलन-प्रणाली के दो भाग किये जा सकते हैं : धातु का चलन (Metallic Currency) और कागजी चलन (Paper Currency)

धातु का चलन

धातु का सबसे महत्त्वपूर्ण सिक्का रुपया है। यह देश का प्रधान द्रव्य है और असीमित कानूनी ग्राह्य है। अत उसे भारतवर्ष का प्रामाणिक द्रव्य (standard money) कहा जा सकता है। किन्तु प्रामाणिक द्रव्य की भाँति इसका वास्तविक अर्घ (intrinsic value) इसके नियमित अर्घ (face value) के बराबर नहीं किन्तु कम है, और इसकी स्वतन्त्र ढलाई भी नहीं होती। इन बातों में यह सांकेतिक सिक्के (token coin) की भाँति है। अत. न तो इसे पूरी तरह प्रामाणिक सिक्का माना जा सकता है और न पूरी तरह सांकेतिक सिक्का ही। इसीलिये इसको **सांकेतिक प्रमाण** (token standard) कहते हैं। जब हम यह कहते हैं कि रुपया सांकेतिक प्रमाण है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि रुपया ढलाई के लिये तो सांकेतिक सिक्के की भाँति है, किन्तु यह काम प्रामाणिक सिक्के का करता है। चाँदी की अठन्नियाँ भी असीमित कानूनी ग्राह्य हैं, किन्तु वे प्रामाणिक द्रव्य में शामिल नहीं होती। चवन्नी, दोअन्नी, इकन्नी चाँदी या काँसे की बनी होती है और ये सीमित कानूनी ग्राह्य है। अधन्ना, पैसा और पाई अन्य सांकेतिक सिक्के हैं।

अतः हमारे जितने भी धातु के सिक्के हैं, वे सब सांकेतिक हैं। प्रत्येक की ढलाई से सरकार को लाभ होता है। बहुत काल तक इस लाभ को एक स्वर्णमान रिजर्व (Gold Standard Reserve) इकट्ठा करने में प्रयुक्त किया जाता था।

कागजी मुद्रा

द्वितीय महायुद्ध के पहले हमारे देश में ५, १०, १००, १,००० और १०,००० रुपये के नोट हुआ करते थे। युद्ध के समय में १ रुपये और २ रुपये के

नोट बनने लगे, और जनवरी १६४६, में ५००, १,००० और १०,००० रुपये के नोट गैरकानूनी घोषित कर दिये गये। अतः अब केवल १, २, ५, १०, और १०० रुपये के नोट ही चालू हैं। ये नोट प्रामिसरी नोट की भाँति हैं और यह माँगने पर चाँदी के रुपयों में परिवतनशील हैं। पहले ये नोट भारत सरकार निर्गमित (issue) करती थीं, किन्तु १६३५ में रिजर्व बैंक स्थापित हो जाने के समय से अब यह काम रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया है। केवल १ रुपये और २ रुपये के नोट सरकार ने निर्गमित किये हैं। जब नोट भारत सरकार निर्गमित करती थी, तो कागजी नोटों के सिक्कों में बदलने के लिये एक कागजी चलन का रिजर्व (Paper Currency Reserve) बनाया गया था। किन्तु अब नोट रिजर्व बैंक निर्गमित करता है, और उपरोक्त प्रथा अब बन्द हो गई है।

कागजी चलन का रिजर्व और स्वर्ण-मान का रिजर्व सोने और चाँदी के भागों में विभाजित थे। सोने वाला भाग लंदन में सेक्रेटरी आफ स्टेट के पास रहता था, और चाँदी वाला भाग भारत सरकार के पास। इन रिजर्वों को रुपये का विनिमय अनुपात (exchange ratio) १ शि० ६ पैं० के बराबर रखने के काम में लाया जाता था। किन्तु रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने के पश्चात् ये दोनों रिजर्व मिला दिये गये और सारा सोना रिजर्व बैंक को दे दिया गया।

§ ३. भारत में द्राव्यिक मान की समस्या

रुपये का विदेशी मूल्य किस प्रकार स्थिर किया जाय, इस बात पर गत ५० वर्षों में काफी बहस होती रही है। ब्रिटिश काल में सरकार ने रुपये का मूल्य स्टर्लिंग में स्थिर रक्खा, जिसके लिये उसकी बराबर कड़ी आलोचना होती रही। फिर जिस दर पर यह मूल्य स्थिर किया गया, वह भी भारत के लिये हितकर नहीं था। यह अवस्था सन् १६४७ तक जारी रही। सन् १६४७ में रुपये का मूल्य सोने में स्थिर किया गया और अन्य देशों ने भी ऐसा ही किया, अतः रुपये का अकेले स्टर्लिंग से सम्बंध टूट गया और एक अंतर्राष्ट्रीय मान स्थापित हुआ।

अंतर्राष्ट्रीय मान (International Standard)

सन् १६४७ में भारत ने अंतर्राष्ट्रीय द्राव्यिक कोष के सदस्य की हैसियत में, रुपये का विदेशी मूल्य सोने में स्थिर किया। अन्य सब देशों ने भी ऐसा ही किया। इस नई व्यवस्था के अनुसार भी १ रु० का मूल्य १ शि० ६ पैं० के बराबर है, जो दर सन् १६२४ से चला आ रहा है। किन्तु अब रुपया, सोने के द्वारा, हर

अन्य देश के चलन से सम्बद्ध है। अतः इस मान को अतर्राष्ट्रीय मान कहा जा सकता है।

स्टर्लिङ्ग विनिमय मान

सन् १६४७ के पूर्व रुपये का मूल्य स्टर्लिंग में स्थिर किया जाता था। जब तक स्टर्लिंग सोने से बदला जा सकता था (अर्थात् सन् १६३१ तक) तब तक हमारे देश में स्वर्ण-विनिमय मान था। किन्तु जब स्टर्लिंग के बदले में सोना मिलना बंद हो गया, तब हमारे देश में स्टर्लिंग विनिमय मान स्थापित हो गया। सन् १६२४ से १६४७ तक रुपये की दर १ शि० ६ पैं० रक्खी गई। इस दर या अनुपात को बनाये रखने के लिये कई रीतियाँ काम में लाई गईं जिनका वर्णन नीचे किया जाता है :

(१) सबसे पहले कौन्सिल बिल और रिवर्स कौन्सिल बिल, जो कि कागजी चलन के रिवर्स और स्वर्ण-मान के रवर्स में से भुगताये जाते हैं, की बिक्री द्वारा यह काम सम्पन्न किया जाता था। हम इस रीति का विवरण नीचे § ४ में दे रहे हैं। यह प्रथा बहुत दिन हुए त्याग दी गई।

(२) ऊपर की प्रथा को त्यागने की बात, सरकार ने स्टर्लिंग बिलों को खरीदने और बेचने की नीति को अपनाया। किन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के समय से यह नीति भी छोड़ दी गई।

(३) रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने के पश्चात्, अनुपात के बनाए रखने का भार इसी के ऊपर आ गया। रिजर्व बैंक ऐक्ट की धारा ४० के अनुसार, रिजर्व बैंक को अपने प्रत्येक दफ्तर में स्टर्लिंग प्रत्येक खरीदार को बेचना पड़ता था और बिक्री की दर १ शि० ५ ४९/६४ पैं० से कम नहीं हो सकता था, किन्तु प्रतिबन्ध यह था कि कोई भी व्यक्ति १०,००० पौंड की मात्रा से कम में स्टर्लिंग खरीदने का अधिकारी नहीं था। इसी प्रकार धारा ४१ के अनुसार रिजर्व बैंक को हर व्यक्ति से जो स्टर्लिंग उसके किसी दफ्तर में उसे बेचना चाहे, खरीदना पड़ता था और खरीदने की दर १ शि० ६ ३/१६ पैं० से अधिक नहीं हो सकती थी, किन्तु प्रतिबन्ध यह था कि कोई भी व्यक्ति १०,००० पौंड से कम बेचने का अधिकारी नहीं था। रिजर्व बैंक इन्हीं दोनों सीमाओं के बीच से विनिमय की दर रखता था।

मान और अनुपात की समस्यायें

सन् १६४७ के पूर्व रुपये के सम्बन्ध में दो प्रमुख समस्यायें थीं : भारत कौन सा मान (monetary standard) स्थापित करे, और (२) यदि स्टर्लिंग

---

[१] देखिये अध्याय २६ की परिशिष्ट १

से ही सम्बन्ध रखना हो, तो किस दर या अनुपात को माना जाय? किन्तु अब स्टर्लिंग से सम्बन्ध तोड़ कर सोने के द्वारा प्रत्येक चलन से सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। विनिमय की दर का निर्णय करना भी अब हमारे हाथ में है। अतः ये समस्यायें अब केवल इतिहास की वस्तुएँ रह गई है।

§ २. भारतीय कागजी चलन

अब हम भारत में कागजी चलन की प्रणाली का संक्षिप्त ब्यौरा देते हैं। कागजी नोट छापना आसान है, पर कागजी नोट देकर कोई भी व्यक्ति रुपया माँगने का अधिकारी होता है। इसलिये नोट निर्गम करने वाली संस्था नोटों की कीमत का एक भाग सोने आदि के रूप में रिजर्व बना कर रखती है जिससे कि यह जिम्मेदारी पूरी की जा सके, अतः यह जानना आवश्यक है कि आजकल नोटों के निर्गम की क्या प्रणाली है। पर इसके पहिले रिजर्व बैंक के बनने के पूर्व की प्रणालियों को जान लेना चाहिये।

नोट निर्गम करने की पुरानी प्रणालियाँ

सन् १९३४ तक नोटों का निर्गम भारत सरकार स्वयं करती थी। सन् १८६१ के पूर्व करेंसी नोट मद्रास, बम्बई और कलकत्ते के प्रेसीडेंसी बैंक निर्गमित (issue) किया करते थे। निर्गम किये जा सकने वाले नोटों की अधिकतम सीमा निश्चित थी, और ३३% का एक धातु का रिजर्व (metallic reserve) रक्खा जाता था। किन्तु सन् १८६१ में सरकार ने कागजी चलन के निर्गम का अधिकार स्वयं ले लिया। ४ करोड़ रुपये तक के नोट सिक्योरिटी रखकर निर्गमित किये जा सकते थे, किन्तु उसके बाद १००% का धातु का रिजर्व रखना पड़ता था। सन् १८९३ में सिक्योरिटी रखकर निर्गमित किये जा सकने वाले नोटों की मात्रा बढ़ाकर १४ करोड़ रुपये कर दी गई और सन् १९१४ में यह अंक २० करोड़ रुपये तक बढ़ा दिया गया। प्रथम महायुद्ध के समय में एक रुपये और ढाई रुपये के नोट बिना किसी धातु का रिजर्व रक्खे निर्गमित किये गये, और उपरोक्त अंक बढ़ाकर १२० करोड़ रुपये कर दिया गया।

बेबिंगटन स्मिथ कमेटी (Babington Smith Committee) ने यह सिफारिश की कि सब नोटों के पीछे ४०% का रिजर्व होना चाहिये, और सिक्योरिटी रखकर निर्गमित होने वाले नोटों की मात्रा १२० करोड़ रुपये से अधिक नहीं होनी चाहिये। उन्होंने यह भी सुझाव रक्खा कि जिस समय व्यापार बहुत बढ़ जावे, उस समय निर्यात-संबंधी बिल आफ एक्सचेंज रखकर नोट निर्गमित कर देने

चाहिये। भारत सरकार ने इन सिफारिशो को स्वीकार कर लिया, परिवर्तन केवल इतना ही किया कि धातु का रिजर्व बजाय ४०% के ५०% कर दिया गया।

निर्गम की वर्तमान रीति

रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने पर भारतीय कागजी चलन के इतिहास का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार नोट निर्गमित करने के कार्य का रिजर्व बैंक के निर्गम विभाग (Issue department) को सौंप दिया गया। निर्गम विभाग बैंकिंग विभाग से बिल्कुल अलग है और इसका उत्तरदायित्व केवल निर्गमित होने वाले नोटों तक सीमित है। निर्गम विभाग की सम्पत्ति और लेनदारी (Assets) निर्गमित नोटों की कुल मात्रा के बराबर होनी चाहिये। निर्गमित नोटों के पीछे जो सपत्ति और लेनदारी रक्खी जाती है उसका विवरण नीचे दिया जाता है[४]।

(१) संपत्ति (Assets) की कुल रकम का कम से कम ४०% सोने के सिक्के, सोने की धातु या स्टर्लिंग सिक्योरिटी के रूप में होने चाहिये (किन्तु प्रतिबन्ध यह है कि सोने के सिक्के और सोने की धातु का मूल्य किसी भी समय ४० करोड़ रुपये से कम नहीं होगा।)

(२) शेष सम्पत्ति रुपये के सिक्के, भारत सरकार की रुपये वाली सिक्योरिटी और कुछ नियमित प्रकार के बिलों और प्रामिसरी नोटो के रूप में होगा। (भारत सरकार की सिक्योरिटी की रकम पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये हैं।)

(३) सोने के सिक्के और धातु की कुल रकम का कम से कम $\frac{1}{20}$ भाग भारतवर्ष में रहना चाहिये

नोट निर्गम की वर्तमान प्रणाली सुरक्षित और लोचदार है। इसका सबसे प्रधान लक्षण अनुपातिक रिजर्व प्रणाली (proportional reserve system) है—समस्त नोटों के पीछे ४०% का सोने का रिजर्व रखा जाता है।

यह ४०% का रिजर्व ऐसा नहीं है कि यह कम किया ही न जा सके। यदि रिजर्व बैंक को अधिक चलन निर्गमित करना आवश्यक प्रतीत हो किन्तु इसके पास ४०% रिजर्व रखने के साधन न हो, तो यह कर देकर घटाई भी जा सकती है[५]।

---

[४] Reserve Bank of India Act, 1934 Sec 33.

[५] यह कर उस समय प्रचलित बैंक रेट धन १% वार्षिक के बराबर होगा जबकि सोने का रिजर्व कुल सम्पत्ति के ३२% से अधिक हो, और रिजर्व में प्रति २% या उसके भाग की कमी के पीछे २% प्रतिवर्ष कर और लगेगा।

निर्गम की नई और पुरानी रीतियों की तुलना

यह तो हम बता ही चुके हैं कि रिजर्व बैंक के पहले कागजी चलन भारत सरकार निर्गमित करती थी। भारत सरकार कागजी चलन की मात्रा अपनी आवश्यकता के अनुसार घटाती बढ़ाती थी। इसमें उद्योग और व्यापार का हित ध्यान में नहीं रक्खा जाता था। केवल इम्पीरियल बैंक आवश्यकता के समय उल्लिखित किस्म की हुंडी तथा अन्य सिक्योरिटी जमा करके सरकार से १२ करोड़ रुपये तक के नोट और निर्गमित कर सकता था।

नई रीति पुरानी रीति से निम्नलिखित बातों में श्रेष्ठ है .

(१) भारतवर्ष में पहली बार निर्गमित करने का एकाधिकार एक बैंक को सौंपा गया है। यह तो एक मानी हुई बात है कि नोट निर्गमित करने के लिये सरकार अनुपयुक्त साधन है। बैंक द्वारा नोटों का निर्गमित होना सरकार द्वारा निगम से निम्नलिखित दशाओं मे अच्छा है (क) चलन की आवश्यकता समय-समय पर और विभिन्न अनुपात में बदलती रहती है। सरकार का द्रव्य-सम्बन्धी, व्यापारिक और औद्योगिक मामलों से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये चलन की माँग में होने वाले परिवर्तनों का यह अनुभव नहीं कर पाती। अत., यह चलन की पूर्ति को चलन की माँग के बराबर रखने में असफल होती है। इसके विपरीत, रिजर्व बैंक व्यापारिक जगत का एक महत्त्वपूर्ण भाग होता है और उसमें होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन इसके ध्यान में रहता है, अत. नोट निर्गमित करने का काम इससे अच्छी तरह और कोई संस्था सम्पन्न नहीं कर सकती। (ख) सरकार द्वारा नोट निर्गमित होने में मुख्य भय यह होता है कि "अच्छी द्राव्यिक प्रणाली की आवश्यकताओं के स्थान पर राजनीतिक बातें और सरकार की द्रव्य सम्बन्धी जरूरतें निश्चयात्मक बन जाती हैं। अतः, अत्यधिक ह्रास (depreciation) का भय बना रहता है[६]"। इन दो बातों से—जिनमें एक आर्थिक और दूसरी राजनीतिक है—यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान निर्गम-प्रणाली पुरानी प्रणाली से श्रेष्ठ है।

(२) हमारी कागजी चलन-प्रणाली अब लोचदार (elastic) हो गई है[७]। पुरानी प्रणाली के अन्तर्गत कागजी चलन केवल १२ करोड़ रुपये तक ही बढ़ाया

---

६ देखिये Kisch and Elkin, Central Banks.

७ चलन की लोच से अधिक अभिप्राय माँग के बढ़ने पर चलन के बढ़ जाने और माँग के घटने पर चलन के घट जाने से, तथा बढ़ने और घटने की मात्रा से है।

जा सकता था। किन्तु वर्तमान प्रणाली में कागजी चलन की वृद्धि की कोई सीमा है ही नहीं। बैंक जब भी चाहे प्रत्येक ४० रुपये के सोने के रिजर्व के पीछे १०० रुपये के नोट निर्गमित कर सकता है। इससे चलन काफी लोचदार हो जाता है, किन्तु यदि चलन की आवश्यकता इससे भी अधिक हो और ४०% रिजर्व न हो, तो कुछ कर देकर, रिजर्व की मात्रा कम भी की जा सकती है। और यह कमी घटते घटते इतनी हो सकती है कि रिजर्व शून्य हो जाय।

§ ४. भारतीय चलन का इतिहास

(१) १८३५-१८६३ : रजत-मान

सन् १८३५ के पहले हमारे देश में हिन्दू और मुस्लिम शासकों द्वारा चलाये हुए कई किस्म के और अलग-अलग तौल के लगभग १०७० सिक्के चालू थे। इससे व्यापार में बहुत कठिनाई होती थी। अतः, सन् १८३५ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने चाँदी का १८० ग्रेन और ११/१२ शुद्धि वाला रुपया देश का प्रमाणिक सिक्का बना दिया। ढलाई (mintage) देकर चाँदी के सिक्के ढलवाने का अधिकार जनता को दे दिया गया। अत. इस प्रकार रजत-मान स्थापित कर दिया गया।

किन्तु सन् १८७३ के बाद अमेरिका में चाँदी की बहुत सी खानें खुल जाने के कारण चाँदी का मूल्य गिरना आरम्भ हो गया। रुपये का स्वर्ण-मूल्य जो पहले पहले २ शि० था घटते-घटते १ शिलिंग रह गया। इससे व्यापार का आधार ही उलट-पुलट गया, खासकर विदेशों से आने वाले माल के आयात को बहुत धक्का लगा। जो अंग्रेजी अफसर भारतवर्ष में नौकर थे उनको भी बहुत नुकसान होने लगा क्योंकि जिस रुपये के बदले में उन्हें पहले २ शिलिंग मिलते थे उसी के बदले में अब उन्हें केवल १ शिलिंग मिलने लगा। भारत सरकार को "घरेलू व्यय" (home charges) ब्रिटिश सरकार को स्टर्लिंग में देने पड़ते थे, उनकी देनदारी अब दुगुनी हो गई। अत', यह प्रश्न हरशेल कमेटी (Herschel Committee) के सामने रक्खा गया जिसकी रिपोर्ट सन् १८९३ में प्रकाशित हुई।

(२) १८९३-१८९८ . रजत-मान का पतन

हरशेल कमेटी की सिफारिशों के अनुसार टकसालें सन् १८९३ में जनता के लिये बन्द कर दी गईं और सरकार ने नये रुपये के सिक्के बनाना स्थगित कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैसे ही चलन की माँग बढी, वैसे ही रुपये का अर्घ भी ऊँचा हो गया। सन् १८९८ में रुपये का अर्घ १ शि॰ ४ ० हो गया, जिसे हरशेल कमेटी ने आदर्श बताया था। सरकार ने १८९८ फाउलर कमेटी

(Fowler Committee) यह राय देने के लिये बैठाई कि अब आगे क्या किया जाय।

(३) १८९८-१९१४ : स्वर्ण-विनिमय-मान

फाउलर कमेटी ने यह सुझाव रक्खा कि रुपये का विनिमय-अर्घ १ शि० ४ पें० स्थिर करना चाहिये, ब्रिटेन का सोने का सिक्का-सावरेन (Sovereign) भारतवर्ष में चालू करना चाहिये और उसको कानूनी ग्राह्य बना देना चाहिये; और भारतीय टकसालें सोने के सिक्के की ढलाई के लिये खोल देनी चाहिये। कमेटी ने स्वर्ण चलन-मान स्थापित करने की सिफारिश की। सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार तो कर लिया किन्तु उन्हें क्रियात्मक रूप नहीं दिया। सोने के सिक्के बनाने के लिये टकसाल स्थापित नहीं की गई। धीरे-धीरे सरकारी नीति ने एक ऐसा रूप ग्रहण कर लिया जिसे न तो फाउलर कमेटी ने सोचा था और न हरशेल कमेटी ने। यह था स्वर्ण-विनिमय-मान का रूप[१]। रुपये का अघ १ शि० ४ पें० के बराबर कर दिया गया, और काउन्सिल बिल तथा रिवर्स काउन्सल बिल की खरीद और बिक्री के द्वारा इस मूल्य को बनाये रखा गया। (क) काउन्सिल बिल (Council Bills)—जब व्यापार का अन्तर (balance of trade) भारतवर्ष के अनुकूल होता था और लन्दन में रुपये के बिलों की बहुत माँग होती थी, तब यह डर होता था कि रुपये का मूल्य १ शि० ४ पें० से अधिक न हो जाय। ऐसी वृद्धि रोकने के लिये, सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इन्डिया लन्दन में काउन्सिल बिल १ शि० ४ पें० धन इग्लैंड से भारत को सोना भेजने की लागत, की दर पर बेचते थे। ऐसे काउन्सिल बिल ब्रिटिश ऋणी या देनदार भारतीय ऋणदाता या लेनदारों को भेज देते थे, जो उन्हें सरकारी खजानों में भुना लेते थे। इस प्रकार विनिमय की दर को १ शि० ४ पें० से आगे बढ़ने नहीं दिया जाता था। (ख) रिवर्स काउन्सिल बिल (Reverse Council Bills)—जब व्यापार का अन्तर (balance of trade) भारतवर्ष के प्रतिकूल होता था, और भारतवर्ष में स्टर्लिंग बिलों की बहुत माँग होती थी, तब यह भय होता था कि विनिमय की दर १ शि० ४ पें० से नीचे न चली जाय। ऐसी कमी को रोकने के लिये भारत सरकार सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इन्डिया पर रिवर्स काउन्सिल बिल लिखती थी और उन्हें भारतवर्ष में १ शि० ४ पे०, ऋण सोने के भारत से

---

[१] इस प्रथा को कुछ लेखकों ने स्वर्ण-विनिमय-मान का नाम दिया है। अन्य लेखकों ने, जिनमें डा० एल० सी० जैन प्रमुख हैं, इसे स्वर्ण-स्टर्लिंग-मान कहते हैं। (देखिये L. C. Jain, The Monetary Problems of India, p 89)

इंगलैंड भेजने की लागत, की दर पर बेचती थी। इस प्रकार रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ४ पे० से कम नहीं होने दिया जाता था। काउन्सिल बिल और रिवर्स काउन्सिल बिल के द्वारा रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ४ पे० के आस-पास स्थिर कर दिया गया था।

भारत सरकार की चलन नीति की देशवासियों ने कड़ी आलोचना की। खास कर स्वर्ण-चलन-मान के पोषकों ने इसकी बहुत निन्दा की। अतः, सरकार ने सन् १९१३ में चेम्बरलेन कमीशन (Chamberlain Commission) बैठाया जिसने स्वर्ण-विनिमय-मान की प्रशंसा की और उसे भारत में स्थापित करने की सिफारिश की।

(४) १९१४-१९१८ : युद्ध का समय

चेम्बरलेन कमीशन की रिपोर्ट सरकार के हाथ में प्रथम महायुद्ध के छिड़ने के कुछ ही पहले आई। युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में, भारतवासियों का सरकार में विश्वास न रहा। डाकखानों के सेविंग्स बैंकों से जमा करने वालों ने रुपया निकाल लिया और करेन्सी नोटों के बदले में सोना सरकार से माँगा जाने लगा। अवस्था यहाँ तक बिगड़ी कि सरकार ने सोना देना बन्द कर दिया। भाग्यवश कुछ ही समय बाद अवस्था हाथ में आ गई और विश्वास फिर से जमने लगा। सन् १९१५ के पश्चात् अवस्था एक बार फिर बहुत चिंता-जनक हो गई। भारतवर्ष से मित्रदेशों को बहुत-सा सामान जाता था किन्तु उनसे आयात बहुत कम होता था, इससे व्यापार का अन्तर बड़ी सीमा तक भारत के अनुकूल हो गया। इसके अतिरिक्त, ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष में बहुत-सा रुपया भी खर्च किया, जिसके कारण ब्रिटिश सरकार रुपयों की देनदार भी हो गई। आरम्भ में माँग को पूरा करने के लिये काउन्सिल बिल १ शि० ४ पे० की दर से बेचे गये, किन्तु बहुत शीघ्र काउन्सिल बिल की मात्रा इतनी अधिक हो गई कि भारत सरकार को उनके बदले में रुपया देने में कठिनाई होने लगी। वास्तव में, उनके सामने बड़ी समस्या आ खड़ी हुई क्योंकि सिक्के ढालने के लिये सोने और चाँदी का आयात करना संभव

---

[८] इस मत-भेद से घबड़ाकर कुछ लेखकों ने इस प्रकार लिखा है : "इस प्रकार स्वर्ण विनिमय-मान, या जिसे कुछ व्यक्ति स्टर्लिंग-विनिमय-मान कहते हैं, स्थापित हो गया।" (R N Mathur, Introduction to Money, Exchange and Banking, p 128)। वास्तव में, यह मान स्वर्ण-विनिमय-मान था। इसके विशेष विवरण के लिये देखिये लेखक का Pure and Applied Economics in India, Mysore Economic Journal, Vol 24, No 11, 1938.

नहीं था। चाँदी का मूल्य तो इतना बढ़ गया था कि मनुष्य रुपये के सिक्के गला कर चाँदी को धातु की भाँति बेचकर लाभ उठाने लगे। हारकर सरकार ने काउन्सिल बिल की बिक्री बन्द कर दी, और बिना रिजर्व रक्खे हुए एक रुपये और ढाई रुपये के नोट बनाना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार युद्ध के पहले की काउन्सिल बिल और रिवर्स काउन्सिल बिल द्वारा रुपये की विनिमय-मूल्य स्थित करने की प्रणाली समाप्त हो गई। अब सरकार काउन्सिल बिल केवल सीमित मात्रा में बेचने लगी और बिक्री की दर बराबर ऊँची होती गई। विनिमय की दर जो सन् १९१४ में १ शि० ४ पे० थी वह सन् १९१८ में २ शि० ४ पे० हो गई।

(५) १९१९–१९२५ : बेबिंग्टन स्मिथ कमेटी

युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात्, सरकार ने बेबिंग्टन-स्मिथ कमेटी (Babington-Smith Committee) यह राय देने के लिये नियुक्त की कि विनिमय और चलन के सम्बन्ध में अब कौन-सी नीति अपनाई-जाय। कमेटी ने स्वर्ण-विनिमय मान को दोबारा अपनाने की सिफारिश की। वास्तव में, उनका अन्तिम आदर्श स्वर्ण-चलन-मान था, और इसलिये उन्होंने यह सिफारिश की कि सावरेन (sovereign) को भारतवर्ष में १० रुपया = १ सावरेन (१ रु० = २ शि०) की दर पर कानूनी ग्राह्य बना देना चाहिये। कमेटी ने २ शि० का अनुपात इसलिये सामने रक्खा कि उसका विश्वास था कि चाँदी का मूल्य ऊँचा बना रहेगा।

अभाग्यवश भावी घटनाओं ने कमेटी के विचारों को पूर्णतया मिथ्या प्रमाणित कर दिया। चाँदी का मूल्य गिर गया और व्यापार का अन्तर भारतवर्ष के प्रतिकूल हो गया। इंगलैंड निवासियों ने, जिन्होंने युद्ध के समय में बहुत-सा लाभ कमाया था, इस अनुकूल विनिमय की दर पर इंगलैंड को रुपया भेजना आरम्भ कर दिया। भारतीय देनदारों ने भी ब्रिटिश लेनदारों को भुगतान करने में शीघ्रता करना शुरू कर दिया। स्टर्लिंग की इतनी अधिक माँग होने के कारण रुपये का मूल्य गिरने लगा। रुपये का मूल्य २ शि० सोने (जो ३ शि० स्टर्लिंग के बराबर था) के बराबर नहीं रह सका। तब इस बात की चेष्टा की गई कि यह २ शि० स्टर्लिंग के बराबर रहे, किन्तु इसमें भी असफलता मिली। और सन् १९२२ में सरकार ने रिवर्स काउन्सिल बेचना बन्द कर दिया। विनिमय की दर अपने हाल पर छोड़ दी गई।

(६) १९२६–१९३१ : हिल्टन-यंग कमीशन

सन् १९२४ में अनुपात १ शि० ६ पे० के लगभग स्थिर हो गया, और सन् १९२५ में सरकार ने हिल्टन-यंग कमीशन (Hilton-Young Commission) भावी नीति के संबंध में राय देने के लिये बैठाया। कमीशन

ने स्वर्ण-धातु-मान के अपनाने की सिफारिश की और यह भी सुझाव रखा कि कुछ दशाओं में सरकार सोना खरीदे और वेचे।

सरकार ने ये सिफारिशें मान ली और एक ऐक्ट पास कर दिया गया जिसके अनुसार सरकार को सोना खरीदना और सोना या सरकार के विकल्प पर स्टर्लिङ्ग वेचना अनिवार्य हो गया। सरकार ने जो मान स्थापित किया वह वास्तव में न तो स्वर्ण-धातु-मान या न और न स्वर्ण-विनिमय-मान। प्रत्युत वह ऐसा अनिश्चित था कि अवस्था के अनुसार और सरकार की इच्छा के अनुकूल कभी तो स्वर्ण-धातु-मान का स्वरूप ग्रहण कर लेता था और कभी स्वर्ण-विनिमय-मान का।

(७) १६३१-१६४७. स्टर्लिंग विनिमय मान

सन् १६३१ में इंगलेंड ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया। भारत ने रुपये का मूल्य स्टर्लिङ्ग के साथ १ शि० ६ पैं० का दर पर बनाये रक्खा, पर क्योंकि अब स्टर्लिङ्ग सोने में परिवर्तनशील नहीं था, इसलिये भारतीय द्राव्यिकमान **स्टर्लिंग-विनिमय मान** हो गया।

इस काल में दो महान् घटनाएँ हुई। इनमें से पहली घटना **रिजर्व बैंक आव इंडिया की स्थापना** थी। रिजर्व बैंक एक्ट सन् १६३४ में बना और बेंक ने सन् १६३५ में काम करना आरम्भ कर दिया। अब तक सरकार कागजी नोट निर्गमित किया करती थी, पर अब यह अधिकार रिजर्व बैंक को दे दिया गया। चलन का पूरा प्रबंध इसी बैंक के हाथ में आ गया। सूची-बद्ध (Scheduled) बैंकों को अपनी देनदारियों का कुछ भाग रिजर्व के रूप में इस बैंक के पास रखना अनिवार्य बना दिया गया। इस प्रकार रिजर्व बैंक अन्य बैंकों पर कुछ नियन्त्रण रख सकता है। द्रव्य और साख पर अब एक संस्था का अधिकार हो गया। स्वर्ण-मान रिजर्व और कागजी द्रव्य का रिजर्व दोनों रिजर्व बैंक को सौंप दिये गये। रिजर्व बैंक को रुपये का बाहरी मूल्य १ शि० ६ पैं० के बराबर बनाये रखने के लिये उत्तरदायी बना दिया गया।

इस काल की दूसरी महान घटना **द्वितीय महायुद्ध** था जो सन् १६३६ में आरम्भ और सन् १६४५ में समाप्त हुआ। इस समय में वह उथल-पुथल नहीं हुई जो प्रथम महायुद्ध के समय हुई। इस सम्बन्ध मे कुछ खास घटनाएँ बता देना आवश्यक है :

(१) **रुपयों की माँग बढ़ना**—युद्ध के छिड़ने पर जनता ने नोट भुना कर रुपया लेना आरंभ कर दिया। इससे रुपयों की माँग बहुत बढ़ गई। बाद को व्यापार इतना बढ गया कि यह माँग बढती ही गई। अतः

सरकार को इस समय में २४९ करोड़ के रुपये बना कर चलन में रखने पड़े।

(२) **एक और दो रुपये के नोटों का चलाना**—इससे भी जब माँग पूरी न हुई तो सरकार ने एक रुपये और दो रुपये के नोट चलाये जो अब भी जारी हैं।

(३) **विनिमय नियत्रण (Exchange Control)**—विदेशी द्रव्य को विदेशी विनिमय कहा गया है। युद्ध-काल में विदेशी व्यापार इस प्रकार का करना पड़ता है कि जिससे युद्ध का सामान और जनता के लिये आवश्यक सामान उपयुक्त मात्रा में विदेशों से आता रहे। अतः भारत सरकार ने यह कानून बना दिया कि निर्यात करके जिस व्यक्ति को पाउड, डालर आदि मिले, वह रिजर्व बैंक में जमा करे, और जिसे विदेशों से माल खरीदने के लिये विदेशी चलन की आवश्यकता हो; वह रिजर्व बैंक से विदेशी विनिमय खरीदे। इस प्रणाली को **विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)** कहते हैं। यह प्रणाली अब भी जारी है और इससे देश को बहुत लाभ हुआ है।

(४) ५००), १०००) और १००००) के नोटों का अद्रव्यीकरण कर दिया गया।

(८) सन् १९४७ के बाद अंतर्राष्ट्रीय मान

युद्ध-काल में अंतर्राष्ट्रीय द्राव्यिक कोष (International Monetary Fund) की स्थापना सब मित्र राष्ट्रों के सहयोग से हुई, और भारत इसका सदस्य बना। अप्रैल ८, १९४७ को भारतीय धारा सभा के निर्णय के अनुसार रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिङ्ग से तोड़ दिया गया। रुपये का मूल्य विदेशी विनिमय के लिये स्वर्ण की मात्रा में निश्चित कर दिया गया। संसार के अन्य देशों ने भी ऐसा ही किया। अतः रुपये का (विदेशी) मूल्य हर अन्य देश के द्रव्य के मूल्य के साथ, सोने के द्वारा, स्थापित हो गया है। इसे हम अंतर्राष्ट्रीय मान कह सकते हैं। इस नये मान के अनुसार भी भारतीय रुपये का मूल्य १ शि० ६ पेंस के बराबर आता है।

रुपये का अवमूल्यन—सन् १९४९ में करेंसी-सम्बन्धी एक और आश्चर्य-जनक घटना हुई। इंगलैंड ने पाउंड का मूल्य डालर में ३०% घटा दिया। भारत अब या तो स्टर्लिंग के साथ रहता या डालर के साथ। भारत ने स्टर्लिङ्ग के साथ रहने का निश्चय किया। अतः अवमूल्यन के बाद भी १ रुपये का मूल्य १ शि०

८ पैं० है। पर अब रुपये का मूल्य डालर में कम हो गया है, या यह कहिये कि अब डालर अधिक रुपयों के बराबर हो गया है। पहले १ डालर ३ रु० ५ आने था, पर अब यह ४ रु० १२ आ० के बराबर हो गया है।

§ ५. वर्त्तमान चलन-सम्बन्धी समस्यायें

प्रसार (Inflation)

युद्ध के समय में बहुत-सा द्रव्य चलन में रक्खा गया। ब्रिटिश सरकार और मित्र-देशों ने हमारे देश से बहुत-सा सामान खरीदा और स्वयं हमारी सरकार ने बड़ी मात्रा में युद्ध की सामग्री मोल ली। माल के बदले में विक्रेताओं को रुपया मिला और इस प्रकार चलन की मात्रा बहुत बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य बढ़ गया। यदि इसके साथ-साथ उत्पत्ति भी बढ़ जाती, तो मूल्य इतने न बढ़ते किन्तु ऐसा न हुआ। किसी-किसी महीने में तो सरकार ने एक करोड़ रुपये या उससे भी अधिक का चलन प्रत्येक दिन निगमित किया। परिणाम यह हुआ कि स्थिर आय वाले व्यक्तियों को और मुख्यतया निधन और मध्यवर्ग के व्यक्तियो को बहुत यत्रणा का सामना करना पड़ा। मूल्य अधिक हो जाने के कारण उनकी आय आवश्यक मात्रा में माल अब नहीं खरीद सकती थी और उनके रहन-सहन का स्तर स्वाभाविक रूप से नीचा हो गया। ऐसे व्यक्तियों को कड़ी यातनायें भुगतनी पड़ी, और जो वस्तुएँ ये नहीं खरीद सके वे विदेशों को भेज दी गईं। मूल्य बढ़ जाने के कारण प्रसार ने चोर बाजार और अत्यधिक लाभकरण (black marketing and profiteering) को प्रोत्साहित किया जिनके कारण दशा और भी बिगड़ गई।

युद्ध के पश्चात् हमारा देश स्वतन्त्रता के सबंध में इस सीमा तक राजनीतिक समस्याओं में फँसा रहा कि आर्थिक मामलों का ठीक ठीक विचार नहीं किया जा सका। हमारे स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् राजनीतिक कठिनाइयाँ हमारे पीछे लगी रहीं। इसी समय उत्पत्ति की मात्रा और भी कम होती चली गई। दशा इतनी बिगड़ी कि सरकार को इस समस्या पर ध्यान देना पड़ा। सरकार ने प्रसार को रोकने के लिये उत्पत्ति बढ़ाने और निर्यात बढ़ाने के लिये एक नई नीति घोषित की है।

स्टर्लिङ्ग पावना या ऋण

द्वितीय महायुद्ध के पहले हम ब्रीटन के ऋणी थे, किन्तु अब ब्रिटेन हमारा ऋणी है। युद्ध के आरम्भ में ब्रिटेन हमसे माल खरीदता गया और हमें जो ऋण

उसे चुकाना था वह कम होता गया। धीरे-धीरे जब ब्रिटेन काफी खरीदारी कर चुका और आगे भी करता रहा, तो वह उल्टा हमारा ऋणी होने लगा। हमारा ऋण दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। वह जो भी माल भारत से खरीदता, इसके बदले में स्टर्लिङ्ग में प्रामिसरी नोट लिखकर दे देता। इन्हें स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटी कहते हैं।

स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटी और बैंक नोट—भारत सरकार यह सिक्योरिटी रिजर्व बैंक को दे देती और उससे नोट ले लेती। रिजर्व बैंक ऐक्ट के अनुसार नोट के पीछे स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटी ४०% से अधिक नहीं रक्खी जा सकती। किन्तु इस ऐक्ट में सशोधन कर दिया गया और ऐसी सीमा हटा दी गई। इस प्रकार जब भी ब्रिटिश सरकार हमारे देश से माल खरीदती, तभी स्टर्लिग सिक्योरिटी रिजर्व बैंक के पास आती और नये नोट निर्गमित किए जाते। प्रसार का यह एक प्रमुख कारण था।

स्टर्लिङ्ग ऋण का चुकाना—हमने ब्रिटिश सरकार को इतना भारी ऋण अपनी स्वेच्छा से नहीं दिया। यह हमसे जबरदस्ती लिया गया। कुछ भी हो। अब इस ऋण का हमें भुगतान मिलना हमारे लिये बहुत आवश्यक है। कुछ समय पहले ब्रिटिश समाचार-पत्र और कुछ उच्च-पदाधिकारी इस बात का प्रोपेगेंडा कर रहे थे कि ब्रिटेन को स्टर्लिग ऋण का केवल थोड़ा-सा ही भाग चुकाना चाहिये और शेष अदा नहीं करना चाहिये। किन्तु बाद को ब्रिटेन के इस रुख में परिवर्तन हो गया। अब हमारी सरकार और ब्रिटेन सरकार में इस ऋण की अदायगी के सम्बन्ध में एक समझौता हो गया है।

अद्रव्यीकरण (Demonetisation)

जनवरी १२, सन् १९४६, को सरकार ने एक **अद्रव्यीकरण आर्डिनेन्स** घोषित किया। इसके अनुसार ५०० रुपये, १,००० रुपये और १० ००० रुपये की नोट गैरकानूनी ग्राह्य घोषित कर दिये गये। इनके ग्राहको को इन्हें लौटाने के लिये और इनके बदले में दूसरा चलन ले लेने के लिये २६ जनवरी, १९४६, तक का समय दिया गया। बड़े नोट देते समय एक फार्म भरना पड़ता था जिसमें यह बताना पड़ता था कि ये नोट कब और कहाँ से मिले, ये नोट पास में क्यों रक्खे गये और बैंक में क्यों नहीं जमा किये गये, आदि। विचार यह था कि युद्ध के समय में जिन व्यक्तियों ने चोर बाजार में या घूस लेकर रुपया कमाया है, उनका पता लगाया जाय और उनको दण्ड दिया जाय। इस आर्डिनेन्स का परिणाम यह हुआ है कि अब केवल १ रुपये, २ रुपये, ५ रुपये, १० रुपये और १०० रुपये के नोट कानूनी ग्राह्य हैं।

यह रकम सन् १९४६-४७ में १७३१ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। किन्तु अब इसकी रकम केवल ८०० करोड़ रुपये के लगभग रह गई है।

अभ्यास के प्रश्न

१. भारत की वर्तमान चलन-प्रणाली का वर्णन कीजिये। हमारा प्रामाणिक मान क्या है और वह कैसे स्थिर रक्खा जाता है?

२. क्या आपके मत में हमारा वर्तमान प्रामाणिक मान हमारे अनुकूल है? स्पष्टतया समझाइये।

३. क्या वर्तमान रुपया-स्टर्लिंग विनियम की दर उचित है?

४. भारत की वर्तमान चलन-प्रणाली के क्या प्रमुख दोष हैं? इसमें क्या सुधार किये जा सकते हैं?

५. भारतीय चलन-प्रणाली का बहुत संक्षिप्त इतिहास दीजिये।

६. आजकल भारत में कागजी मुद्रा निर्गमित करने की रीति का वर्णन कीजिये। इसकी प्राचीन रीति से तुलना कीजिये और बताइये कि इनमें क्या श्रेष्ठता है?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

७. कागजी द्रव्य क्या होता है? इसके प्रधान गुण क्या होते हैं? भारत में कागजी द्रव्य का चलन कैसे किया जाता है? (१९४६)

८. भारत में कागजी द्रव्य के निर्गम और नियन्त्रण की वर्तमान प्रणाली का वर्णन कीजिये। यह पुरानी प्रणाली से किन दिशाओं में श्रेष्ठ है? (१९४८)

९. [illegible] किसे कहते हैं? यह कहाँ बनता है? अंग्रेजी सिक्कों की प्रणाली भारतीय प्रणाली से (साधारण माल में) किस प्रकार भिन्न होती है। (१९४५)

१०. कागजी द्रव्य के क्या लाभ हैं? भारत में इसकी परिवर्तनशीलता बनाए रखने के लिए क्या प्रणाली है? (१९४२)

११. प्रामाणिक मान का क्या अभिप्राय है? भारत में वर्तमान प्रामाणिक मान कौन सा है और कैसे? बताइये इसका काम कैसे होता है? (१९३४)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

१२. रुपये की आजकल क्या अवस्था है? इसका मूल्य कैसे स्थापित होता है और कैसे बनाए रक्खा जाता है? (१९४६)

१३. आजकल भारत में कागजी द्रव्य की निर्गम की क्या प्रणाली है? यह पिछली प्रणाली से किस सीमा तक श्रेष्ठ है? (१९४५)

१४. कागजी चलन रिजर्व पर एक सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये । (१६४१)

१५. इस देश की चलन प्रणाली को श्रेष्ठतर बनाने के लिए एक स्कीम दीजिए । (१६४०)

१६. भारतीय द्रव्य-प्रणाली की संक्षिप्त विवेचना कीजिए । (१६३६)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

11 Write a short note on Paper Currency Reserve of India (1941)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

12 Write a brief explanatory note on Indian Paper Currency Revenue (1947)

13 Write a short note on Proportional Reserve system of Issue (1946)

नागपुर, इन्टर कामर्स

२० भारतीय कागजी चलन रिजर्व पर एक सक्षिप्त व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखिये । (१६४७,१६४६)

U P BOARD

1 What are the advantages of paper money ? How is its convertibility maintained in India ? (I A, 1942)

2 Discuss the existing arrangements for the issue and regulation of proper currency in India In what respects are they an improvement over the earlier system ? (I A, 1938)

3 Explain what is meant by 'monetary standards' By what name is the 'monetary standard' obtaining in India called, and why ? Show how it functions ? (I A, 1934)

4 What is the standard of value in India—gold or silver ? Is it necessary that the standard of value should also serve as the medium of exchange ? (I A, 1928)

5 What economic difficulties would now arise if the value of the rupee were reduced from 1s 6d to 1s 4d gold ? What classes would benefit during the change ? What classes would suffer ? (I A, 1927)

6 What is the present system of issue of paper money in India ? How far, is it better than the previous system ? Describe (I Com, 1945)

7. (a) Distinguish between (i) legal tender and token money, (ii) convertible and inconvertible paper money (b) Consider the advantages of convertible paper money over metallic one (I Com., 1941)

8 Draw up a scheme for improving the currency system of this country. (I Com, 1940)

9 Give short description of monetary system in India (I Com, 1936)

10 Enumerate the advantages of the Bank issue of notes and the Government issue of notes (I Com, 1933)

RAJPUTANA BOARD.

1. Give a brief sketch of the Indian currency system (I Com, 1941)

OTHER EXAMINING BODIES

1 What is the position of the rupee today *as money*? How is its value established and maintained? (Punjab, I. A, 1921)

2 Describe the paper currency system of India (Nagpur, I A, 1941)

3 Explain in simple language the present currency system of India (Delhi, I A, 1935)

4 Give a short history of the Indian Paper currency system from 1861—1914. (Delhi, I A, 1929)

5 What part has been assigned to gold in India's Currency system during the past thirty-five years? (Delhi, I, A, 1931)

अध्याय ५१

साख तथा साख-पत्र

१. साख

साख का अर्थ तथा उसकी परिभाषा

साख शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं और इसका प्रयोग कई रूपों में होता है। अर्थ सम्बन्धी अर्थ मे, व्यापार-सम्बन्धी अर्थ में, हिसाब वाले अर्थ में और वैसे साधारण अथ में भी इसका प्रयोग होता है।

(क) साख का अर्थ-सम्बन्धी अर्थ (Economic Sense)—हम बहुधा नकद सौदे और उधार के सौदे की चर्चा करते हैं। नकद सौदे से आशय ऐसे सौदे से है जिसमें वस्तु खरीदने के समय ही मूल्य नकद रुपयों में अदा कर दिया जाता है। इसके विपरीत, उधार का सौदा वह कहलाता है जिसमें वस्तु के खरीदने के कुछ समय पश्चात् रुपया अदा किया जाता है। अत., उधार या ऋण कुछ विलम्ब के पश्चात् भुगतान होने की ओर सकेत करता है। यही साख का आर्थिक मतलब है। जेवन्स ने लिखा है कि साख भुगतान कुछ विलम्ब के वाद करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

(ख) इसका व्यापारिक अर्थ—व्यापारिक अर्थ में साख शब्द किसी व्यापारी या व्यापार-गृह का द्रव्य-सम्बन्धी प्रतिष्ठा का द्योतक होता है। किसी व्यापारी की साख (१) उसकी व्यापारिक योग्यता, और (२) उसकी ईमानदारी पर निर्भर होती है। यदि किसी व्यापारी की साख अच्छी है, तो उस बड़ा रकम उधार मिल सकती है, किन्तु सदेह-पूर्ण साख वाले व्यापारी को रुपया उधार देने में सब कोई हिचकता है। साख का यह व्यापारिक अर्थ उसके आर्थिक अर्थ से बहुत मिलता जुलता है।

(ग) इसका बहीखाते वाला अर्थ—मुनीम और हिसाब रखने वाले साख के अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द "क्रेडिट" (credit) को एकाउन्ट (account) की दाहिनी ओर के लिये प्रयुक्त करते हैं।

(घ) इसका साधारण अर्थ—साख का अंग्रेजी पर्यायवाची "क्रेडिट" शब्द विश्वास या प्रशसा के अर्थ में भी काम में लाया जाता है।

अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को इस शब्द को आर्थिक मतलब में ही प्रयुक्त करना पड़ता है[1]।

साख के आवश्यक लक्षण

साख के तीन आवश्यक लक्षण होते हैं :—

(१) अर्घ का देना—एक पक्ष से दूसरे पक्ष को किसी अर्घवाली वस्तु का दिया जाना (जिसे हम अर्घ का परिवर्तन कह सकते हैं) साख का आवश्यक लक्षण है। जब तक कि एक पक्ष दूसरे को कुछ माल या सेवाएँ नहीं देगा, तब तक भुगतान के कुछ विलम्ब के बाद करने का—अर्थात् साख का—प्रश्न ही नहीं उठेगा[2]।

(२) समय—साख में समय का तत्व शामिल होता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक साख के सौदे में भविष्यता (futurity) शामिल होती है। भुगतान का किसी भविष्य की तारीख तक स्थगित (postpone) करना ही किसी सौदे को उधार सौदा या साख का सौदा बनाता है। यदि भुगतान तुरन्त ही कर दिया जाय, तो सौदा नकद सौदा हो जायगा।

(३) विश्वास—साख का सबसे महत्त्वपूर्ण और आधारभूत तत्त्व विश्वास है। जब तक कि किसी को यह विश्वास न हो (क) कि ऋण लेनेवाला लाभदायक व्यापार कुशलतापूर्वक कर रहा है और भविष्य में वह रुपया वापस कर सकेगा, और (ख) वह ईमानदार है और वह भविष्य में रुपया अवश्य वापस कर देगा, तब तक कोई रुपया उधार नहीं देगा। ऋण लेने वाले के आर्थिक और नैतिक गुणों पर आधारित विश्वास, साख का तात्विक और सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है[3]।

---

[1] अलग-अलग लेखक साख की अलग-अलग परिभाषाएँ देते हैं। मेकलिऑड (McLeod) ने लिखा है कि साख भविष्य में भुगतान पाने का वर्त्तमान अधिकार है। वालरस (L Walras) ने साख को पूँजी का उधार देना कहा है।

[2] कुछ लेखक अर्घ के देने के बजाय रकम को साख का आवश्यक लक्षण बताते हैं। किन्तु रकम शब्द अस्पष्ट और संशयपूर्ण है। अत. इसका प्रयोग न करना ही अच्छा है।

[3] विश्वास का तत्व इतना महत्त्वपूर्ण है कि कुछ लेखक साख शब्द को किसी व्यक्ति की ईमानदारी और आर्थिक शक्ति (solvency) में विश्वास होने के लिये प्रयुक्त करते हैं, जिसके कारण दूसरा व्यक्ति अपनी अर्घशाली वस्तु उसे देने के लिये तत्पर हो जाता है, चाहे यह अर्घशाली वस्तु द्रव्य, माल या सेवाओं का रूप ले या स्वयं साख का ही जैसा कि एक व्यक्ति का अपना अच्छा नाम और प्रतिष्ठा दूसरे को सौंप देने पर होता है।—S E Thomas, Elements, of Economics, p 433

साख का महत्व और उसकी उपयोगिता

वर्त्तमान युग में साख का महत्व स्वय ही इतना स्पष्ट है कि उसकी विस्तृत विवेचना अनावश्यक है। यदि आप सावधानी से चारों ओर देखें, तो आपको पता चलेगा कि आर्थिक जोवन के प्रत्येक पहलू में साख का महत्वपूर्ण हाथ है। फुटकर विक्रेता थोक विक्रेता से साख पर माल खरीदता है। थोक विक्रेता स्वय कारखाने वाले से साख पर खरीद करता है। कारखानेवाला पूंजी, कच्चा माल तथा अन्य वस्तुएं साख पर लेता है। इस प्रकार समस्त आर्थिक ढाँचा साख के धागे से बँधा हुआ है। यही कारण है कि एक फर्म के फेल हो जाने से अन्य बहुत से फर्म, चाहे वे एक ही व्यापार करते हों या अलग-अलग व्यापार, फेल होने लगते हैं। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति, जो कि वर्तमान युग का एक महान् लक्षण है साख के कारण ही सम्भव हुआ है। इसके अतिरिक्त, साख-सस्थाएँ (credit institutions) अर्थात् बैंक और साख-पत्र (credit instruments) अर्थात् साख के सौदों के लिखित प्रमाण जो सिक्कों और नोटों की भाँति काम आते हैं और जिनके चेक और बिल उदाहरण हैं, प्रत्येक देश के आर्थिक ढाँचे के आवश्यक अग हो गये हैं। अतः साख का महत्व आसानी से समझा जा सकता है।

साख के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :

(१) साख से साख-पत्र बनते है जो धातु की चलन का काम देते हैं। इससे तीन लाभ होते हैं : (क) धातु के सिक्कों की अपेक्षा, साख-पत्र विनिमय के सस्ते माध्यम होते हैं। (ख) साखपत्र धातु के सिक्कों की अपेक्षा अधिक सुविधा-जनक होते हैं। उदाहरण के लिये, १०० रुपये का चैक आसानी से लिखा जा सकता है, किन्तु १०० रुपये के सिक्के गिनने में और यह निश्चय करने कि उनमें से कोई भी सिक्का खोटा नहीं, बहुत समय लगता है। (ग) आज-कल के समाज की चलन-सम्बन्धी आवश्यकता को धातु के सिक्के सतुष्ट नहीं कर सकते और साख-पत्र इस कमी को कुशलतापूर्वक पूरी करते हैं।

(२) ऊपर के लाभ से यह बात निकलती है कि साख-पत्र द्वारा रुपया दूर-दूर तक आसानी से और कम लागत पर भेजा जा सकता है। यदि आपको किसी मद्रास के निवासी को, १,००० रुपया देना हो, और आप चाँदी के सिक्के मद्रास भेजें, तो आपका बहुत सा समय, श्रम और व्यय नष्ट होगा, किन्तु आप आसानी से उसे १,००० रुपये का बैंक ड्राफ्ट[४] भेज सकते हैं।

[४]बैंक ड्राफ्ट उस पत्र को कहते हैं जो कोई बैंक अपनी शाखा या प्रधान

(३) इसके द्वारा मनुष्यों का बचाया हुआ रुपया एकत्रित किया जा सकता है। बैंक आकर्षक व्याज देकर मनुष्यों का आलसी रुपया, जिसको उन्होंने खर्च नहीं किया है और जो किसी काम भी नहीं आ रहा, इकट्ठा कर लेते हैं। इस प्रकार जन-साधारण में मितव्ययता की आदत उत्पन्न होती है।

(४) इस प्रकार जो बचाया हुआ रुपया थोड़ा-थोड़ा करके एकत्रित किया जाता है वह पूँजी का एक बड़ा भण्डार बना देता है, और यह पूँजी ऐसे बहुत से उत्पादकों को दी जाती है जिनमें माल उत्पन्न करने की योग्यता और शक्ति तो है किन्तु आवश्यक पूँजी नहीं है। इस प्रकार साख उत्पत्ति को प्रोत्साहित करता है। इसके अतिरिक्त, यह भुगतान उस समय तक के लिये स्थगित (postponed) कर देता है जब तक कि लेनदार सुविधापूर्वक भुगतान करने के योग्य हो जाता है, और इस प्रकार यह कठिनाइयों को घटा देता है।

(५) साख मूल्यों के घट-बढ को न्यूनतम कर देता है। जब व्यापारिक समृद्धि (boom) आती है और मूल्य बढने लगते हैं, उस समय साख की वृद्धि पर रोक-थाम करने से मूल्य स्थिर किये जा सकते हैं। इसके विपरीत, यदि आर्थिक सकट (depression) आने को हो और मूल्य गिर रहे हों, तो साख की वृद्धि करने से सकट का होना रोका जा सकता है। इसी प्रकार जब आर्थिक संकट के पश्चात् व्यापार की उन्नति बहुत धीरे-धीरे हो रही हो, तो साख की धीरे-धीरे और सुव्यवस्थित वृद्धि से मूल्य बढेगा और आर्थिक उन्नति शीघ्र होगी।

(६) जब राष्ट्रीय संकट का समय होता है और सरकार को द्रव्य की बहुत आवश्यकता होती है, तब और कोई उपाय प्राप्त न होने पर साख या ऋण द्वारा सरकार रुपया प्राप्त कर सकती है।

(७) साख के द्वारा कोई व्यक्ति अपनी स्थायी द्रव्य-संबंधी कठिनाई से छुटकारा पा सकता है। उदाहरण के लिये, यदि आय के प्राप्त होने में कुछ विलंब हो, तो उपभोग की वस्तुएं उधार खरीदी जा सकती हैं।

साख के भय (Dangers)

साख से लाभ तो बहुत से होते हैं किन्तु कभी-कभी वह भय का भी कारण बन जाता है। साख पर मानवीय नियन्त्रण रक्खा जा सकता है, और यदि उस नियन्त्रण के रखने में सावधानी और बुद्धिमानी से काम न लिया जाय, तो इसके परिणाम भीषण होते हैं। साख के मुख्य भय निम्नलिखित हैं :

कार्यालय को इस आशय का लिखता है कि वह एक उल्लिखित रकम उसमें उल्लिखित व्यक्ति को अदा कर दे।

(१) इसका सबसे प्रमुख भय है इसकी अत्यधिक सीमा तक बढ़ जाने की प्रवृत्ति। साख का निर्गम (issue) लाभदायक होता है। बैंक जितना ही अधिक रुपया उधार देगा, उतना ही अधिक व्याज वह कमायेगा, और व्यापारी को जितना भी ऋण मिल सकता है, वह उतनी ही अपनी बिक्री भी बढ़ा सकता है। अतः यह डर सदैव बना रहता है कि इसका वास्तविक व्यापारिक आवश्यकताओं से कहीं अधिक मात्रा में निर्गम न हो जाय। व्यापारिक समृद्धि (prosperity) के समय यह डर बहुत अधिक हो जाता है क्योंकि ऐसे समय में यदि साख की वृद्धि बिना सोचे समझे की गई तो इसका परिणाम होगा अत्यधिक उत्साह, अत्युत्पत्ति (overproduction) और सट्टेबाजी। इसी भय से रक्षा करने के लिये रिजर्व बैंक बनाया गया है।

(२) साख की सहायता से एक अयोग्य व्यक्ति सट्टेबाज और लाभ-हीन व्यापार स्थापित कर सकता है, जिसका परिणाम स्वयं उसका और उसके ऋणदाताओं का आर्थिक सत्यानाश हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि किसी व्यापारी को हानि होने लगे, तो वह रुपया उधार लेकर व्यापार करता रह सकता है। वह साख के द्वारा अपनी द्रव्य-सबंधी कमजोरी छिपा सकता है और अपनी द्रव्य-सबंधी जिम्मेदारियाँ बढ़ा सकता है, अतः जब वह असफल हो जाता है, तब उसका दुष्परिणाम बहुतों को भुगतना पड़ता है। भाग्यवश अब ऋणदाता इस भय के प्रति जागरूक हो गये हैं और ऋण देने के पूर्व अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर ली जाती है।

(३) साख की सहायता से उपभोक्ता रुपया उधार लेकर बरबाद कर सकते हैं और अपना सत्यानाश कर सकते हैं। हमारे ही देश में, ग्रामीण ऋण का एक बड़ा भाग उपभोग के लिये उधार लिये गये रुपये का है।

(४) आधुनिक साख सम्बन्धी संगठन बहुधा एकाधिकार और संयुक्त संगठन तथा केन्द्रीय नियंत्रण स्थापित करने मे सहायक होता है, जो अपने स्पर्धा करने वालों का नाश करने के लिये अन्यायपूर्ण उपाय काम में लाते हैं, मूल्य बढ़ा देते हैं और मजदूरों का शोषण करते हैं। इस भय से रक्षा प्राप्त करने के लिये अन्यायपूर्ण स्पर्धा तथा संयुक्त संस्थाओं के विरुद्ध कानून बनाये जाते हैं।

§ २. साख और पूँजी

यह बहुधा पूछा जाता है कि साख पूँजी है या नहीं। अर्थशास्त्रियों में इस विषय पर कुछ मतभेद रहा है, और यद्यपि यह मतभेद सैद्धान्तिक है और इसका कोई खास महत्त्व नहीं है, फिर भी इस मामले में काफी अस्पष्टता है। जैसा कि हम

बता चुके हैं, पूँजी धन के उस भाग को कहते हैं जो और धन उत्पन्न करने के काम में लाई जाती है। अतः यह निर्णय करने के लिये कि साख पूँजी है या नहीं, दो प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है :

(१) क्या साख धन है ?

(२) क्या इसका उपयोग धन के उत्पन्न करने के लिये होता है ?

(१) हमने बताया है कि साख भुगतान के स्थगित (postpone) करने को कहते हैं। इस अर्थ में हम यह नहीं कह सकते कि साख में उपयोगिता है, या वह दुर्लभ है, या वह परिवर्तनशील है, वास्तव में, ऐसा कथन अर्थहीन प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में, हम साख को साख के लिये नहीं लेते प्रत्युत उन वस्तुओं और सेवाओं के लिये लेते हैं जो हमें साख मिलने पर प्राप्त हो सकती हैं। अतः स्वय साख की कोई उपयोगिता नहीं। इस कारण साख धन नहीं कहलाया जा सकता।

(२) यदि साख धन ही नहीं, तो वह पूँजी भी नहीं हो सकती। अतः हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि साख पूँजी नहीं।

क्या साख-पत्र पूँजी होता है ?—यह प्रश्न हमारे सामने स्वाभाविक रूप से आता है। साख-पत्र हमारी कोई भी आवश्यकता प्रत्यक्ष रूप से संतुष्ट नहीं करता। हमको साख पत्र की जरूरत उसके लिये नहीं होती। पर हम साख-पत्र की जरूरत का अनुभव इसलिये करते हैं कि उसके द्वारा हमें उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। क्योंकि साख-पत्र हमारी आवश्यकता सतुष्ट नहीं करता, इसलिये इसे धन नहीं कहा जा सकता। यदि यह धन ही नहीं, तो यह पूँजी भी नहीं हो सकता। अतः साख-पत्र पूँजी नहीं।

साख पूँजी के बढ़ाने मे सहायता करती है—साख या साख-पत्र स्वय तो पूँजी में परिगणित नहीं होते, पर पूँजी की वृद्धि करने में सहायक अवश्य होते हैं।

साख पूँजी का परिवर्तन करती है—साख का असली काम एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को पूँजी का परिवर्तन करना है। यदि 'क' 'ख' को ऋण देता है, तो 'क' क्रय-शक्ति का उपयोग नहीं करता और 'ख' को उस क्रय-शक्ति के उपयोग करने का अधिकार दे देता है। यदि आप मुझे २०० रुपये उधार दें, तो आप २०० रुपयों के उपयोग का अधिकार त्याग देते हैं और मैं वह अधिकार प्राप्त कर लेता हूँ। इस अर्थ में, साख पूँजी परिवर्तित कराती है। रिकार्डो (Ricardo) ने लिखा था कि "साख पूँजी को जन्म नहीं देती, यह केवल इस बात का निर्णय करती है कि पूँजी किसके द्वारा काम में लाई जायगी।" इसी प्रकार मिल (Mill)

ने कहा है कि "साख केवल दूसरे व्यक्ति की पूँजी का उपयोग करने की आज्ञा मात्र है, अतः इसके द्वारा उत्पत्ति के साधन बढ़ाये नहीं जा सकते, उनका केवल परिवर्तन (transfer) हो सकता है।"

यहाँ हम एक बात कह देना आवश्यक समझते हैं। साख पूँजी का परिवर्तन तो करती ही है, पर यह धन का भी परिवर्तन कर सकती है। मान लीजिये, 'क' २०० रुपया 'ख' को उपभोग के लिये उधार देता है। अतः धन का 'क' से 'ख' के पास परिवर्तन हो गया। इस प्रकार साख ने धन का परिवर्तन किया, पूँजी का नहीं। यह समझना कि साख केवल पूँजी का ही परिवर्तन करती है गलत है, यह धन का भी परिवर्तन कर सकती है।

क्या साख पूँजी को जन्म देती है?—कभी-कभी साख पूँजी को जन्म भी देती है। ऐसा बहुधा होता है कि किसी व्यक्ति के पास कुछ रुपया बेकार पड़ा है जो उसके किसी काम नहीं आ रहा और जो पूँजी नहीं कहला सकता। यदि वह इस रुपये को किसी उत्पादक को दे दे, तो यह पूँजी बन जायगा। इस प्रकार साख कभी-कभी पूँजी को जन्म देती है या धन को पूँजी में बदल देती है।

उदाहरण के लिये, मान लीजिये कुछ रुपया बेकार पड़ा हुआ है। वह एक उत्पादक को उधार दे दिया जाता है जो उसे उत्पत्ति में लगा देता है और वह पूँजी का रूप ग्रहण कर लेता है। यहाँ हम यह कह सकते हैं कि इस दशा में साख ने पूँजी को बढ़ाया। किन्तु प्रत्येक दशा में ऐसा नहीं होता। अतः हमारे निष्कर्ष निम्नलिखित हैं:—

(१) साख पूँजी नहीं। (२) साख-पत्र पूँजी नहीं। (३) साख केवल धन या पूँजी के परिवर्तन में सहायक होती है। (४) साख हमेशा पूँजी के बढ़ाने का काम नहीं करता।

साख व्यवस्था (Credit Mechanism)

आजकल का युग साख और कुशल संगठन का युग है, और इसमें एक सुसंगठित साख-व्यवस्था स्थापित कर दी गई है जिससे कि साख के लेन-देन में आसानी और सुविधा हो। इस व्यवस्था के दो महत्त्वपूर्ण अंग निम्नलिखित हैं: (क) साख-पत्र जो साख के सौदों के लिखित प्रमाण होते हैं, जैसे बिल आव एक्सचेंज, प्रामिसरी नोट, आदि, और (ख) साख संस्थाएँ, अर्थात् बैंक, जो रुपया जमा करते हैं और रुपया उधार देते हैं।

३. साख-पत्र (Credit Instruments)

अर्थ

आधुनिक समाज में साख के सौदे लिखित रुक्कों द्वारा किये जाते हैं जिनमें एक निश्चित रुपये की रकम अदा करने की प्रतिज्ञा लिखी होती है। ऐसे रुक्कों को साख-पत्र (credit instruments) कहते हैं। प्रामिसरी नोट, करेन्सी नोट, बिल आव एक्सचेंज, चक और हुंडी प्रमुख साख-पत्र हैं।

साख-पत्र और द्रव्य

साख-पत्र द्रव्य की भाँति ऋण के भुगतान में दिये और लिये जाते हैं, किन्तु द्रव्य और साख-पत्र में कुछ अन्तर होते हैं : (१) द्रव्य सदैव कानूनी ग्राह्य होता है : ऋणी ऋणदाता को ऋण के भुगतान में इसे स्वीकृत करने के लिये बाध्य कर सकता है। साख-पत्र को यह सुविधा प्राप्त नहीं होती। (२) क्योंकि द्रव्य कानूनी ग्राह्य होता है, इसलिये यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है। विक्रेता खरीदार से रुपये के सिक्के इसलिये स्वीकार करता है कि वह जानता है कि दूसरे लोग उससे ये सिक्के स्वीकार कर लेंगे। यह बात साख-पत्रों के विषय में नहीं कही जा सकती। एक व्यक्ति दूसरे से चेक या हुंडी तभी लेगा जबकि उसे यह विश्वास हो कि चेक या हुंडी की प्रतिष्ठा (honour) की जायगी। ऐसे विश्वास के अभाव में, वह साख-पत्र स्वीकार नहीं करेगा। अतः साख-पत्र **विशेषतया स्वीकार** (Specially Accept) किये जाते हैं। (३) साख-पत्र द्रव्य के अदा करने के लिखित वायदे होते हैं, और स्वभाव से ही द्रव्य से भिन्न होते हैं। वे सीमित अर्थ में द्रव्य के स्थानापन्न (substitutes) होते हैं।

अब हम साख-पत्रों के कुछ प्रमुख स्वरूपों की विवेचना करेंगे।

प्रामिसरी नोट

परिभाषा—कानून के अनुसार, प्रामिसरी नोट लिखित और निर्माणक (maker) द्वारा हस्ताक्षरित बिना शर्तवाला (बैंक नोट या करेन्सी नोट के अतिरिक्त) रुक्का है जिसमें निर्माणक किसी व्यक्ति को या उसके आदेशित व्यक्ति (order) या धारक (bearer) को केवल रुपयों की एक निश्चित रकम देने की प्रतिज्ञा करता है।

प्रामिसरी नोट के पक्ष (Parties)—प्रामिसरी नोट के दो पक्ष होते हैं : (क) निर्माणक (maker) जो नोट बनाता और उस पर हस्ताक्षर करता है और रुपया अदा करने की प्रतिज्ञा करता है, और (ख) लेनदार (payee) जिसको रुपया मिलता है।

दर्शनी (Demand) और मुद्दती (Time) प्रामिसरी नोट—यदि प्रामिसरी नोट में एक निश्चित रकम माँगने पर देने की प्रतिज्ञा लिखी हो, तो उसे दर्शनी प्रामिसरी नोट कहते हैं, और यदि उसमें निश्चित रकम किसी अवधि के पश्चात् देने की प्रतिज्ञा लिखी हो तो उसे मुद्दती प्रामिसरी नोट कहते हैं।

रिजर्व बैंक जो नोट निर्गमित (issue) करता है, वे भी प्रामिसरी नोट होते किन्तु कानून में वे प्रामिसरी नोट की परिभाषा के परे रक्खे गये हैं। बैंक नोट या करेन्सी नोट के अतिरिक्त, प्रामिसरी नोट स्टाम्पवाले कागज पर लिखे होने चाहियें, और स्टाम्प का मूल्य मूल्यानुसार (ad valorem) होना है, अर्थात् वह रुक्के की रकम के अनुसार बदलता रहता है। हम नीचे प्रामिसरी नोट का एक उदाहरण देते हैं :

Stamp Rs 300 only

Two months after date, I promise to pay to Messrs Ramji Lal Shyamji Lal & Co, or order, the sum of Rupees three ndred only for value received

For Narayan Pre
(Sd) G P Tiwari

बैंक नोट और करेन्सी नोट

बैंक नोट और करेन्सी नोट में सरकार का या रिजर्व बैंक का यह वायदा लिखा होता है कि रुक्के के धारक को एक निश्चित रुपये की रकम माँगने पर अदा कर दी जायगी, इसलिये ये प्रामिसरी नोट ही होते हैं। यदि नोट सरकार निर्गमित करती है, तो यह करेन्सी नोट कहलाते हैं, और यदि इन्हे रिजर्व बैंक निर्गमित करता है, तो ये बैंक नोट कहलाते हैं। बैंक नोट या करेन्सी नोट साख-पत्र होते हैं, इसलिये वे द्रव्य की श्रेणी में परिगणित किये जाते हैं। अत. ये नोट अन्य साख-पत्रों से उन सब दशाओ में भिन्न होते हैं जिनमें कि द्रव्य भिन्न होता है।

बिल आव एक्सचेंज या विनिमय विपत्र

परिभाषा—कानून के अनुसार, बिल आव एक्सचेंज बिना शर्त वाला, लिखित और लेखक द्वारा हस्ताक्षरित रुक्का है जिसके द्वारा लेखक किसी खास व्यक्ति को, या उसके आदेशित व्यक्ति (order) को, या रुक्के के धारक (bearer) को अदा करने का आदेश देता है। आसान शब्दों में, बिल आव एक्सचेंज वह लिखित आदेश है जो ऋणदाता ऋणी को द्रव्य की एक निश्चित रकम

स्वय उसको या किसी उल्लिखित व्यक्ति को या धारक को अदा करने की आज्ञा देता है।

बिल के पक्ष (Parties)—बिल आव एक्सचेंज के तीन पक्ष होते हैं—लेखक, देनदार और लेनदार। जो व्यक्ति बिल लिखता या बनाता है, अर्थात् ऋणदाता, लेखक (Drawer) कहलाता है, जिस व्यक्ति पर बिल लिखा (draw) जाता है, अर्थात् ऋणी, देनदार (Drawee) कहलाता है, और जिस व्यक्ति को बिल में भुगतान लेने के लिये अधिकृत किया जाता है, उसे लेनदार (Payee) कहते हैं।

दर्शनी और मुद्दती बिल—यदि बिल आव एक्सचेंज का रुपया माँगने पर देय होता है, तो उसे दर्शनी बिल (demand bill of exchange) कहते हैं, और यदि उसका रुपया एक निश्चित अवधि के पश्चात् देय होता है, तो उसे मुद्दती बिल (time or usance bill) कहते हैं। यदि बिल मुद्दती हो तो उल्लिखित अवधि में तीन अनुग्रह-दिवस (days of grace) जोड़ देने चाहियें, तब ही देय तिथि मालूम की जा सकती है। यदि बिल दर्शनी हुआ, तो अनुग्रह-दिवस नहीं गिने जाते। मुद्दती बिलों पर मूल्यानुसार स्टाम्प लगाना आवश्यक है किन्तु दर्शनी बिल पर स्टाम्प नहीं लगाया जाता।

स्वीकृति (Acceptance)—जब बिल लिखकर तैयार हो जाय, तब उसको देनदार (drawee) के सामने स्वीकृति (acceptance) के लिये उपस्थित (present) करना चाहिये। वह उसे स्वीकार करने के लिये उसके मुख पर "स्वीकार किया" या "accepted" लिख देगा और उसके नीचे अपना हस्ताक्षर कर देगा। स्वीकृति के पश्चात् बिल पक्का रुक्का हो जाता है और दोनों पक्षों पर लागू (binding) हो जाता है। स्वीकार कर लिये जाने के पश्चात् बिल को स्वीकृति (Acceptance) कहने लगते हैं। हम नीचे बिल आफ एक्सचेंज का एक उदाहरण देते हैं :

Allahabad
April 15, 1949

Rs 700

Stamp

Two months after sight of this bill, pay to me or my order the sum of rupees seven hundred only for value received

For Kitab Mahal, Allahabad,
S Niwas,
Proprietor

To
The Krishna Press,
Allahabad

यह बिल किताब महल, इलाहाबाद (लेखक), ने कृष्ण प्रेस, इलाहाबाद (देनदार) पर लिखा है। बिल का लेनदार (payee) किताब महल है। इस बिल पर कृष्ण प्रेस "स्वीकार किया" लिखकर उसके नीचे अपने हस्ताक्षर कर देगा, और इस प्रकार बिल स्वीकार हो जायगा।

देशी और विदेशी बिल—बिल आव एक्सचेंज देशी सौदों और विदेशी सौदों, दोनों के ही सम्बन्ध में काम में लाया जा सकता है। पहले प्रकार का बिल देशी बिल (Inland Bill) कहलाता है और दूसरे प्रकार का बिल विदेशी बिल (foreign bill)। विदेशी बिल व्यापारियों की बहुमूल्य सेवा करते हैं। यदि विदेशी भुगतान के लिये धातु के सिक्के काम मे लाये जायँ, तो दो कठिनाइयाँ सामने आयेंगी: (१) विदेशी, सिक्कों को उनके नियमित मूल्य (face value) पर नहीं लेंगे क्योंकि वे उनके देश में चालू नहीं। वे उन्हें धातु के रूप में ही स्वीकृत करेंगे। (२) एक देश से दूसरे देश को सिक्के भेजने में बहुत सा समय, श्रम और रुपया बरबाद होगा। ये कठिनाइयाँ बिल आव एक्सचेंज के प्रयोग द्वारा दूर की जा सकती हैं। लन्दन-स्थित लेनदार या ऋणदाता अपने कलकत्ता-स्थित देनदार या ऋणी पर एक बिल लिख सकता है, और लन्दन में ही किसी ऐसे व्यक्ति के हाथ बेच भी सकता है जिसे किसी बम्बई-स्थित व्यापारी को रुपया अदा करना हो। इस प्रकार लन्दन के ऋणदाता को एक लन्दन वाले से ही तुरन्त रुपया मिल जाता है। बिल का खरीदार बिल बम्बईवाले व्यापारी को भेज देता है, जो कलकत्तेवाले देनदार के सामने उपस्थित करके बिल का रुपया वसूल पा जाता है। इस प्रकार हिसाब बिना एक पाई भी भेजे हुए चुकता हो जाता है। नीचे के चित्र में हिसाब चुकता होने की रीति दिखाई जाती है :

लन्दन		कलकत्ता
क ←———	———स्वीकृति←——— क को दी गई	——— ख
ऋणदाता (रुपया मिलना है)		ऋणी (रुपया देना है)
↓		↑
क बिल ग को बेचता है		ख बिल अदा करता है
↓		↑
ग		ग
ऋणी——— (रुपया देना है)	———→बिल——— ग को दिया गया	———→ऋणदाता (रुपया मिलना है)
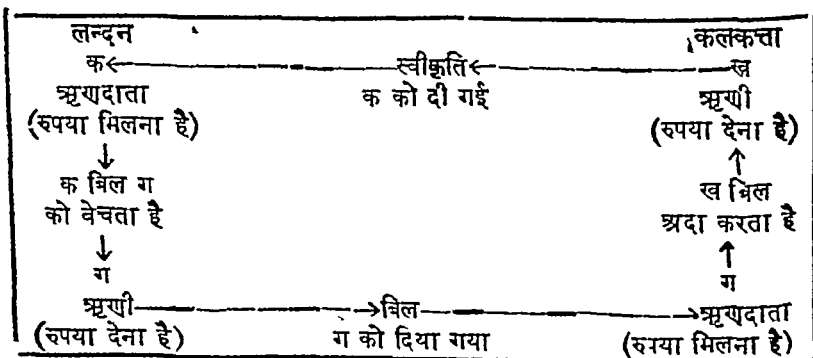
दो देशों के बीच में पारस्परिक ऋण का बिल द्वारा भुगतान (liquida-

tion) हो जाता है, केवल पारस्परिक ऋण के अन्तर (balance) के बराबर धातु या सिक्के भेजना आवश्यक होता है।

बिल आव एक्सचेंज और नोट

बिल आव एक्सचेंज, करेन्सी नोट या बैंक नोट से कई बातों में भिन्न होता है :-

बिल आव एक्सचेंज	नोट
(१) इसके तीन पक्ष होते हैं—लेखक, देनदार और लेनदार।	(१) इसके केवल दो पक्ष होते हैं—निर्माणक और देनदार।
(२) यह रुपया अदा करने का आदेश होता है।	(२) यह रुपया अदा करने का वादा होता है।
(३) इसको देनदार द्वारा स्वीकार कराया जाता है।	(३) इसको स्वीकार नहीं कराया जाता।
(४) इसे कोई भी व्यक्ति निर्गमित कर सकता है।	(४) इसे सरकार या रिजर्व बैंक ही निर्गमित करता है।
(५) यह कानूनी ग्राह्य नहीं होता और चलन में यह परिगणित नहीं किया जाता।	(५) यह कानूनी ग्राह्य होता है और चलन का एक अंग होता है।
(६) यह दर्शनी हो सकता है या मुद्दती।	(६) यह केवल दर्शनी होता है।
(७) इसका दोबारा निर्गम (issue) नहीं किया जा सकता।	(७) इसे दोबारा निर्गमित किया जा सकता है।
(८) इस पर (बेचान-साध्य रुक्कों के विधान को छोड़कर) कोई प्रतिबंध लागू नहीं होता।	(८) इसका निर्गम विशेष विधान या ऐक्ट के अन्तर्गत किया जाता है।
(९) विदेशी भुगतान में यह बहुत काम आता है।	(९) यह विशेष काम नहीं आता।
(१०) यह तीन के सेट में लिखा जा सकता है।	(१०) यह इस प्रकार नहीं लिखा जाता।

चैक

परिभाषा—कानून के अनुसार चैक एक बिना शर्तवाला आदेश है जो किसी बैंक पर लिखा जाता है, जिस पर लेखक का हस्ताक्षर होता है और जो बैंक को केवल रुपयों की एक खास रकम किसी व्यक्ति को या उसके आदेशित व्यक्ति- (order) को या रुक्के के धारक (bearer) को माँगने पर अदा करने की

आज्ञा देता है। दूसरे शब्दों में, यह किसी बैंक पर लिखा जानेवाला दर्शनी बिल आव एक्सचेंज होता है।

जब कोई व्यक्ति चलतू खाते (current account) में रुपया जमा करता है, तो बैंक उसे एक चैक बुक देता जिसमें बहुत से खाली चैक होते हैं। जब वह रुपया निकालना चाहता है या किसी को रुपया अदा करना चाहता है, तो उसे चैक भरना पड़ता है। जब ठीक तरह से भरा हुआ चैक बैंक की खिड़की (counter) पर उपस्थित किया जाता है, तब बैंक उसमें लिखा हुआ रुपया अदा कर देता है।

चैक के पक्ष—चैक से तीन व्यक्ति सम्बन्धित होते हैं : (१) लेखक (drawer) या बनाने वाला (maker), अर्थात् वह व्यक्ति या जमा करने वाला जो चैक लिखता है, (२) देनदार बैंक (drawee) अर्थात् वह बैंक जिसके ऊपर चैक लिखा जाता है; और (३) लेनदार (payee) अर्थात् वह व्यक्ति जिसके नाम या हक में चैक लिखा जाता है। कभी-कभी लेखक लेनदार के स्थान पर 'स्वयं' (self) लिख देता है, इस दशा में वह स्वयं ही लेनदार होता है।

धनीजोग (Bearer) चैक—धनीजोग या बीअरर चैक वह है जिसका भुगतान धारक (bearer) को किया जाता है, अर्थात् जो भी व्यक्ति चैक बैंक में उपस्थित करता है, उसी को चैक का भुगतान कर दिया जाता है। ऐसे चैक की भाषा इस प्रकार की होती है : Pay to Ram Charan or Bearer .. । अतः जो भी व्यक्ति इसे खिड़की (counter) पर उपस्थित करता है, बैंक उसी को चैक का रुपया अदा कर देता है। बैंक इस बात की पूछ-ताछ करने का कि रुपया सही व्यक्ति को दिया जा रहा है, कोई उत्तरदायित्व नहीं लेता। यदि किसी व्यक्ति को एक धनीजोग (bearer) चैक सड़क पर पड़ा मिल जाय और वह उसे बैंक में जाकर भुना ले, तो बैंक गलत व्यक्ति को रुपया अदा हो जाने का उत्तरदायी नहीं। धनीजोग चैकों का हाथों-हाथ (by mere delivery) तबादला हो सकता है, उन पर बेचान-लेख (endorsement) लिखने की आवश्यकता नहीं होती। साधारणतया बैंक रुपया पाने वाले से चैक पर बेचान-लेख लिखा लेते हैं, अन्यथा वे रुपया पाने वाले से टिकट लगी रसीद माँगते हैं। हम नीचे धनीजोग चैक का उदाहरण देते हैं :

No A 5302 Dated, Allahabad, June 1, 1950
JWALA BANK, LTD.,
Allahabad

Pay to Dr. R Dubey or bearer rupees five hundred only
For Kitab Mahal, Publishers,
Rs 500 S N Agarwala,
Manager

नामजोग (Order) चैक—नामजोग या आर्डर चक वह चैक है जिसका भुगतान किसी खास व्यक्ति को या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति (order) को किया जाता है। ऐसे चैक की भाषा इस प्रकार होती है : "श्रीयुत रामचन्द्र या उनके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को पाँच सौ रुपया अदा कीजिये" (Pay to Mr. Ramchandra or his order Rupees five hundred only)। नामजोग चेक के तबादले के लिये पहले बेचान-लेख (endorsement) लिखना और फिर दूसरे के हाथ सौंपना (delivery) नितान्त आवश्यक हैं। ऐसे चेक पर पहले बेचान-लेख लिखा जाता है, और भुगतान करने वाले बैंक का यह कानूनी कर्त्तव्य है कि इस बात की छान-बीन करे कि सब बेचान-लेख ठीक-ठीक हैं और रुपया पाने वाला सही व्यक्ति है। यदि कोई चैक किसी खास व्यक्ति के नाम या हक में लिखा गया है और उसके नाम के आगे (or order) या (or bearer) नहीं लिखा गया, तो उसको नामजोग या आर्डर चेक माना जाता है। उदाहरण के लिये, यदि कोई चेक डा० राम प्रताप बहादुर के नाम में लिखा गया हो, तो वह आर्डर चैक होगा।

रेखांकित (Crossed) चैक—जब चैक के मुख पर दो तिरछी समानांतर रेखाएँ खींच दी जाती हैं, तब वह रेखांकित (crossed) हो जाता है; रेखाओं के साथ "& Co." या "A/c payee only" आदि शब्द लिखना वैकल्पिक (optional) है। ऐसे चैक को रेखांकित चैक कहा जाता है। रेखांकित चक बैंक की खिड़की पर नहीं भुनाया जा सकता। देनदार बैंक उसका रुपया केवल किसी बैंक को ही देगा। जब कोई व्यक्ति रेखांकित चैक स्वीकार करता है, तो वह उस चैक को अपने बैंक में जमा करा देता है, और उसका बैंक देननार बैंक से रुपया वसूल कर लेता है। ऐसे चैक बहुत सुरक्षित होते हैं क्योंकि इसमें किसी गलत व्यक्ति को भुगतान कर देने का भय न्यूनतम हो जाता है।

चैक और बिल आव एक्सचेंज—हम नीचे चैक और बिल आव एक्सचेंज के अन्तर की व्याख्या करते हैं :

चैक	बिल आव एक्सचेंज
(१) यह सदैव किसी बैंक पर लिखा जाता है।	(१) इसका देनदार कोई भी हो सकता है।
(२) इसकी स्वीकृति नहीं होती।	(२) केवल दर्शनी बिल को छोड़कर, अन्य सब बिलों की स्वीकृति अवश्य होनी चाहिये।
(३) यह माँगने पर देय (payable) होता है।	(३) यह दर्शनी हो सकता है या मुद्दती।
(४) यह सामान्यतया भीतरी चलन के लिये काम में आता है।	(४) यह अन्तर्राष्ट्रीय ऋण के चुकाने का एक बहुत महत्वपूर्ण साधन है।
(५) यह रेखांकित किया जा सकता है।	(५) यह रेखांकित कभी नहीं होता।
(६) यदि इसमें कोई गलती हो, तो देनदार भुगतान के लिये बाध्य नहीं और ऐसी दशा में वह भुगतान नहीं करेगा।	(६) यदि देनदार ने बिल स्वीकार कर लिया हैं तो वह भुगतान के लिये बाध्य हो जाता है, चाहे रुक्के में गलती ही क्यों न हो।
(७) यदि किसी बैंक पर लिखे गये चैक पर कोई कूट (forged) बेचान-लेख हो, तो बैंक कानून द्वारा सुरक्षित होता है।	(७) यदि बैंक कूट-बेचान लेख वाला बिल अदा कर देता है, तो वह उसका रुपया स्वीकारक के नाम नहीं लिखा सकता।
(८) यदि चक के उपस्थित करने में देरी हो जाय, तो इससे लेखक और बेचान-लेखक अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं होते; हाँ, अगर बैंक फेल हो जाय, तो बात दूसरी है।	(८) यदि (मुद्दती) बिल देय तिथि पर उपस्थित न किया जाय, तो लेखक और बेचान-लेखक अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाते हैं।

चैक और बैंक नोट—चैक और बैंक नोट में निम्नलिखित अंतर होते हैं :

चैक	बैंक नोट
(१) यह कानूनी ग्राह्य नहीं होता।	(१) यह कानूनी ग्राह्य होता है।
(२) यह रुपये की एक निश्चित रकम अदा करने का आदेश है।	(२) यह रुपये की एक निश्चित रकम अदा करने का वायदा है।

(३) यह धनीजोग हो सकता है या नामजोग।	(३) यह हमेशा धनीजोग होता है।
(४) जमा करनेवाला इसे लिखता है।	(४) इसे सरकार या रिज़र्व बैंक बनाता है।
(५) यह रेखांकित किया जा सकता है।	(५) इसका रेखांकन नहीं किया जा सकता।
(६) क्योंकि यह प्रत्येक व्यक्ति में विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकता, इसलिये इसका जीवन छोटा होता है।	(६) क्योंकि यह सब व्यक्तियों में पूर्ण विश्वास उत्पन्न करता है, इसलिये इसका जीवन बहुत बड़ा होता है।

भारतवर्ष मे चैक का प्रयोग—चैक के बहुत हैं लाभ होते हैं। वे चलन का बहुत सस्ता माध्यम होते हैं, उनकी मात्रा देश की चलन सम्बन्धी आवश्यकता के अनुसार अपने आप ही बदलती रहती है, और इनके दूसरे भी लाभ बहुत से हैं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे देश में चैक का प्रयोग बहुत सीमित है। देश में चैक का प्रयोग निम्नलिखित रीतियों द्वारा प्रोत्साहित किया जा सकता है: (१) देश के अधिकांश सदस्य अनपढ हैं और वे चैक नहीं लिख सकते। चेष्टा इस बात की करनी चाहिये कि उनमें शिक्षा का प्रसार हो और बैंकों को भी कोई ऐसा उपाय खोजना चाहिये जिससे कि ये अनपढ लोग भी चैक बना सके। (२) आजकल चैक अधिकतर अंग्रेजी में लिखने पड़ते हैं। सब लोग अंग्रेजी नहीं जानते, इसलिये चैक के प्रयोग में बाधा पड़ती है। बैंकों को अब चैक हिन्दी में छपाना और हिन्दी में लिखे चैकों को स्वीकार करना आरम्भ कर देना चाहिये। (३) बैंकों को ऐसी सुविधायें प्रदान करनी चाहिये कि जिससे जनता को चैक का रुपया शीघ्र ही मिल सके। बैंक को चाहिये कि वे व्यापारियों तथा अपने अन्य ग्राहकों को चैक का प्रयोग करने के लिये उत्साहित करे। (४) साधारणतया समस्त बैंकों को और डाकखानो को भी सेविंग्स बैंक खाते में से रुपया चैक द्वारा निकालने का प्रबन्ध करना चाहिये। मालगुजारी, कर और स्थानीय फीस आदि चैक के रूप में स्वीकार करनी चाहिये। (५) सरकार तथा स्थानीय संस्थाओं को चैक के द्वारा भुगतान करना चाहिये। (६) इम्पीरियल बैंक को बाहरी चैकों पर कम कमीशन लेना चाहिये। (७) चैक का प्रयोग विस्तृत बनाने के लिये यह भी आवश्यक है कि स्थान-स्थान पर बैंक खोले जायँ।

बैंक ड्राफ्ट

बैंक ड्राफ्ट उस चैक को कहते हैं जो एक बैंक किसी दूसरे स्थान वाले दूसरे बैंक या अपनी शाखा पर लिखता है, और जिसमें वह रुपये की एक निश्चित

रकम किसी उल्लिखित व्यक्ति को, या उसके आदेशित व्यक्ति को, या रुक्के के धारक को देने का आदेश देता है। सामान्यतया जो व्यक्ति दूसरे स्थानों में रहने वाले ऋण-दाताओं को रुपया भेजना चाहते हैं, वे अपने बैंक से बैंक ड्राफ्ट लेकर, उन्हें भेज देते हैं। उन्हें बैंक ड्राफ्ट लेने के लिये बैंक को ड्राफ्ट की रकम तथा कुछ थोड़ा-सा कमीशन देना पड़ता है।

हुंडी

परिभाषा—हमारे देश मे हुंडी सबसे पुराना आजीवित साख पत्र है। हुंडी सामान्यतया बिना शर्तवाला एक लिखित आदेश है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को यह आदेश देता है कि वह रुपये की एक निश्चित रकम उल्लिखित व्यक्ति को माँगने पर या एक अवधि के पश्चात् अदा कर दे। कुछ लेखक कमी-कमी लिखते हैं कि हुंडी बिल आव एक्सचेंज का भारतीय स्वरूप है। किन्तु यह समझना गलत है। बिल आव एक्सचेंज तो हमेशा बिना शर्तवाला आदेश होता है, किन्तु हुंडी शर्तवाली हो सकती है।

हुंडी के काम—हमारे देश के आभ्यंतरिक व्यापार की द्रव्य-संबंधी आवश्यकताओं की संतुष्टि में हुंडी का बड़ा हाथ होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान को द्रव्य भेजने का यह बड़ा अच्छा साधन है। इसके द्वारा रुपया उधार भी लिया जा सकता है। जरूरतमन्द व्यापारी अपने एजेण्ट या मित्र पर एक हुंडी लिख सकता है और इसे किसी बैंक से बट्टा देकर भुना सकता है। किन्तु भारतवर्ष में हुंडी का वही स्थान नहीं जो कि इंगलैंड में बिल आव एक्सचेंज को प्राप्त है। हुंडी में कोई ऐसी बात नहीं लिखी होती जो इस बात को प्रमाणित करे कि वह किसी व्यापारिक माल के संबंध में निर्गमित हुई है, और इसलिये बैंक उसे आसानी से स्वीकार नहीं करते। वे उस पर दो परिचित बैंकरों के पेचान लेख लिखवाकर ही उसे स्वीकार करते हैं।

हुंडी के उपभेद—हुंडी यदि माँगने पर देय हो तो दर्शनी कहलाती है, और यदि वह किसी निश्चित अवधि के बाद देय हो, तो वह मुद्दती कहलाती है। दर्शनी और मुद्दती हुंडी निम्नलिखित उपविभागों में बाँटी जा सकती है: (१) धनीजोग हुंडी जो किसी धनी या धारक को देय होती है। यदि भुगतान किसी गलत व्यक्ति को हो जाय तो बैंक इसका उत्तरदायी नहीं होता। (२) शाहजोग हुंडी जो किसी शाह अर्थात् सम्मानित व्यक्ति को देय होती है। शाहजोग हुंडी का भुगतान करते समय बैंक को यह निश्चय कर लेना चाहिये कि उपस्थित करने वाला व्यक्ति ही भुगतान पाने का अधिकारी है। शाहजोग हुंडी रेखांकित चैक की भाँति ही होती है: अन्तर

केवल इतना होता है कि रेखांकित चैक तो किसी बैंक के द्वारा किसी तीसरे पक्ष को देय होता है, किन्तु शाहजोग हुंडी किसी विशेष व्यक्ति को देय होती है। (३) फरमान जोग हुंडी किसी आदेशित व्यक्ति को देय होती है। फरमान शब्द आदेश का द्योतक है। (४) देखनहार हुंडी धारक को देय होती है।

हुंडी का उदाहरण—हम नीचे एक हुंडी का उदाहरण देते हैं

ॐ

संख्या ३४५

सिद्ध श्री इलाहाबाद शुभ-स्थान श्री पत्री भाई नवीन नारायण श्री नारायण लिखी एटा से श्रीनिवास श्रीमुरारी की राम राम बंचना। अपरंच हुंडी किता नग एक, रुपया २५० अंकन दो सौ पचास जिसका नीमे रुपया एक सौ पचीस का दूना पूरा आठे रक्खा महालक्ष्मी एटा बैंक लिमिटेड पास मिती भादौं सुदी नवमी से दिन ६० साठ पीछे नामे शाहजोग हुंडी चालान कलदार दिया, मिती भादौं सुदी ६, संवत् १९७८।

व्याख्या—यह मुद्दती शाहजोग हुंडी का उदाहरण है। इसके श्रीनिवास श्रीमुरारी लेखक हैं, और नवीन नारायण श्री नारायण इसके देनदार हैं। महालक्ष्मी एटा बैंक इसका लेनदार है। हुंडी की रकम २५० रुपया है।

अभ्यास के प्रश्न

१. साख शब्द जिन-जिन अर्थों में प्रयोग होता है, उन सब को बताइये। इसका आर्थिक अभिप्राय भी स्पष्ट कीजिए।

२. साख के आवश्यक तत्व क्या हैं? इसका महत्व और उपादेयता बताइये। साख से क्या आशंकाएँ हो सकती हैं?

३. साख की परिभाषा दीजिये। क्या साख को पूँजी कहा जा सकता है?

४. साख-पत्रों का अर्थ समझा कर लिखिये। क्या साख-पत्र द्रव्य से भिन्न होते हैं?

५. प्रामिसरी नोट, बिल आव एक्सचेंज तथा चैक का अर्थ समझा कर लिखिये। प्रत्येक के पक्षों को भी बताइये।

६. मुद्दती और दर्शनी बिलों तथा देशी और विदेशी बिलों का अर्थ बताइये।

७. बिल आव एक्सचेंज की प्रामिसरी नोट से, चैक की बिल आव एक्सचेंज से, और चैक की बैंक नोट से तुलना कीजिये।

८. बैंक ड्राफ्ट, रेखांकित चैक और हुंडी पर संक्षिप्त नोट लिखिये।

९. हुंडी पर एक निबन्ध लिखिये जिसमें उनके कार्य और प्रकार पर विशेष प्रकाश डालिये।

१०. भारत में चैकों का प्रयोग किस सीमा तक होता है? क्या उनका प्रयोग बढ़ाना हितकर होगा? उनका प्रयोग कैसे बढ़ाया जा सकता है?

परीक्षा प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१ साहूकारों की निकासी कोठी (Clearing house) पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४६)

२. चैक क्या है? चैक प्रणाली से जमा करने वाले और बैंक दोनों को किस प्रकार लाभ होता है? (१९४८,१९४१)

३. हुंडी तथा चैकों पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४८)

४. द्रव्य और साख-पत्रों का अंतर बताइये। आधुनिक वाणिज्य और उद्योगों को साख से क्या लाभ होता है? (१९४७)

५ (अ) बिल आव एक्सचेंज और (आ) निकासी की कोठी (Clearing House) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४७)

६. साख के आवश्यक तत्त्व क्या हैं? इसका महत्त्व और उपयोगिता बतलाइये। इससे क्या आशंकाएँ होती हैं? (१९४६)

७. रेखांकित चैक पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४५)

८. (अ) बिल आव एक्सचेंज क्या होता है? देश के आभ्यांतरिक या बाह्य व्यापार में यह क्या सहायता करता है?

(इ) कानपुर के मोहन एण्ड सन्स बनारस के श्यामलाल एण्ड ब्रदर्स को १०००) का माल बेचते हैं। विक्रेता की ओर से एक दर्शनी बिल लिखिये और उसे राम एण्ड कम्पनी को देय बनाइये।। (१९४४)

९. चैक और प्रामिसरी नोट का भेद बताइये। (१९४३)

१०. बिल आव एक्सचेंज और साख-पत्रों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४२)

११. साख के विकास का भारतीय व्यापार और वाणिज्य पर क्या प्रभाव पड़ा है? आप किसानों को सस्ती और सरल साख दिलाने में क्या सहायता कर सकते हैं? (१९४०)

१२. साख-पत्र की परिभाषा दीजिये। बिल आव एक्सचेंज, करेन्सी नोट और चैक के अन्तर बताइये। इस देश में चैक का प्रयोग किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है ? (१६३५)

१३. हुंडी के विषय में आप क्या जानते हैं ? आपके शहर में इस्तेमाल की जाने वाली हुंडी का एक नमूना दीजिये और इसका अर्थ स्पष्ट कीजिए। (१६३०)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

१४. चैक क्या होता है ? चैक के रेखांकित करने का क्या उद्देश्य होता है ? एक चैक बनाइये और उसको विशेषतया रेखांकित कीजिए। (१६४५)

१५. विभिन्न प्रकार की हुंडियों का वर्णन कीजिए और उनकी वैधानिक अवस्था पर प्रकाश डालिये। (१६३२)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

16. Write a short note on differences between a note and a cheque (1944)

17 What is meant by credit ? What are the services rendered by credit to commerce and industries in India ? (1943)

18 Write a short note on Bills of Exchange

19 What do you understand by (a) a cheque and (b) a bill of exchange ? Explain how far have they helped the development of commerce in India (1939)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

20 Write a short note on 'Hundis'. (1948, 1947)

21. Write a short note on Hundis and Bills of Exchange (1946)

पटना, इंटर कामर्स

22. What do you mean by Rate of Exchange ? Should it remain stable ? (1949 Supp)

23. What do you mean by Rate of Exchange ? Why is it that the rate of exchange remains stable in the case of gold currencies ? Does a country gain any advantage by stability in the rate of exchange ? (1948 Supp.)

24 Explain the mechanism for the payment of international obligations Why is it that the Central Bank discounts

only those bills which bear at least one signature of a sound financial concern ? (1948)

25 Write short notes on (a) Credit Money and (b) Bill of Exchange (1948)

26 Write a short note on the different kinds of cheques. (1949)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

27 Give the distinguishing features of a bill of exchange. How and why is it discounted ? Clearly explain how it saves the use of money (1948)

28 What is a Crossed Cheque ? Discuss its merit as a mode of payment (1947)

नागपुर, इन्टर कामर्स

२९. रेखांतिक चैक क्या है ? अदायगी के एक स्वरूप के रूप में इसके गुणों की व्याख्या कीजिए। (१९४७)

३०. बिल आव एक्सचेंज पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४६)

सागर, इंटर आर्ट्स

31. Write a short notes on (i) Bearer and Order Cheques, (ii) Bill of Exchange (1949)

32 What are the chief instruments of credit ? How they facilitate the settlement of business transactions ? (1949 Supp)

33 What is a Bill of Exchange ? How does it operate ? What are its advantages ? (1948)

34 Write a short note different kinds of cheques (1948)

अध्याय ५२
बैंक

बैंक एक ऐसी संस्था है जो द्रव्य तथा साख का क्रय-विक्रय करती है; इसीलिये इसे **साख-संस्था** कहते हैं।

बैंक की परिभाषा

आधुनिक समाज में बैंक बहुत से काम करते हैं। अत. बैंक के जिस काम पर या उसके कामो के जिस पहलू पर कोई लेखक जोर देना चाहता है, उसने उसी प्रकार की परिभाषा दी है। इसलिये बैंक की अनेक परिभाषाएँ हैं।

जैसा कि सभी जानते हैं बैंक उन व्यक्तियों का रुपया जमा करता है जो अपना द्रव्य सुरक्षित रखना चाहते हैं और उस पर कुछ व्याज भी कमाना चाहते हैं, दूसरे शब्दों मे, **यह रुपया उधार लेता है**। यह जरूरतमन्द आदमियों को **रुपया उधार देता भी है**। रुपया उधार लेना और उधार देना, ये बैंक के प्रधान काम होते हैं। अत. हम कह सकते हैं कि बैंक ऐसी संस्था है जो द्रव्य उधार लेती और देती है। रुपये का उधार लेना और देना, साख के अन्तर्गत आता है, इसलिये अर्थशास्त्री बैंकों को **साख और द्रव्य का क्रय-विक्रय करने वाली संस्थाएँ** कहते हैं[१]।

बैंक के काम और उपयोगिता

बैंकों के विभिन्न कामो का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि बैंक आधुनिक समाज की कितनी सेवा करता है। उन्हें "आधुनिक जगत का स्नायु-केन्द्र" कहा

---

[१] बैंकिंग के कुछ अधिकारी लेखक चलतू खाता रखने पर बहुत जोर देते हैं। हार्ट ने लिखा है कि "बैंकर उसे कहते हैं जो व्यापार की साधारण गतिविधि में द्रव्य जमा करता है जिसे वह जमा करनेवाले व्यक्तियों द्वारा चैकों का भुगतान करके चुकाता है। (Heart, Law of Banking.) कुछ अर्थशास्त्री यह भी मानते हैं कि हमारे परिवर्तनशील समाज की परिवर्तनमयी आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिये बैंक ऐसे-ऐसे विभिन्न काम करता है कि बैंक की पर्याप्त परिभाषा देना असम्भव है। हमें बैंक की परिभाषा देने के स्थान पर इसकी हर किस्म का काम बताना अधिक लाभदायक होगा। (Rau, Elementary Banking)

गया है। इन कामों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : (१) प्रारम्भिक काम, (२) सामान्य उपयोगिता के काम, और (३) एजेन्सी के काम।

(१) **प्रारम्भिक काम**—जैसा कि बैंक की परिभाषा से स्पष्ट है, बैंक के दो प्रारंभिक काम होते हैं—रुपया उधार लेना और उधार देना। बैंक रुपया एक हाथ से उधार लेता है और दूसरे हाथ से उधार दे देता है, और यह आवश्यक काम बैंक अवश्य करता है, चाहे वह किसी समृद्धिशाली औद्योगिक केन्द्र में हो और उसकी सैकड़ों शाखाएं हों या वह किसी पिछड़े प्रदेश में हो और उसकी सम्पत्ति केवल एक तम्बू, एक लोहे की आलमारी, एक मेज और एक पिस्तौल ही हो।

(क) **रुपया उधार लेना**—बैंक रुपया जमा करके ऋण लेते हैं। जिन व्यक्तियों के पास रुपया होता है किन्तु जो अपना रुपया सुरक्षित रखना चाहते हैं और उसके साथ-साथ कुछ ब्याज भी कमाना चाहते हैं, वे उसे बैंक के पास जमा कर देते हैं।

रुपया या तो चलतू खाते में जमा कराया जा सकता है या स्थिर खाते में या सेविंग्स बैंक खाते मे। **चलतू खाते** में, रुपया चैक द्वारा किसी भी समय निकाला जा सकता है और इसके लिये किसी भी प्रकार की पूर्व-सूचना आवश्यक नहीं होती। साधारणतया चलतू खाते पर कोई ब्याज नही दी जाती, हाँ, यदि एक लम्बी रकम सदैव जमा रक्खी जाय, तो थोड़ी-सी ब्याज दे दी जाती है। **स्थिर खाते** (Fixed Account) मे रुपया एक निश्चित अवधि के लिये जमा किया जाता है और उस अवधि के व्यतीत होने के पूर्व नहीं निकाला जा सकता। ऐसे खाते पर ऊँचे दर पर ब्याज दी जाती है। **सेविंग्स बैंक खाते** में रुपया निकालने पर कुछ शर्तें लगा दी जाती हैं, जैसे डाकखाने से रुपया सप्ताह में एक ही बार निकाला जा सकता है और यदि बड़ी रकम निकालनी हो तो पूर्व-सूचना देना आवश्यक होता है। ऐसे खातों पर थोड़ी सी ब्याज अदा की जाती है।

बैंक अपने इस काम द्वारा मनुष्यों को रुपया बचाने के लिये प्रोत्साहित करता है। जब मनुष्यों को यह मालूम हो जाता है कि रुपया जमा करना, द्रव्य के सुरक्षित और लाभदायक विनियोग का आसान और सुविधाजनक साधन है, तब वे सारा रुपया खर्च कर देने या खोदकर गाढने के बजाय बैंक में जमा कराना आरम्भ कर देते हैं। जब वे पास-बुक में बड़ी रकम लिखी देखते हैं, तब उन्हे खुशी होने लगती है।

(ख) **रुपया उधार देना**—बैंकों के पास जो रुपया जमा किया जाता है, वह

कुल मिलकर एक बड़ी रकम बन जाता है। यह रुपया बैंक उद्योगपतियों, व्यापारियों और किसानों को उधार दे देते हैं, जो इसका अपने उपक्रमों (ventures) में विनियोग (invest) करके स्वयं भी लाभ कमाते हैं और देश की उन्नति भी करते हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत बचत के छोटे-छोटे नाले बैंक में आकर संयुक्त हो जाते हैं और एक बड़ा समुद्र-सा बन जाता है, उसमें से बहुत सी नहरें निकलती हैं जो खेतों को सींचती हैं, औद्योगिक यंत्र चलाती हैं और व्यापार को प्रोत्साहित करती हैं।[२] बैंक शान्त और रुपया बचानेवाले प्रदेशों तथा कार्यसंलग्न और उत्पत्ति करनेवाले प्रदेशों के बीच में मध्यपुरुष का काम करता है और इस प्रकार देश की बहुत-सी सेवा करता है। रुपये उधार देने की बहुत-सी रीतियाँ होती हैं। बिल या हुंडी भुनाना तथा चलतू खातों पर ओवरड्राफ्ट (overdraft) देना इसकी दो प्रमुख किस्में हैं।

(२) **सामान्य उपयोगिता के काम**—उपरोक्त प्रारम्भिक कामों के अतिरिक्त, बैंक बहुत से ऐसे भी काम करते हैं जिनकी सामान्य उपयोगिता बहुत होती है. (क) **नोट का निर्गम**—आजकल नोटों के बनाने का काम रिजर्व बैंक को सौंपा जाता है जो इसे सरकार से श्रेष्ठ रीति से सम्पन्न करता है। हमारे देश में नोट बनाने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को है। इंगलैंड में यह एकाधिकार बैंक आव इंगलैंड को प्राप्त है। (ख) **चलन की पूर्ति**—आधुनिक बैंकों के द्वारा कागजी द्रव्य ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक प्रकार के द्रव्य चलन में रक्खे जाते हैं। वे चलन से हल्के और खोटे सिक्के निकालने का काम भी करते हैं। (ग) **साख-पत्रों का निर्गम**—बैंक चैक, बैंक ड्राफ्ट आदि साख-पत्रों के बनाने में भी सहायक होते हैं, जो दूर-दूर के स्थानों तक रुपया भेजना आसान और सस्ता कर देते हैं, और आधुनिक समाज की चलन सम्बंधी आवश्यकता को, जिसे द्रव्य अकेला संतुष्ट नहीं कर सकता, संतुष्ट करते हैं। (घ) **विदेशी विनिमय (Foreign Exchange)**—पुराने जमाने में देश के प्रत्येक भाग में अलग-अलग प्रकार के द्रव्य होते थे, और बैंक इन द्रव्यों का अदल-बदल किया करते थे। इस कारण उन्हें "द्रव्य-परिवर्तक" (money changers) कहा जाने लगा। अब देश में एक चलन स्थापित हो जाने के कारण उनका यह काम भी समाप्त हो गया है। किन्तु प्रत्येक देश की अपनी अलग-अलग चलन प्रणाली अब भी होती है,

---

[२] बैंक के पास जितना नकद रुपया जमा होता है, वह उसकी कई गुनी रकम उधार देता है और इस प्रकार व्यापार की वृद्धि में सहायता करता है। देखिये पृष्ठ २६६ ७०

और बैंक एक देश के चलन के बदले में दूसरे देश के चलन को देने का काम करते हैं। इससे विदेशी व्यापार में बहुत सहायता होती है। (ङ) **बहुमूल्य वस्तुओं की सुरक्षा**—बैंक बहुमूल्य वस्तुओं और रुक्कों को अपने मजबूत और लोहे के कमरों में जो आग तथा चोरी के भय से मुक्त होते हैं, सुरक्षित रख लेते हैं। वे इस काम के लिये जो थोड़ा-सा पुरस्कार लेते हैं, वह उनकी सेवा की उपयोगिता के मुकाबले कुछ भी नहीं।

(१) **एजेन्सी के काम**—बैंक अपने ग्राहकों के एजेण्ट का भी काम कई मामलों में करते हैं, इन्हें एजेन्सी का काम कहा जाता है : (क) वे अपने ग्राहकों के एजेण्ट के हैसियत में चेक का भुगतान करते हैं, लाभांश (dividend) और व्याज वसूल करते हैं और चन्दा तथा प्रीमियम अदा करते हैं। (ख) बैंक अपने ग्राहकों के लिये स्टाक और शेयर खरीदते और बेचते हैं। (ग) वे ट्रस्टी, एटार्नी आदि की भाँति भी अपने ग्राहकों के लिये काम करते हैं।

बैंकों की किस्में

१ **व्यापारिक (Commercial) बैंक**—ये देशी व्यापार की द्रव्य-सबंधी आवश्यकताएँ सतुष्ट करते हैं। व्यापारियों को थोडे से समय के लिये द्रव्य की जरूरत हुआ करती है। जैसे व्यापारी कारखाने से माल उधार खरीदता है और माल बिक जाने पर रुपया अदा कर देता है; पर यदि कारखाने वाला उधार देने को तैयार न हो, तो व्यापारी को बैंक से रुपया कुछ महीनों के लिये उधार लेना पडेगा। व्यापारिक बैंक थोडे समय के लिये रुपया उधार देते हैं। वे चलत् खाते में रुपया जमा करते हैं और थोडे समय के लिये रुपया उधार देते हैं।

२ **विनियम (Exchange) बैंक**—ये विदेशी व्यपार के लिये द्रव्य-प्रबध करते हैं। वे विदेशी व्यापार में सलग्न आयातकर्ताओं और निर्यातकर्ताओं को द्रव्य उधार देते हैं, उनको विदेशी चलन बेचते और उनसे विदेशी चलन खरीदते हैं।

३ **औद्योगिक (Industrial) बैंक**—ये उद्योगों के लिये दीर्घकालीन साख का प्रबध करते हैं। उद्योगों (कारखानों) में इमारत, मशीन आदि खरीदने के लिये बड़ी रकम की आवश्यकता पड़ती है और उद्योगपति इस रकम को कुछ वर्षों बाद ही चुका सकता है। औद्योगिक बैंक अधिकतर स्थिर खातों में रुपया जमा करते और उद्योगपतियों को लम्बी अवधि के लिये रुपया उधार देते हैं।

४. **भूमि बधक (Land Mortgage) या कृषि सबधी बैंक**—ये बैंक

किसानों को लम्बी अवधि के लिये ऋण देते हैं जिससे कि ऋणी मशीन खरीद सके, कुएँ खुदवा सके या ऐसे ही स्थायी सुधार करा सके। वे भूमि को बंधक रख कर ऋण देते हैं, इसलिये उन्हें भूमि-बंधक बैंक कह कर पुकारा जाता है।

५ सहकारी (Co-operative) बैंक—ये बैंक सहकारी समितियाँ होती है जिनका काम ऋण देना होता है। भारत में ये बैंक अधिकतर किसानों और कारीगरों तथा व्यापारियों को थोडे समय के लिये ऋण दिया करते हैं।

६. बचत या सेविंग्स (Savings) बैंक—ये छोटी-छोटी बचत, बचत खाते में जमा करते हैं। इनका उद्देश्य बचत प्रोत्साहित करना होता है।

७ देशी (Indigenous) बैंकर—ये साहूकार या सराफ होते हैं जो पीढियों से रुपया उधार देने का काम करते आये। हैं इनके काम करने के तरीके पुराने होते हैं।

व्यापारिक बैंक

भारत में अधिकतर बैंक व्यापारिक बैंक हैं। अत. इनके विषय में हम कुछ बातें और बतावेंगे। इन बैंकों का अधिकांश रुपया चालू खाते में जमा के रूप में आता है। ये रुपया जब जी चाहे जमा करने वाला वापस माँग सकता है। इसलिये व्यापारिक बैंक रुपया थोडे से ही समय के लिये उधार देता है। वह सीक्यूरिटियाँ भी ऐसी ही खरीदता है जिनका कुछ ही काल में भुगतान होने वाला हो या जो जब चाहे बिना नुकसान के बेची जा सकें। अन्य शब्दों में, यह अपनी सम्पत्ति तरल (liquid) रखता है। यदि वह लम्बे काल के लिये ऋण दे दे और बीच में ही जमा करने वाले रुपया माँगने लगें, तो वह उन्हे रुपया न दे सकेगा और उसे अपना कार-बार बंद करना पडेगा।

बैंक जमा से अधिक ऋण देते हैं

बैंकों के विषय में यह बात बहुत दिलचस्प है कि जितना रुपया उनके पास जमा होता है, वे उससे कई गुने अधिक का ऋण देते हैं। यह बात आसानी से समझ में नहीं आती।

इसे समझने के लिये इस बात को जान लेना आवश्यक है कि जो भी व्यक्ति बैंक से रुपया उधार लेता है वह उसी बैंक में अपने खाते में जमा भी कर देता है। वह ऐसा या तो बैंक के कहने से करता है या इस कारण कि चलद् खाता रखने में उसे बहुत से लाभ होते हैं। यही कारण है जो बैंक को कई गुना ऋण देने के योग्य बनाता है। जब कोई व्यक्ति रुपया जमा करता है तब उसे नकदी जमा (Cash Deposit) कहते हैं और जब वह बैंक से ऋण लेकर उसे

जमा करता है तो उसे साख जमा (Credit Deposit) कहते हैं। बैंक इस बात को जानते हैं कि जमा किया हुआ रुपया सारा का सारा किसी एक समय नहीं निकाला जाता। किसी भी समय जितना रुपया वापस माँगा जाता है वह कुल जमा की हुई रकम के एक खास प्रतिशत से अधिक नहीं होता। यह प्रतिशत अनुभव द्वारा १०% पाई गई है। अतः बैंक जमा की हुई रकम का केवल १०% भाग रिजर्व में रखता है, और शेष रुपया उधार दे देता है। मान लीजिये, आपने अपने बैंक में १००० रुपये जमा किये। बैंक इसका १०% अर्थात् १०० रुपया रिजर्व में रख लेगा और शेष ९०० रुपया उधार दे देगा। इस रुपये का उधार लेने वाला इसे उसी बैंक में जमा करा देगा। वह ९०० रुपये का १०% अर्थात् ९० रुपया रिजर्व में रखकर शेष ८१० रुपया फिर उधार दे देगा। इसी प्रकार यह चक्र चलता रहेगा। इसका परिणाम यह होता है कि बैंक के पास जितना भी रुपया जमा होता है, वह उसका लगभग दस गुना उधार दे सकता है।

बैंक का लाभ-हानि का लेखा

बैंक के बहीखाते संबंधी दो रुक्के बहुत महत्व के होते हैं (१) लाभ-हानि लेखा, और चिट्ठा।

लाभ-हानि लेखे (Profit and Loss Account) में आय और व्यय की विभिन्न रकमें दिखाई जाती हैं, असली (net) लाभ या हानि की गणना करके उसे लिख दिया जाता है, और लाभ के नियोजन (appropriation) का विवरण भी दिया जाता है।

राम बैंक, लि०, का लाभ-हानि खाता

दिसम्बर ३१, सन् १९४९ को समाप्त होने वाले वर्ष के लिये

विवरण	रकम (रु०)	विवरण	रकम
द्वारा साधारण व्यय	२५,०००	द्वारा शेष	१०,०००
,, इमारत की घिसाई	६,०००	,, ब्याज और बट्टा	१,५०,०००
,, आय-कर	३,०००		
,, शेष	१,२३,०००		
रु०	१,६०,०००	रु०	१,६०,०००
द्वारा लाभाश	१,००,०००	द्वारा शेष	१,२३ ०००
,, शेष	२३,०००		
रु०	१,२३ ०००	रु०	१,२३,०००

इसका अंग्रेजी रूपान्तर हम नीचे देते है :

Particulars	Rs	Particulars	Rs
To General Expenses	25,000	By Balance	10,000
To Depreciation of Premises	9,000	By Interest and Discount	150,000
To Income Tax	3,000		
To Balance	123,000		
	160,000		160,000
To Dividend paid	100,000	By Balance	123,000
To Balance	23,000		
	123,000		123,000

इस लेखे में, बाईं ओर हानि और व्यय की सब रकमें लिखी जाती हैं, और दाहिनी ओर लाभ और आय की सब रकमे लिखी जाती हैं। सन् १९४८ का असली लाभ १,२३,००० रुपया है। इसका नियोजन (appropriation) खाते के नीचे वाले भाग में दिखाया गया है। १,००,००० रुपये लाभांश के रूप में बाँट दिये गये और २३,००० रुपये शेष बचे।

बैंक का चिट्ठा

बैंक के चिट्ठे (Balance Sheet) में बैंक की समस्त सम्पत्ति (assets) और ऋण (liabilities) का ब्यौरा दिया रहता है, जिससे कि बैंक की द्रव्य-सबन्धी अवस्था का पता चल जाता है। सम्पत्ति से आशय उन सब वस्तुओं से है जो बैंक के स्वामित्व में हैं और जो रुपया दूसरों से अभी वसूल करना है। सम्पत्ति चिट्ठे के दाहिनी ओर लिखी जाती है। ऋण (liabilities), बैंक के द्रव्य-सम्बन्धी उत्तरदायित्व को कहते हैं और ये चिट्ठे के बाईं ओर दिखाये जाते हैं।

हम नीचे चिट्ठे का एक उदाहरण देते हैं :

राम बैंक, लि०, का चिट्ठा

दिसम्बर ३१, १९४८, को समाप्त होने वाले वर्ष के लिये

ऋण	रकम (रु०)	सम्पत्ति	रकम (रु०)
अधिकृत पूँजी :		नकदी, हाथ में और	
५०,००० शेयर, १० रु०		बैंक में	३,००,०००
प्रति शेयर ..	५,००,०००	माँग और अल्प-सूचना	
निर्गमित पूँजी .		का रुपया	१,००,०००
२५,००० शेयर, १० रु०		सिक्योरिटी में विनियोग	१०,००,०००
प्रति शेयर ...	२,५०,०००	ऋण और उधार	१,००,०००
चन्दा की गई पूँजी :		भुनाये गये बिल	१,५०,०००
२०,००० शेयर, १० रु०		बैंक की इमारत	७३,०००
प्रति शेयर ..	२,००,०००		
प्रदत्त पूँजी :			
२०,००० शेयर, १० रु०			
प्रति शेयर ..	२,००,०००		
रिजर्व फन्ड .. .	१,९०,०००		
जमा रुपया .	१३,००,०००		
ब्याज खाता	१०,०००		
लाभ-हानि खाता ।	२३,०००		
रु०	१७,२३,०००	रु०	१७,२३,०००

इसका अँग्रेजी रूपान्तर पृष्ठ १७१ पर दिया गया है ।

Liabilities	Rs	Assets	Rs
Authorized Capital 50,000 shares of Rs 10 each	5,00,000	Cash in Hand and at Bank	3,00,000
		Money at Call and Short Notice	1,00,000
Issued Capital. 25,000 shares of Rs 10, each	2,50,000	Investment in Securities	10,00,000
Subscribed Capital 20,000 shares of Rs 10 each	2,00,000	Loans and Advances	1,00,000
Paid up capital 20,000 shares of Rs 10 each	2,00,000	Bills Discounted	1,50,000
Reserve Fund	1,90,000		
Deposit Account	13,00,000	Banks Premises	73,000
Interest Accounts	10,000		
Profit and Loss Account	23,000		
	17,23,000		17,23,000

ऋण (Liabilities)—अब हम ऋण की रकमों का कुछ विवरण देंगे :
(१) पूँजी—पहली रकम पूँजी की है। पूँजी कई प्रकार की होती है। अधिकृत पूँजी (authorised capital) वह अधिकतम रकम होती है जिसे कम्पनी को (अपने स्मारक द्वारा) पूँजी के रूप में उगाहने का अधिकार होता है। उपरोक्त चिट्ठे में यह रकम ५,००,००० रुपया है। साधारणतया समस्त अधिकृत पूँजी निर्गमित (issue) नहीं की जाती : केवल उसका एक भाग ही निर्गमित किया जाता है जिसे निर्गमित पूँजी (issued capital) कहते हैं। उपरोक्त चिट्ठे में निर्गमित पूँजी २,५०,००० रुपये हैं। जितनी पूँजी खरीदने के लिये जनता के पास से प्रार्थना-पत्र आते हैं, उसे प्रार्थित या चन्दा की हुई पूँजी (subscribed capital) कहते हैं। उपरोक्त चिट्ठे में यह २,००,००० रुपये है। माँगी गई पूँजी (called up capital) उस पूंजी को कहते हैं जो डायरेक्टर

प्रार्थियों से माँगते हैं। प्रदत्त पूंजी (paid-up capital) उस पूंजी को कहते हैं जो शेयरहोल्डर वास्तव में अदा करते हैं। उपरोक्त चिट्ठे में यह २,००,००० रु० हैं। (२) रिज़र्व फन्ड—लाभ का एक भाग बाँटा नहीं जाता; प्रत्युत रिज़र्व फन्ड में रख दिया जाता है जिससे कि संकट के समय वह काम आवे। (३) जमा का रुपया (Deposit Accounts) जो १३,००,००० रुपया हैं, बैंक के पास ग्राहकों ने जमा किया हैं। (४) ब्याज का खाता दिखाता है कि बैंक को १०,००० रुपया ब्याज के रूप में देना है। (५) लाभ-हानि जो रकम दिखाता है, उसकी व्याख्या हम ऊपर कर ही चुके हैं।

सम्पत्ति (Assets)—अब हम चिट्ठे की सम्पत्ति की रकमों को लेते हैं: (१) नकदी, हाथ में और बैंक में यह रकम स्वयं स्पष्ट है। (२) माँग और अल्प-सूचना वाला रुपया (Money at call and short notice)—यह वह रुपया है जो बैंक इस शर्त पर उधार देता है कि वह माँगने पर या कुछ दिनों की ही सूचना देने पर वापस मिल जायगा। (३) सिक्योरिटी में विनियोग (investments)। (४) ऋण और उधार। (५) भुनाये हुए बिल (Bills discounted)—बैंक ने १,५०,००० रुपये के बिल नकद रुपया देकर देय अवधि के पहले प्राप्त किये हैं। अतः उनकी देय तिथि आने पर उनके देनदारों से बैंक को रुपया मिल जायगा। (६) बैंक की इमारत की रकम ७३,००० रुपये हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१. बैंक की परिभाषा दीजिए और उसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

२. बैंक जमा से अधिक ऋण किस प्रकार देते हैं?

३. बैंक का लाभ-हानि खाता और उसका चिट्ठा क्या होता है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. बैंक उत्पत्ति में किस प्रकार सहायक होते हैं? भारत के देशी बैंकरों के कामों का वर्णन कीजिये। (१९४८)

२. बैंक क्या सेवाएँ करते हैं? (१९४७)

३. भूमि बंधक बैंकों पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४७)

४. व्यापारिक बैंक के कार्यों का सचित्र विवरण दीजिये। किन दशाओं में बैंक का काम भारतीय साहूकारों के काम से भिन्न होता है? (१९४५)

५. व्यापारिक बैंक क्या होता है? इसके मुख्य काम क्या होते हैं? भारत में काम करने वाले चार प्रमुख व्यापारिक बैंकों के नाम लिखिये। (१९४२)

६. भूमि बंधक बैंकों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये (१९४२)

७. बैंक क्या होता है? अधिकृत, चंदा की गई, और प्रदत्त पूँजी में क्या भेद है? बैंक की सम्पत्तियों और ऋण का चिट्ठा तथा उसका लाभ-हानि खाता दीजिये। (१९३०)

८. बैंक के जमा (Deposites) क्या होते हैं? उनका जन्म कैसे होता है? (१९२९)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

9. "The assets of a bank should as far as possible be kept in a liquid form" Explain why In what various forms do Indian Joint-Stock Banks invest their assets so as to keep them liquid? (1944)

10 Write a short note on Indian Joint-Stock Banks (1941)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

11 What are the main functions of a bank? Briefly describe the Indian banking system. (1947)

पटना, इन्टर आर्ट्स

12 What are the services rendered by banks to the community? Explain why cash reserves are kept by banks? (1949)

13 What are the different services rendered to the community by banks? (1947 Supp)

पटना, इन्टर कामर्स

14 What do you mean by balance sheet of a Commercial Bank? Draw an imaginary balance sheet of a Commercial Bank (1949)

15 Write short notes on (a) Bank Money and (b) Bankers' Bank. (1948 Supp)

16. Explain the functions of a Central Bank (1948)

17 Distinguish between Fixed Deposit and Current Deposit Why does a bank maintain a reserve against its deposits ? (1947 Supp)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

18 Describe the main functions of a commercial bank. (1947)

19 Write a brief explanatory note on fixed deposit. (1947)

20 Explain the functions and importance of commercia banks (1945)

नागपुर, इन्टर कामर्स

२१. एक व्यापारिक बैंक के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए। (१६४७)

२२. बैंक के स्थिर जमा (Fixed Deposit) पर एक व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखिये। (१६४७)

२३. भारत में बैंक द्रव्य के प्रयोग में आर्थिक व्यवस्था को किसी प्रकार प्रभावित करते हैं ? (१६४६)

सागर, इन्टर आर्ट्स

24 Describe the chief functions of a commercial bank. (1949)

25. Write a short note on Banks (1949 Supp.)

26 What is a commercial bank ? How does it borrow ? What are the methods of lending by the bank ? (1948)

अध्याय ५३

भारतीय बैंकिंग प्रणाली

§ १. भारतीय द्रव्य-बाजार

द्रव्य-बाजार (Money Market)

द्रव्य का बाजार[1] द्रव्य के उपभोग के खरीदार और विक्रेताओं की ओर संकेत करता है। दूसरे शब्दों में, वह द्रव्य उधार लेनेवालों और देनेवालों का द्योतक है। किसान, उद्योगपति और व्यापारी उत्पादक कार्यों के लिये द्रव्य उधार लेते हैं और उपभोक्ता अपनी द्रव्य-सम्बन्धी अस्थायी कमी को दूर करने के लिये ऋण लेते हैं।[2] द्रव्य बैंक और साहूकारों द्वारा उधार दिया जाता है। द्रव्य के उधार देनेवाले और उधार लेनेवाले सामूहिक रूप में द्रव्य-बाजार कहलाते हैं।

भारतीय द्रव्य-बाजार के अंग

भारतवर्ष में भी द्रव्य-बाजार है किन्तु यह छोटा और विभाजित है, इसका संगठन बुरा है और इसकी दशा पिछड़ी हुई तथा शोचनीय है। इसके अंग निम्नलिखित हैं :

(क) भारतीय बैंकिंग प्रणाली : ऋणदाता—

(१) प्राचीन देशी बैंकिंग प्रणाली,

(२) आधुनिक बैंकिंग प्रणाली; और

(३) रिजर्व बैंक आव इण्डिया।

(ख) ऋण लेनेवाले।

हम नीचे इन विभिन्न अंगों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। हम ऋण लेनेवालों का अलग से विवेचन नहीं करेंगे वरन् भारतीय बैंकिंग प्रणाली की विवेचना करते समय उनका भी जिक्र कर देंगे।

---

[1] स्मरण रहे कि बाजार शब्द किसी खास स्थान का द्योतक नहीं प्रत्युत वह किसी वस्तु के खरीदारों और विक्रेताओं की ओर संकेत करता है जो स्वतन्त्रतापूर्वक और बिना किसी रोक-टोक के व्यापार करते हैं।

[2] बैंक भी रुपये जमा करते हैं जो रुपया उधार लेना ही है।

§ २. प्राचीन देशी बैंकर[3]

हम भारतीय बैंकिंग प्रणाली को दो भागों में बाँट सकते हैं : (१) प्राचीन देशी बैंकिंग प्रणाली जो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई है, और (२) आधुनिक बैंकिंग प्रणाली जिसे ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष में अपने काल में स्थापित किया। रिजर्व बैंक आव इंडिया दूसरी श्रेणी में आता है। ये दो भाग एक दूसरे से अलग रहे हैं, और इन दोनों के बीच में निकट सम्बंध स्थापित करना देश की एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्या है।

आरम्भिक बातें

देशी बैंकिंग प्रणाली का अभिप्राय उन भारतीय बैंकरों से है जो प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार बैंकिंग व्यवसाय करते हैं। बहुत पुराने समय से ही भारतवर्ष में एक बहुत कुशल और अच्छी बैंकिंग प्रणाली स्थापित थी। वास्तव में, द्रव्य उधार देने की बात हमें ईसा से २००० वर्ष पूर्व के लेखों में मिलती है, और बाद के इतिहास में प्राचीन बैंकिंग व्यवसाय के सम्बंध में स्थान-स्थान पर लेख मिलते हैं। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, धर्मशाला और बौद्धों की रचनाओं में प्राचीन देशी बैंकिंग प्रणाली के सबंध में विस्तृत विवेचना पाई जाती है और उससे यह पता चलता है कि प्राचीन काल में देश के आर्थिक यंत्र मे बैंकिंग का स्थान बहुत ऊंचा है। आज भी आधुनिक बैंकों की अपेक्षा देशी बैंकर अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। देश के कोने-कोने में वे पाये जाते हैं, और हम उन्हें हर गाँव, में कस्बे और शहर में देख सकते हैं। वे विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं : गाँवों और कस्बों में उन्हें साहूकार, बनिया, और महाजन कहते हैं और शहरों में सर्राफ। सामान्यतया देशी बैंकरों का फर्म एक पारिवारिक संस्था होता है और वह संयुक्त पूंजी के सिद्धान्त पर आधारित नहीं होता।

काम (Functions)

देशी बैंकरो का सबसे प्रमुख काम रुपया उधार देना है। वे हर प्रकार की जमानत पर गहने, जमीन, प्रामिसरी नोट और यहाँ तक कि मौखिक वायदे पर भी

---

[3] विस्तृत विवरण के लिये देखिये, L. C Jain, *Indigenous Banking in India*, H Sinha, *Early European Banking in India*, B. T Thakur, *Organisation of Indian Banking*, *Indian Banking Enquiry Committee Reports*, और *Indian Banking and Currency Problems* by Sir Chunilal B Mehta and others.

रुपया उधार देते हैं। गावों में वे किसानों और छोटे-छोटे कारीगरों के लिये, जो कोई जमानत नहीं दे सकते, द्रव्य-प्रबंध (finance) करते हैं। उनके तरीके बहुत सादे और घरेलू होते हैं और अनपढ़ व्यक्तियों के लिये बहुत उपयुक्त होते हैं। शहरों में वे बड़ी-बड़ी मिलों और कारखानों के लिये द्रव्य- प्रबन्ध करते हैं। (२) वे हुंडियों का क्रय-विक्रय भी करते हैं। उनके ग्राहक जो हुंडी उनके पास लाते हैं उन्हें वे बट्टे पर खरीद लेते हैं, और उनके एजेन्ट उन पर जो हुंडी लिखते हैं उनका वे भुगतान करते हैं। वे अपने एजेन्टों पर हुंडी लिखकर बेचते भी हैं। (३) उनमे से कुछ रुपये भी जमा करते हैं, किन्तु अधिकांश ऐसा नहीं करते। (४) वे बैंकिंग या रुपया उधार देने के काम के साथ-साथ कुछ और व्यापार भी करते हैं। वे कपास, अनाज, सोने आदि का क्रय-विक्रय करते हैं और कुछ सट्टेबाजी भी करते हैं।

क्या वे बैंकर होते हैं ?

देशी बैंकरों को हम बैंकर के नाम से सम्बोधित तो करते हैं, किन्तु क्या वे वास्तव में बैंकर होते हैं ? बैंकर वह व्यक्ति होता है जो रुपया उधार लेता और उधार देता है। देशी बैंकर रुपया उधार देते तो अवश्य हैं, किन्तु वे रुपया उधार कभी-कभी ही लेते हैं। अत. वे देशी बैंकर जो रुपया जमा नहीं करते, केवल ऋणदाता होते हैं। जो रुपया भी जमा करते हैं, वे सच्चे बैंकर होते हैं।[४]

ऊपर की विवेचना से भारतीय बैंकर और आधुनिक बैंकर के बीच के अन्तर स्पष्ट हो जाते हैं। हम इन अन्तरों का ब्यौरा नीचे देते हैं :

देशी बैंकर	आधुनिक बैंकर
(१) उनका फर्म साधारणतया पारिवारिक व्यवसाय के सिद्धान्त पर सगठित होता है।	(१) यह संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों की भाति सगठित होते हैं।
(२) इनमें से बहुत थोड़े रुपया जमा करते हैं।	(२) रुपया जमा करना इनका मुख्य काम होता है। वास्तव में, जमा किया हुआ रुपया उनकी पूँजी से कहीं अधिक होता है।

[४] इंडियन बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने देशी बैंकरों के दो विभाग किये हैं, देशी बैंकर और देशी ऋणदाता। हमारे मत में यदि हम इस प्रणाली के सदस्यों को देशी द्रव्य-प्रबन्धक (Indigenous Financiers) कहें और फिर उनका उपरोक्त वर्गीकरण करें, तो इससे अस्पष्टता का भय जाता रहेगा।

(३) वे बहुधा बैंकिंग के साथ-साथ कुछ और व्यापार भी करते हैं।

(४) वे कागजी द्रव्य निर्गमित नहीं करते।

(५) उनका अधिकाश रुपया बिना उपयुक्त जमानत के उधार दिया जाता है, और वे बहुत जोखिम झेलते हैं।

(६) वे छोटे किसान, छोटे कारीगर और मामूली व्यापारियों को ऋण देते हैं।

(७) इनका अधिकाश काम गाँवो में होता है।

(८) इनकी सख्या बहुत अधिक है और वे देश के कोने-कोने में व्याप्त हैं।

(९) इनकी शाखाएँ बहुत थोड़ी होती हैं।

(३) वे बैंकिंग के साथ और कोई व्यापार नहीं करते।

(४) रिजर्व बैंक कागजी मुद्रा निर्गमित करता है।

(५) ये ऋण उचित जमानत पर ही देते हैं और इनकी जोखिम बहुत कम होती है।

(६) ये बड़ी-बड़ी कम्पनियो और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये द्रव्य-प्रबन्ध करते हैं।

(७) इनका अधिकाश काम औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों में होता है।

(८) ये सख्या में इतने अधिक नहीं और इनका प्रसार इतना ज्यादा नहीं।

(९) इनकी शाखाएँ बहुत अधिक होती हैं।

इनके दोष

देशी बैंकिंग की रीति में बहुत सी बड़ी-बड़ी बुराइयाँ हैं। देशी बैंकर, और उनमें से मुख्यतया रुपया उधार देनेवाले, अनुचित ब्याज की दर वसूल करते हैं और ऋण लेनेवालों की जरूरत की सख्ती के अनुपात में उनसे अनुचित लाभ उठाते हैं। पठान और काबुली लोग बहुत ऊँची ब्याज की दर लेते हैं और कभी-कभी तो वह ३००%या ४००% तक या उनसे भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त वे बहुत सी चालाकियाँ करते हैं जिनसे बड़ा असतोष होता है। ऋण लेनेवाले से अँगूठा निशानी लेकर बाद में मनमानी रकम का लिख लेना, खाता खोलाई, नजराना आदि वसूल करना और ऋण लेनेवालो से बेगार लेना—इनके कारण ऋण लेनेवाला साहूकार का गुलाम सा हो जाता है। इन्ही कारणों से कुछ अर्थशास्त्री तो इस बात का यकीन करने लगे है कि देशी बैंकिंग प्रणाली को उखाड़ कर फेंके बिना हमारा कल्याण होना असम्भव है।

उनके गुण

किन्तु यह दृष्टिकोण बहुत निराशाजनक है और यह प्रणाली के गुणों की उपेक्षा करता है। देशी वैंकर आसान तरीकों के अनुसार काम करते हैं जिनको अनपढ़ व्यक्ति आसानी से समझ लेते हैं। फिर उनका व्यवहार भी बहुत घरेलू होता है और वे अपर्याप्त जमानत पर या जमानत के अभाव में भी ऋण दे देते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि गाँव के फिजूलखर्ची और निर्धनता के रेगिस्तान में वे ही एकमात्र बचत और धन के स्रोत हैं और केवल उन्हीं से ऋण मिल सकता है। यदि इस प्रणाली को उखाड़कर फेंक दिया गया, और किसी दूसरी प्रणाली को इसके स्थान पर स्थापित न किया गया, तो बेचारे ऋण लेनेवालों का बड़ा अहित होगा। यह सच है कि साहूकार ऊँची दर पर उधार देता है, किन्तु हमें यह न भुला देना चाहिये कि ऐसा करना जमानत के अपर्याप्त होने या न होने के कारण आवश्यक हो जाता है। "उसको दोष देना मनुष्य-जाति की अपूर्णता को दोष देना है। हमें प्रणाली को दोष देना चाहिये, उस व्यक्ति को नहीं जिसे प्रणाली ने ढाला है।"

सुधार के लिये प्रस्ताव

अतः हमें इस प्रणाली को तो जारी रखना चाहिये किन्तु इसके दोषों को दूर कर देना चाहिये। देशी वैंकरों को विभिन्न रीतियों द्वारा रुपया जमा करने के लिये उत्साहित करना चाहिये। उन्हें ब्याज की उचित दर लेने की सलाह देनी चाहिये। यदि मामूली तरह का अनिवार्य कानून बनाया जाय और सहकारी साख समितियाँ (Co-operative Credit Societies) स्थापित कर दी जाँ तो आजकल की ब्याज की ऊँची दर के कम होने मे अवश्य सहायता मिलेगी। देशी प्रणाली को आधुनिक प्रणाली के समीप लाने की चेष्टा करना भी आवश्यक है। इसके विषय में विस्तारपूर्वक नीचे लिखा जाता है। कुछ और प्रस्ताव निम्नलिखित हैं : (१) देशी वैंकों को मिलाकर संयुक्त पूँजी वाले वैंकों में संगठित करना, (२) देशी वैंको को मिलाकर सहकारी वैंक खोलना जो और कामों के साथ-साथ अपने सदस्यों की हुंडियों को बट्टे पर लें और उन्हें रिजर्व वैंक को बट्टे पर दें, और (३) देशी वैंकों के व्यवसाय का, बिल की दलाली को एक मुख्य अंग बनाना।

देशी वैंकरों को आधुनिक प्रणाली से संयुक्त करना

भारत में वैंकिंग के दो अलग-अलग क्षेत्र हैं : (१) ग्रामीण भाग जिनमें साहूकारों का बोलबाला है और जहाँ आधुनिक वैंक अभी प्रवेश नहीं कर पाये हैं; और (२) शहरी भाग जिनमें आधुनिक वैंकों का प्रभुत्व है। इन दोनों क्षेत्रों में

अभी कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं। इसका प्रभाव यह होता है कि शहरों में ब्याज की दर कम और गाँवो में ऊँची बनी रहती है। शहर का बेकार रुपया गाँवों में नहीं जाने पाता जहाँ वह किसानों के काम आ सके और ब्याज की दर नीची कर सके। साथ में यह भी बात है कि साहूकार रुपया जमा नहीं करते और किसानों को रुपया गाढ़ कर या गहनों के रूप में रखने की आदत पड़ गई है। यदि इन दोनों क्षेत्रो में सम्बंध स्थापित हो जाय, तो साहूकार भी रुपया जमा करने लगे और गाँवों का बेकार रुपया काम में आने लगे। अतः इन भागों को संयुक्त करना आवश्यक है।

इनको संयुक्त करने का काम अभी नहीं हो सका है। केंद्रीय बैंकिंग कमेटी का प्रस्ताव था कि साहूकारो को यह अधिकार दे देना चाहिये कि वे अपनी हुण्डियों को रिजर्व बैंक से भुना सकें और रिजर्व बैंक को उन्हें स्वीकार करना चाहिये। पर अभी इस दिशा में कुछ काम नहीं हुआ है।

§ ३. आधुनिक बैंकिंग प्रणाली

जब योरुप-निवासियों ने भारत में प्रवेश किया, तब उन्होंने पाश्चात्य ढग के आधुनिक बैंक स्थापित करना आरम्भ कर दिया, और आज हमारे देश में एक अच्छी आधुनिक बैंकिंग प्रणाली वर्तमान है यद्यपि उसमें कई दोष हैं। इसके प्रमुख अंग निम्नांकित हैं :

(१) व्यापारिक बैंक
(२) इम्पीरियल बैंक आव इंडिया
(३) विनियम बैंक
(४) औद्योगिक बैंक
(५) भूमिबन्धक बैंक
(६) सहकारी बैंक
(७) सेविंग्स या बचत के बैंक
(८) रिजर्व बैंक आव इंडिया

उनका संगठन—इनमें से अधिकांश बैंक संयुक्त पूँजी के सिद्धान्त पर आधारित हैं : वे बैंकिंग व्यवसाय करनेवाली संयुक्त पूँजी की कम्पनियाँ हैं। व्यापारिक बैंक, विनियम बैंक और औद्योगिक बैंक अधिकतर संयुक्त पूँजी की कम्पनियाँ हैं। रिजर्व बैंक आव इंडिया और इम्पीरियल बैंक आव इंडिया भी संयुक्त पूँजी की कम्पनियाँ हैं, किन्तु वे विशेष विधानों (Acts) के अन्तर्गत स्थापित किये गये हैं। सहकारी बैंक सहकारी सिद्धान्त पर आधारित होते हैं।

सेविंग्स् बैंक या तो संयुक्त पूँजी वाले बैंकों के विभाग होते हैं या डाकखाने के विभाग जो कि सरकारी सस्थायें हैं।[५] कभी-कभी विद्यार्थियों में यह एक गलत धारणा पाई जाती है कि संयुक्त पूँजी के बैंक से अभिप्राय व्यापारिक बैंक से होता है। भारतवर्ष में अधिकाश संयुक्त पूँजी के बैंक व्यापारिक बैंक हैं, इसीलिये ऐसी धारणा बन जाती है। किन्तु ये गलत धारणा है।

१. व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)

उनका स्वभाव—भारतवर्ष में अधिकांश आधुनिक बैंक व्यापारिक बैंक हैं। वे देश के भीतरी व्यापार के लिये द्रव्य का प्रबंध करते हैं और इस सम्बन्ध में वे अल्पकालीन ऋण देते हैं। या यो कहिये, कि वे चालू पूँजी (Working Capital) का प्रबन्ध करते हैं। वे अपनी पूँजी और जमा किये हुए रुपये के आधार पर अल्पकालीन साख का एक महान् भवन खड़ा करते हैं। उनके पास जो रुपया जमा किया जाता है वह माँगने पर देय होता है, इसलिये वे इस बात से सावधान रहते हैं कि कहीं उनका रुपया दीर्घकालीन ऋण में न फँस जाय, अपने जमा करनेवालों की माँग को पूरा करने के लिये, वे अपने धन को 'तरल' (liquid) रखते हैं[६]।

उनकी भारतवर्ष में दशा—इलाहाबाद बैंक और अवध कामर्शियल बैंक को छोड़कर अन्य सब व्यापारिक बैंक हमारे देश में हाल में ही स्थापित हुये हैं। देश के प्रधान व्यापारिक बैंक हैं इम्पीरियल बैंक आव इंडिया, सेन्ट्रल बैंक, पंजाब नेशनल बैंक, इलाहाबाद बैंक, भारत बैंक और यूनाइटेड कामर्शियल बैंक। ये देश के बड़े-बड़े शहरों में ही स्थापित हैं और इन्होंने देश के भीतरी भागों में अभी प्रवेश नहीं किया। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि हमें कुछ समय तक बैंकों की सख्या नहीं बढ़ानी चाहिये, वरन् जो बैंक स्थापित हो चुके हैं उन्हीं को सुदृढ बनाना चाहिये परन्तु कुछ दूसरे अर्थशास्त्री कहते हैं कि अभी तो हमारे भीतरी भागों में बैंक हैं ही नहीं, अतः हमें नये-नये बैंक खोलने चाहिये।

दोष और उनका निवारण—हमारे व्यापारिक बैंकों में कई दोष हैं जिनका निवारण करना आवश्यक है। वे ऋण लेनेवालों की व्यक्तिगत जमा-

---

[५] कुछ लेखक भारतवर्ष के सब बैंकों को "भारतीय सयुक्त पूँजी के बैंक" के अन्तर्गत शामिल कर लेते हैं, और क्योंकि हमारे देश में अधिकतर बैंक व्यापारिक हैं, इसलिये यह समझा जाने लगता है कि सयुक्त पूँजी के बैंक और व्यापारिक बैंक समानार्थक हैं, किन्तु ऐसा नहीं।

[६] तरलता से आशय नकदी में शीघ्र परिवर्तनशीलता से है।

नत पर रुपया उधार नहीं देते। व्यवहार में यदि ऐसे ऋण निःशंक साधन वाले तथा ईमानदार व्यक्तियों को दिये जायें, तो वे उतने ही सुरक्षित होते हैं जितने कि और किसी प्रकार के ऋण। इसके अतिरिक्त, **वे अपने ग्राहकों की द्रव्य-संबंधी अवस्था के बारे में पूरा पूरा विवरण भी नहीं रखते,** जो उन्हें करना चाहिये। बट्टे की सुविधा प्रदान करके, उन्हे **बिल अधिक लोकप्रिय बनाने** की भी चेष्टा करनी चाहिये। उन्हों चैकों का अधिक प्रयोग होने की ओर भी प्रयत्न करना चाहिये।

२. इम्पीरियल बैंक आव इंडिया

इम्पीरियल बैंक जनवरी, १६२१, में इम्पीरियल बैंक आव इंडिया एक्ट के अन्तर्गत स्थापित हुआ। यह आजकल देश का सबसे शक्तिशाली व्यापारिक बैंक है। सन् १६२१ में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के प्रेसिडेंसी बैंकों को मिलाकर यह शेयर होल्डरों के बैंक से रूप में बनाया गया, और इससे आशा थी कि यह रिजर्व बैंक की भाँति काम करेगा। अत. इसके नियन्त्रण और प्रबन्ध के लिये एक्ट में विशेष मसौदे शामिल किये गये। नियन्त्रण और प्रबन्ध सेन्ट्रल बोर्ड आव गवर्नर्स को सौंपा गया और तीन स्थानीय बोर्ड कलकत्ते, बम्बई और मद्रास में स्थापित किये गये। इस बैंक को ६ महीने से रुपया उधार देने और विदेशी व्यापार के लिये द्रव्य प्रबन्ध करने की मनाही कर दी गई। इसके मुख्य काम निम्नलिखित थे: (१) सहकारी सस्थाओं के बैंकर का काम करना, (२) दूसरे बैंकों का बैंकर होना; (३) स्टाक सरकारी सिक्योरिटी, डिबेंचर, माल आदि की जमानत पर (कुछ सीमाओं के अन्दर) ऋण देना, (४) बिल आव एक्सचेंज तथा अन्य बेचान साध्य रुक्कों को लिखना, स्वीकार करना, बट्टे पर भुनाना, खरीदना और बेचना, (५) रुपया जमा करना और बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षा लिये लेना, (६) कुछ और फुटकर बैंकिंग के काम करना।

एक्ट ने बैंक पर यह उत्तरदायित्व रक्खा कि वह स्थापित होने के समय पाँच वर्ष के अन्दर सौ शाखाएँ खोले। यह शर्त बैंक ने पूरी कर दी।

इस एक्ट के दोषपूर्ण होने के कारण तथा इसके इस बैंक के शासन की भावना दूषित होने के कारण, इम्पीरियल बैंक वैसा काम न कर सका जैसा कि इससे आशा थी। इसे कुछ ऐसे विशेषाधिकार दिये गये जो केवल रिजर्व बैंक को ही दिये जाते हैं। किन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि इसे अन्य बैंकों से स्पर्धा करने से नहीं रोका गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इसने अपने विशेष अधिकारों को देश के अन्य बैंकों पर विजय पाने और उनको दबाने के लिये

प्रयुक्त किया। यह न तो कभी पूरा-पूरा रिजर्व बैंक ही हुआ और न निखालिस व्यापारिक बैंक ही; प्रत्युत यह दोनों का एक वर्णशंकर रूप था, और इसकी दोनों स्वरूपों में कड़ी आलोचना हुई।

इस गलती का सुधार सन् १९३५ में हुआ जब कि रिजर्व बैंक आव इंडिया स्थापित हुआ। उस समय से रिजर्व बैंक के सारे काम इम्पीरियल बैंक से छीन लिये गये। इसने रिजर्व बैंक के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार यह रिजर्व बैंक का एकमात्र एजेण्ट (sole agent) हो गया। इसके लिये इम्पीरियल बैंक एक्ट में आवश्यक परिवर्तन करने पड़े। अब इम्पीरियल बैंक पर जो छः महीने से अधिक ऋण न देने और विदेशी व्यापार के लिये द्रव्य-प्रबन्ध न करने के जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे, वे हटा दिये गये। यह आशा की जाती थी कि अपने इस नये स्वरूप में इम्पीरियल बैंक देश की सच्ची सेवा कर सकेगा। किन्तु यह भी आशा झूठी साबित हुई। बैंक अंग्रेजों के हाथ में रहा और इसकी नीति देश के हित के अनुकूल नहीं रही। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने इस बैंक में सुधार करने का निश्चय कर लिया है।

३. विनिमय (Exchange) बैंक

जिस प्रकार व्यापारिक बैंक देश के भीतरी व्यापार के लिये द्रव्य-प्रबन्ध करते हैं, उसी प्रकार विनिमय बैंक देश के विदेशी व्यापार के लिये ऋण-प्रबन्ध करते हैं।

उनके काम निम्नलिखित हैं : (१) वे आयात बिलों का रुपया उनकी देय तिथि (due date) पर वसूल करते हैं। (२) वे विदेशों में देय (payable) ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर बेचते हैं। (३) वे विदेशों में ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर खरीदते भी हैं जिनका भुगतान भारत में होने को होता है। (४) वे सोना, चाँदी तथा विदेशी चलन का आयात करते हैं।

विनिमय बैंकों के सम्बन्ध में सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि वे सब के सब विदेशी बैंक हैं[७]। हमारे यहाँ भारतीय विनिमय बैंक एक भी नहीं। समय समय पर भारतीय विनिमय बैंक स्थापित करने की चेष्टा अवश्य की गई किन्तु शक्तिशाली विदेशी विनिमय बैंकों ने उसका शैशव-काल ही में गला दबा दिया।

---

[७] देश के मुख्य विनिमय बैंक हैं Chartered Bank of India, Australia and China; P. & O. Banking Corporation, Yokohama Specie Bank आदि।

हाल में ही सेन्ट्रल बैंक आव इडिया ने लंदन में विनिमय बैंक स्थापित किया किन्तु विदेशी बैंकों की स्पर्द्धा के कारण वह चल न सका।

इस क्षेत्र में भारतीय बैंकों का न होना हमारी राजनीतिक मानि-हानि ही नहीं, वरन् इसके कारण बहुत सी व्यवहार सम्बन्धी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। यह शिकायत आम है कि ये बैंक भारतीय व्यापारियों के साथ छोटी-बड़ी हर बात में कड़ाई का व्यवहार करते हैं और अपने देशवालो की तरफदारी करते हैं। जब कोई विदेशी भारतीय व्यापारियो की आर्थिक परिस्थिति के विषय में इनकी राय पूछता है, तो वे ठीक-ठीक राय भी नही देते। वे भारतवासियो को इस बात पर भी मजबूर करते हैं कि वे विदेशी बीमा कम्पनियों से अपने माल का बीमा करायें और विदेशी जहाजों पर ही अपना माल भेजें। उन्होंने देश में बहुत सी शाखायें खोली हैं और वे रुपया जमा करते हैं, इस रुपये की वे मनमाना उपयोग करते हैं और बहुधा यह देश के हित के विरुद्ध होता है। यह बहुत आवश्यक है कि इनके दुष्कर्मों को रोका जाय और इस प्रकार की भारतीय संस्थाओं को सरक्षण प्रदान किया जाय।

४. औद्योगिक (Industrial) बैंक

औद्योगिक बैंकों का काम उद्योगपतियों को लम्बे समय के लिये रुपये का प्रबन्ध करना है। जिस प्रकार कि व्यापारिक बैंक चालू पूँजी (working capital) का प्रबन्ध करते हैं, उसी प्रकार औद्योगिक बैंक स्थिर पूँजी (fixed capital) प्रदान करते हैं। क्योंकि उन्हें लम्बे समय तक ऋण देना होता है, इसलिये वे आकर्षक व्याज देकर स्थिर खाते (fixed deposit) में ही रुपया जमा करते हैं। वे नई औद्योगिक कम्पिनयों के शेयरों की बिक्री का आश्वासन (Under-writing) देकर और स्टाक तथा बांड बेचकर पूँजी एकत्रित करने में सहायक होते हैं। स्पष्टतया हमारे देश के लिये, जिसे थोड़े से ही समय में ही बहुत सी औद्योगिक उन्नति करनी है, ऐसे बैंक बहुत लाभदायक हैं। किन्तु अभाग्यवश हमारे देश में इस प्रकार के बैंक उँगली पर गिने जा सकते हैं। स्वदेशी आंदोलन की लहर में बहुत से औद्योगिक बैंक खुले, किन्तु सकट के समय उनके पास पूँजी की कमी हो गई, और इस कारण वे फेल हो गये। जाब के बैंकों के फेल होने का कारण यह था कि उन्होंने थोड़े समय के लिये रुपये जमा करके उसके आधार पर लम्बे समय के लिये ऋण देने की गलती की। किन्तु अब हमें ऐसे बैंकों को बड़ी संख्या मे स्थापित करना है।

५. भूमि-बंधक (Land Mortgage) बैंक

भूमि-बंधक बैंकों का काम किसानों को उनकी भूमि को बंधक रखकर स्थायी सुधार के लिये ऋण देना है या स्थिर कृषि-संबंधी पूंजी प्रदान करना है।[८] खेती के सम्बन्ध में वे ठीक वैसा ही काम करते हैं जैसा कि औद्योगिक बैंक उद्योग के संबन्ध में। भारतवर्ष में भूमि-बंधक बैंक बहुत थोड़े हैं। उनमें अधिकांश सरकारी समिति एक्ट के अन्तर्गत स्थापित किये गये हैं। हमें इस प्रकार के और भी बैंकों की आवश्यकता है।

६. सहकारी साख-संस्थाएँ[९]

सहकारी बैंक और सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों को ऋण देने के लिए सहकारी समिति एक्ट के अन्तर्गत स्थापित होती हैं। सामान्यतया वे किसानों और कारीगरों को अल्पकालीन ऋण देती हैं। सहकारी ऋण संस्थाएँ तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं :

(१) प्रारम्भिक समितियाँ (Primary Societies);
(२) केन्द्रीय बैंक (Central Banks), और
(३) प्रांतीय बैंक (Provincial Banks)।

प्रारंभिक समितियाँ देश के कोने-कोने में फैली हुई हैं और गरीब किसान और कारीगरों के साथ, जिनको वे ऋण देती हैं, उनका घनिष्ठ संबंध है। ये ऋण लेनेवाले और न लेनेवाले दोनों ही की स्थानीय संस्थाएँ होती हैं, और सदस्यों का उत्तरदायित्व सामान्यतया असीमित होता है जिससे कि वे ऋण देते समय सावधानी से काम लें। पूँजी, जमा और प्रवेश फीस के रूप में रुपया इकट्ठा करते हैं। सहकारी केन्द्रीय बैंक, जिनके साथ वे संबन्धित (affiliated) होते हैं, उनके द्वारा जमा किया हुआ रुपया भी काफी महत्व का होता है। ऋण केवल सदस्यों को ही दिया जाता है।

सहकारी केन्द्रीय बैंक जिलों से सम्बन्धित संस्थाएँ हैं। प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय बैंक होता है। अपने जिले की सहकारी साख-समितियों को वे संगठित और नियंत्रित करते हैं और उनकी द्रव्य सम्बन्धी सहायता भी करते हैं। उनके पास रुपया उनकी पूँजी, जनता द्वारा जमा कराई गई रकम और प्रान्तीय सहकारी बैंक द्वारा दिये गये द्रव्य से आता है।

---

[८] वे ऋण के भुगतान के लिये रुपया भी उधार देते हैं।

[९] अध्याय ५५ में इस विषय का सविस्तार वर्णन किया गया है।

सहकारी प्रांतीय बैंक—एक प्रांत के सारे केन्द्रीय बैंक उस प्रांत के प्रांतीय बैंकों से सम्बन्धित होते हैं। अतः प्रांतीय बैंकों को केन्द्रीय बैंकों की सभा कहा जा सकता है। इस बात की बहुत आवश्यकता है कि एक अखिल भारतीय सहकारी बैंक स्थापित किया जाय जो समस्त प्रान्तीय बैंकों के कामों को सुसगठित कर सके और उनकी सहायता भी कर सके।

सहकारी साख आन्दोलन ने किसी बडे पैमाने पर अच्छे परिणाम अभी नहीं दिखाये, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि इसका कोई अच्छा नतीजा हुआ ही नहीं है। सहकारी साख संस्थाएँ नीची व्याज की दर पर ऋण देती हैं और इस प्रकार निर्धन व्यक्तियो को व्याज अदा करने में कुछ बचत हो जाती है। अनुमान लगाया गया है कि सहकारी साख समितियों ने इस प्रकार लगभग १ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष की बचत कराई है। इसके अतिरिक्त, सहकारी साख-समिति साख पर नियंत्रण रखती है और ऋण पर रोक-थाम करती है और साहूकार से बहुत अच्छी है क्योंकि साहूकार आसानी से ऋण देकर ऋण लेना प्रोत्साहित करता है। वास्तव में, बहुत सी जगह ऋण समितियों ने साहूकारों का अच्छा मुकाबला किया है और उन्हे व्याज की दर घटाने पर मजबूर भी किया है। ऋण के भुगतान के मामले में भी उन्होने, विशेषतया भूमि बधक बैंक सहकारी सिद्धान्त पर खोलकर, कुछ काम अवश्य किया है। डार्लिंग (Darling) महशय के शब्दों में, सहकारी आदोलन किसान के जीवन की भीतरी और बाहरी खतरों से रक्षा करने का नया स्वरूप है जिसने पुराने ग्रामीण सामूहिक जीवन का, जो किसान की शोषण (Exploitation) से रक्षा करता था, स्थान ग्रहण कर लिया है। आंदोलन ने बैंकिंग की आदत को भी अधिक लोकप्रिय बनाया है और बहुत सी बेकार धनराशियो को पूँजी में बदल दिया है। यह सच है कि आन्दोलन में बहुत से दोष है किन्तु हम आशा करते हैं कि ये दोष धीरे-धीरे दूर हो जायँगे।

७. सेविंग्स् बैंक

सेविंग्स् या बचत के बैंक का काम साधारण व्यक्तियों की थोड़ी-थोड़ी बचत को आकर्षक व्याज देकर एकत्रित करना और रुपयों का लाभदायक दिशाओं में विनियोग (investment) करना है। व्यापारिक बैंक अधिकतर सेविंग्स बैंक का एक विभाग रखते हैं, और डाकखानों में भी सेविंग्स् बैंक का हिसाब रक्खा जाता है। डाकखाने सरकारी संस्थाएँ हैं और जनता का उन पर अधिक विश्वास है, और वे बहुत बड़ी तादाद में हैं भी। इसलिये उनका महत्व दूसरी प्रकार के सेविंग्स बैंकों की अपेक्षा अधिक है। व्याज की दर बहुत थोड़ी होती है। कुछ बैंक

सेविंग्स बैंक में जमा करने वालो को चैक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा भी प्रदान करते हैं।

§ ४. रिजर्व बैंक आव इंडिया

हम रिजर्व बैंक को आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का एक अंग मान सकते हैं किन्तु यह बैंकिंग प्रणाली का सिरमौर (Apex) कहते है। इसका पद और काम ऐसे हैं कि हम इसका वर्णन अलग से करना उचित समझते हैं।

रिजर्व (या केन्द्रीय) बैंक के उद्देश्य

मूल्यों के स्थिर रखने की दृष्टि से चलन और साख को नियन्त्रित और नियमित करने की समस्या आधारभूत महत्व की समस्या है। यदि चलन और साख की पूर्ति उनकी माँग से कम हुई, तो मूल्य गिरने लगेंगे और आर्थिक संकट आ सकता है। इसके विपरीत, यदि उनकी पूर्ति माँग से अधिक हो गई, तो कृत्रिम समृद्धि (boom) का समय आ जायगा और कृत्रिम बबूले के फूटने के समय बहुत हानि होगी। इसके अतिरिक्त मूल्यों का असाधारण घट-बढ़, समाज के विभिन्न वर्गों के आपसी आर्थिक संबन्धों के आधार को उथल-पुथल कर देता है। चलन और साख का नियन्त्रण इतना महत्त्वपूर्ण है कि यह काम देश के रिजर्व (या केन्द्रीय) बैंक को सौंपा जाता है। ऐसा बैंक सरकार का तथा अन्य बैंकों का बैंक भी होता है। यह बिल बाजार की उन्नति, देश की बैंकिंग-प्रणाली की रक्षा, चैक के प्रयोग को प्रोत्साहित करना, आदि ऐसे ही सहायक काम भी करता है।

रिजर्व बैंक आव इंडिया का इतिहास

हमारे देश के इतिहास में अप्रेल १, १९३५, एक महत्वपूर्ण दिन है क्योंकि रिजर्व बैंक ने उस दिन अपने काम का श्रीगणेश किया। वैसे तो देश में एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का विचार सबसे पहले सन् १८३६ में किया गया और उसके बाद कई बार यह प्रश्न फिर उठाया गया। किन्तु सन् १९२१ तक इसका कोई भी परिणाम न हुआ। सन् १९२१ में इम्पीरियल बैंक आव इंडिया इस आशा से खोला गया कि वह देश के केन्द्रीय बैंक होने का काम कर सकेगा। किन्तु जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, यह एक वर्णशंकर संस्था थी, इसे कुछ ऐसी सुविधायें प्राप्त थीं जो केवल केन्द्रीय बैंक को ही प्राप्त होती हैं, किन्तु इसके साथ ही उसे देश के साधारण बैंको से स्पर्धा (competition) करने का भी अधिकार था। नतीजा यह हुआ कि इसने अपनी विशेष सुविधाओं का प्रयोग दूसरे बैंकों को कुचल डालने के लिये किया, और इस प्रकार जिस उद्देश्य से यह

बनाया गया था वह पूरा न हुआ। रिजर्व बैंक की आवश्यकता बनी ही रही। सन् १९२७ में भारत सरकार के अर्थ सदस्य (Fianance Member) ने रिजर्व बैंक स्थापित करने के लिये एक बिल केन्द्रीय धारा-सभा में प्रस्तावित किया किन्तु स्वामित्व के प्रश्न पर धारा-सभा ने इस बिल को अस्वीकार कर दिया। अंत में सन् १९३४ में रिजर्व बैंक आव इंडिया एक्ट पास हुआ और १९३५ में रिजर्व बैंक ने काम करना शुरू कर दिया।

इसका स्वामित्व और पूँजी

रिजर्व बैंक आव इंडिया शेयरहोल्डरों के बैंक के रूप में स्थापित हुआ था। इसकी पूँजी ५ करोड़ रुपये थी जो सौ-सौ रुपये के शेयरों में विभाजित थी। समस्त भारत के पाँच भाग कर दिये गये थे और प्रत्येक भाग को पूँजी का एक हिस्सा दे दिया गया था। हर विभाग के निवासी निश्चित पूँजी तक के शेयर खरीद सकते थे। किन्तु हाल में ही इस बैंक के राष्ट्रीयकरण (nationalisation) के (अर्थात् सरकार के बैंक का स्वामी होने के) लिये आन्दोलन चला जिसके परिणामस्वरूप जनवरी १, १९४९, को भारत सरकार ने रिजर्व बैंक खरीद लिया। पुराने शेयरहोल्डरों को हर १०० रुपये के शेयर के बदले में ११८ रु० १० आने दे दिये गये। अतः अब यह एक सरकारी संस्था है। इसकी पूँजी अब भी ५ करोड़ रुपये है पर अन्तर यह हो गया है कि पहले ये शेयर जनता के पास थे पर अब वे सरकार ने खरीद लिये हैं।

इसका प्रबंध

बैंक के व्यवसाय का सामान्य निरीक्षण और दिग्दर्शन (direction) एक डाइरेक्टरों के केन्द्रीय बोर्ड के अधीन है। इस बोर्ड के, सन् १९४८ के सुधारने वाले कानून [Reserve Bank (Transfer to Public Ownership) Act, 1948] के अनुसार, १४ सदस्य इस प्रकार होते हैं :

(१) १ गवर्नर और २ डिपुटी-गवर्नर।

(२) ४ डाइरेक्टर जो चार स्थानीय बोर्डों[१] से केन्द्रीय सरकार नियुक्त करेगी।

(३) ६ अन्य केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त डाइरेक्टर।

(४) १ केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त सरकारी अफ़सर।

---

[१] पहले पाँच Local Board थे पर अब इनकी संख्या केवल ४ है। ये बोर्ड उत्तरी क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र, पूर्वी क्षेत्र और पश्चिमी क्षेत्र के हैं।

इसके काम

हम रिजर्व बैंक के कामों को तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं : (क) केन्द्रीय बैंक के काम, (ख) साधारण बैंक के काम, और (ग) निषेध किये हुये काम।

(क) केन्द्रीय बैंक के काम—अन्य समस्त केन्द्रीय बैंकों की भाँति, रिजर्व बैंक भी निम्नलिखित काम करता है . (१) यह **सरकार का बैंकर** है। यह विभिन्न सरकारी संस्थाओं से रुपया लेता और जमा करता है, तथा उनका जितना रुपया जमा होता है उस सीमा तक उनके लिये भुगतान करता है। वह उनका विनिमय, रुपया भेजना, सार्वजनिक ऋण (public debt) का प्रबन्ध करना तथा अन्य बैंक-सम्बन्धी कार्य करता है। (२) **यह बैंकों का बैंकर है**। देश के अन्य बैंकों को कुछ नकद रिजर्व (cash reserve) रिजर्व बैंक के पास अनिवार्य रूप से जमा करना पड़ता है, और रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि संकट के समय वह इन बैंकों की सहायता करे। (३) **यह कागजी द्रव्य निर्गमित (Issue) करता है**। नोट निर्गमित करने का एकाधिकार रिजर्व बैंक का है। इसके दो विभाग हैं—बैंकिंग विभाग और निर्गम विभाग। निर्गम-विभाग बैंकनोट निर्गमित करने का काम करता है। (४) यह रुपया-स्टर्लिंग विनिमय १ शि० ६ पें० के बराबर रखता है, और इसके लिये इसे कुछ सीमाओं के अन्तर्गत स्टर्लिंग खरीदना और बेचना पड़ता है।

(ख) साधारण बैंक के काम—बैंक निम्नलिखित व्यापारिक बैंक के काम कर सकता है :

१. बिना ब्याज दिये रुपया जमा करना।
२. कुछ सीमाओं के अन्तर्गत, बिल आव एक्सचेंज और प्रामिसरी नोट खरीदना, बेचना और उनका फिर से बट्टा कराना।
३. स्टाक, सोना, बिल आदि की जमानत पर ६० दिन तक रुपया उधार देना।
४. शेड्यूल्ड या प्रामाणिक बैंकों (Scheduled Banks) से कम से कम १ लाख रुपये की रकम का स्टर्लिंग खरीदना और बेचना।
५. प्रान्तीय सरकार को तीन महीने तक ऋण देना।
६. ब्रिटिश सरकार की क्रय-तिथि से दस साल के अन्दर परिपक्व (mature) होने वाली सिक्योरिटी, तथा भारत सरकार, प्रान्तीय सरकार, स्थानीय संस्थाओं और उल्लिखित रियासतों की सिक्योरिटी खरीदना और बेचना।

(ग) निषेध किये गये काम—बैंक को साधारण व्यापार करने की आज्ञा नहीं। यह अचल सम्पत्ति (immoveable property) को बन्धक रखकर रुपया उधार नहीं ले सकता। यह मुद्दती बिल भी नहीं लिख सकता या स्वीकार कर सकता। यह जमा होने वाले रुपये पर ब्याज भी नहीं दे सकता। यह रोक-थाम इसलिये की गई है कि बैंक स्वयम् सुरक्षित रहे तथा अन्य बैंकों के साथ अनुचित स्पर्द्धा न कर सके।

कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department)

एक्ट के अनुसार, बैंक ने एक कृषि साख विभाग भी खोला है। इस विभाग का उद्देश्य कृषि-सम्बन्धी ऋण समस्या का अध्ययन करना, कृषि के लिये द्रव्य-प्रबंध करने वाली संस्थाओं में सुधार करना और देशी बैंकों तथा आधुनिक बैंकिंग प्रणाली के बीच में घनिष्ठता स्थापित करना है। किन्तु अब तक इसने कोई खास काम नहीं किया।

अभ्यास के प्रश्न

१. द्रव्य-बाजार का क्या अभिप्राय है। भारतीय द्रव्य-बाजार में कौन से अंग हैं?

२. देशी बैंकर कौन हैं? उनके कामों का वर्णन कीजिये। क्या वे वास्तव में बैंकर होते हैं?

३. देशी बैंकिंग प्रणाली की आधुनिक बैंकिंग प्रणाली से तुलना कीजिए। उनके गुण और दोषों का वर्णन कीजिए।

४. व्यापारिक बैंक क्या होते हैं? उनकी भारत में वर्तमान अवस्था क्या है? इनमें सुधार कैसे किया जा सकता है?

५. औद्योगिक बैंकों और भूमि-बंधक बैंकों के कार्यों की विवेचना कीजिए। भारत में उनकी अवस्था पर कुछ प्रकाश डालिये।

६. इस देश में काम करने वाले विनिमय बैंकों और बचत के बैंकों पर एक लेख लिखिये।

७. भारत में सहकारी ऋण-समितियों के कार्यों और परिचालन का वर्णन कीजिए।

८. रिजर्व बैंक क्या है और उसके क्या काम होते हैं? भारत में रिजर्व बैंक आव इंडिया इन कामों को किस सीमा तक सम्पन्न करता है। रिजर्व बैंक आव इंडिया की पूंजी, उसके प्रबन्ध और कार्यों का वर्णन कीजिए।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. निम्नलिखित के प्रधान कर्तव्य बताइये (अ) भारत का रिजर्व बैंक और (आ) भारत का इम्पीरियल बैंक। (१६४६)

२. बैंक उत्पत्ति में क्या सहायता देते हैं? भारतीय देशी बैंकों के कामों का वर्णन कीजिए। (१६४८)

३. बैंक क्या सेवाएँ करता है? क्या भारतीय ग्रामीण महाजन वास्तविक अर्थ में बैंकर होता है? कारण सहित उत्तर दीजिए। (१६४७)

४. रिजर्व बैंक के विधान और कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (१६४६)

५. व्यापारिक बैंक के कामों का संक्षिप्त वर्णन दीजिए। बैंक का काम भारतीय साहूकार के काम से किस प्रकार भिन्न होता है? (१६४५)

६. रिजर्व बैंक का एक संक्षिप्त वर्णन दीजिए तथा इसके कार्यों का विश्लेषण कीजिए। (१६४३)

७. भारत के रिजर्व बैंक तथा विनिमय बैंक के प्रमुख कार्यों को समझा कर लिखिये। (१६३६)

८. भारत में काम करने वाले कौन-कौन प्रकार के बैंक हैं? संक्षेप में उनके कार्य लिखिये। (१६३६)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

६. बैंक के क्या कार्य होते हैं? साहूकार इन कार्यों को किस सीमा तक सम्पन्न करता है। (१६४५)

१०. भारतीय बैंकिंग प्रणाली का वर्णन कीजिए और यदि इसमें कोई दोष हों तो उनको स्पष्ट कीजिए। (१६३३)

११. साहूकारी प्रथा का वर्णन कीजिए और बताइये कि ग्रामीण-समाज की साहूकार क्या सेवा करता है। (१६३१)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

12. Explain fully the chief functions of the Reserve Bank of India and the Imperial Bank of India (1949)

13. Examine the usefulness of linking the indigenous banks with the modern banking system in this country (1948)

14 What are the services performed by a bank? Is the village mahajan in India a banker in the true sense of the term? Give reasons for your answer. (1944)

15. Describe the business of Exchange Banks in India Why is the discounting of the bills of exchange considered to be a suitable form of investment by banks ? (1943)

16 Write a short note on Indian Joint Stock Banks (1943)

17 Write a short note on Indigeneous Banks (1942)

18 Explain the main object for which the Reserve Bank in India was started (1940)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

19 What are the chief functions of (a) the joint-stock banks, and (b) the indigenous banks in India ? Discuss (1949)

20 Describe briefly the Indian banking system, pointing out specially the importance of the Reserve Bank, (1948)

21 Write a short note on the Sahukari and Sarafi systems. (1948)

22. What are the main functions of a bank ? Briefly describe the Indian banking system (1947)

पटना, इन्टर आर्ट्स

23. Describe the functions of banks with special reference to Indian conditions (1946)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

24 Write a note on the banking organisation of India (1949)

25 Explain the important functions of the Reserve Bank of India How does it differ from a private commercial bank ? (1948)

26 Write a short note on Foreign Exchange Banks in India. (1948)

अध्याय ५४

ग्रामीण ऋण की समस्या

हमारे देश में ग्रामीण ऋण की समस्या बहुत कठिन समस्या रही है। देश की समृद्धि मुख्यतः कृषि पर निर्भर है क्योंकि हमारे अधिकांश देशवासी खेती करते हैं। पर खेती के मार्ग में ऋण की समस्या भीषण रूप धारण किये हुए है। हमारी आर्थिक उन्नति का एक आवश्यक सोपान इस समस्या का हल करना है।

ग्रामीण ऋण की मात्रा

भारतवर्ष के ग्रामीण ऋण की मात्रा का अनुमान कई बार लगाया जा चुका है। सन् १६३१ में केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने इस ऋण को ६०० करोड़ रुपये के लगभग ठहराया था[1]। उसके पश्चात् कृषि पर आर्थिक संकट आया और यह मात्रा काफी बढ़ गई। अनुमान किया जाता था कि यह ऋण बढ़कर १००० करोड़ रुपये तक अवश्य ही पहुँच गया होगा। भारत से द्वितीय महायुद्ध के समय में कृषि पदार्थों का मूल्य बहुत बढ़ गया और किसानों को काफी लाभ हुआ। उन्होंने ऋण का भुगतान करना आरम्भ कर दिया। हाल में ही कई जाँच इस दिशा में हुई हैं और इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अब ग्रामीण ऋण बहुत कम हो गया है। किन्तु भय यह है कि ऋण की यह कमी अस्थायी न हो। यदि खेती एक बार पहले की भाँति नुकसान वाला पेशा हो गया, तो फिर ऋण की समस्या युद्धपूर्व की भाँति भीषण रूप धारण कर लेगी। अतः हमें इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये।

---

[1] इस ऋण का प्रान्तीय विभाजन निम्नलिखित है —

			रुपया करोड़	
बिहार और उड़ीसा	...	...	१५५	,,
मद्रास	...	...	१५०	,,
पंजाब (पूरा)	...	...	१३५	,,
संयुक्त प्रान्त	...	...	१२४	,,
बंगाल (पूरा)	...	...	१००	,,
बम्बई	...	...	८१	,,
मध्य प्रान्त	...	...	३६	,,

२

ग्रामीण ऋण के कारण

ग्रामीण ऋण के इतने अधिक हो जाने के निम्नलिखित कारण हैं :

(१) पैतृक ऋण—पुरखों द्वारा लिया गया ऋण वर्तमान ऋण का महत्त्व-पूर्ण कारण माना गया है।[२] यह प्रतिदिन देखा जाता है कि जो व्यक्ति ऋणी उत्पन्न होते हैं, वे अपने पिता का और पितामह का ऋण भुगतान करने के लिये बहुत चिन्तित रहते हैं। वे शायद यह नहीं जानते कि कानून के अनुसार उत्तरा-धिकारी उसे मिलने वाली सम्पत्ति के मूल्य तक ही के लिये मृतक के ऋण का देनदार होता है, और यदि उसे मृतक से कुछ भी सम्पत्ति न मिले, तो मृतक के ऋण के सम्बन्ध में उसकी कोई देनदारी नहीं होती। यदि गाँव वालों को इस बात का ज्ञान हो भी, तो सामाजिक रीति-रिवाज का उन पर इतना प्रभाव होता है कि उनके विचार मे पैतृक ऋण का भुगतान करना उनका पवित्र कर्त्तव्य है।

(२) भूमि पर जनसंख्या का दबाव—पैतृक ऋण के अतिरिक्त, किसान स्वयम् भी कई कारणों से ऋण लेते हैं। इसका एक मुख्य कारण यह होता है कि उनकी खेती से होने वाली आय उनके परिवार के पालन-पोषण के लिये काफी नहीं होती। ऐसा होता इसलिये है कि भूमि पर जन संख्या का दबाव बहुत अधिक है, खेती पर इतने अधिक व्यक्ति अपनी जीविका के लिये निर्भर होते हैं कि उन्हें पेट भर भोजन भी नहीं मिल सकता। अत. उन्हें जीवित रहने के लिये महाजनों से ऋण लेना पड़ता है।

(३) खेतों का छोटा और छिटका होना—खेती के लाभ-प्रद न होने का एक और कारण यह है कि किसानों के खेत छोटे और छिटके हुए होते हैं इसके कारण खेती करना अनार्थिक (uneconomic) हो जाता है और ऋण लेना अनिवार्य हो जाता है।

(४) किसानों का दुर्बल स्वास्थ्य—इसके अतिरिक्त किसान बहुत दुर्बल होते हैं और इसलिये व कार्यशील नहीं होते। बहुधा काम के समय वे बहुत सी

आसाम	...	...	२२ ,,
मध्य क्षेत्रफल	...	...	१८ ,,
कुर्ग	...	...	३५ ३५ ,,

(Vide Central Banking Enquiry Committee Report, para 77)

[२] Deccan Riots Commission, 1875 और Central Banking Enquiry Committee, 1931, की भी यह सम्मति है।

छोटी और बड़ी बीमारियों के शिकार हो जाते हैं, और उनकी कमजोरी इससे बढ जाती है। अत. उसे अपनी जीविका चलाने के लिये खेती जिस कार्यक्षमता से करनी चाहिये वह उतना नहीं कर पाता।

(५) **बाढ़, अकाल, बीमारी तथा अन्य सकट**—भारतीय किसान को बाढ, पानी की कमी, टिड्डी, खेत के कीड़े, रोगो, आदि सकटों का भी सामना करना पड़ता है। इससे किसान को दो नुकसान होते हैं। पहला तो यह कि उसकी फसलें खराब हो जाता हैं और उपज बहुत कम होती है। यह देखा गया है कि पाँच साल के समय में, एक साल अच्छी होती है, एक साल बुरी और तीन साल साधारण। दूसरे, चारे की कमी और पशुओं की बीमारियों के कारण उसके गाय-बैल मरने लगते हैं। किसान की सबसे कीमती पूँजी उसके पशु ही होते हैं, और उनके मर जाने से उसे भारी आर्थिक क्षति होती है। प्रत्येक दशा मे उसे महाजन की शरण लेना पड़ती है जो उसका अच्छी तरह शोषण (exploitation) करता है।

(६) **किसान की फिजूलखर्ची**—किसान शादी, त्यौहारों आदि पर बहुत फिजूलखर्ची भी करता है और ऋण का एक बड़ा भाग इसी का परिणाम होता है। किन्तु कई प्रांतीय बैंकिंग जाँच कमेटियों ने यह बताया कि किसानों की फिजूल-खर्ची की बात बहुधा अतिशयोक्ति के साथ कही जाती है। सामान्यतया किसान बहुत किफायतशार होता है, वह अध-भूखा और अध-नगा तक रहता है। किन्तु खुशी के कुछ अवसरों पर, वह अपनी आय के अनुपात से अधिक अवश्य खर्च कर देता है।

(७) **मुकदमेबाजी**—हमारे किसानों को मुकदमा लड़ने का व्यसन हो गया है। वे दीवानी के मुकदमे तो करते ही हैं, उनमें फौजदारी के मुकदमे भी काफी होते हैं। प्राचीन काल की शांति और मैत्री अब दिखाई नहीं पड़ती और पंचायत का प्रभुत्व लुप्त हो गया है। अब तो स्थान-स्थान पर लड़ाई-झगड़े और दुश्मनी की तूती बोलती है, और चालाक वकील किसानों को भड़काकर उनसे मुकदमे लड़वाते और उनको लूटते हैं।

(८) **मालगुजारी की नीति**—कुछ अर्थशास्त्री यह भी कहते हैं कि किसानों से ली जाने वाली मालगुजारी इतनी अधिक होती है और इस कड़ाई के साथ वसूल की जाती है कि वे साहूकार की सहायता लिये बिना उसका भुगतान नहीं कर सकते। इस मत का प्रतिपादन सबसे पहले स्वर्गीय रमेशचन्द्र दत्त ने किया और अधिकाश अर्थशास्त्री इस मत को ठीक समझते हैं।

(९) **ग्रामीण साख सगठन की खराबी**—किसानों को ऋण देने के वर्तमान साधनों में इतने दोष हैं कि वे किसान को ऋणी बना देते हैं। किसान केवल

महाजन से ही ऋण ले सकता है, और महाजन बहुत सी चालाकियाँ करने और ऋण को बढा देने के साथ ही साथ व्याज की ऊँची दर वसूल करता है जिससे कि असली रकम तेजी से बढ जाती है। एक बार किसान महाजन के घर आ भर जाय, बस वह उसका जीवन पर्यंत ऋणी हो जाता है और अपने उत्तराधिकारियों के कन्धो पर भी ऋण का भार लाद जाता । हमारे देश में सहकारी ऋण समितियों ने अभी कम उन्नति की है।

(१०) **किसानों की परिवर्तित अवस्था**—ब्रिटिश राज्य स्थापित होने से बहुत सी नई आर्थिक शक्तियाँ क्रियाशील हो गई जैसे व्यापार की वृद्धि, यातायात के साधनों का विस्तार आदि जिनके कारण खेतो के मूल्य बहुत बढ गये। खेतों, अर्थात् जमानत का मूल्य बढ जाने के कारण, किसान की ऋण लेने की शक्ति भी बढ गई। अत उसने हर प्रकार के कामों के लिये, चाहे वे उत्पादक हो अथवा अनुत्पादक, ऋण लेना आरम्भ कर दिया, और इतना ऋण लिया कि उसका भुगतान उसकी शक्ति के परे हो गया।

ऋण-ग्रस्तता के दुष्परिणाम

किसान आजकल जिन बुराइयों का शिकार बना हुआ है उनमें से बहुत सी उसके ऋणी होने का परिणाम बताई जाती हैं। ऋण-ग्रस्तता के कारण भूमि किसानो के हाथ से निकलकर गैरकिसानों के पास चली गई है, और एक भूमि-हीन सर्वहारा वर्ग (landless proletariat) बन गया है जिसका आर्थिक स्तर बहुत नीचा है। इसके अतिरिक्त, ऋण देते समय यह शर्त कर ली जाती है कि फसल तैयार होने पर किसान को उस ऋण-दाता के हाथ एक निश्चित मूल्य पर बेचना पडेगा। यह कहना व्यर्थ है कि इस प्रकार पूर्व-निश्चित मूल्य बहुत कम होता है। अत में, ऋण-दाता किसानों से बहुत सा रुपया झूठे झूठे मदों पर वसूल करता है और इनसे बेगार भी लेता है। कभी-कभी तो किसान गुलाम की तरह हो जाता है। भाग्यवश अब ये बातें काफी कम हो गई हैं और बहुत शीघ्र ही ये इतिहास की सामग्री ही हो जायँगी।

समस्या का विश्लेषण और उसका निवारण

ग्रामीण ऋण की समस्या दो भागों में बाँटी जा सकती है . (१) पुराने या भूतकाल के ऋण की समस्या, और (२) नये या भावी ऋण की समस्या।

(१) भूतकाल का ऋण अधिकतर पैतृक । यह ऋण चक्र वृद्धि व्याज (compound interest) से इतना शीघ्र बढता जाता है कि बहुत शीघ्र ही यह कई गुना हो जाता है, यहाँ तक कि किसान उसे अदा कर सकने की आशा

ही छोड़ देता है। पुराने ऋण का भुगतान करना बहुत आवश्यक है। इस दिशा में सहकारी सिद्धान्त पर चलाये गये कुछ भूमिबन्धक बैंक अच्छा काम कर रहे हैं। ऐसे बैंकों की हमें और जरूरत है, चाहे वे सहकारी सिद्धान्त पर बनाये जायँ या संयुक्त पूँजी के आधार पर। किन्तु भूमिबन्धक बैंक पुराने ऋण के निवारण के लिये केवल भूमि की जमानत पर ही रुपया उधार देते हैं, और जो किसान ऐसी जमानत नहीं दे सकते, वे ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। इस दिशा में बैंकिंग जाँच कमेटी और रायल कमीशन -आन एग्रिकल्चर, आदि ने अच्छे सुझाव रक्खे हैं, और हमें उनके अनुसार इस समस्या को हल करने की चेष्टा करनी चाहिये।

(२) चालू ऋण (current debt) की समस्या भी हमें सुलझानी पड़ेगी। ऋण देने वाली वर्तमान संस्थाओं में बहुत दोष हैं और वे इस प्रकार काम करती हैं कि ऋण बढ़ता ही जाता है, उसका अंत कभी नहीं होता। ऐसे दोषों को दूर करना बहुत आवश्यक है। सहकारी साख समितियाँ स्थापित करके इस समस्या का हल किया जा सकता है। यदि आधुनिक बैंक गाँव में अपनी शाखायें खोलना आरम्भ कर दें, तो यह भी बहुत अच्छा होगा। इस प्रकार के कुछ प्रयास किये भी गये हैं और उनके परिणाम भी आशापूर्ण हुए हैं।

सरकारी कानून

सरकार ने कानून के द्वारा इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में दो महत्त्वपूर्ण एक्ट बनाये: (१) भूमि सुधार ऋण एक्ट (Land Improvement Loans Act) जिसके अनुसार किसान उत्पादक कार्यों के लिये, जैसे खेत में इमारत बनवाने या मशीन खरीदने के लिये, सस्ती ब्याज पर सरकार से ऋण ले सकता था, और (२) कृषि सम्बन्धी ऋण एक्ट (Agricultural Loans Act) जिनके अनुसार चालू खर्च करने के लिये किसान सरकार से ले सकता था। इनको तकावी ऋण कहते हैं और उनका शासन इतना खराब हुआ है कि किसान उनसे कुछ फायदा नहीं उठा पाये हैं। सन् १६०० में पंजाब का भूमि हस्तांतरण एक्ट (Punjab Land Alienea-tion Act) पास हुआ जिसने कि किसान के पास से गैरकिसान के पास भूमि के हस्तांतरण होने पर रोक-थाम की, किन्तु इसने एक साहूकार किसानों के एक नये वर्ग को जन्म दिया जिससे कि हालत उल्टी बिगड़ ही गई। विभिन्न प्रांतों की सरकारों ने इस सम्बन्ध में कई कानून बनाये हैं। उदाहरण के लिये, संयुक्त प्रांत में सरकार ने Agriculturists Relief Act, Encumbered Estates Act, Usurious Loans Act, आदि बनाये, किन्तु अवस्था अभी कानू

में नहीं आयी है। इस समस्या के हल का एक और उपाय सहकारिता है जिसका वर्णन अगले अध्याय में करेंगे।

अभ्यास के प्रश्न

१. भारत में ग्रामीण ऋण-समस्या के कारण बताइये।

२. इस देश में ग्रामीण ऋण-समस्या का एक अनुमान लगाइये। यह समस्या कैसे सुलझाई जा सकती है?

३. ग्रामीण ऋण-समस्या को हल करने में सरकारी कानून कहाँ तक सहायक हुआ है?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. भारत में ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के क्या कारण हैं? सहकारी ऋण-समितियों ने इस समस्या को कहाँ तक हल किया है? (१९४४)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

2. What are the causes of rural indebtedness in our country? How far has the co-operative movement succeeded in solving the problem? (1949)

अध्याय ५५

भारतवर्ष में सहकारिता

§ १. प्रारंभिक

सहकारिता का अर्थ

अपनी सामान्य आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बराबरी के स्तर पर मिलकर काम करने वाले व्यक्तियों के ऐच्छिक संगठन को ही सहकारिता कहते हैं। सहकारिता का शाब्दिक अर्थ मिलकर काम करना है, किन्तु अर्थशास्त्र में इसका यह आशय होता है कि सहयोग ऐच्छिक है, सदस्यों का दर्जा बराबरी का है और उनका उद्देश्य किसी आर्थिक आवश्यकता की संतुष्टि करना है। सहकारिता का अंतिम उद्देश्य मध्य पुरुषों का लोप करना और स्पर्धा की इति-श्री करना है।

इसका क्षेत्र

सहकारिता का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वास्तव में, जहाँ भी मध्य-पुरुष होते हैं और उनके लोप कर देने से कुछ लाभ हो सकता है, वहीं सहकारिता से लाभ उठाया जा सकता है। सहकारिता की निम्नलिखित किस्में होती हैं:

(१) उपभोग सहकारिता (Consumer's Co-operation)—उपभोग सहकारिता का उद्देश्य यह होता है कि उपभोक्ता आवश्यकता के पदार्थ कम से कम मूल्य पर खरीद सकें। सहकारी समिति थोक दर पर वस्तुएं खरीद कर सदस्यों को किफायत से वेचती हैं। साल में जितना भी लाभ होता है, वह सदस्यों में उनकी खरीद के अनुपात में बाँट दिया जाता है। इसके द्वारा दूकानदारों का लोप कर दिया जाता।

(२) उत्पादन सहकारिता (Productive Co-operation)—इस प्रकार की समिति का उद्देश्य किसी वस्तु का उत्पन्न करना होता है। इसके सदस्य स्वयं मजदूरों का काम करते हैं और प्रबन्ध करने के लिये एक कमेटी चुन लेते हैं। साल में जो लाभ होता है वह आपस में बाँट लिया जाता है। इसके द्वारा संगठन-कर्ता और साहसी का लोप हो जाता है।

(३) साख सहकारिता (Credit Co-operation)—इसका उद्देश्य सदस्यों की आवश्यकतानुसार उनकी सामूहिक साख और साधनों के

आधार पर, ऋण का प्रबन्ध करना होता है। क्योंकि सभी सदस्य प्रत्येक ऋण के भुगतान के लिये व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हो जाते हैं, इसलिये समिति की साख बहुत अधिक हो जाती है, और रुपया सस्ती दर पर उधार लिया जा सकता है। ऐसी समिति साहूकार का लोप कर देती है। भारतवर्ष में सहकारिता का यही स्वरूप सबसे अधिक लोकप्रिय है।

(४) फुटकर किस्में—विक्रय-सहकारिता, गृह निर्माण सहकारिता, बीमा सहकारिता आदि सहकारिता के अन्य फुटकर रूप हैं।

शुल्ज-डेलिज और रेफिजन (Schulze-Delitzsch and Raiffeisen)

संसार में सहकारिता की सबसे अधिक उन्नति जर्मनी और डेनमार्क में हुई है। पिछली शताब्दी में जर्मनी के किसान और कारीगर साहूकारों के असहाय शिकार थे, और उसी समय सहकारिता का विचार सबसे पहले मनुष्यों के दिमाग में आया। श्री शुल्ज-डेलिज तथा श्री रेफिजन निर्धनों की अवस्था देखकर बहुत दुखी हुए और उन्होंने सहकारी समिति बनाकर उनकी अवस्था में सुधार करने की चेष्टा की। शुल्ज-डेलिज महोदय ने छोटे-छोटे व्यापारियों और कारीगरों की सहायता के लिये शहरी सहकारी साख समितियाँ खोलीं, और रेफिजन महोदय ने छोटे छोटे किसानों की सहायता के लिये ग्रामीण सहकारी साख समितियाँ स्थापित कीं। हमारे देश में जो साख समितियाँ खोली गई हैं वे शुल्ज-डेलिज और रेफिजन के आधार पर हैं। अतः इन दोनों की विशेषताओं का जान लेना आवश्यक है।

रेफिजन समिति में परिचालन का क्षेत्र सीमित होता है। सामान्यतया शेयर निर्गमित नहीं किये जाते, शायद ही कभी शेयर बेचे जाते हों। किन्तु यदि शेयर होते हैं, तो शेयर इतने कम मूल्य के होते हैं कि उन्हें हर व्यक्ति खरीद सकता है और लाभ कमाने की प्रेरणा बहुत कम हो जाती है। सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है जिससे कि वे बहुत सावधानी के साथ काम करते हैं और समिति की साख ऊँची रहती है। ऋण केवल सदस्यों को और उत्पादन कार्यों के लिये दिये जाता है। ऋण लम्बे समय के लिये दिया जाता है और भुगतान का आसान किस्तों में आयोजन किया जाता है। लाभ बाँटा नहीं जाता वरन् एक स्थायी रिजर्व फन्ड में जमा होता रहता है। प्रबन्ध अवैतनिक तथा लोकतन्त्र के सिद्धान्त पर आधारित होता है। परिचालन का सीमित क्षेत्र, शेयरों का न होना, असीमित उत्तरदायित्व, गैरसदस्यों और अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण का न देना, लाभ की अविभाज्यता तथा अवैतनिक प्रबन्ध, ये रेफिजन समिति के प्रधान

लक्षण होते हैं। भारत की ग्रामीण साख सहकारी समितियाँ अधिकतर इसी सिद्धान्त पर स्थापित हैं।

शुल्ज-डेलिज समिति में परिचालन का क्षेत्र विस्तृत होता है। समिति की पूँजी शेयरों में बँटी होती है। सदस्यों का उत्तरदायित्व सीमित होता है। ऋण अल्पकाल के लिये दिया जाता है। लाभ का एक भाग रिजर्व फन्ड में जाता है और शेष शेयर-होल्डरों में लाभांश (dividend) के रूप में बाँट दिया जाता है। प्रबन्ध वैतनिक (paid) होता है। **परिचालन का विस्तृत क्षेत्र, शेयरों का होना, सीमित उत्तरदायित्व, अल्पकालीन ऋण, लाभ का बाँटा जाना, और वैतनिक प्रबन्ध, ये शुल्ज-डेलिज सीमित के प्रधान लक्षण हैं।** यह विशेषतया शहरी समितियों के लिये बहुत उपयुक्त ढाँचा है।

सहकारिता से लाभ

सहकारिता से हमारे देश को बहुत लाभ हो सकते हैं। इससे गाँव वालों को निम्नलिखित लाभ हो सकते हैं: (१) उनकी सबसे बड़ी समस्या सस्ते दर पर थोड़े समय के लिये ऋण मिलने की होती । यदि सहकारी साख समितियाँ ठीक तरह काम करें, तो उन्हें पर्याप्त मात्रा मे ऋण मिल सकता है और व्याज की दर भी कम हो जायगी। आजकल साहूकार गाँव में अकेला ऋणदाता होता है और वह मनमानी व्याज वसूल करता है। फिर वह रुपया जमा नहीं करता, अधिकतर अपना ही रुपया उधार देता है। रुपये के सीमित होने के कारण वह ऊँची दर वसूल कर सकता है। किन्तु सहकारी साख समितियों का उद्देश्य अधिकतम लाभ वसूल करना नहीं होता। वे स्वय किसानों की संस्थायें होती हैं और वे अपने सदस्यों को उचित व्याज पर ऋण देती हैं। फिर उनको अपनी पूँजी के अतिरिक्त प्रान्तीय बैंकों से ऋण मिल सकता है जिससे उन्हें रुपये की कमी नहीं पड़ती। अत. सहकारी साख समितियाँ साहूकारों से कम व्याज लेती हैं। यहाँ पर यह भी बताना आवश्यक है कि सयुक्त पूँजी वाले बैंक अभी गाँवों में अपनी शाखाएँ नहीं खोल सकते। हर शाखा (बैंक के दफ्तर) का खर्च बहुत होता है और जब तक काफी काम न हो, यह खर्चा निकल नहीं सकता। गाँवों में इतना काम होना असंभव है। फिर बैंकों का काम अँग्रेजी में होता है पर हमारे अधिकतर किसान अनपढ हैं। अत सहकारी साख समितियाँ ही फिलहाल उपयुक्त और लाभकारी हो सकती हैं। (२) किसान की दूसरी समस्या पुराने ऋण को चुकाना और स्थायी सुधार के लिये (जैसे कुआँ खोदना, औजार खरीदना) ऋण लेना होती है। सहकारी साख समितियाँ इस काम को भी भली-भाँति सम्पन्न कर सकती

है। (३) गाँव वाले सस्ती दरों पर अच्छी तरह के बीज, खाद, औजार आदि खरीदने तथा अपनी उपज अच्छे दामों पर बेचने, और चकबंदी करने तथा अन्य कामों के लिये सहकारी समितियाँ बना सकते हैं और उनसे लाभ उठा सकते हैं।

शहरवाले भी इन समितियों से काफी लाभ उठा सकते हैं। शहरवालों की आवश्यकतायें विभिन्न प्रकार की होती हैं जिनको पूरी करने के लिये अलग-अलग तरह की समितियाँ चलाई जा सकती हैं। इनमें से कुछ का विवरण नीचे दिया जाता है : (१) कारीगरों को अल्प-कालीन ऋण, अच्छा कच्चा माल और बने माल की बिक्री की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वे इसके लिये साख समितियाँ तथा क्रय-विक्रय समितियाँ स्थापित कर सकते हैं। (२) सहकारी उपभोक्ता स्टोर सब के लिये लाभदायक हो सकते हैं क्योंकि उनके द्वारा अच्छी किस्म की चीजें सस्ते दाम पर मिल सकती हैं। (३) मकान बनवाने, उत्पत्ति, खरीद, बिक्री आदि के लिये भी सहकारी समितियाँ खोली जा सकती है।

§ २. भारतवर्ष में सहकारिता का इतिहास

प्रारंभिक चेष्टाएँ

सरकार ने सहकारिता के आदोलन का सन् १९०४ में श्रीगणेश किया। उसके पहले भी देश में सहकारी समितियाँ खोलने की चेष्टाएँ की गई थीं, किन्तु वे या तो निष्फल हो गई या उन्हे अधिक सफलता नहीं मिली। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि चेष्टा मुख्यतया ग्रामीण ऋण की समस्या को सुलझाने की ही की गई थी। इस सम्बन्ध में सबसे पहला सुझाव सर विलियम वेडरबर्न तथा जस्टिस रानाडे ने रक्खा। उनकी कृषि-बैंको की स्कीम को लार्ड रिपन ने स्वीकार कर लिया पर जिसे सेक्रेटरी आव स्टेट फार इडिया ने अस्वीकृत कर दिया। इसके बाद सन् १८९२ में सर फ्रेडरिक निकलसन ने मद्रास की सरकार को एक रिपोर्ट (Report on Land and Agricultural Banks) दी जिसका उन्होंने केवल दो शब्दों में सक्षेप किया· "Find Raiffeisen" या "रेफिजन चलाओ।" उन्होने ग्रामीण ऋण के लिये रेफिजन की तरह की सहकारी समितियाँ बनाने की सिफारिश की। किन्तु मद्रास सरकार का विचार यह था कि उस प्रात में ग्रामीण ऋण की समस्या महत्त्वपूर्ण नहीं, इसलिये इस रिपोर्ट पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। उत्तर प्रदेश सिविल सर्विस के सदस्य मिस्टर डुपर नेक्स ने सर फ्रेडरिक के सुझाव पर वाद-विवाद जारी रक्खा और इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी एक सुन्दर पुस्तक (Peoples' Bank for Northern India) प्रकाशित की। उत्तर प्रदेश, बंगाल और पजाब में कुछ समितियाँ स्थापित भी हुई। किन्तु आन्दोलन की

वृद्धि के लिये कोई सुविधायें प्राप्त न थीं, अत इसकी उन्नति बहुत थोड़ी हुई। सन् १९०१ में सरकार ने भारतवर्ष में कृषि बैंक स्थापित करने की समस्या पर विचार करने के लिये एक कमेटी बनाई और इनकी रपोर्ट के आधार पर सन् १९०४ का सहकारी ऋण समिति एक्ट पास हुआ।

ऋण समिति एक्ट, १९०४

भारतवप में सहकारी आंदोलन २५ मार्च, १९०४ को आरम हुआ। इस वर्ष के सहकारी समिति एक्ट (Co-operative Societies Act) ने केवल ऋण समितियों के बनाने का आयोजन किया था, कुछ तो इसलिये कि ऋण की समस्या सबसे महत्त्वपूर्ण थी और कुछ इसलिये कि सहकारिता का सिद्धात ऋण के सबध में सबसे आसानी से लागू किया जा सकता है और उसके बाद उसका उपयोग विस्तृत क्षेत्र मे किया जा सकता है। परतु केन्द्रीय बैंकिग जॉच कमेटी ने लिखा था कि सन् १९०४ के एक्ट के क्षेत्र का इतना सीमत होना केवल असावधानी का परिणाम था। इस समय शहरी ऋण की अपेक्षा ग्रामीण ऋण पर बहुत जोर डाला गया।

इस एक्ट के अनुसार उसी गॉव या शहर के या उसी जाति के कोई भी दस व्यक्ति एक सहकारी ऋण सिमिति बनाने की आज्ञा माँग सकते थे। यदि उनमें ⅘ सदस्य किसान हुए, तो उसे **ग्रामीण सहकारी ऋण समिति** कहा जाता था और उसे रेफिजन के आधार पर बनाया जाता था। अन्य सब समितियों को **शहरी सहकारी साख समिति** कहा जाता था और व शुल्ज डेलिज के आधार पर बनाई जाती थीं।

ग्रामीण समिति के सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता था और उसका समस्त लाभ एक स्थायी रिजर्व फन्ड में जमा होता रहता था। शहरी समिति सीमित उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर काम कर सकती थी, और सदस्यों में लाभ का ⅘ भाग बाँट सकती थी। यदि पूँजी शेयरों में बटी हो, तो उसकी मात्रा मर्यादित कर दी जाती थी। समितियों को चालू पूँजी (working capital) प्रवेश फीस, सदस्यों द्वारा जमा किये गये रुपये, शेयरों तथा बाहरी ऋणों के द्वारा उगाहनी पड़ती थी। ऋण केवल सदस्यों को ही दिये जा सकते थे। अनिवार्य जाँच, हिसाब-परीक्षा (audit) तथा भग करने के अधिकार सरकार के लिये सुरक्षित थे।

सहकारी समिति एक्ट १९१२

१९०४ के एक्ट के बन जाने के बाद, आंदोलन की उन्नति आश्चर्यजनक हुई। बहुत शीघ्र आंदोलन इस एक्ट के क्षेत्र से बहुत विस्तृत हो गया और सन्

१९१२ में एक नया एक्ट बनाना पड़ा। इसने पहले एक्ट के दोषों का निवारण कर दिया, साख समितियों के अतिरिक्त अन्य समितियों की रजिस्ट्री का आयोजन किया और शहरी तथा ग्रामीण समितियों वाले वर्गीकरण के स्थान पर एक और वैज्ञानिक वर्गीकरण किया जो उत्तरदायित्व के स्वभाव पर आधारित था। इसने निम्नलिखित किस्मो को भी मानता दी : (१) यूनियन जो प्रारम्भिक समितियों की सस्था थी और जिसका काम पारस्परिक नियन्त्रण और हिसाब की परीक्षा करना था, (२) केन्द्रीय बैंक जिन्हें समितियाँ और व्यक्ति स्थापित करते थे, (३) प्रातीय बैंक जिन्हे व्यक्ति स्थापित करते थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पहले वाले एक्ट की मर्यादायें हटा देने पर और कई प्रकार की गैर-साखवाली समितियो को मान्यता देने पर भी, अधिकाश भारतीय सहकारी समितियाँ साख समितियाँ हैं।

मैकलागन कमेटी और उसके पश्चात्

नये एक्ट ने आदोलन को काफी प्रोत्साहन दिया। सन् १९१४ में मैकलागन कमेटी (Maclagan Committee on Co-operation) बैठाई गई और इसकी रिपोर्ट १९१५ में प्रकाशित हुई। तब आदोलन ने अपनी उन्नति के तीसरे पर्व में प्रवेश किया। इस रिपोर्ट के फलस्वरूप सहकारी समितियों का शासन पुनर्संगठित और परिवर्तित कर दिया गया। जो भी समितियाँ सहकारिता के आदर्श को न पहुँच सकी थीं, उनको भग कर दिया गया। भुगतान ठीक समय पर होने की बात पर विशेष जोर दिया जाने लगा। आदोलन में गैरसरकारी व्यक्ति और सस्थाओ का हिस्सा बढने लगा।

भारत सरकार एक्ट, १९१९

सन् १९१९ में भारत सरकार एक्ट (Government of India Act) पास हुआ और सहकारिता प्रान्तीय विषय बन गई। अब इसका शासन प्रान्तीय सरकार का एक मन्त्री करने लगा और इस प्रकार आन्दोलन ने अपनी उन्नति के चौथे पर्व में प्रवेश किया। अब आन्दोलन मे आदमियों की दिलचस्पी बढी और देश भर में समितियो की सख्या बहुत अधिक बढ गयी।

तब से बहुत उन्नति हो चुकी है। उन्नति की एक महत्त्वपूर्ण दिशा विभिन्न प्रातों द्वारा सहकारी जाँच कमेटियो की नियुक्ति है। मध्य-प्रान्त में सन् १९२२ में और बिहार और उड़ीसा में सन् १९२३ में ऐसी कमेटियाँ नियुक्त हुई हैं। कुछ साल बाद उत्तर प्रदेश में इसी प्रकार की जाँच ओकडैन कमेटी (Okden Committee) ने की, और मद्रास में टाउनसेन्ड (Townsend) कमेटी ने।

इन कमेटियों की रिपोर्टों के फलस्वरूप सहकारी समितियों में बहुत से सुधार हुए और उनकी अवस्था पहले से काफी सुदृढ़ हो गयी। कई प्रान्तों में सहकारिता सम्बन्धी नये कानून भी बनाये गये हैं। गैर-साखवाली सहकारिता पर काफी जोर दिया जाने लगा है। सन् १९२८ में कृषि कमीशन ने और सन् १९३१ में भारतीय बैंकिंग जाँच कमेटियों ने बहुमूल्य रिपोर्टें उपस्थित कीं और उनकी सिफारिशों के अनुसार समितियों की जाँच-पड़ताल कड़ी होने लगी है, भूमि-बन्धक बैंकों को प्रोत्साहन मिला है और पुराने ऋणों की बढ़ती को रोकने के लिये प्रयास किये गये हैं। इस प्रकार जो चेष्टाएँ की गई थीं वे अब लगभग ४५ वर्ष में काफी सफल हुई हैं। जो बीज सन् १९०४ में बोया गया था, वह अब प्रस्फुटित होकर एक बड़ा वृक्ष हो गया है जिसकी शाखाएँ और टहनियाँ कई दिशाओं में फैली हुई हैं।

§ ३. वर्तमान स्थिति

सहकारी ढाँचा

सहकारी समितियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं: प्रारम्भिक या केन्द्रीय। केंद्रीय समितियों का मुख्य काम प्रारम्भिक समितियों की सहायता करना है। प्रारम्भिक समितियाँ ही सब काम करती हैं और उन्हें सहकारिता आन्दोलन की नींव कहा जा सकता है। भारतवर्ष में केन्द्रीय समितियाँ केवल १,००० के लगभग हैं, शेष १,७१,००० समितियाँ प्रारम्भिक हैं।

प्रारम्भिक समितियों के उप विभाग—प्रारम्भिक समितियाँ गाँवों और शहरों, दोनों ही जगह पाई जाती हैं। भारत में सहकारी आन्दोलन मुख्यतया गाँवों के ही लिये चलाया गया था। अतः अधिकांश प्रारम्भिक समितियाँ गाँवों में ही हैं। ग्रामीण प्रारम्भिक सहकारी समितियों की संख्या लगभग १,४७,०००, और शहरी प्रारम्भिक सहकारी समितियों की केवल २४,००० है। प्रारम्भिक समितियों को साख और गैर-साख समितियों में भी बाँटा जा सकता है।
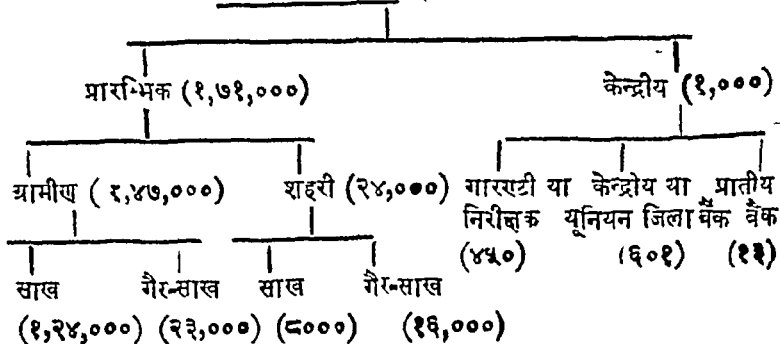
चित्र न० २६—भारत मे सहकारी समितियाँ (१६४५-४६)
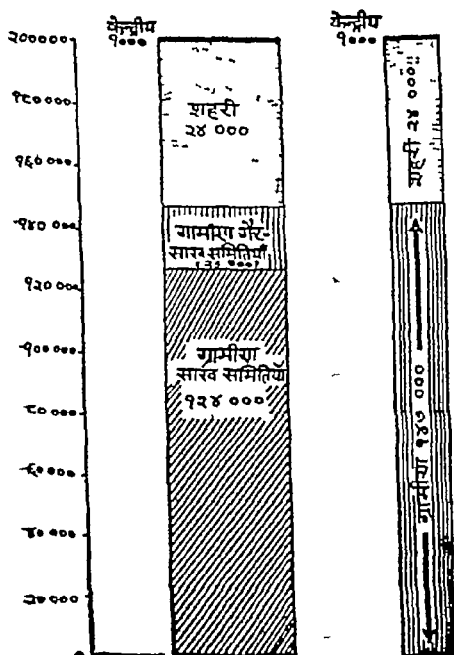
चित्र नं० २७—भारत में सहकारी समतियों का ढाँचा

ऊपर के चार्ट और बगल के चित्र से स्पष्ट है कि भारत में सहकारी आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण ऋण की समस्या को सुलझाना रहा है।

केन्द्रीय समितियों के उप-विभाग—केन्द्रीय समितियों का काम प्रारम्भिक सहकारी समितियों की सहायता करना होता है। ये चार प्रकार की होती हैं : **(१) गारंटी यूनियन** जो प्रारम्भिक समितियों द्वारा लिये गये ऋण के भुगतान होने की गारंटी करती हैं, **(२) निरीक्षक यूनियन** जो प्रारमिक समितियों के काम का निरीक्षण या देख-रेख करती हैं,

[१] Source - *Indian Year Book*, 1949.

(३) केन्द्रीय या जिला बैंक जो हर जिले में एक होता है और जो उस जिले की प्रारम्भिक समितियों को ऋण देता हैं, और (४) प्रान्तीय बैंक जो हर प्रान्त में एक होता है और अपने प्रान्त के जिला सहकारी बैंको को ऋण देता है। सब प्रान्तीय बैंकों ने मिलकर एक भारतीय प्रान्तीय सहकारी बैंक समिति (Indian Provincial Co-operative Banks' Association) बनाई है जिसके द्वारा सब प्रान्तीय बैंकों का नियंत्रण होता है और प्रान्तीय बैंक एक दूसरे की सहायता करते हैं। इस प्रकार नियत्रण के हिसाब से, सहकारी आन्दोलन की स्थिति इस प्रकार है :

भारतीय प्रान्तीय सहकारी बैंक समिति
|
प्रान्तो के प्रान्तीय सहकारी बैंक
|
हर प्रान्त के सब जिलों के केन्द्रीय सहकारी बैंक
|
हर जिले की सब प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ

१. ग्रामीण सहकारी साख समितियाँ

हम सबसे पहले ग्रामीण साख समितियों को लेते हैं जिनकी सख्या सबसे अधिक है। पूरे सहकारी आन्दोलन का आधार प्रारम्भिक समितियाँ हैं। अत' इस समिति के विषय में कुछ मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं :

(१) **समिति की साइज**—ग्रामीण ऋण समिति स्थापित करने के लिये कम से कम दस व्यक्ति होने चाहिये। सदस्यों की संख्या बहुत अधिक नहीं होनी चाहिये क्योंकि इससे कार्य-क्षमता का ह्रास होने लगता है।

(२) **क्षेत्र**—समिति का क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं होना चाहिये। यह एक नियम सा हो गया है कि हर गाँव में एक समिति होनी चाहिये जिससे कि सदस्य एक दूसरे से भली-भाँति परिचित हों और पारस्परिक नियत्रण रख सकें। ऐसा होना बहुत आवश्यक है क्योंकि सदस्यों का उत्तरदायित्व साधारणतया असीमित होता है।

(३) **उत्तरदायित्व**—सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है, यदि सरकार इसके विपरीत आज्ञा दे दे, उसी हालत में यह सीमित हो सकता है, अन्यथा नहीं। हर सदस्य का संयुक्त रूप में और अकेले रूप में असीमित उत्तरदायित्व होता है। असीमित उत्तरदायित्व समिति की साख को बढ़ाता है। इसके कारण सदस्य ऋण देने में सावधानी से काम लेने लगते हैं। वे यह जानते हैं कि यदि किसी ऋणी

ने ऋण न चुकाया, तो होने वाला नुकसान उन्हीं को भुगतना पड़ेगा। इसलिये वे पूरी जाँच-पड़ताल करते हैं और तभी ऋण देते हैं जब उन्हें आश्वासन हो जाता है कि ऋण उत्पादक कार्य के लिये लिया जा रहा है। वे निश्चित समय पर रुपया वसूल करने पर भी जोर देने लगते हैं। अतः ऋण की वसूली ठीक ठीक होती है। अतः यह सिद्धान्त अत में सदस्यों के लिये ही लाभकारी सिद्ध होता है।

(४) प्रबन्ध—कृषि-सम्बन्धी सहकारी प्रारम्भिक समिति का प्रबन्ध अवैतनिक होता है। समस्त सदस्यो की एक जनरल कमेटी होती है; और उनमें से थोड़े से सदस्य प्रतिदिन के काम करने के लिये चुन लिये जाते हैं और वे सामूहिक रूप से प्रबन्ध कमेटी के नाम से पुकारे जाते हैं।

(५) कार्यशील (Working) पूँजी—समिति प्रवेश-फीस, सदस्यो द्वारा जमा किये हुए रुपये, शेयर-रिजर्व फंड आदि के द्वारा कार्यशील पूँजी प्राप्त करती है। ऋण और अन्य समितियों, सरकार तथा केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सहकारी बैंकों का जमा किया हुआ रुपया, पूँजी के बाहरी स्रोत होते हैं।

(६) ऋण के उद्देश्य—ऋण उत्पादक कार्यों के लिये और कर्जे से छुटकारा पाने के लिये दिये जाते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से उपभोग के लिये ऋण नहीं देना चाहिये, किन्तु व्यवहार में ऐसा ऋण देना ही पड़ता है अन्यथा गाँववाला फिर से साहूकार के चंगुल में फँस सकता है।

(७) ब्याज की दर—ऋण कम ब्याज पर दिये जाते हैं। वास्तव में, ऐसी समितियों का यही मुख्य उद्देश्य होता है। किन्तु ब्याज बहुत कम नहीं होनी चाहिये जिससे कि गाँव वाले आवश्यकता से अधिक ऋण लेने के लिये प्रेरित न हों।

(८) अदायगी—ऋण का भुगतान आसान किस्तो के रूप में करना होता है, और समय पर अदायगी होने पर जोड़ डाला जाता है। भुगतान ऐसे समय पर माँगा जाता है जब कि किसान के पास रुपया हो।

(९) सुरक्षा—सैद्धान्तिक दृष्टि से ऋणी से कोई जमानत नहीं लेनी चाहिये और उनकी ईमानदारी पर विश्वास करना चाहिये। किन्तु व्यवहार में ऋण लेने वालों से व्यक्तिगत जमानत तथा अन्य चीजो की जमानत माँगी जाती है।

(१०) लाभ—पूँजी शेयरों के रूप में न होने के कारण, सारे का सारा लाभ रिजर्व फन्ड बैंक में इकट्ठा होता रहता है। किन्तु यदि शेयर बेचे गये हों, तो लाभ का एक भाग शेयरहोल्डरो मे बाँट दिया जाता है। कभी-कभी लाभ का एक भाग आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी कार्यों पर भी व्यय करने की आज्ञा दे दी जाती है।

(११) निरीक्षण—समितियो के काम का निरीक्षण और उनके हिसाब

किताब की जाँच सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार कराते हैं। वे इस काम के लिये निरीक्षक और हिसाब परीक्षक नियुक्त करते हैं। इस सम्बन्ध में निरीक्षक यूनियन भी अच्छा काम करती हैं।

ग्रामीण सहकारी साख समितियों की असफलता—यह असंतोष का विषय है कि सहकारी साख आन्दोलन हमारे गाँवों में असफल रहा है। इसके कई द्योतक हैं : (१) इन समितियों की कुल वास्तविक पूँजी केवल ३० करोड़ रुपये के लगभग है जिससे हमारे सब किसानों का काम नहीं चल सकता। (२) इनके दिये हुए ऋण उत्पादक काम में सदैव नहीं लगाये पाते। बहुधा किसान रुपये को व्याह-शादी आदि पर खर्च कर देते हैं। अतः वे ऋण नहीं चुका पाते। (३) उनका दिया हुआ ऋण बहुत बड़ी मात्रा में बिना अदा किये रह जाता है। अनुमान लगाया गया है कि इन समितियों का लगभग तिहाई ऋण उधार रहता है। (४) फिर आजकल गाँवों में साहूकार की अब भी आवश्यकता है और उसका प्रभुत्व विशेष कम नहीं हुआ।

२. ग्रामीण सहकारी गैर-साख समितियाँ

गाँवों में कुछ सहकारी समितियाँ ऋण देने के अलावा और भी काम करती हैं। गाँवों में ये समितियाँ कृषि-पदार्थों की बिक्री के लिये बीज, औजार और खाद आदि सस्ते दामों पर खरीदने के लिये, खेतों की चकबन्दी के लिये तथा इसी प्रकार के कामों के लिये स्थापित की जाती हैं। किन्तु ऐसी समितियाँ अधिक सफल नहीं हुई हैं।

३. शहरी सहकारी साख समितियाँ

ऋण की समस्या केवल गाँवों में ही नहीं, वरन् शहरों और कस्बों में भी होती है। खास कर जब मूल्य बढ़ जाते हैं, या मजदूरी समय पर नहीं मिलती, या रहन-सहन का दर्जा आमदनी से बढ़ जाता है, तो कारीगरों और मजदूरों को रुपया उधार लेना पड़ता है। इस प्रकार की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, बहुत सी प्रान्तों में शुल्ज-डेलिज के आधार पर अनेक सहकारी साख समितियाँ खोली गई हैं। शहरों में पीपुल्स बैंक (Peoples Bank) भी पाये जाते हैं जो छोटे मोटे व्यापारियों को तथा कारीगरों और कारखाने वालों को ऋण देते हैं। इन बैंकों तथा अन्य बैंकों ने छोटी-मोटी बचत एकत्रित करने में भी कहीं-कहीं काफी सहायता पहुँचाई है।

४. शहरी सहकारी गैर-साख समितियाँ

शहरों में गैर-साख समितियों ने साख समितियों से अधिक उन्नति की है।

ये समितियाँ कई प्रकार की होती हैं। अब बीमे के लिये सहकारी बीमा कम्पनियाँ खुलने लगी हैं। मकान समिति और उपभोक्ता स्टोर आदि भी स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं। इन सब में उपभोक्ता स्टोर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनका वर्णन हमने नीचे ६४ में किया है।

भारतवर्ष मे सहकारिता के लाभ

अभी हमारे देश मे सहकारी आन्दोलन की पूरी उन्नति नहीं हुई है और जो उन्नति हुई भी है उनमें कई दोष हैं। फिर भी इस आन्दोलन से हमारे देश को बहुत से लाभ हुए हैं जिनका वर्णन हम सक्षेप में नीचे देते हैं :

(१) **आर्थिक लाभ**—हम कृषि-सम्बन्धी सहकारिता की साख वाली मतियों के आर्थिक लाभों की विवेचना अध्याय ५२ में कर चुके हैं। इस ान्दोलन की अन्य शाखाओं से भी बहुत से फायदे हुए हैं। कृषि-सम्बन्धी गैर-ाख वाली समितियो ने अच्छे बीज, अच्छे पशु, सस्ती खाद और उपयुक्त ौजारों के लोकप्रिय होने में बहुत सहायता की है। सफाई और दवाई दारु के ामले में भी इन्होंने अच्छा काम किया है। कृषि समितियो के अतिरिक्त जो मितियाँ हैं वे थोड़ी तो अवश्य हैं किन्तु कारखाने के मजदूरों, हरिजनो और ारीब नौकरी पेशेवालों की अवस्था सुधारने में इन्होंने अच्छा काम किया है।

(२) **नैतिक लाभ**—इन सब आर्थिक लाभों के अतिरिक्त, आन्दोलन ने अपने सदस्यों के नैतिक स्तर को भी ऊँचा किया है। इसने किफायतशारी और चत की आदत प्रोत्साहित की है। मुकदमेबाजी, जो अब तक किसान का समय, उसकी शक्ति तथा उसके द्रव्य की बरबादी करती रही है, अब इनके प्रयत्न से कम हो चली है। अब झगड़े पचायत और समझौते द्वारा निपटाये जाने लगे हैं। खराब चाल-चलन वाला और नैतिक दृष्टि से नीचा व्यक्ति समिति का सदस्य नहीं बनाया जाता और इसलिये ऐसे व्यक्तियों का कुछ सुधार निश्चय हुआ है। जैसा डार्लिंग महोदय ने लिखा है कि एक अच्छी सहकारी समिति में मुकदमेबाजी और अपव्यय शराबखोरी और जुएबाजी खराब समझी जाती है, और उनका स्थान परिश्रम, आत्मविश्वास, न्यायपूर्ण व्यवहार, शिक्षा, पंचायत, किफायत, और पारस्परिक सहायता ले लेती हैं।

(३) **शिक्षा और शासन सम्बन्धी लाभ**—सहकारी आन्दोलन कई प्रकार से मनुष्यों को शिक्षित बनाता है। सहकारी समिति का सदस्य उसकी मीटिंग में उपस्थित होता है और उसके नियम तथा उपनियमो को उसे समझना

पड़ता है। यदि वह किसी जिम्मेदार पद पर चुन लिया गया तो उसे समिति के कामों का सावधानी से अध्ययन भी करना पड़ता है। इस प्रकार उसकी बुद्धि का प्रयोग होता है और उसकी समझने और बहस करने की शक्ति तेज होती है। यह देखा गया है कि कभी-कभी पास बुक में प्रविष्टियाँ (entries) पढ़ने और हस्ताक्षर करने की आवश्यकता ने मनुष्यों को शिक्षित बना दिया है। साथ में, शासन तथा लोकतंत्र के मामलों में शिक्षा प्राप्त करने का यह आन्दोलन बहुमूल्य साधन सिद्ध हुआ है।

(४) **सामाजिक लाभ**—इस आन्दोलन ने समाज को भी काफी लाभ पहुँचाया है। असीमित उत्तरदायित्व का सिद्धान्त सदस्यों को सावधान बना देता है और धीरे-धीरे फिजूलखर्ची के विरुद्ध जन-साधारण की भावना जाग्रत हो जाती है। अतः विवाह तथा त्यौहारों पर फिजूलखर्ची में कमी होने लगती है। सहकारी समितियो ने नालों (drains) के सुधार, कुँए बनाने, दवा देने आदि मे अच्छा काम किया है और इससे समाज को लाभ भी हुआ है।

भारतवर्ष मे सहकारिता के दोष

(१) **गैरसाख-सहकारी समितियों की उपेक्षा**—हमारे देश में सहकारिता आन्दोलन पर्याप्त उन्नति नहीं कर सका है। केवल एक समस्या जिसकी ओर इस आन्दोलन ने ध्यान दिया है वह गाँवों की साख की समस्या है, और इस दिशा मे भी जो कुछ काम हुआ है वह सन्तोषप्रद नहीं। यह इस आन्दोलन की सबसे बड़ी कमी है। इसके कार्य क्षेत्र की और बहुत सी दिशाएँ हैं जिनमें सहकारिता के प्रयोग से लाभ उठाया जा सकता है। उदाहरण के लिये, सफाई, मकान इत्यादि बनवाना, क्रय-विक्रय इत्यादि।

(२) **सहकारिता के वास्तविक सिद्धान्तों की अनभिज्ञता**—सहकारिता के सच्चे सिद्धान्तों की मनुष्यों को बहुत कम जानकारी है। इसकी सच्ची भावना को अभी नहीं समझा गया है और इसे केवल एक ऋण देने वाले साधन के रूप में ही देखा गया है। ब्रिटिश काल में तो यह भावना थी कि यह एक सरकारी आंदोलन है और इसमें विदेशी सरकार का कुछ मतलब है। इसलिये जनता इससे दूर रहती थी।

(३) **प्रबन्ध की खराबी**—सहकारी समितियो का प्रबन्ध भी अच्छा नहीं। जैसा कि कृषि के रायल कमीशन ने बतलाया था, समिति के सदस्य जब रुपया समय पर अदा कर भी सकते हैं तब भी वे भुगतान देर से करते हैं; और पदधारी उनके विरुद्ध कार्यवाई करने में हिचकते हैं तथा स्वावलम्बन की भावना प्रमुख नहीं। जब किसी समिति में दोष स्पष्ट होते हैं और उनका होना स्वीकार

भी कर लिया जाता है फिर भी, उसकी दशा में कोई सुधार हो सकने की सम्भावना न होने पर भी उसे सदस्य भग नहीं करना चाहते, जो जितनी शोचनीय बात है उतनी ही भयजनक भी। खासकर ऋण के आर्थिक उद्देश्य की जांच नहीं की जाती और ऋण के भुगतान न होने का दोष काफी प्रमुख है।

(४) **हिसाब की परीक्षा का ठीक न होना**—प्रबन्ध की खराबी और गबन को रोकने के लिये तथा जनता में विश्वास उत्पन्न करने के लिये, यह बहुत आवश्यक है कि समिति के हिसाब की ठीक-ठीक और पूरी-पूरी परीक्षा (audit) हो। वर्तमान परीक्षा का प्रबन्ध हर एक प्रान्त मे अलग-अलग है और वह अधिकतर सतोष-जनक नहीं। हिसाब-परीक्षा, और समितियों के निरीक्षण के काम एक दूसरे से बहुत घनिष्ठ हैं, किन्तु आजकल ये काम दो या कभी-कभी तीन एजेन्सियों को सौंप दिये जाते हैं, जिससे दुहेरा काम करना पड़ता है और श्रम तथा द्रव्य का अपव्यय होता है।

(५) **दिखावट** (Window-dressing)—अभाग्यवश यह देखा गया है कि समिति के सदस्यों में दिखावट की प्रवृत्ति अधिक है और वे ठोस काम करने से उदासीन रहते हैं। कुछ प्रांतों को छोड़कर शेष सब जगह यह दोष देख पड़ता है।

(६) **व्याज की ऊँची दर**—कई प्रान्तों में व्याज की दरे अब भी ऊँची हैं। कुछ सीमा तक तो ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि रुपया जमा करने वाले तथा रुपया उधार लेने वाले के बीच में दो-तीन मध्यस्थ आ जाते हैं। प्रारम्भिक समिति, केन्द्रीय बैंक और प्रान्तीय बैंक—और उनमें से प्रत्येक रुपये जमा करने वाले को दी जाने वाली व्याज की दर में कुछ न कुछ अश अपने लाभ के लिये जोड़ देता है। यदि आदर्श अवस्था प्राप्त हो, तो अपने सदस्यो की आवश्यकता के लिये समितियों को स्थानीय स्वरूपों से ही पर्याप्त पूँजी मिल जानी चाहिये।

(७) **लोचहीनता, विलम्ब और अपर्याप्तता**—आन्दोलन के बहुत भयानक दोषों में, लोचहीनता (inelasticity), विलम्ब और अपर्याप्तता की गिनती होती है। जितना रुपया सदस्यों को चाहिये उतना उन्हें नहीं मिलता और जिस समय उनको आवश्यकता होती है उस समय भी नहीं मिलता। रुपया देने में कभी-कभी अनावश्यक विलम्ब होता है। इसका परिणाम यही होता है कि सदस्यों को समय-समय पर महाजन की शरण लेनी पड़ती है। वास्तव में, समितियों की यह आदत पड़ गई है कि वे केन्द्रीय बैंकों से साल में एक बार जितना भी रुपया उधार ले सकते हैं, ले लेते हैं, और अपने सदस्यों में एक मुश्त में बाँट देते हैं। सदस्यों को जब एक मुश्त में बहुत सा रुपया मिल जाता है, तो वे शीघ्र ही उसे खर्च कर

डालते हैं, और फिर बाद को जब उन्हें द्रव्य की आवश्यकता होती है, तो उन्हें महाजन से ऊँची दर पर लेना पड़ता है।

(८) सुदृढ़ता (Consolidation) का अभाव—वर्तमान समितियों के सुधार करने और उन्हें सुदृढ बनाने के लिये जितने भी प्रयत्न अब तक किये गये हैं, वे निष्फल सिद्ध हुए हैं।

(९) सरकारी नियन्त्रण (Control) का आधिक्य—आंदोलन आरम्भ से ही शुरुआत, प्रोत्साहन और नियन्त्रण के लिये सरकार के ऊपर निर्भर रहा है। ग़ैर-सरकारी व्यक्तियों का इसमें बहुत कम हाथ है। इसे सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि यह आन्दोलन जनता का हो, जनता के लिये हो और जनता के द्वारा हो।

(१०) फिजूलखर्ची और निरक्षरता—सहकारिता अभी सदस्यों को मितव्ययता का पाठ नहीं पढा पाई है, इसका परिणाम यह होता है कि ऋण बहुत कठिनाई से और धीरे-धीरे लौटाया जाता है और बहुत शीघ्र ही दोबारा ऋण लेने की आवश्यकता पड़ जाती है। जन-साधारण के अनपढ़ होने के कारण भी आन्दोलन की सफलता मे बाधा पड़ती है।

§ ४. उपभोग सहकारिता

हम यह तो बता ही चुके हैं कि सहकारी समितियाँ कई प्रकार की होती हैं और वे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं। **उपभोक्ताओं की सहकारी समितियाँ (Consumers' Co-operative Societies)** इनमें से बहुत महत्व की हैं।

उपभोग सहकारिता के उद्देश्य

हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ दूकानदार से खरीदता है, सीधा उत्पादकों से नहीं। अधिकांश में होता यह है कि उत्पादक माल थोक व्यापारियों को बेच देता है, जो फुटकर व्यापारियों को बेचता है, और इन फुटकर व्यापारियों से ही उपभोक्ता माल खरीदते हैं। थोक और फुटकर व्यापारी मध्य-पुरुष होते हैं और वे माल के मूल्य को बढ़ा देते हैं। यदि एक पेन्सिल उत्पादक थोक विक्रेता को दो आने की बेचे, तो यह विक्रेता फुटकर व्यापारी को उसे शायद २ आने ३ पाई की बेचेगा, और वह स्वयम् उपभोक्ता को २ आने ६ पाई की बेच सकता है। यदि उपभोक्ता पेन्सिल स्वयम् उत्पादक से खरीद सकता या खरीदता, तो उसे केवल २ आने देने पड़ते और उसे २ पैसे की बचत हो जाती। मध्य-पुरुषों का लोप करना और उनकी जेब में जाने वाला लाभ बचाना, उपभोक्ताओं की सहकारी समितियों का यही उद्देश्य होता है। ये समितियाँ इसलिये और खोली

जाती हैं कि यह अच्छी किस्म का माल रखती और बेचती हैं। आप दूकानदार को चाहे पूरा मूल्य ही क्यों न अदा करें, फिर भी वह आपको कभी-कभी खराब किस्म का माल दे देता है। किन्तु यदि आप सहकारी स्टोर से माल खरीदें तो आप इस बात से वेखटके हो जायँगे कि माल की किस्म अच्छी होगी।

अतः उपभोक्ताओं की सहकारी समिति के दो उद्देश्य होते हैं: (१) मध्यस्थों का लोप करना, और (२) माल की किस्म अच्छी होने का आश्वासन देना।

उपभोग सहकारिता के सिद्धान्त

उपभोक्ताओं का सहकारी स्टोर, या विभाजन-समिति, उपभोक्ताओं की एक समिति को कहते हैं जिसका उद्देश्य उनको सस्ते दामों पर अच्छी किस्म की वस्तुएँ बेचना होता है। किसी एक स्थान के उपभोक्ता मिलकर एक सहकारी स्टोर स्थापित करते हैं, उसके शेयर खरीदते हैं और जो लाभ होता है उसे आपस में खरीदारी के अनुपात में बाँट लेते हैं। उदाहरण के लिये, यदि खुरशीद लाल एक साल में १००० रुपये का माल खरीदे और राकेश उसी साल में केवल ५०० रुपये का ही माल खरीदे, तो खुरशीद लाल को राकेश की अपेक्षा लाभ का दुगुना भाग मिलेगा। साधारणतया माल बाजार मूल्य पर ही बेचा जाता है, किन्तु सदस्यों को जो लाभ का भाग मिलता है, यदि उसको हिसाब में लें तो खरीदा हुआ माल बाजारू मूल्य से सस्ता पड़ता है। कभी-कभी माल बाजारू मूल्य से कम मूल्य पर भी बेचा जाता है।

जिन सिद्धान्तों पर उपभोक्ताओं के सहकारी स्टोर स्थापित किये जाते हैं, उनका वर्णन नीचे किया जाता है। सदस्यों का उत्तरदायित्व सीमित होता है। एक सदस्य जितने भी चाहे शेयर खरीद सकता है किन्तु उसका वोट केवल एक ही रहता है। प्रत्येक सदस्य का यह कर्त्तव्य होता है कि वह स्टोर से ही सब माल खरीदे। स्टोर अच्छी किस्म का माल अधिकतर बाजारू मूल्य पर बेचता है, और माल उधार नहीं बेचा जाता। साल भर के लाभ का चौथाई हिस्सा रिजर्व फंड में डाल दिया जाता है, और शेष भाग सदस्यों में उनकी खरीदारी के अनुपात में बाँट दिया जाता है। स्टोर की जनरल कमेटी होती है जिसके सब सदस्य मेम्बर होते हैं और वे स्टोर की नीति बनाते हैं। एक और प्रबन्ध कमेटी होती है जिनके सदस्य थोड़े से होते हैं और सदस्यों में से ही चुने जाते हैं। यह ही स्टोर का प्रबन्ध करती है।

विदेशों मे उपभोग सहकारिता

संसार में उपभोग सहकारिता ने काफी सफलता प्राप्त की है। विशेषतया ग्रेट ब्रिटेन में उपभोक्ताओं के स्टोर बहुत सफल हुए हैं और वहाँ यह लाखों की तादाद

खुल गये हैं। जर्मनी मे भी उनकी काफी उन्नति हुई है। हाँ अमेरिका में इनकी
ति अधिक नहीं हुई, शायद इसलिये कि वहाँ के फुटकर स्टोर स्वय बहुत
र्य-कुशल हैं और वहाँ के निवासियों की आय अधिक होने के कारण वे
छोटी-मोटी बचत के प्रति उदासीन होते हैं। हमारे देश में स्टोरों की उन्नति बहुत
हुई है।

सन् १८४४ में जब राशडेल (इंगलैंड) के २८ जुलाहों ने २८ पौंड की
पूंजी से सुविख्यात Rochdale Equitable Pioneers' Society
स्थापित की, तब उपभोक्ताओं के सहकारी स्टोरो का आरम्भ हुआ। शुरू-शुरू में
स्टोर केवल मक्खन, चीनी, गेहू और मोमबत्ती बेचता था, किन्तु धीरे-
इसने अपना क्षेत्र बढाया और फिर यह अपने सदस्यों की आवश्यकता की
प्रायः प्रत्येक चीज बेचने लगा। अन्य स्थानों के उपभोक्ताओं ने इस उदाहरण
नकल की और दूसरे स्थानों पर भी स्टोर खुल गये। इससे फुटकर विक्रेताओ
बहुत की हानि होने लगी और उन्होने उत्पादकों पर यह दबाव डालना आरम्भ
दिया कि वे स्टोरों को ऊँचे मूल्य पर माल बेचें। किन्तु इससे स्टोरो को धक्का
लगा, क्योंकि इसके उत्तर में उन्होंने थोक समितियाँ खोल लीं। थोक समिति
सदस्य स्टोर ही होते थे, और समिति का लाभ सदस्य-स्टोरों में उनकी खरीदारी
अनुपात मे बाँट दिया जाता था। इसके बाद स्टोरो ने जूते, कपडे, कागज,
चिर, और तेल आदि बनाने के लिये कारखाने भी खोल लिये। इस प्रकार
होने थोक विक्रेता और फुटकर विक्रेता, दोनों का ही लोप कर दिया, और उनको
रे वाला लाभ बचा लिया।

रत मे उपभोग सहकारिता

उपभोग सहकारिता ने इ गलैंड में तो बहुत उन्नति की है किन्तु भारतवर्ष मे
की उन्नति अधिक नहीं हुई। इत्तर प्रदेश, बम्बई, और मद्रास आदि में थोड़े से
कारी स्टोर अवश्य खुले हैं। कालेज और हास्टेल के सहकारी स्टोर उत्तर प्रदेश
र बम्बई में काफी सफल हुये हैं और रेल वे स्टोरों का भी इतिहास उत्साह-
क रहा है। किन्तु इस आन्दोलन ने अभी बहुत कम उन्नति की है। प्रथम
युद्ध के समय में जब वस्तुओ के मूल्य बहुत बढ गये, तो ऐसे स्टोर खोले गये,
तु युद्ध के बाद जब मूल्य कम हो गये, तो बहुत से स्टोर बन्द कर दिये गये।
तीय महायुद्ध के समय में सहकारी स्टोरो की सख्या कोई अधिक नहीं बढी।
तु स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद कुछ प्रांतीय सरकारों ने सहकारी स्टोर खोलने
नीति को बहुत प्रधानता दी है, जैसे कि उत्तर प्रदेश में, और अब ऐसे स्टोरों
सख्या बढ रही है। हमारे देश में ऐसे स्टोरो की संख्या ४,००० है।

हमारे देश में स्टोरों की संख्या इतनी कम होने के कई कारण हैं : (१) जहाँ तक धनी व्यक्तियों का सम्बन्ध है, वे इन स्टोरों में दिलचस्पी नहीं लेते क्योंकि उनके द्वारा जो छोटी-मोटी बचत होती है वे उसके प्रति उदासीन होते हैं। (२) मध्यवर्ग के सदस्य भी इन स्टोरो की तरफ आकर्षित नहीं होते क्योंकि शहरों के फुटकर स्टोर माल उधार देते हैं, खरीदार के घर पर माल भेज देते हैं और अन्य सुविधायें भी देते हैं जो सरकारी स्टोर नहीं देता, और साथ में इन दूकानदारों में इतनी स्पर्द्धा होती है कि थोक और फुटकर मूल्यों का अन्तर बहुत कम होता है। (३) इंगलैण्ड में इस आन्दोलन ने निर्धन व्यक्तियों में, खासकर मजदूरों में, विशेष उन्नति की है। किन्तु हमारे देश में निर्धन व्यक्ति असंगठित हैं और वे दूकानदारो के ऋणी भी होते हैं जिसके कारण वे स्टोर नहीं चला पाते। यह भी सर्वविदित है कि भारतीय मजदूर शहरों में जमकर नहीं रहते—वे खेती के अवसर पर गाँव वापस चले आते हैं—इसलिये स्टोर की स्थायी स्कीम में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं होती। (४) इसके अतिरिक्त उपभोक्ता पर्याप्त पूँजी न होने के कारण भी स्टोर नहीं चला पाते। ऐसे स्टोर साधारणतया केन्द्रीय बैंकों से पूँजी प्राप्त करते हैं। किन्तु हमारे देश में केन्द्रीय बैंक बहुत थोडे हैं। (५) हमारे यहाँ थोक समितियों का अभाव है जिसके कारण यदि उत्पादकों पर यह दबाव डाला जाता है कि वे स्टोरों से ऊँचा मूल्य वसूल करें, तो वे ऐसा करने पर राजी हो जाते हैं।

भारतवर्ष में सबसे बडा सहकारी स्टोर मद्रास में है, इसका नाम मद्रास ट्रिप्लिकेन स्टोर (Madras Triplicane Store) है और यह सन् १९०४ में स्थापित हुआ था। कडे निरीक्षण, सावधान प्रबन्ध और निर्दय किफायतशारी का ही परिणाम है कि यह स्टोर आज इतना सफल है। आजकल इसकी पच्चीस शाखाएँ हैं और इसे लगभग १२ लाख रुपये साल का लाभ होता है। इसकी प्रदत्त (paid-up) पूँजी १ लाख रुपये हैं और इसका रिजर्व फन्ड १½ लाख रुपये। उत्तर प्रदेश में ऐसे स्टोर बहुत कम हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१. सहकारिता का अर्थ बताइये। यह किन क्षेत्रों में लागू की जा सकती है?

२. मुख्य मुख्य प्रकार की सहकारी समितियों के उदय और सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

३. भारत में सहकारिता आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास दीजिये।

४. भारत में सहकारिता संगठन की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिये और उसकी बनावट का वर्णन कीजिए।

५. प्रारम्भिक सहकारी समितियों के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

६. सहकारिता के क्या लाभ हैं? हमारे देश में यह लाभ किस सीमा तक प्रकट हुए हैं?

७. भारत में सहकारिता आन्दोलन के क्या दोष हैं?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१ भारत में ग्रामीण सहकारी समितियाँ किन सिद्धान्तों पर आधारित हैं? सदस्यों के संयुक्त एवं अकेले उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के लाभ बताइये। (१९४६)

२. सहकारी ऋण-समिति पर सक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४५)

३. भारत की ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के क्या कारण हैं? ऋण सहकारी समितियाँ इस समस्या के हल करने में कहाँ तक सफल हुई हैं? (१९४४)

४. सहकारी ऋण-समितियों से भारतीय किसानों और कारीगरों को किस प्रकार लाभ हो सकता है? इस आन्दोलन ने उत्तर प्रदेश में अधिक उन्नति क्यों नहीं की? (१९४८)

५. यदि किसी गाँव में आपसे सहकारी समिति की स्थापना में सहायता माँगी जाय, तो आप समिति के सफल संचालन के लिये क्या सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राय देंगे? (१९३१)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

6 What are the causes of rural indebtedness in our country? How far has the co-operative credit movement succeded in solving this problem? (1949)

7 Analyse the causes of the slow growth of the co-operative credit movement in this country. Offer suggestions for improvement (1948)

8 On what principles are rural co-operative credit societies founded in India? Explain the advantages of the principle of joint and several liablity of the members (1944)

9 How is interest determined by the interaction of demand and supply? Show how is it possible for co-operative credit societies to advance loans to agricultural classes at much lower rates of interest than village money-lenders. (1943

10 Why are rural co-operative credit societies in India based on the principle of unlimited liablity ? What have been the advantages of such societies ? (1941)

11 Explain fully the several advantages which have followed the establishment of co-operative societies in the rural areas in India. (1940)

12 What is co-operative store ? Discuss its advantages. (1940)

13 What, in your opinion, are the peculiar advantages of a village co-operative bank in India over those of a branch of an ordinary bank in a village ? How far the co-operative banks have succeeded in solving the problem of rural indebtedness ? (1939)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

14 Write a short note on Co-operative Stores.

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

15 How would you organise a Co-operative Credit Society in a village ? Under what conditions would it work successfully ? (1949)

16. What do you understand by a co-operative Society ? Give the forms of rural co-operative movement in C P and Berar (1947)

17 Write a short note on Co-operation (1945)

नागपुर, इन्टर कामर्स

१८ आप एक सहकारी समिति से क्या समझते हैं ? मध्य प्रान्त में 'सहकारी आन्दोलन के रूपों का निरूपण कीजिए। (१९४७)

सागर, इन्टर आर्ट्स

19 What are the chief aims of rural co-operative credit ? Briefly describe the organization in C. P and Berar. (1948)

सागर, इन्टर कामर्स

20 Write a short note on Co-operative Credit Societies (1949)

21. Describe the organisation of rural co-operation in C P and Berar. What are its benefits to Indian agriculture. (1948)

अध्याय ५६

यातायात (Transport)

§ १. प्रारंभिक

हमारा वर्तमान समाज यातायात के साधनो पर मूल रूप से निर्भर है। इसीलिये यातायात के साधनों को वर्तमान समाज की नसें कहा जाता है और सदेशवाहन के साधनों को स्नायु। मनुष्य ने प्रकृति पर जो विजय प्राप्त की है, यातायात के साधन उसके प्रतीक हैं, क्योंकि उन्होंने दूरी को सक्षिप्त कर दिया है और ससार को पहले से छोटा बना दिया है। यातायात के साधनों का जो सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक महत्व है, वह किसी से छिपा नहीं है। किन्तु उनका आर्थिक महत्त्व महान् है। बडे पैमाने की उत्पत्ति तथा ससार-व्यापी व्यापार का वर्तमान युग यातायात के कुशल साधनों के ऊपर ही स्थित है। कच्चा माल दूर-दूर के स्थानों से जहाज और रेल आदि द्वारा ही कारखानों में आता है। जब कारखाने उन्हें पक्के माल में परिणत कर देते हैं, तो रेल और जहाज ही उन्हें देशी और विदेशी बाजारों में पहुँचाते हैं जहाँ लाखों उपभोक्ता उन्हें खरीद सकते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि आधुनिक उद्योगवाद, जो वर्तमान काल का हृदय है, बिना सस्ते, आसान और कुशल यातायात के साधनों के असम्भव है।

यातायात के साधन

समय की गति के साथ-साथ यातायात के साधनों में भी परिवर्तन हुए हैं। सबसे पहले मनुष्य ही यातायात का साधन था, और वर्तमान कुली इसका अवशेष चिन्ह है। बाद को इस काम के लिये पशु बहुत उपयोगी सिद्ध हुए और वे यातायात के महत्त्वपूर्ण साधन हो गये। इसके उपरान्त जल यातायात की प्रधानता हुई : पहले नदियों का उपयोग किया गया क्योंकि उन पर अपेक्षाकृत कम खतरा था, और फिर नदियों के अनुभव से प्रोत्साहित होकर लोगों को समुद्र-यातायात के उपयोग करने की हिम्मत हुई। पतश्चात् इसके बाद सड़क-यातायात का प्रचार हुआ और सड़कों के सुधार तथा उन पर चलने वाली गाड़ियों के निर्माण का समय आया। इसके बाद भाप की खोज हुई और रेलगाड़ियों का आविष्कार हुआ। फिर मोटर-यातायात का जन्म हुआ और आजकल के आर्थिक जीवन में इसका प्रमुख स्थान है। यातायात के साधनों की वृद्धि का अन्तिम रूप वायु-यातायात है।

भारतवर्ष में यातायात का विस्तार तथा उसके परिणाम

यातायात की वृद्धि के आर्थिक परिणामों का भारतवर्ष का उदाहरण देकर बड़ा ही अच्छा विवेचन किया जा सकता है। प्राचीन भारत में यातायात के साधन पूर्णतया सुव्यवस्थित तथा अच्छे थे। इसके पश्चात्, आधुनिक काल तथा प्राचीन काल के बीच की अशान्तिपूर्ण शताब्दियों में उनकी काफी अवनति हुई। इसके बाद यातायात की आवश्यकता की उन्नति के साथ यातायात के साधनो की समान उन्नति न हुई और सन् १८५७ की क्रान्ति के पूर्व उनकी दशा बहुत शोचनीय थी। सड़कें थोड़ी थीं, और जो थी भी, वे बहुत कष्टदायक और अरक्षित थीं, नाव चलाई जा सकने वाली नहरें थीं ही नहीं, और रेलों की उन्नति अभी होने को थी। इसके पश्चात् दशा सुधारने की भरसक चेष्टा की गई, और आज हमारे देश में एक अच्छी यातायात को व्यवस्था विद्यमान है, यद्यपि यह हमारी सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकती।

आधुनिक काल में यातायात के साधनो की उन्नति होने से हमारी आर्थिक प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन हुए हैं: (१) उनके आगमन के पूर्व, हमारे उद्योग (Industries) छोटे पैमाने के थे और उनमे यन्त्रों का प्रयोग नहीं होता था। किन्तु यातायात के सस्ते, आसान और शीघ्र साधन स्थापित हो जाने से हम मशीनों का, रसायनों का तथा विशिष्ट व्यक्तियों (technicians) का विदेशों से आयात करने लगे और हमारे देश में मशीन का प्रयोग करने वाले बड़े पैमाने के उद्योग आरम्भ हो गये। यातायात ने यह भी सम्भव बना दिया कि हम कच्चा माल आसानी से कारखानो तक ले जा सकें और पक्का माल कारखानो से विभाजन-कर्ताओं (distributors) और उपभोक्ताओं के पास तक पहुँचा सकें, और इससे आधुनिक उद्योगवाद के विकास में सहायता मिली। आधुनिक उद्योगो की उन्नति के साथ-साथ, हमारे घरेलू उद्योग अभाग्य-वश नष्ट होने लगे क्योंकि वे कारखानों में बने सस्ते माल की स्पर्द्धा न सह सके। (२) हमारे **व्यापार और वाणिज्य** की इतनी उन्नति यातायात के विकास की ही देन है। व्यापार और यातायात में घनिष्ठ सम्बन्ध है और एक की उन्नति बिना दूसरे के हो ही नहीं सकती। (३) किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव हमारी कृषि पर हुआ, जिसका वर्णन हम नीचे करते हैं।

कृषि पर प्रभाव—(क) यातायात के साधनों की उन्नति का सबसे प्रधान असर कृषि का व्यापारीकरण (Commercialisation of Agriculture) हुआ। पहले हमारी कृषि "जीवन-रक्षक कृषि" (Subsistence Farming) कहलाती थी क्योंकि किसान खेती मुख्यतया अपने भरण-पोषण के लिये करता था।

यातायात के साधनो की उन्नति होने से, कृषि के पदार्थों के लिये बहुत से लाभ-दायक बाजार खुल गये, किसानों ने बाजारों में बेचने के लिये फसलें उगाहना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार कृषि का व्यापार-करण हो गया। (ख) पहले कृषि के पदार्थों का बाजार, जैसा था, स्थानीय था। अतः अकाल के समय में मूल्य बहुत बढ जाते थे। यातायात के साधनो के न होने के कारण अनाज की अधिकता वाले स्थानों से अनाज लाया नहीं जा सकता था। इसके विपरीत, जब फसल अच्छी होती थी, तो अतिरिक्त उत्पत्ति दूसरे स्थान पर भेजी नहीं जा सकती थी और इस कारण मूल्य बहुत गिर जाते थे। हमारी कृषि का यह असतोष-जनक लक्षण अब अदृश्य हो गया है। अब अकाल के समय, द्रुतगामी रेलों के द्वारा प्रभावित क्षेत्र में दूसरी जगह से शीघ्र ही अनाज पहुँचा दिय जाता है, और फसल अच्छी होने पर अतिरिक्त उत्पत्ति दूसरे स्थानों को भेज दी जाती है जहाँ वह अच्छे मूल्य पर बिक सकती है। (ग) उत्पत्ति के साधन द्रुतगामी हो गये हैं और इस कारण गाँव वालों के लिये अब यह सम्भव हो गया है कि वे फल, साग-भाजी, दूध, अण्डे आदि नाशमान वस्तु उत्पन्न करें और उन्हें शहरों के बाजार में शीघ्र ही बेच दें। (घ) यातायात के साधनों ने हमारे दूर दूर फैले हुए शान्त गाँवों और कार्य सलग्न शहरों के बीच में, तथा शहरों और विदेशों के बीच में, सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। अब हमारे गाँव अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली के एक अग बन गये हैं और वे अब संसार की दशाओं से प्रभावित होते हैं। उदाहरण के लिये, क्रीमिया के युद्ध से बहुत से जूट पैदा करने वाले किसानों के घर चमक गये और अमेरिका के घरेलू युद्ध के समय में हमारे कपास उगाने वालो ने खूब लाभ कमाया। (ङ) शहरों से घनिष्ठता हो जाने के कारण अब किसान प्रतिदिन के काम के पदार्थ सस्ते मूल्य पर खरीद सकता है, और जब उसे नौकरी की आवश्यकता होती है, तब वह औद्योगिक शहरों को जा सकता है। (च) यातायात के साधनो ने हमारे किसानों को शिक्षित बना दिया है। उनके ज्ञान का क्षितिज अब विस्तीर्ण हो गया है और उनका धार्मिक जोश तथा प्रातीयता, जाति-प्रतिबंध एवं रूढिवाद कम हो चला है।

§ २. भारत में रेल-यातायात

संक्षिप्त इतिहास

भारत में यातायात का सबसे प्रधान साधन रेल है। भारतीय रेलो का इतिहास सन् १८५३ से आरम्भ होता है जिस वर्ष लार्ड डलहौजी ने इस विषय पर अपनी सुप्रसिद्ध टिप्पणी (minute) लिखी। पहली रेलें प्राइवेट कम्पनियों ने

गारन्टी प्रथा के अन्तर्गत बनाई, जिनके अनुसार सरकार उनकी पूँजी पर ५% प्रति वर्ष के लाभ की गारटी करती थी। इस प्रथा के अन्तर्गत रेलवे कम्पनियों को कुशलता-पूर्वक और मितव्ययतापूर्वक काम करने की कोई प्रेरणा नहीं होती थी, और न उन्हें पूँजी लगाने में किफायत करने की ही सावधानी होती थी क्योंकि पूँजी चाहे कितनी भी लगे उनको ५% का लाभ होना आश्वासित था। अतः सरकार को भारी हानि उठानी पड़ी। सन् १८६९ में सरकार ने रेलों का बनाना अपने हाथ में ले लिया। किन्तु इसी बीच में सरकार को द्रव्य की कमी का सामना करना पड़ा और रेलों को बनाने का काम सन् १८८६ में फिर एक नई गारंटी प्रथा के अन्तर्गत प्राइवेट कम्पनियों को सौंप दिया गया। सन् १९०० में रेलों ने सबसे पहले लाभ दिखाया। तब से नई-नई रेलें बनाने का काम बहुत तेजी से किया जाने लगा और यह काम प्रथम महायुद्ध के छिड़ने तक जारी रहा। युद्ध के बाद सरकार ने रेल के एक प्रश्न पर विचार करने के लिये एकवर्थ कमेटी (Acworth Committee) बैठाई। इसकी सिफारिशों के परिणाम-स्वरूप रेलवे यातायात में बहुत सुधार हुए।

वर्तमान अवस्था

नई गारटी प्रथा के अंतर्गत सरकार ने उल्लिखित शर्तों पर रेलों के खरीद लेने का अधिकार सुरक्षित रक्खा था। उन्होंने कुछ काल बाद रेलों के खरीद लेने की नीति जारी की। आजकल वस्तुतः सारी रेलें सरकार की सम्पत्ति हैं किन्तु उनका प्रबंध सरकार द्वारा नियन्त्रित कम्पनियाँ करती हैं। आजकल हमारे देश में लगभग ३४,००० मील लम्बी रेलें हैं[१]। हमारे देश के क्षेत्रफल के हिसाब से रेलों की यह लम्बाई बहुत कम है। हमारे देश में प्रति १,००० वर्ग मील पीछे २५ मील रेलवे लाइन हैं, जो और देशों की अपेक्षा बहुत कम हैं। रेलों ने अभी हमारे गाँवों में प्रवेश नहीं किया और वे बन्दरगाहों या शहरों से अभी सम्बन्धित नहीं। हाल में सड़क-यातायात की उन्नति हो जाने के कारण रेलों की कमी कुछ कम खटकने लगी है।

देश के विभाजन के पहले भारत में प्रमुख रेलें ६ थीं। पाकिस्तान बन जाने के कारण इनमें से दो रेलों का विभाजन हो गया :

---

[१] देश के विभाजन के पहले भारत में रेलें ४४,००० मील लम्बी थीं। किन्तु अब १०,००० मील पाकिस्तान में चले जाने के कारण भारत में केवल ३४,००० मील रेलें रह गई हैं।

(१) बंगाल आसाम रेलवे—इसका जो भाग भारत में बचा है, वह आसाम रेलवे कहलाया जाने लगा है।

(२) नार्थ वैस्टर्न रेलवे—इसका जो भाग भारत में अवशेष रहा है, उसे ईस्ट पंजाब रेलवे कहते हैं।

अतः अब नवीन भारत की प्रमुख रेलें निम्निलिखित हैं :

(१) ईस्ट इंडियन रेलवे (४,१०० मील)
(२) ग्रेट इंडियन पेनिन्शुला रेलवे (३,५०० मील)
(३) बाम्बे बड़ौदा एण्ड सेन्ट्रल इंडिया रेलवे (३,४०० मील)
(४) बंगाल नागपुर रेलवे (३, ४०० मील)
(५) मद्रास एण्ड साउथ मराठा रेलवे (२,६०० मील)
(६) साउथ इंडिया रेलवे (२,३०० मील)
(७) बंगाल एण्ड नार्थ वैस्टर्न रेलवे (२,१०० मील)
(८) आसाम रेलवे
(९) ईस्ट पंजाब रेलवे

रेलों के लाभ

हमारे जीवन के समस्त क्षेत्रों में—चाहे वे सामाजिक हों या राजनीतिक या आर्थिक—रेलों ने बहुत तात्त्विक परिवर्तन कर दिये हैं। उन्होंने देश को निम्नलिखित लाभ पहुँचाये हैं :

(१) **सामाजिक प्रभाव**—रेलों ने कुछ समय पूर्व के शान्त और एकान्त गाँवों को शहरों से सम्बन्धित कर दिया है। उन्होंने समस्त भारत को एकता के सूत्र में बाँध दिया है जिससे कि देश के कोने-कोने में पारस्परिक विचार-विमर्श और सामाजिक मेल-जोल होने लगा है। यात्रा के सस्ते, सुगम और शीघ्र-गामी साधन प्राप्त हो जाने के कारण, उन्होंने मनुष्यों में यात्रा करने की आदत प्रोत्साहित कर दी है। विशेषकर धार्मिक यात्रियों को इससे विशेष सुविधा हुई है। रेल द्वारा यात्रा करना सुरक्षित भी होता है : अकेली बैलगाड़ी या पालकी को लूटने के बजाय कई सौ यात्रियों से भरी हुई गाड़ी को लूटना उतना आसान नहीं है। वास्तव में, भारतवर्ष में जो पहले ठगों की प्रथा प्रचलित थी, उसकी इतिश्री करने में रेलों ने अच्छा काम किया। सफाई के लिये, खेती के सुधरे हुए तरीके लोकप्रिय बनाने के लिये तथा अन्य कामों के लिये जो प्रोपेगेंडा किया जाता है, उसमें भी रेलें काफी सहायता पहुँचाती हैं। अन्त में, उन्होंने देशवासियों को कई प्रकार के आर्थिक लाभ पहुँचाकर देश को धनी भी बनाया है।

(२) **राजनीतिक लाभ**—रेलों के राजनीतिक लाभ भी कई होते हैं। उन्होंने भीतरी दगों, झगड़ों और युद्धों का अंत कर दिया है और देश के अन्दर शान्ति स्थापित करने में सहायता दी है। भारत को एक जाति का स्वरूप देने में और केन्द्रीय सरकार को मजबूत बनाने में रेलो ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। उन्होंने देश की बाहरी आक्रमणों से भी रक्षा की है क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर फौजें शीघ्रता से जहाँ आवश्यक हों, भेजी जा सकती हैं। रेलों ने सरकार को देश के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करने के लिये मजबूर किया और इस प्रकार उन्होंने सरकार के हस्तक्षेप न करने की हानिकारक नीति के खडन करने में सहायता पहुँचाई। उन्होने सरकार की आय भी बढ़ाई है। रेलें सरकारी सम्पत्ति हैं, इसलिये, उनका सारा लाभ सरकारी खजाने में ही जाता है। किन्तु इसके अतिरिक्त, उन्होंने देशवासियों की आय बढ़ाकर उनकी कर देने की सामर्थ्य भी बढ़ा दी है, और उन्होने मालगुजारी, आयात निर्यात कर तथा अन्य करों के वसूल करने में भी काफी सुविधायें प्रदान की हैं।

(३) **आर्थिक लाभ**—सामाजिक और राजनीतिक लाभों की अपेक्षा, रेलों के आर्थिक लाभ और भी अधिक वास्विक हुए हैं। उन्होंने कृषि, जगल, उद्योगो और व्यापार को बहुत लाभ पहुँचाये हैं, और श्रम तथा पूँजी पर भी उनका अच्छा प्रभाव हुआ है।

(क) **कृषि**—हमने ऊपर यह बताया है कि यातायात और सन्देशवाहन के साधनों की उन्नति से कृषि को क्या-क्या लाभ हुए, यह सारी बात रेलों पर भी घटती है। संक्षेप में, रेलों ने (१) कृषि का व्यापारकरण कर दिया है जिससे फसलों का स्थानीयकरण (localisation) और विशिष्टीकरण (specialisation) होने लगा है, (२) बाजारों का विस्तार बढ़ा दिया है, (३) नाशमान वस्तुओं की उत्पत्ति को प्रोत्साहित किया है, (४) हमारी ग्रामीण व्यवस्था को अतर्राष्ट्रीय व्यवस्था से सबधित कर दिया है, (५) किसानों की आर्थिक दशा सुधारी है, और (६) हमारे किसानों को कई प्रकार से शिक्षित किया है। (७) अकाल के समय में रेलो ने समय समय पर जो सहायता पहुँचाई है, वह बहुमूल्य सिद्ध हुई है। वास्तव में रेलो ने "अकाल" शब्द का अर्थ ही बदल दिया है—पहले अकाल का अर्थ होता था खाद्य-पदार्थों की कमी किन्तु अब इसका अर्थ होता है बेरोजगारी (Lack of Employment)

(ख) **वन-व्यवसाय (Forestry)**—रेलों ने वन-व्यवसाय को भी बहुत फायदा पहुँचाया है। रेलों के बनाने में स्लीपरों की बड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है, जिसके कारण लकड़ी काटने को प्रेरणा मिली है। इसके अतिरिक्त

रेलों ने जगलों के शोषण में और उनकी छोटी और बड़ी उत्पत्तियों के प्राप्त करने में बड़ी सहायता पहुँचाई है।

(ग) उद्योग—रेलों ने आधुनिक उद्योग की स्थापना में बहुत सहयोग दिया है। मशीन, रसायन और निपुणता के आयात तथा कोयला और कच्चे माल के यातायात में रेलों ने बहुत सी सुवधायें प्रदान की हैं। पक्के माल का समस्त देश में विभाजन करना भी रेलो ने ही सम्भव बनाया है। रेलों ने इजीनियरिंग के उद्योगों को भी उत्तेजना दी है। खनिज-पदार्थों के शोषण करने में, जिनके बिना आधुनिक उद्योग चल ही नहीं सकते, रेलों ने बड़ी सहायता पहुँचाई है।

किन्तु उन्होंने घरेलू उद्योगो को लगभग नष्ट-सा कर दिया है। कारखाने के बने हुए सस्ते माल का आसानी से और सस्ती दर पर यातायात करके उन्होंने उद्योगों का अन्त कर दिया है।

(घ) व्यापार—रेलों ने व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहित किया है। देश के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि कुछ समय पूर्व हमारा भीतरी (internal) व्यापार बहुत थोड़ा था। किन्तु रेलो के बन जाने से माल के यातायात की लागत और असुविधायें बहुत कम हो गई हैं और इसलिये भीतरी व्यापार बहुत बढ गया है। उन्होंने बन्दरगाहो पर बाहर जानेवाला माल एकत्रित करके और आयात किये हुए माल का देश भर में विभाजन करके हमारे विदेशी व्यापार को बढाया है।

(ङ) श्रम—रेलों ने श्रम की गतिशीलता (mobility) को बढाया है और जन-सख्या के समान विभाजन में सहायता की है। अब मजदूर गाँव से जहाँ आबादी का दबाव अधिक होता है) औद्योगिक शहरो को (जहाँ श्रम की कमी है) जाना आरम्भ कर दिया है। रेलों ने दो श्रम वर्गों को उत्पन्न किया है : रेल के कर्मचारी जिनमें ड्राइवर, गार्ड, स्टेशन-मास्टर और कुली आदि शामिल होते हैं, और कारखानो के मजदूर जिनकी सख्या कारखानों की सख्या के साथ-साथ रेलों के ही कारण बढ गई है।

(च) पूँजी—वे हमारे देश मे बहुत सी विदेशी पूँजी भी लाई हैं जो आर्थिक लाभो से शून्य नहीं और जिसने हमारे देशवासियों में जोखिम झेलने की प्रवृत्ति जाग्रत की है।

रेलों से हानियाँ—रेलों से हमारे देश को हानियाँ भी हुई हैं किन्तु बहुधा उन्हे बढाकर बताया जाता है। यह कहा जाता है कि रेलों ने **घरेलू उद्योगों को**

नष्ट कर दिया है और इस प्रकार उन्होंने सहायक आय का एक अच्छा साधन किसानों से छीन लिया है। परन्तु यह कुछ ही सीमा तक सच है। संसार के प्रत्येक देश में आर्थिक उन्नति का एक ऐसा सोपान आता है जब कि कारखाने घरेलू उद्योगों के ऊपर विजयी होते हैं, यदि हमारे देश में रेल न होतीं तो हो सकता था कि कारखानों की यह विजय कुछ समय बाद होती, किन्तु यह विजय होती अवश्य। इसके अतिरिक्त, जो घरेलू उद्योग कारखानों से स्पर्द्धा करने में समर्थ हैं, वे या तो स्थापित हैं या उनका पुनरुद्धार हो रहा है और रेलों से इस काम में सहायता मिल रही है। रेलों पर यह भी लाञ्छन लगाया जाता है कि उन्होंने देश की एकतरफा उन्नति की है' उन्होंने निर्यात किये जाने वाले कच्चे माल पर और आयात किये गये पक्के माल पर कम किराया वसूल करके देश को अनुपात से अधिक कृषि-प्रधान बना दिया है। यह बात तो ठीक है, किन्तु इसके लिये रेलें उत्तरदायी नहीं वरन रेल के किराये की नीति उत्तरदायी है। यह भी कहा जाता है कि रेलों ने अकाल की समस्या को आसान तो बना दिया है, किन्तु साथ ही साथ उन्हों ने घरेलू उद्योगों का विनाश करके भूमि पर आबादी का दबाव बढ़ा दिया है। हमने इस बात की ऊपर विवेचना कर ही दी है, और उसका दोहराना बेकार है। रेलों के आलोचक यह भी कहते हैं कि उनके कारण जंगलों की विवेक-हीन और आँख मूँदकर कटाई आरम्भ हो गई, जिसे बाद को रोकना पड़ा। देश में बहुत सी विदेशी पूंजी का आयात करने के लिये भी रेलें ही जिम्मेदार ठहराई जाती हैं, और यह सर्वविदित है कि विदेशी पूंजी ने हमे बहुत सी आर्थिक और राजनीतिक हानि पहुँचाई है।

§ ३ सड़क यातायात

संक्षिप्त इतिहास

भारतवर्ष की सड़कें प्राचीन काल से ही बहुत अच्छी रही हैं। महजोदारो और हड़प्पा की खुदाई ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन भारत में सड़कों की दशा बहुत अच्छी थी। अंग्रेजों के आने के बाद रेलों का फौजी महत्त्व बहुत बढ़ गया क्योंकि फौजों के लाने-लेजाने मे सड़कें सहायक होने लगी। लार्ड डलहौजी ने नई-नई सड़कें बनाने की नीति का अनुमान किया। जब रेलो का बनाना बहुत तेजी पर था, सड़कों की उपेक्षा अवश्य हुई, खासकर तब जबकि रेलों और सड़कों में स्पर्द्धा होने लगीं। किन्तु मोटर और लारियो के लोकप्रिय हो जाने के कारण, रेलों को फिर महत्त्व दिया जाने लगा है।

वर्तमान अवस्था

देश के विभाजन के पहले हमारे यहाँ ३,००,००० मील सड़कें थीं जिनमें से १,००,००० मील पक्की सड़कें और २,००,००० मील कच्ची सड़कें थीं। इनमें से ५०,००० मील सड़कें पाकिस्तान् में चली गई हैं और नवीन भारत में केवल २,५०,००० मील लम्बी सड़कें शेष रही है। हमारे देश मे चार बड़ी-बड़ी (trunk) सड़कें हैं जो देश में कर्णों (diagonals) की भाँति फैली हुई हैं, अन्य छोटी-छोटी सड़कें इन्हीं से निकली हैं या इनकी सहायक हैं। इनमें सब से प्रमुख ग्राड ट्रक रोड है जो कलकत्ते को अमृतसर से मिलाती है। अन्य तीन सड़कें कलकत्ते ो मद्रास, मद्रास से बम्बई, और बम्बई से दिल्ली तक फैली हुई हैं। सहायक सड़कें ाब से अधिक सख्या में दक्षिणी भारत में हैं। इनके अतिरिक्त देश भर में कच्ची ाड़कें फैली हुई हैं जिनपर सूखे मौसम मे मोटरें चल सकती हैं। नीचे सड़कों और ोटरों का प्रातिक विभाजन दिखाया गया है

प्रान्त	सड़कें मील	मोटरों की सख्या
१ मद्रास	३८,०००	२९,०००
२. उत्तर प्रदेश	३२,०००	२०,०००
३ बिहार	३०,०००	१०,०००
४. बम्ब	१८ ०००	३०,०००
५ कुल	२,५०,०००	१,३०,०००†

(† अनुमानित सख्या)

ोष

मोटरों के लोकप्रिय होने के पहले ही हमारी सड़कें आवश्यकता से बहुत कम थी, और अब मोटरों के लोकप्रिय हो जाने से यह कमी और भी स्पष्ट हो गई विशेषकर गाँवों मे यह कमी बहुत खटकती है, क्योंकि बहुत से गाँव, शहरों या स्बों से रेल द्वारा सयुक्त नहीं। इसके अतिरिक्त जो सड़के हैं भी, उनकी दशा ातोपजनक नहीं। बहुत सी सड़कों पर पुल और पुलिया न होने के कारण बरसात मे आना जाना रुक जाता है। हाल मे मोटरो के यातायात के बढ जाने के कारण सड़कें बहुत जल्दी खराब होने लगी हैं।

सरकार की नीति

इन सब दोषों का अनुभव होने पर सरकार ने सन् १९२७ में सड़क उन्नति कमेटी (Road Development Committee) बैठाई जिसका काम मोटर-

यातायात की वृद्धि हो जाने के कारण सड़कों की उन्नति के प्रश्न पर विचार करना और सड़को के बनाने तथा ठीक रखने के लिये द्रव्य-प्रबंध में सुझाव रखना था। इसकी सिफारिशों के अनुसार, पैट्रोल पर आयात-कर और निर्माण-कर (excise duty) ४ आने प्रति गैलन से बढ़ाकर सन् १९२९ में ६ आने प्रति गैलन कर दिया गया, और यह अतिरिक्त रकम सड़कों की उन्नति के लिये काम में लाई जाने लगी। इस दर में कई बार परिवर्तन हो चुके हैं। सड़कों और पुलो के दोबारा बनाने और उनके सुधार करने पर यह रकम खर्च की जा सकती है।

सड़के बनाने की आवश्यकता

हमारे विशाल देश की आवश्यकताओ को सतुष्ट करने के लिये हमें नई और सुधरी हुई सड़कें बनानी पड़ेगी। जब मडियों और शहरों में अनाज का मूल्य ऊचा होता है तब सड़को के अभाव के कारण किसान अपनी फसल वहाँ नहीं भेज पाते। इसी अभाव के कारण हमारे वनो का शोषण भी ठीक-ठीक नहीं हो पाता। इसी के कारण हमारी औद्योगिक उन्नति में भी बाधा आती है क्योंकि कच्चे माल के एकत्रित करने तथा पक्के माल के विभाजन में हमें सड़कों की सहायता जरूरी है। यदि सड़कें बन जायँ, तो उद्योगों के विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) तथा घरेलू उद्योगों की उन्नति में भी सहायता मिलने लगे। अन्त में नई नई सड़कों के बन जाने से हमारा भीतरी व्यापार भी बहुत बढ़ जायगा। अत. यह स्पष्ट है कि सर्वोन्मुखी आर्थिक उन्नति के लिये सड़कों का बनना बहुत आवश्यक है।

रेल-सड़क स्पर्द्धा

मोटरों का प्रयोग बढ़ जाने के कारण, रेल, यातायात और सड़क, यातायात की स्पर्द्धा का प्रश्न बहुत कठिन बन गया है। जिस प्रकार कि रेल-यातायात १९वीं शताब्दी की देन थी, उसी प्रकार मोटर-यातायात २०वीं शताब्दी की देन है। यह समस्या, जिसे लार्ड विलिग्डन ने "सभ्यता की बढ़ती हुई पीड़ा" कहकर पुकारा था, ससार के लगभग प्रत्येक देश में उपस्थित है।

वास्तव में, रेलों और मोटरों के सस्ते प्रचलन (operation) का अलग अलग क्षेत्र है। रेलों में बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी लगानी पड़ती है क्योंकि एजिन डिब्बे, स्टेशन, सिग्नल, आदि कीमती वस्तुएं होती हैं। रेलो का कार्यशील, व्यय (working expenditure) भी बहुत होता है। किन्तु सड़कों पर इतने व्यय की आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त रेलो को आधे, भरे डिब्बों को ले जाने और डिब्बों के बेकार रहने की समस्या को भी भुगतना पड़ता है, जो

मोटरों के सामने नहीं आती। फिर, रेलों को अपने स्थायी मार्ग (permanent way) को बनाने और उसकी रक्षा करने के लिये बहुत सा रुपया अपनी जेब से लगाना पड़ता है, किन्तु सड़कें ठीक रखने का अधिकांश भार कर-दाताओं पर होता है। अतः यह स्पष्ट है कि सड़क यातायात रेल यातायात से सस्ता पड़ता है। जहाँ तक थोड़ी दूर के और हल्के यातायात का सम्बध है, वहाँ तो यह बात निश्चय ही सत्य है। किन्तु लम्बी दूरी के और भारी यातायात में रेल यातायात ही सस्ता पड़ता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि रेलों के प्रचलन में क्रमागत बढ़नेवाली उत्पत्ति (या क्रमागत घटनेवाली लागत) का नियम लागू होता है, और इसलिये प्रचलन का पैमाना जितना बड़ा होता है, प्रति इकाई लागत उतनी ही कम होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दूरी के और भारी यातायात के लिये रेलों का प्रयोग करना चाहिये और पास के तथा हल्के यातायात के लिये सड़कों का। इस मामले में स्पर्द्धा का प्रश्न ही नहीं उठता।

किन्तु इन दोनों क्षेत्रों के मध्य में एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ कि रेलों और सड़कों में स्पर्द्धा होती है। वह बडे-बडे बडे शहरों के पड़ोस में होता है जहाँ मोटरें रेलों की सहकारी लाइनों के समानान्तर चलती हैं। मोटरों की स्पर्द्धा का दबाव रेलों को अनुभव हो रहा है, और चेष्टा की जा रही है कि ऐसी स्पर्द्धा समाप्त हो जाय। हाल में ही कुछ प्रांतों ने सड़कों पर मोटरें चलाना आरम्भ कर दिया है और कुछ प्रांतों ने सड़क यातायात का राष्ट्रीकरण कर दिया है। इसका एक कारण ऊपर बताई हुई स्पर्द्धा को कम करना है।

§ ४. जल-यातायात

नदी यातायात

जल यातायात या तो देश के भीतरी जल-मार्गों से सबधित होता है या सामुद्रिक मार्ग से। भारतवर्ष में बहुत सी नदियाँ हैं किन्तु भौगोलिक बातें प्रतिकूल होने के कारण भीतरी जल-यातायात का हमारे देश में अधिक विकास नहीं हुआ उत्तरी भारत में लगभग २६,००० मील लम्बा खेने योग्य जल-मार्ग है। सिंध नदी जो अब पाकिस्तान मे चली गई है, डेरा इस्माइल खाँ तक खेई जा सकती है और गगा नदी कानपुर तक। दक्षिणी भारत की नदियाँ बहुत द्रुतगामी हैं और पथरीली भी हैं, इसलिये वे खेने योग्य नहीं। कुछ भारतीय नदियाँ गर्मी में सूख भी जाती हैं, जो खेने के लिये घातक होता है। इसके अतिरिक्त नदियों के किनारे से बाजारों या रेलवे स्टेशनों तक माल ले जाने में बड़ी कठिनाई होती है क्योंकि साधारणतया बीच की भूमि रेतीली होती है और उसपर गाडियाँ नहीं चल सकतीं।

भारतीय नदियों की धारा बदलती रहती है, इसलिये बन्दरगाहों का बनना असम्भव हो जाता है। रेलों के बन जाने से नदी यातायात का प्राणघात ही हो गया है। औद्योगिक कमीशन (Industrial Commission) का मत था कि जहाँ रेलों और जल मार्गों में स्पर्द्धा हो वहाँ सरकार को दोनों का शासन साथ-साथ करना चाहिये।

सामुद्रिक यातायात

भारतवर्ष का विदेशी व्यापार अधिकांश में समुद्र-मार्ग द्वारा होता है और माल का सामुद्रिक यातायात अधिकतर विदेशी जहाज कम्पनियाँ करती हैं। भारतवर्ष का अपना निजी जहाजी बेड़ा केवल नाम के लिये है। सबसे प्रसिद्ध भारतीय जहाजी कम्पनी सिन्धिया नैविगेशन कम्पनी (Navigation Company) है। किन्तु इसकी उन्नति में विदेशी कम्पनियाँ बहुत बाधक रही हैं। कभी-कभी यह कहा जाता है कि हमारे तट का स्वभाव और समुद्र का देश के भीतरी भागो से दूर होना, ये हमारे समुद्र-प्रधान देश बनने मे बाधक रहे हैं; हमारे पास अच्छे बन्दरगाह केवल बम्बई, मद्रास, विजगापट्टम और कलकत्ते हैं। किन्तु यह कहना ठीक नहीं। प्राचीन काल में भारतवर्ष सामुद्रिक देश था और यदि इसे उचित अवसर मिले तो सामुद्रिक मामलो में यह फिर प्रधानता प्राप्त कर सकता है। देश में यह विश्वास फैला हुआ है कि "प्राचीन दुनिया के बीच में हीरे की तरह जड़ा हुआ यह देश, जिसका ४००० मील लम्बा तट है और जो बहुत उपयोगी पदार्थों को बड़ी मात्रा में उत्पन्न करता है, प्रकृति द्वारा समुद्र-प्रधान होने के लिये बनाया गया है। उसके बन्दरगाह साइज़ और सख्या के हिसाब से उसकी विभिन्न उपजो के लिये पर्याप्त हैं"[५]।

§ ५. वायु-यातायात

अब तक वायु-यातायात का महत्त्व हमारे देश में सबसे कम है। किन्तु इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय हवाई जहाज की लाइने भारतवर्ष में होकर गुजरती हैं। इम्पीरियल एअरवेज (अंग्रेजी लाइन), एअर फ्रांस (फ्रेंच लाइन), और K L M. (डच लाइन), ये सब हमारे देश में होकर गुजरती हैं। हमारी देशी हवाई लाइने भी अब चलने लगी हैं, और आशा की जाती है कि बहुत शीघ्र इनकी संतोष-जनक उन्नति होगी।

---

[५] S N Haji, Economics of Shipping, Pp 365 66

अभ्यास के प्रश्न

१ भारत में यातायात के साधनों का विकास संक्षेप में बतलाइये और उनके आर्थिक प्रभावों की चर्चा कीजिए।

२. इस देश में रेलों के विकास का इतिहास दीजिए और उनकी वर्तमान परिस्थिति बताइये।

३. भारत में रेलों के बनने के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रभावों का वर्णन कीजिए।

४. भारत में सड़कों की वर्तमान परिस्थिति की चर्चा कीजिए। भारतीय सड़क-प्रणाली के क्या दोष हैं?

५ क्या भारत में और सड़कें बनाना आवश्यक है? रेल और सड़क की प्रतियोगिता की समस्या समझा कर लिखिये।

६. भारत में जल-यातायात और वायु-यातायात पर एक संक्षिप्त नोट लिखिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. भारत के ग्रामीण उद्योग और कृषि पर यातायात और संदेशवाहन (communication) की रीतियों की उन्नति का क्या प्रभाव पड़ा है? (१९४९)

२. भारत में वायु-यातायात पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४५)

३. भारत को रेलों से क्या आर्थिक लाभ होते हैं? (१९४४)

४. भारत में यातायात और संदेश-वाहन के विभिन्न साधन कौन से हैं? यदि आपसे इनमें से किसी एक की उन्नति करने को कहा जाय, तो देश की वर्तमान अवस्था को देखते हुए आप किसको चुनेंगे? (१९४७)

५. भारत को रेलों से क्या आर्थिक लाभ हुआ है? (१९४४)

६. भारत की ग्रामीण कृषि तथा उद्योगों पर यातायात और संदेश-वाहन के साधनों के विकास का क्या प्रभाव पड़ा है? (१९३७, १९३५, १९३२, १९२६)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

7. Discuss the economic and social effects of Railways in India (1948)

8 Discuss the importance of the Railways in the economic life of India. (1943)

9. Trace the effect of railways upon the rural economy of India (1942)

10 What have been the economic effects of construction of Railways in India ? (1940)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

11 How is transport indispensable to human societies ? What is the value to India of a sound transport system ? (1945)

अध्याय ५७

भारतवर्ष का व्यापार

§ १. प्रारंभिक

किसी भी देश का व्यापार दो भागों में बाँटा जा सकता है : (१) देशी व्यापार जो देश का एक व्यापारी देश के दूसरे व्यापारी से करता है, और (२) विदेशी व्यापार जो देशी व्यापारी विदेश में स्थित किसी व्यापारी से करते हैं। हर देश का देशी व्यापार विदेशी व्यापार से कई गुना अधिक होता है।

विदेशी व्यापार के लाभ

कुछ महाशय यह समझते है कि हमें केवल देशी व्यापार को बढ़ाना चाहिये और विदेशी व्यापार को न्यूनतम कर देना चाहिये। वे आत्म-निर्भरता (Self-sufficiency) चाहते हैं जिससे कि हमे विदेशों का मुँह न ताकना पडे। किन्तु यह मत ठीक नहीं। (१) जिस प्रकार यदि एक मनुष्य अपनी आवश्यकता के समस्त पदार्थ स्वय ही उत्पन्न करे तो वह अपनी आवश्यकताएं अधिक सतुष्ट नहीं कर सकता, उसी प्रकार यदि कोई देश पूर्ण आत्म-निर्भता के सिद्धान्त पर काम करे तो उसकी समृद्धि और उन्नति अधिकतम नहीं होगी। अंतर्राष्ट्रीय श्रम, विभाजन के लाभ हम विदेशी व्यापार द्वारा ही उठा सकते हैं। (२) फिर विदेशी व्यापार भी विनिमय का एक स्वरूप है, और हम अध्याय ४४ में बता चुके हैं कि विनियम से दोनों पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है। (३) उसी अध्याय में हम यह भी बता चुके हैं कि विनियम या विदेशी व्यापार द्वारा हर देश अपनी आवश्यक वस्तुएं देकर विदेशों से आवश्यक वस्तुएँ खरीद सकता है। (४) विदेशी व्यापार हमारे बाजार का क्षेत्र बढा देता है और हमारी उत्पत्ति का पैमाना बड़ा कर देता है। इससे बड़े पेमाने की उत्पत्ति की वाह्य और आभ्यांतरिक मितव्ययताएँ होने लगती हैं और उपज के क्रमश. बढ़ने के नियम के अनुसार लागत कम हो जाती है। (५) विदेशी व्यापार के द्वारा हम ऐसी वस्तुएँ प्राप्त कर सकते हैं जो हम उत्पन्न नहीं करते जैसे मोटर बनाने की मशीनें, रसायनिक खाद, इत्यादि (६) विदेशी व्यापार शांति स्थापित करता है। ये सब लाभ भारत के विदेशी व्यापार से उदाहरण देकर स्पष्ट किये जा सकते हैं।

हाँ, यदि कोई देश किसी विदेश के अधीन हो, तो सभव है कि विदेश उस देश के विदेशी व्यापार को ऐसा रूप दे जो उसके हित के प्रतिकूल हो। जैसे वृटिश काल मे ब्रिटेन ने भारत में पक्के माल के आयात करने और यहाँ से कच्चे माल के निर्यात करने की नीति को अपनाया जिससे ब्रिटेन के कारखानेवाले मालामाल हो गये और हमारे कारीगरों की समृद्धि का अत हो गया। साम्राज्य-वाद (Imperialism) का इतना प्रसार इसी कारण हुआ कि शासक देश परतत्र देश के विदेशी व्यापार को ऐसा रूप दे सकता था जो शासक देश के हित मे हो। ऐसी दशा में विदेशी व्यापार की उन्नति देश के हित के प्रतिकूल हो सकती है। पर अब साम्राज्यवाद का काफी अत हो चुका है और शेष अतिम साँसें गिन रहा है।

विदेशी व्यापार का अनुमान लगाने के लिये हमें केवल आयात और निर्यात की रकमों पर ही ध्यान नहीं देना चाहिये वरन् ऐसे व्यापार के वास्तविक लाभो को ध्यान में रखना चाहिये। हो सकता है कि हम किसी देश से अधिक मूल्य का माल मँगवाते हो और उसे कम मूल्य का माल भेजते हों, और इस प्रकार व्यापार का अन्तर हमारे प्रतिकूल हो। पर इसका यह अर्थ नहीं कि यह व्यापार हमारे हित में नहीं। क्योंकि कदाचित् हम किसी दूसरे देश को निर्यात अधिक और उससे आयात कम करते हों और व्यापार का अतर हमारे अनुकूल हो। ऐसी दशा में अनुकूल अंतर प्रतिकूल अतर को मिटा सकता है। हाँ, यदि किसी देश के कुल आयात उसके कुल निर्यात से अधिक हो, तो इसका यह अर्थ हुआ कि वह देश विदेशों से ऋण लेकर अपना काम चला रहा है और यह चिन्ता की बात होगी।

§ २. भारत का विदेशी व्यापार

द्वितीय महायुद्ध के पहले भारत का विदेशी व्यापार लगभग ३०० करोड़ रुपये का होता था। भारत १५० करोड़ रुपये का माल मँगाता और १६० करोड़ रुपये का माल बाहर भेजता था। हम अधिकतर कच्चा माल भेजते और पक्का माल मँगाते थे। किन्तु युद्धकाल मे बहुत से उथल-पुथल हुए। एक तो वस्तुओं का मुल्य बहुत बढ गया। युद्ध के पूर्व हमारा कुल विदेशी व्यापार लगभग ३०० करोड़ रुपये का होता था पर अब यह लगभग, १,००० करोड़ रुपये का होता । ब्रिटिश कामनवैल्थ का भाग अब हमारे विदेशी व्यापार में कुछ कम हो गया है और अमेरिका का भाग बढ गया है। इस प्रकार के परिवर्तन हमने आगे चलकर बताये हैं। युद्ध के बाद देश का विभाजन हो गया और अखण्ड भारत का कुछ

भाग पाकिस्तान में चला गया। इससे भी विदेशी व्यापार का चित्र काफी बदल गया। अब हम पक्का माल पहले से कम मात्रा में मँगाते हैं और हमारे अधिकांश निर्यात पक्के माल के होते हैं : हम नीचे के कोष्टक में भारत के आयात और निर्यात का मोटा-सा विश्लेषण देते हैं :

	आयात (प्रतिशत में)	निर्यात (प्रतिशत में)
पक्का माल	५०%	६०%
कच्चा माल ..	३५%	२५%
खाद्य और पेय पदार्थ	१५%	१५%
	१००%	१००%
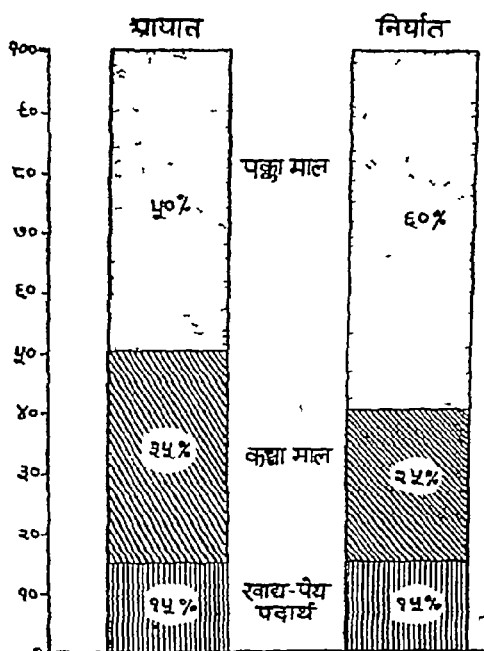
चित्र नं० २८—भारत के आयात और निर्यात

विदेशी व्यापार के प्रधान लक्षण

हमारे विदशी व्यापार का मूल्य लगभग १,००० करोड़ रुपये है। हम वर्ष भर में लगभग ५०० करोड़ रुपये का माल विदेशों से मँगाते हैं और लगभग ४०० करोड़ रुपये का माल विदेशों को भेजते हैं। हमारे विदेशी व्यापार के प्रधान लक्षण निम्नलिखित हैं :

(१) *हमारे आयात और निर्यात दोनों में ही पहला स्थान पक्के माल का है।* कुल आयात का ५०% भाग पक्के माल का है और कुल निर्यात का ६०% भाग पक्के माल का है। दूसरे महायुद्ध के पहले हम कुल आयात के ७५% के बराबर पक्का माल बाहर से मँगाते थे किन्तु अब यह अक घट कर ५०% रह गया है। इससे पता चलता है कि हमारे देश में उद्योगो की उन्नति हुई है। इसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध के पहले हम कुल निर्यात का २५% भाग ही पक्के माल के रूप में भेजते थे, किन्तु अब यह अक बढ़ कर ६०% हो गया है। यह भी हमारे औद्योगीकरण का परिणाम है। वृटिश काल में भारत का काम कच्चा माल ब्रिटेन को भेजना और वहाँ से पक्का माल मगवाना मात्र था, पर इससे अब हमारे देश को छुटकारा मिल रहा है।

(२) अब हम कच्चा माल काफी मात्रा में विदेशों से मँगवाते हैं जो हमारे आर्थिक इतिहास में एक नई बात है। सन् १९३८-३९ तक हम अपने कुल निर्यात का केवल १५% भाग ही कच्चे माल के रूप में मँगवाते थे, किन्तु अब यह अक बढ़ कर ३५% हो गया है। यह कुछ तो हमारे औद्योगीकरण का परिणाम है और कुछ पाकिस्तान के बन जाने का। पाकिस्तान को मूल्यवान खेतिहर प्रदेश मिले हैं और अब हमें जूट, कपास आदि वस्तुएँ पाकिस्तान से खरीदनी पड़ती हैं।

(३) अब हम खाद्य और पेय पदार्थ विदेशों से काफी तादाद में मँगाते हैं। पहले हम केवल चावल और शराब आदि वस्तुओ का निर्यात करते थे, पर अब हम खास कर चावल और गेहू ही मँगाते हैं। हमारे कुल आयात का १५% भाग इन पदार्थों का है। इसके अतिरिक्त खाद्य पदार्थ सरकार स्वयं खरीद कर मँगाती है जो मद ऊपर के अकों में शामिल नहीं है। हम प्रति व्यक्ति पीछे लगभग ५% का अनाज विदेशों से खरीदते हैं। ससार में आजकल काफी अनाज उत्पन्न नहीं होता है, इसलिये विदेश हमसे मनमाना दाम भी वसूल करते हैं।

(४) हम विदेशों से जो पक्का माल मँगाते हैं वह अधिकतर ऐसा है जो हमें औद्योगीकरण में सहायता पहुँचाता है। मशीन, रसायन, मशीन चलाने का सामान, आदि इसके उदाहरण हैं। द्वितीय महायुद्ध के पहले हम अधिकतर उप-

भोग का सामान विदेशों से मँगाया करते थे। अतः इस प्रकार का आयात हमारे देश के लिये बहुत लाभदायक है।

(५) साधारणतया हमारा निर्यात, मूल्य की दृष्टि से, हमारे आयात से अधिक होता है। दूसरे शब्दों में, "व्यापार का अन्तर"[१] साधारणतया हमारे अनुकूल (favourable) रहता है। इस अन्तर को हम आयात के अदृश्य मदों (invisible items of import) जैसे विदेशी बीमा-कम्पनियों को बीमे की प्रीमियम, विदेशी जहाजी कम्पनियों को जहाजी किराया, आदि, के अदा करने में प्रयुक्त करते हैं। यदि फिर भी कुछ अन्तर अवशेष रहता है, तो हम या तो सोना-चाँदी मँगा लेते हैं या विदेशी बैंकों में वह हमारे नाम में जमा रहता है।

(६) हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशियों के हाथ में है। निर्यात-कर्त्ता और आयात-कर्त्ता अधिकतर विदेशी हैं। जहाजी और बीमा कम्पनियाँ भी अधिकांश में विदेशी हैं। विनियम बैंक (Exchange Banks) तो अधिकतर विदेशी हैं ही। यह बहुत खेद का विषय है कि नेदरलैंड, स्वैडेन आदि छोटे-छोटे देशों में उनकी अपनी जहाजी, बीमा और बैंकिंग कम्पनियाँ काम करती हैं, किन्तु भारतवर्ष जैसे महान् देश को विदेशी कम्पनियों पर निर्भर रहना पड़ता है। किन्तु हमें पूरी-पूरी आशा है कि अब हमारे स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् यह कमी बहुत शीघ्र ही दूर हो जायगी।

(७) हमारा लगभग समस्त विदेशी व्यापार सामुद्रिक मार्ग द्वारा होता है। हमारी थल-सीमा के पड़ोसी देश निर्धन और पिछड़े हुए हैं, और उनसे हमारा क्रय-विक्रय बहुत कम हुआ है।

(८) हमारा समुद्र-मार्गीय विदेशी व्यापार कुछ इने-गिने बन्दरगाहों में ही केन्द्रित है। इनमें से बम्बई, मद्रास और कलकत्ता प्रधान हैं। हमारे विदेशी व्यापार का लगभग ८५% भाग इन्हीं बन्दरगाहों द्वारा होता है।

(९) आयात और निर्यात दोनों में ही युनाइटेड किंगडम का नम्बर पहले आता है। युनाइटेड किंगडम का भाग हमारे कुल विदेशी व्यापार में लगभग २७% है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यह अंक लगभग ३०% था। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का

---

[१] निर्यात और आयात के अन्तर को ही व्यापार का अन्तर (balance of trade) कहते हैं। यदि निर्यात आयात से अधिक हुए, तो व्यापार का अन्तर अनुकूल (favourable) माना जाता है, और यदि आयात निर्यात से अधिक हुए तो अन्तर प्रतिकूल (unfavourable) माना जाता है।

स्थान युनाइटेड किंगडम के बाद आता है। हमारे विदेशी व्यापार का १६% भाग अमेरिका से होता है।

(१०) हमारा प्रति व्यक्ति पीछे विदेशी व्यापार अमेरिका, इंगलैंड आदि से बहुत कम है। यह हमारी आर्थिक अधोगति का सूचक है।

(११) पहले हमारे निर्यात अधिकतर कृषि की पैदावारों के होते थे, इसलिये वे वर्षा पर निर्भर होते थे। जब वर्षा पर्याप्त होती थी, तब निर्यात बढ़ जाते थे, और जब वर्षा कम होती थी, तब घट जाते थे। पर हमारे निर्यात में अब पक्के माल का अनुपात बढ़ गया है। इसलिये निर्यात पर वर्षा या जलवायु का उतना प्रभाव नहीं रहा जितना कि पहले था।

(१२) पहले हमारे आयात का क्रम इस प्रकार था . सूती कपड़े, मशीन, तेल, अनाज और धातुएँ। पर अब, यह क्रम मशीन, अनाज, कपास, तेल और धातुएँ हो गया है। अर्थात् मशीन, अनाज और कपास का आयात अब बढ़ गया है और सूती कपड़ों का घट गया है।

(१३) हमारे निर्यात में केवल तीन पदार्थ प्रमुख हैं—जूट का पक्का माल, चाय और सूती कपड़ा। शेष पदार्थों का निर्यात बहुत थोड़ी मात्रा में होता है। इनमें से भी जूट के माल पर हम पाकिस्तान पर निर्भर हैं क्योंकि पाकिस्तान से हमें कच्चा जूट मंगवाना पड़ता है। निर्यात की मात्रा में वृद्धि करना हमारे लिये नितान्त आवश्यक हो गया है।

वस्तुओं का आयात

नीचे आयात की मुख्य-मुख्य वस्तुएँ मूल्य से क्रम में दिखाई गई हैं। पाठकों को यह तालिका ध्यानपूर्वक देख लेनी चाहिये।

(१) भारत का अयात, १९४८-४९

	(करोड़ रुपयों में)	लगभग
१ मशीन	८०.८७	८१
२. अनाज आदि	६६·५१	६७
३ कपास	६४ २१	६४
४. तेल	३७ ६६	३८
५. धातुएँ	३२ ९६	३३
६. मोटर गाड़ियाँ	३२·६८	३३
७. रसायन और दवा	२८·८९	२९

८. सूती कपड़े और सूत	१७ ०६	१७
९. कटलरी और हार्डवेयर	१६ ४४	१६
१०. रंग	१५ ९६	१६
११. कागज	१५ ०८	१५
१२. जूट आदि	१५ ०८	१५
१३ बिजली का सामान	११.४०	११
१४. मशीन चलाने का सामान	७ ०१	७
१५ फल और तरकारी	५ ८१	६
कुल	५१८ ००	५२०

(२) **अनाज आदि**—युद्ध के पहले हम आयात का केवल ६% भाग अनाज के रूप के मँगवाते थे। पर अब यह भाग बढ़ कर ११% हो गया है। इस आयात का मूल्य ६७ करोड़ रुपये होता है। इसके अतिरिक्त सरकार अलग अनाज भी खरीदती है। स्वयं अनाज अधिक मात्रा में उत्पन्न करना हमारे लिये नितान्त आवश्यक हो गया है। सरकार इस दिशा में भरसक प्रयत्न कर रही है। पहले निर्यात की सूची में अनाज का चौथा नम्बर था पर अब इसका क्रम दूसरा है।

(३) **कपास**—हम द्वितीय महायुद्ध के पहले बहुत थोड़ा कपास विदेशों से मँगाते थे। किन्तु अब रुई पैदा करने वाला बहुत-सा भाग पाकिस्तान के पास चला गया है। इसलिये अब हमें पाकिस्तान व अन्य देशों से रुई खरीदनी पड़ती है। कपास का आयात-सूची में अब तीसरा स्थान है और इसका मूल्य ६४ करोड़ रुपये के लगभग होता है।

(४) **तेल**—हम साल में ३८ करोड़ रुपये का तेल मँगाते हैं। इसमें पैट्रोल, मिट्टी का तेल, जलाने का तेल इत्यादि सभी शामिल हैं। तेल खास कर बर्मा, ईरान और अमेरिका से आता है।

(५) **धातुएँ**—हम प्रति वर्ष ३२ करोड़ रुपये की धातुएँ खरीदते हैं जो कुल आयात का ६% होता है।

(६) **मोटरगाड़ियाँ**—हम विदेशों से ३१ करोड़ रुपये की मोटर गाड़ियाँ प्रति वर्ष खरीदते हैं। युद्ध के पहले मोटर गाड़ियों का आयात-सूची में छटवाँ स्थान था और अब भी इनका स्थान छटवाँ ही है। इस श्रेणी में मोटरकार, लारियाँ, वान और साइकिलें आदि शामिल की जाती हैं। ये मुख्यतया अमेरिका, इंगलैंड और कनाडा से आती हैं।

(७) रसायन और दवा—हम विदेशों से बहुत से रसायन (chemicals) खरीदते हैं जो कारखानों में काम आते हैं। रसायन और दवाओं का कुल आयात २६ करोड़ रुपये वार्षिक होता है।

(८) सूती कपड़ा और सूत—हम प्रतिवर्ष १७ करोड़ रुपये का सूती कपड़ा और सूत विदेशो से मंगवाते हैं। युद्ध के पूर्व सूती कपडों का आयात-सूची में पहला स्थान था और कुल आयात का ये १५% होते थे। किन्तु अब इनका स्थान आठवाँ है और ये कुल आयात के केवल ३% भाग हैं।

(९) कटलरी और हार्डवेयर—हम कटलरी और हार्डवेयर का सामान १६ करोड़ रुपये का हर साल मंगवाते हैं। इस श्रेणी में छुरी, चम्मच, काँटे आदि खाना खाने की चीजें तथा मकान बनाने में काम आने वाली वस्तुएँ शामिल होती हैं।

(१०) रगने की सामग्री—हम रगने और चमड़ा पक्का करने के लिये सामग्री का भी आयात करते हैं। इनका मूल्य लगभग १५ करोड़ रुपये होता है।

(११) अन्य वस्तुएँ—शेष वस्तुओं में कागज (१५ करोड़ रु०), जूट आदि (१५ करोड़ रु०), बिजली का सामान (११ करोड़ रु०), मशीन चलाने का सामान (७ करोड़ रु०) और फल और तरकारी (६ करोड़ रु०) हैं।

वस्तुओं का निर्यात

अगले पृष्ठ पर हम अपने प्रधान निर्यातों की एक सूची देते हैं। इसमें मुख्य मद निम्नलिखित हैं :

(१) जूट (पक्का माल)—हमारी निर्यात-सूची में सर्व-प्रथम स्थान जूट के पक्के माल (टाट, बोरे आदि) का है। प्रति वर्ष हम १४६ करोड़ रुपये का जूट का माल बाहर भेजते हैं और कुल निर्यात का यह २५% भाग है। सन् १९३८-३९ में कुल निर्यात का यह केवल १६% था। किन्तु अब हमारे निर्यात के अन्य पदार्थ कम हो गये हैं, जिसका यह नतीजा है। यह हमारे लिये भय से खाली नहीं क्योंकि हमें जूट अब पाकिस्तान से मँगाना पड़ता है। माल इंगलैंड, अमेरिका, आस्ट्रे-लिया, कनाडा आदि जाता है।

(२) चाय—हम साल में ६४ करोड़ रुपये की चाय का निर्यात करते हैं जो कुल निर्यात का १५% है। युद्ध के पूर्व इस सूची में दूसरा नम्बर रुई का आता था जो कुल निर्यात की १५% होती थी। किन्तु अब रुई का नम्बर पाँचवाँ है। हमारे देश में उत्पन्न होने वाली चाय का ८०% निर्यात कर दिया जाता है। हमारा प्रधान ग्राहक इंगलैंड है। अमेरिका और कनाडा भी थोड़ी-सी मात्रा में चाय खरीदते हैं।

(३) **सूती कपड़ा और सूत**—हम बर्मा, मिश्र, लंका आदि को सूती माल भेजते हैं। हाल में ही हमारे देश में सूती कपडे का उद्योग काफी विकसित हुआ है जिसके कारण अब सूती माल का निर्यात हमारे लिये महत्वपूर्ण हो गया है। अब हम ४० करोड रुपये का सूती माल हर साल निर्यात करते हैं जो कुल निर्यात का लगभग १०% होता है।

(४) **कच्चा जूट**—निर्यात-सूची में चौथा स्थान कच्चे जूट का है। साल में हम २४ करोड़ रुपय का (कुल निर्यात का ६%) कच्चा जूट बाहर भेजते हैं। यह जूट हमें पाकिस्तान से मँगाना पड़ता है।

भारत के निर्यात १९४८-४९

(करोड़ रुपयों में)

वस्तु	वास्तविक अंक	लगभग अंक
१ जूट (पक्का माल)	१४६ ३१	१४६
२ चाय	६३.६६	६४
३. सूती कपड़ा और सूत	३९.८५	४०
४ कच्चा जूट	२३.८९	२४
५ कपास	१९.१५	१९
६ खाल (पक्की)	१२.६८	१३
७. तेल	११.३४	११
८. लाख आदि	९.४६	९
९. बीज	७ ०६	७
१० खानो की गैर-धातुएँ	६.१२	६
११. खाल (कच्ची)	५.५९	६
कुल	४१५.५१	४२०

(५) **कपास**—कपास या रुई का भी हम निर्यात करते हैं। भारतीय रुई छोटे रेशे वाली होती है जिससे मोटा कपडा बनता है। विदेश मिलाने के लिये यह रुई हमसे खरीदते हैं। हमें लम्बे रेशे की रुई का विदेशों से आयात करना पड़ता है। हम साल में १९ करोड रुपये की रुई बाहर भेजते हैं।

(६) **खाल (पक्की)**—हम साल में १३ करोड रुपये का पक्का चमड़ा भी बाहर भेजते हैं।

(७) **तेल**—हमारा तेल का वार्षिक निर्यात केवल ११ करोड़ रुपये का है।

(८) **अन्य पदार्थ**—हम कुछ और भी वस्तुएँ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में विदेशों को भेजते हैं। इनमें से प्रमुख वस्तुएँ हैं लाख आदि (९ करोड रु० वार्षिक),

बीज (७ करोड रु० वार्षिक), खानों की गैर-धातुएँ (६ करोड़ रु०) और कच्चा चमड़ा (६ करोड रुपये वार्षिक) ।

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

हमारा विदेशी व्यापार मुख्यतया चार देशों से होता है : युनाइटेड किंगडम, यु० एस० ए० (अमेरिका), पाकिस्तान और आस्ट्रेलिया । जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट है, इन देशो से हमारे कुल विदेशी व्यापार का २७%, २०%,

देश	व्यापार का मूल्य (करोड रुपये)	कुल विदेशी व्यापार का प्रतिशत
१. युनाइटेड किंगडम	२५०	२७%
२. सयुक्त राष्ट्र अमेरिका	१७४	२०%
३ पाकिस्तान	६६	७%
४ आस्ट्रेलिया	४२	५%
अन्य देश	४०८	४१%
	९४०	१००%

७% और ५% भाग क्रमश. होता है । सयुक्त राष्ट्र अमेरिका से इतना व्यापार होना एक नयी बात है । सन् १९३८-३९ तक हमारे कुल व्यापार का लगभग ७% ही अमेरिका से होता था । पर युद्ध के समय में हमारे पुराने व्यापारियों—मुख्यतया जर्मनी, जापान आदि—से सम्बद्ध-विच्छेद हो गया और अमेरिका से हमारा सम्बन्ध स्थापित हो गया ।

ब्रिटिश काल मे हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर युनाइटेड किंगडम से ही होता रहा । सन् १९०० में हमारा ७०% विदेशी व्यापार इस देश के साथ होता था, किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद इसका हिस्सा कम होता गया और जर्मनी का भाग बढता गया । युद्ध काल में सयुक्त राष्ट्र अमेरिका का भाग बहुत बढ गया जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है ।

नीचे की तालिका में आयात और निर्यात में भाग लेने वाले देश उनके महत्व के क्रम में दिखाये गये हैं ·

(सन् १९४८-४९ ई०)

आयात		निर्यात	
देश	कुल आयात (करोड़ रु०)	देश	कुल निर्यात (करोड़ रु०)
१. युनाइटेड किंगडम	१५२	१. युनाइटेड किंगडम	९८
२. संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	१०४	२. संयुक्तराष्ट्र अमेरिका	७०
३. मिश्र	३२	३ पाकिस्तान	६६
४. पाकिस्तान	२२	४. आस्ट्रेलिया	४२
५. आस्ट्रेलिया	१४	५ लंका	१२
अन्य देश	१८९	अन्य देश	१७५
	५२०		४२०

अदृश्य (Invisible) आयात और निर्यात

ऊपर हमने उन वस्तुओं के आयात और निर्यात का वर्णन किया है जो कि आयात-निर्यात कर के लेखों (customs returns) में या अन्य प्रकाशित आँकड़ों में मिलते हैं। उन्हें दृश्यगत (visible) आयात और निर्यात कहते हैं। कुछ अन्य वस्तुएँ ऐसी हैं जो प्रकाशित लेखों और आँकड़ों में शामिल नहीं होतीं, उन्हें अदृश्य आयात और निर्यात कहते हैं।

हम नीचे अदृश्य आयातों को देते हैं :

(१) हम जो ऋण विदेशों से लेते हैं, उन पर हमें ब्याज देनी होती है, अतः हम ऋण के उपयोग का आयात करते हैं।

(२) जब हम विदेशी ऋण का भुगतान करते हैं, तो रुपया बाहर जाता है। जो सिक्योरिटी विदेशियों को दी जाती हैं वे हमें मिल जाती हैं या हम उनका आयात करते हैं।

(३) विदेशों में अध्ययन करनेवाले भारतीय विद्यार्थियों को रुपया भेजना पड़ता है। यह उस शिक्षा तथा अन्य वस्तुओं के लिये भुगतान है जो भारतवर्ष विद्यार्थियों के माध्यम द्वारा विदेशों से खरीदता है।

(४) भारतीय यात्री जब विदेशों को जाते हैं, तब वे सेवाओं तथा सुविधाओं के लिये विदेशियों को रुपया अदा करते हैं।

(५) विदेशी बीमा, जहाजी और बैंकिंग कम्पनियों से जो सेवायें खरीदी जाती हैं, उनका भुगतान किया जाता है।

(६) भारत में व्यापार करनेवाले विदेशी जो लाभ कमाते हैं, वे विदेश को भेज देते हैं। भारतवर्ष इन विदेशियों के माध्यम द्वारा जिस व्यापारिक साहस का आयात करता है, वे लाभ उसी के पुरस्कार हैं।

(७) घरेलू भार (Home Charges) अर्थात् वह व्यय जो भारत सरकार को पेन्शन या विदेशों से खरीदे जानेवाले माल या सोने चाँदी के लिये देने पड़ते हैं। अब भारत सरकार यह ऋण पूरा-पूरा अदा कर चुकी है।

हमारे अदृश्य निर्यात निम्नलिखित हैं :—

(१) विदेशों से लिया जानेवाला ऋण। जब हम विदेशों से ऋण लेते हैं, तो हम सिक्योरिटियों का निर्यात करते हैं।

(२) भारतवर्ष के स्कूलों, मिशन आदि की सहायता के लिये विदेशी बहुधा रुपया भेजते हैं।

(३) विदेशी यात्री जब भारत में आते हैं तो वे सामान और सेवाओं को खरीदते हैं और उनके लिये रुपया अदा करते हैं।

व्यापार का अन्तर (Balance of Trade) और खाते का अन्तर (Balance of Accounts or Payments)

वस्तुओं के निर्यात और आयात के अन्तर को व्यापार का अन्तर (balance of trade) कहते हैं। यदि हमारे (दृश्यगत) निर्यात (दृश्यगत) आयात से अधिक हों, तो व्यापार का अन्तर अनुकूल (favourable) कहा जाता है, और विपरीत दशा में, व्यापार का अन्तर प्रतिकूल (unfavourable) कहा जाता है। द्वितीय महायुद्ध के पहले भारतवर्ष का व्यापार का अन्तर साधारणतया अनुकूल रहा करता था। किन्तु अब यह हमारे प्रतिकूल रहता है। सन् १९४८-४९ में यह १०० करोड़ रुपये से हमारे प्रतिकूल था।

हमारी अन्तर्राष्ट्रीय ऋण-सम्बन्धी अवस्था का पूरा चित्र तब सामने आयेगा जब हम वस्तुओं के अतिरिक्त अदृश्य मदों (invisible items) का भी हिसाब रक्खें। दृश्यगत और अदृश्य मदों, दोनों को लेकर जो अन्तर आता है, उसे खाते का अन्तर (Balance of Accounts) या भुगतान का अन्तर (Balance of Payments) कहते हैं। खाते के चुकता करते समय यदि किसी देश को कुछ रुपया मिलता है, तो यह अन्तर अनुकूल कहा जाता है, और यदि उसे कुछ देना पड़ता है, तो यह अन्तर प्रतिकूल कहा जाता है।

§ ३. भीतरी या देशी व्यापार

किसी भी देश का भीतरी या देशीय व्यापार दो भागों में बाँटा जा सकता है : तटीय व्यापार और देशान्तर्गत व्यापार।

तटीय व्यापार (Coastal Trade)

जो व्यापार देश के विभिन्न भागों में बन्दरगाहों के द्वारा होता है, वह तटीय व्यापार कहलाता है। इसका कारण यह है कि माल तट के किनारे-किनारे लाया-लेजाया जाता है। हमारा तटीय व्यापार काफी महत्त्वपूर्ण है और इसकी कुल वार्षिक रकम २०० करोड़ रुपये के लगभग होती है। हमारा तट बहुत विस्तृत है और यद्यपि यह ब्रिटेन के तट की भाँति तो कटा-छँटा नहीं है किन्तु उस पर बहुत से बन्दरगाह हैं। अभाग्यवश बहुत से पुराने बन्दरगाहों में अब धूल भर गई है और वे बेकार हो गये हैं। इसके अतिरिक्त हमारे पास भारतीय जहाजों का कोई अच्छा बेड़ा नहीं है। हमारे तटीय व्यापार की उन्नति करने के लिये पूर्ण चेष्टा होनी चाहिये। इसके लिये बन्दरगाहों की उन्नति करनी चाहिये, यातायात का उचित समन्वय (co-ordination) होना चाहिये, और व्यापारिक बेड़ा बनाना चाहिए।

देशान्तर्गत (Inland) व्यापार

देशान्तर्गत व्यापार से उस अन्तर-प्रान्तीय व्यापार का आशय है जो स्थल-मार्ग द्वारा किया जाता है। हमारा देश बहुत लम्बा-चौड़ा है। इसकी जन-संख्या बहुत बड़ी है। यहाँ पर पैदा होनेवाली फसलों तथा वस्तुओं की किस्में भी बहुत प्रकार की हैं। इसलिये स्वाभाविक रूप से हमारे भीतरी व्यापार का बाहरी व्यापार से अधिक महत्त्वपूर्ण होना अनिवार्य है। किसी देश के भीतरी व्यापार का ठीक-ठीक अनुमान लगाना साधारणतया आसान काम नहीं होता। हमारे देश में पर्याप्त आँकडे न होने के कारण, यह काम और भी कठिन है। प्रोफेसर के० टी० शाह का कथन है कि अब तक हमारे देश का अधिकतम विदेशी व्यापार ६०० करोड़ रुपये का हुआ है, और उनके अनुसार हमारा देशी व्यापार १५०० करोड या १६०० करोड रुपये का होता है। अतः हमारा देशी व्यापार विदेशी व्यापार से तीन गुना है। इगलैंड में देशी व्यापार विदेशी व्यापार का बीस गुना है, और अमेरिका में दस गुना। इससे पता चलता है कि हमारे देशी व्यापार की बहुत उन्नति हो सकती है।

अभ्यास के प्रश्न

१. हमारे विदेशी व्यापार के क्या प्रमुख लक्षण हैं ? क्या व्यापार का अन्तर साधारणतया हमारे अनुकूल होता है ?

२. हमारे प्रमुख आयातों की उनके महत्व के क्रम में विवेचना कीजिए। निर्यातों का भी उसी प्रकार वर्णन कीजिए।

३ हमारे विदेशी व्यापार की दिशा पर एक नोट लिखिये। अदृश्य आयात और निर्यात क्या हैं ?

४. भारत के देशी व्यापार पर एक नोट लिखिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. "कोई भी व्यापार अपनी द्राव्यिक आय के कारण आकर्षक नहीं होता वरन् अपने असली लाभों के कारण आकर्षक होता है।" इस वाक्य को पूर्ण रूप से समझाइये। (१६४६)

२. भारत के निर्यातों और आयातों के प्रमुख लक्षण क्या हैं ? पिछले कुछ वर्षों में भारत का विदेशी व्यापार इतना कम क्यों हो गया है ? (१६४८)

३ भारत के विदेशी व्यापार के विशेष लक्षण क्या हैं ? द्वितीय महायुद्ध में आयातों में कमी क्यों आई ? (१६४७)

४. भारत के प्रमुख आयातों और निर्यातों का वर्णन कीजिए। हाल के वर्षों में उनमें कौन से महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये हैं ? (१६४०)

५. भारत के आयातों और निर्यातों पर एक नोट लिखिये। भारत कौन से प्रमुख विदेशों से व्यापार करता है ? भारत के विदेशी व्यापार में बृटिश कामनवेल्थ का क्या भाग है ? (१६२६)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

6 Explain the economic advantages of foreign trade (1949)

7. Give the main characteristics of the foreign trade of India Under what conditions would the development of foreign trade not lead to the prosperity of the people of India? (1947)

8 Write a brief explanatory note on Balance of Indebtedness (1947)

9 Explain the nature and importance of foreign trade of India (1945)

नागपुर, इन्टर कामर्स

१०. भारत के विदेशी व्यापार के मुख्य लक्षणों का निरूपण कीजिए। किन दशाओं में विदेशी व्यापार का विकास भारत-निवासियों को समृद्धि प्रदान नही करेगा ? (१९४४)

११. ऋण के शेष पर एक संक्षिप्त व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखिये। (१९४७)

१२. एक देश अपने विदेशी व्यापार से क्या लाभ उठा सकता है ? (१९४६)

सागर, इंटर आर्ट्स

13 What is meant by balance of trade ? What advantages are derived by a country from its foreign trade ? (1949)

14 Write a short on note Balance of Indebtedness, (1949 Supp)

15. What is Balance of Indebtedness ? Explain the economic advantages that a country can obtain from foreign trade. (1948)

वितरण

अब यह निश्चित हो गया है कि वितरण का प्रश्न जितना प्रारम्भिक
अर्थशास्त्री सोचते थे, उससे बहुत अधिक कठिन है और इसका जो हल
आसान होने का दावा करता है, वह सच्चा नहीं हो सकता। पुराने
समय मे ये चेष्टायें की गईं कि इसका एक सरल उत्तर दे
दिया जाय, पर ये उत्तर वास्तव मे ऐसे काल्पनिक प्रश्नों
के थे जो सम्भवत हमारे ससार के अतिरिक्त
अन्य किसी ऐसे संसार मे उत्पन्न हो सकते
थे जिसमे कि जीवन का क्रम
बहुत सरल हो।—मार्शल

अध्याय ५८

वितरण की समस्या

§ १. प्रारंभिक

वितरण, अर्थशास्त्र के एक विभाग के रूप मे

अब हम अर्थशास्त्र के चौथे विभाग का अध्ययन करेंगे, जिसे वितरण (Distribution) कहते हैं। "अर्थशास्त्र में वितरण के अन्तर्गत हम उन सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं जिनके अनुसार किसी विषम औद्योगिक सगठन की संयुक्त उत्पत्ति उन व्यक्तियों में बाँटी जाती है जो उसे प्राप्त करने में सहायक होते हैं।"[१]

आधुनिक काल में उत्पत्ति संयुक्त रूप में की जाती है। भूमिपति, पूँजीपति, मजदूर, सगठन-कर्ता और साहसी, सब मिलकर धन उत्पन्न करते हैं। अत जो धन वे सयुक्त होकर उत्पन्न करते हैं, वह उन सब की सम्पत्ति होती है। अत. यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है इस प्रकार उत्पन्न की गई वस्तु का उत्पत्ति मे भाग लेनेवाले साधकों (agents) में किस प्रकार वितरण (distribution) हो ?

इसका उत्तर आसान मालूम पड़ता है। यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक को सयुक्त उत्पत्ति का, उत्पादन क्रिया में किये गये काम के अनुपात के अनुसार, एक भाग मिलना चाहिये। वितरण का यह सिद्धान्त है तो पूर्णतया ठीक और न्यायपूर्ण, किन्तु इसे व्यवहार में लाने में कठिनता ... नहीं होती है। ... पास कोई ऐसा औजार नहीं जो यह नाप सके कि ... (agent) ने कितना काम किया है, ... उसी अनुपात में बाँट दें। जैसा कि ... कि हम एक समुदाय के प्रयास से प्र... कर दें ? एक व्यक्ति इजीनियर की ... हैसियत में, यदि एक व्यक्ति उत्... माल को गोदाम में भिजवाने ... कि इनमें से किसने उत्पत्ति मे ...

कुल उत्पत्ति (Available for Distribution)

500, 400, 300, 200, 100, 0

C

Rs 50 TAXES

Rs 50 DEPRECIATION

Rs 200 Replacement of Circulating Capital

B

चित्र २६—कुल उत्पत्ति के अंग

---

[1]Wicksteed, The C... p 359

[2]Penson, The Ec... Introduction to Economics, Pp 235—236. Pp 137.138
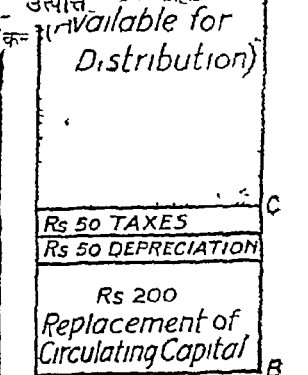
इसका उत्तर आसान है। १०००) इसकी कुल उत्पत्ति है। चल पूँजी, स्थिर पूँजी की घिसाई और कर का जोड़ (२००)+५०)+५०)=) ३००) होता है। कुल उत्पत्ति में से, ३००) घटा देने पर ७००) शेष बचते हैं। यही वास्तविक उत्पत्ति है। पिछले पृष्ठ के चित्र में यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई गई है।

राष्ट्रीय आय या राष्ट्रीय लाभांश—यदि हम देश के समस्त उत्पादकों की, किसी दिये हुए समय में, कुल उत्पत्ति को जोड़ दें, तो हमें वास्तविक उत्पत्ति का योग मालूम हो जायगा जोकि उस देश के निवासियों में वितरित होता है। वास्तविक उत्पत्ति के इस योग को राष्ट्रीय आय (National Income) या राष्ट्रीय लाभाश (National Dividend) कहते हैं। मार्शल ने राष्ट्रीय लाभाश की विवेचना इस प्रकार की है. "किसी देश का श्रम और उसकी पूँजी, उसके प्राकृतिक साधनों पर क्रियाशील होकर, प्रत्येक वर्ष भौतिक और अभौतिक पदार्थों तथा सब प्रकार की सेवाओं का एक निश्चित वास्तविक योग (Net Aggregate) उत्पन्न करते हैं। देश की यही सच्ची वास्तविक वार्षिक आय या राष्ट्रीय लाभाश है। हम इसकी गणना एक वर्ष के लिये कर सकते हैं या और किसी समय के लिये[७]।"

राष्ट्रीय लाभाश का अभिप्राय उस रकम से होता है जिसका वितरण किया जाता है। यह सोचना गलत होगा कि यह साल भर के श्रम, बलिदान, आदि द्वारा जो राष्ट्रीय आय होती है, वह एक ढेर या कोष के रूप में एकत्रित होती रहती है और फिर वर्ष के अंत में उसका वितरण कर दिया जाता है। यह एक धार के समान है जो लगातार प्रवाहित होती रहती है और जिसका लगातार उपयोग भी होता रहता है।[८]

इस प्रकार राष्ट्रीय लाभाश एक जल-कोष की भाँति है जो भूमि, पूँजी, श्रम, संगठन और साहस के द्वारा भरता रहता है, और लगान, व्याज, मजदूरी, वेतन, और लाभ के रूप में जिसमें से पानी निकलता रहता है। इसका एक भाग प्रतिस्थापना, घिसाई तथा कर के रूप में भी निकल जाता है। यह चित्र ३० में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है।

---

[७] Marshall, *Principles of Economics* (1930), p 523. पीगू के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश "किसी समुदाय की दृश्यगत आय (objective income) का, जिसमें विदेशों में कमाई हुई आय भी सम्मिलित होती है, वह भाग है जिसको हम द्रव्य के द्वारा नाप सकते हैं।"—Pigou, *Economics of Welfare.*

[८] Crew, *Economics for Commercial Stud*[illegible]

२ वितरण मे भाग लेने के अधिकारी कौन हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है। स्पष्ट रूप से वास्तविक उत्पत्ति उन्हीं में बाँटी जानी चाहिये जिन्होंने कि उत्पादन-क्रिया में सहयोग दिया हो। उत्पत्ति के साधन पाँच होते हैं—भूमि, पूँजी, श्रम, सगठन और साहस। जो इन साधनों को देते हैं, उन्हीं को वास्तविक उत्पत्ति का एक भाग मिलता है।[९] भूमिपति को **लगान** या **किराया** मिलता है, पूँजीपति को **ब्याज**, मजदूरों को **मजदूरी**, संगठन कर्त्ता को **वेतन**, और साहसी को **लाभ**।

सगठनकर्त्ता और साहसी—कुछ अर्थशास्त्री सगठन-कर्त्ता (Organiser) और साहसी (Entrepreneur) में कोई भेद नहीं मानते।[१०] उनका मत है कि सगठन करने और जोखिम झेलने के काम एक ही व्यक्ति द्वारा सपन्न होते हैं। यह मत ठीक नहीं मालूम पड़ता। आजकल सगठन का काम इतना विशिष्ट (Technical) हो गया है कि विशेष शिक्षा और अनुभव के व्यक्ति ही इसे सुचारु रूप से कर सकते हैं, और ये गुण साहसी में आवश्यक रूप से विद्यमान नहीं होते। कभी-कभी व्यापारिक इकाई का कानूनी ढाँचा ऐसा होता है कि सगठन करने तथा जोखिम झेलने के कामों को यह अलग-अलग कर देता है। सयुक्त पूँजीवाली कम्पनी मे समस्त शेयरहोल्डर साहसी होते हैं, किन्तु वे सब कम्पनी का प्रबन्ध नहीं करते। इस काम के लिये मैनेजर या प्रबन्ध-कर्त्ता वेतन देकर रक्खे जाते हैं। अतः यहाँ जो व्यक्ति साहसी होते हैं, वे प्रबन्ध-कर्त्ता से पृथक होते हैं।

---

[९] राष्ट्रीय लाभांश के उदित होने तथा उसके वितरण का एक सजीव वर्णन इस प्रकार दिया गया है : "हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उत्पत्ति की प्रत्येक इकाई का सहयोग धन के एक बड़े कोष में इकट्ठा होता जाता है जिसमें कि देश के समस्त वर्गों के प्रयासों के फल प्रवाहित होते रहते हैं। यह कोष देश का राष्ट्रीय या सामाजिक धन है जिसकी प्रतिदिन उसके आर्थिक कार्यों में सलग्न निवासियों के प्रयासों द्वारा वृद्धि होती रहती है, और दूसरी ओर, इसमें से चार बड़ी धाराएँ प्रतिदिन बाहर बहती हैं जो सामूहिक रूप से राष्ट्रीय लाभांश या सामाजिक आय कही जाती हैं, और जिनमें से प्रत्येक धारा उत्पत्ति के साधकों के चार वर्गों की आय होती है—भूमिपति, मजदूर, पूँजीपति और साहसी की।'—Thomas, *Elements of Economics*, p. 237

[१०] अधिकांश अमेरिका के अर्थशास्त्री इसी मत के हैं।

इसलिये हमको साहस तथा संगठन को उत्पत्ति के अलग-अलग साधन मानने चाहिये।[११]
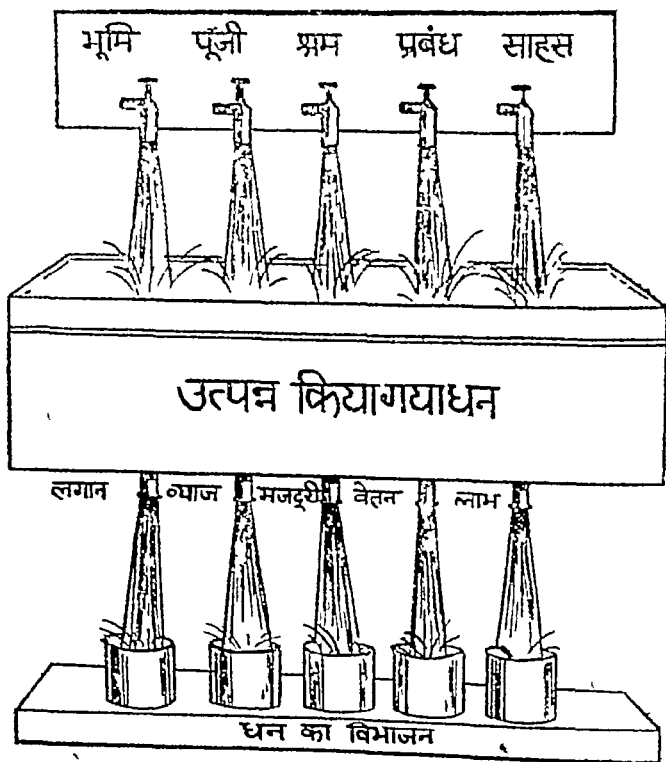
चित्र ३०—राष्ट्रीय लाभांश का सृजन और उसका वितरण

इससे यह मतलब न निकालना चाहिये कि एक व्यक्ति उत्पत्ति का केवल एक ही साधन दे सकता है। वास्तव में, यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें पता चलेगा कि अधिकांश में एक व्यक्ति उत्पत्ति के कई साधन देता है। संयुक्त पूँजीवाली कम्पनी के शेयरहोल्डर साहसी होते हैं क्योंकि वे जोखिम झेलते हैं, साथ में ही वे पूँजीपति भी होते हैं क्योंकि वे पूँजी भी देते हैं। अस्तु, जो लाभांश उनको शेयरों पर मिलता है वह (१) उनकी पूँजी पर ब्याज, और (२) उनकी जोखिम का लाभ होता है। हम प्रबन्धक साझी (Managing Partner) को भी ले सकते हैं।

[११] मार्शल और उनके अनुगामी इसी मत के हैं।

वह पूँजी देता है, जोखिम झेलता है और संगठन भी करता है। अतः वह पूँजी-पति, साहसी और संगठन-कर्त्ता, तीनों ही होता है।

३. वितरण की रीति

वितरण की रीति के अन्तर्गत हम निम्नलिखित बातों पर विचार करते हैं: (क) वितरण वास्तव में किस प्रकार किया जाता है? (ख) उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का पुरस्कार किस प्रकार निर्धारित होता है?

(क) वितरण किस प्रकार किया जाता है? पुराने अर्थशास्त्री यह नहीं समझ सके थे कि वितरण किस प्रकार होता है। इसको उन्होंने समझाने की चेष्टा तो की, पर उनका प्रयास बहुत अस्पष्ट था। उदाहरण के लिये, एडम स्मिथ (Adam Smith) ने लिखा था कि कुल उत्पत्ति "देश के विभिन्न वर्गों में स्वाभाविक रूप से वितरित हो जाती है", और जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने बताया कि यह उत्पत्ति "स्वाभाविक क्रिया के द्वारा अपने आप वितरित हो जाती है।" यह विवेचना अस्पष्ट है और इससे हमें कोई खास प्रकाश नहीं मिलता।

आधुनिक समाज में वितरण की रीति काफी विषम हो गई है, किन्तु हम इसकी विवेचना नीचे आसान शब्दों में करने की चेष्टा करेंगे।[१७] साहसी वितरण-कर्त्ता का काम करता है। उत्पत्ति प्रारम्भ करने के पहले ही, वह इस बात का हिसाब लगा लेता है कि कितनी उत्पत्ति बिक सकेगी और वह किस मूल्य पर बिकेगी। इससे उसे कुल उत्पत्ति (Gross Produce) का अनुमान हो जाता है। इसके बाद वह कुल उत्पत्ति में से प्रतिस्थापन, घिसाई और कर की रकमें घटा देता है। जो रकम शेष रहती है, वही वास्तविक उत्पत्ति (Net Produce) होती है। उपरोक्त गणना करने के लिये बड़े-बड़े अनुमान करने पड़ते हैं और भविष्य का अन्दाज लगाना पड़ता है। वास्तविक उत्पत्ति का जब इस प्रकार अनुमान लग जाता है, तब वह भूमिपति से भूमि के लिये, पूँजीपति से पूँजी के लिये, मजदूरों से श्रम के लिये और संगठन-कर्त्ता से संगठन के लिये बातचीत करता है। वह प्रत्येक को पुरस्कार इस हिसाब से देता है कि उसको जोखिम झेलने के उपलक्ष में पर्याप्त पुरस्कार शेष रह जाय। इसके बाद उत्पत्ति आरम्भ कर दी जाती है, और माल जैसे-जैसे बनता

---

[१७] पेन्सन ने इस बात को अपनी पुस्तक में बहुत अच्छी तरह से समझाया है। देखिये *The Economics of Everyday Life*, Part I, pp. 143-144. लेखकों ने अधिकतर इस विषय में उन्हीं का अनुगमन किया है।

जाता है, वैसे ही वैसे बिकता जाता है। किराया, ब्याज, मजदूरी और वेतन समय-समय पर अदा किये जाते हैं। साल के अन्त में यदि वास्तविक उत्पत्ति किराया, ब्याज, मजदूरी और वेतन से अधिक होती है, तो बचा हुआ भाग साहसी को अपने पुरस्कार के रूप में मिल जाता है, और यदि वास्तविक उत्पत्ति इन खर्चों से कम हुई, तो साहसी को हानि उठानी पड़ती है।

(ख) उत्पत्ति के प्रत्येक साधक का पुरस्कार कैसे निर्धारित होता है? शायद वितरण का यह सबसे कठिन प्रश्न है। हम आगे चलकर इस बात की विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे। यहाँ हम केवल संक्षिप्त रूप में इस प्रश्न पर कुछ विचार करना आवश्यक समझते हैं।

हमें इस बात को हमेशा याद रखना चाहिये कि उत्पत्ति का प्रत्येक साधन एक वस्तु की भाँति है, और इसका पुरस्कार माँग तथा पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है। जब साहसी उत्पत्ति के किसी साधन को खरीदता है, तो उसके ध्यान में एक अधिकतम मूल्य होता है जिससे अधिकतर मूल्य अदा करने को वह तैयार नहीं होता। यह अधिकतम मूल्य उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) द्वारा निर्धारित होता है। [साधारण वस्तु के लिये खरीदार जो अधिकतम मूल्य दे सकता है वह उसकी सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) पर निर्भर होता है।] उत्पत्ति के साधन का स्वामी उसकी (साधन की) लागत का विचार करके एक न्यूनतम मूल्य स्थिर कर लेता है, वह इससे कम मूल्य स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं होता। इन दोनों अधिकतम तथा न्यूनतम मूल्यों के बीच में माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा मूल्य एक स्थान पर स्थिर हो जाता है। यह बात भूमि, श्रम, पूँजी और संगठन पर लागू होती है जिन्हें साहसी खरीदता है। जहाँ तक उसके पुरस्कार का सम्बन्ध है, उपरोक्त सब पुरस्कार और व्यय के दे चुकने के बाद जो कुछ भी बचा रहता है, वह साहसी का पुरस्कार होता है। वितरण के अन्तर्गत हम इसी बात का अध्ययन करते हैं कि उत्पत्ति के प्रत्येक साधक का पुरस्कार किस प्रकार निर्धारित होता है। यह स्पष्ट हो गया होगा कि वितरण का विषय अर्घ के सिद्धान्त का उत्पत्ति के विभिन्न साधनों पर घटने का अध्ययन मात्र है।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'वितरण' का अर्थ समझाइये। क्या यह किसी दूसरे अर्थ में भी व्यवहृत होता है।

२. वितरण की समस्या के जन्म का वर्णन कीजिए। 'वितरण की समस्या आधुनिक समय में अत्यन्त ही जटिल हो गई है'। इस कथन पर विचार कीजिए।

३. 'वितरण' की समस्या क्या है? इसके महत्वपूर्ण अंग क्या हैं?

४. राष्ट्रीय लाभांश से आप क्या अर्थ समझते हैं? पूर्ण विवेचन कीजिए।

५. वितरण की वह वास्तविक रीति क्या है जो व्यावहारिक जीवन में प्रचलित है? राष्ट्रीय लाभांश में कौन भाग लेते हैं?

६. उस सिद्धान्त का निरूपण कीजिए जिसके द्वारा उत्पत्ति के प्रत्येक साधक का भाग निर्धारित होता है।

परीक्षा प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. किसी उद्योग की वास्तविक उत्पत्ति (Net Poduct) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४८)

२. आप वितरण से क्या समझते हैं? वितरण किसका होता है और किस प्रकार होता है? (१९४७)

३. वितरण की समस्या संक्षेप में समझा कर लिखिये। (१९४३)

४. अच्छी तरह समझाइये कि वितरण का क्या अर्थ है! सन् १९३४-३५ में एक चीनी का कारखाना १ लाख मन चीनी बनाता है और उसे १० लाख रुपये में बेचता है। बिक्री का रुपया किस प्रकार वितरित होगा? ग्राफ पर चित्र खींच कर समझाइये। (१९३५)

५. "वितरण की समस्यायें केवल विनियम की समस्या की विशिष्ट दशायें हैं"। इस कथन को समझाइये। (१९२९)

पटना, इन्टर आर्ट्स

6 What is the meaning of distribution in Economics? How does it take place? (1946 Suppl)

पटना, इन्टर कामर्स

7 What do you mean by National Dividend? How is the share of labour in the National Dividend determined? (1948 Suppl.)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

8. Among whom is wealth distributed? Explain how wealth is distributed in an organised society? (1949.)

नागपुर, इन्टर कामर्स

६. राष्ट्र-धन तथा देश की जन-संख्या के पारस्परिक संबंधों की विवेचना कीजिए। (१९४९)

सागर, इन्टर आर्ट्स

10. What is national dividend? Amongst whom and how is it distributed? (1949 Supp.)

अध्याय ५६

उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता (Mobility)

§ १. प्रारम्भिक

प्रत्येक साधक का पुरस्कार किस प्रकार निर्धारित किया जाता है—यह ताने के पहले हम साधनों की गतिशीलता (Mobility) का वर्णन कर देना आवश्यक समझते हैं।

गतिशीलता का अर्थ

"गतिशीलता," (Mobility) शब्द का प्रयोग उत्पत्ति के साधनों के सम्बन्ध मे किया जाता है। गतिशीलता का, शब्द-कोष के अनुसार, मतलब होता है सुगमता से चलने या फिरने की सामर्थ्य। अत साधन की गतिशीलता से अभिप्राय उसको एक उपयोग या स्थान से दूसरे उपयोग या स्थान को सुगमता और शीघ्रता से चले जाने को कहते हैं। भूमि, श्रम, पूँजी, सगठन और साहस—ये सब विभिन्न मात्राओं में गतिशील होते हैं।

गतिशीलता के लाभ

किसी भी साधन के गतिशील होने के कई लाभ होते हैं

(१) उचित विभाजन—यदि कोई साधन गतिशील होता है, तो वह अपना स्थान या उपयोग आसानी से बदल सकता है, जिस स्थान पर इसका आधिक्य होता है, वहाँ से वह उस स्थान को जा सकता जहाँ उसकी कमी है। अतः किसी देश में और उसी समय किसी साधन के एक स्थान पर आधिक्य और दूसरे पर कमी होने का विरोधाभास (paradox) गतिशीलता के कारण दूर हो जाता है, और राष्ट्रीय आय को अधिकतम बनाने के लिये देश के साधनों का उचित विभाजन हो जाता है।

(२) पुरस्कार मे समानता—यदि कोई साधन गतिशील हो, तो उसका स्वामी उसका उपयोग ऐसे स्रोत (Channel) में कर सकता है जहाँ उसे अधिकतम पुरस्कार प्राप्त हो सके। इस प्रवृत्ति का अन्तिम परिणाम यह होता है कि एक साधन का पुरस्कार सब जगह समान हो जाता है।

(३) सीमान्त उत्पादकता की समानता—गतिशीलता के फलस्वरूप साहसी स्थानापन्न के नियम (Law of Substitution) का अनुगमन कर

सकता है। वह अधिक लागतवाले साधन के स्थान पर सस्ते साधन का प्रयोग कर सकता है, और यह वह तब तक करता रहता है जब तक कि प्रत्येक साधक की सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity)—अर्थात् उसकी अंतिम इकाई द्वारा उत्पन्न किया हुआ धन—समान न हो जाय। इसे सीमान्त उपयोगिता की समानता का नियम (Law of Equi-marginal Productivity) कहते हैं। इस नियम का पूर्णतया पालन करना—जो साधनो की गतिशीलता ही सम्भव बनाती है—कुशल संगठन का द्योतक होता है और अधिकतम लाभ प्राप्त कराता है।

अतः यह स्पष्ट है कि साधनों की गतिशीलता उनके स्वामियो के लिये, उनके प्रयोगकर्ताओ के लिये, और सारे देश के लिये लाभदायक होता है।

पूर्ण गतिशीलता की कल्पना (Assumption)

पुराने अर्थशास्त्री इस बात की कल्पना करते थे कि उत्पत्ति के साधन कम पुरस्कारवाले उपयोगो को छोड़कर अधिक पुरस्कारवाले उपयोगों में संलग्न हो जायँगे। यह स्वतंत्र या पूर्ण स्पर्द्धा का उप-निष्कर्ष (corollary) है। वास्तविक जीवन में साधनों की गतिशीलता में कई बाधायें उपस्थित होती हैं। जिस प्रकार कि पूर्ण स्पर्द्धा व्यवहार में शून्य होती है, उसी प्रकार पूर्ण गतिशीलता भी व्यवहार मे शून्य होती है। क्योंकि पुराने अर्थशास्त्री अपने सिद्धान्तों को इसी कल्पना पर आधारित करते थे कि गतिशीलता पूर्ण है, इसलिये उनके सिद्धान्त कभी-कभी काल्पनिक (hypothetical) हो जाते थे।

§ २. भूमि की गतिशीलता

भूमि एक स्थान से दूसरे स्थान को आ-जा नहीं सकती, दूसरे शब्दों में, भूमि की स्थान-गतिशीलता (place mobility) असम्भव है। किन्तु यह हो सकता है कि यदि भूमि का प्रयोग एक काम के लिये हो रहा हो, तो उसको दूसरे काम में प्रयुक्त कर दिया जाय। उदाहरण के लिये, यदि किसी भूमि पर गेहूँ उगाया जा रहा हो, तो उस पर मोटा अनाज उगाया जा सकता है। इसी प्रकार यदि किसी भूमि को खेती के लिये प्रयुक्त किया जा रहा हो, तो उसे इमारत बनाने के काम में लाया जा सकता। किन्तु यदि किसी भूमि पर इमारत खड़ी हो, तो उसे खेती के काम में तुरन्त ही नहीं लाया जा सकता।

भूमि को एक उपयोग से हटाकर दूसरे उपयोग में रखने में कई बाधायें सामने आती हैं। हो सकता है कि यदि किसी खेत पर, जिस पर कि अब तक मोटे अनाज बोये जाते रहे हैं, यदि मक्का बोई जाय, तो अधिक लाभ हो, किन्तु किसान ऐसा

करना अपने रूढ़िवाद (conservatism) के कारण कभी-कभी अस्वीकार कर देता है। या यह हो सकता है कि किसान को मोटे अनाज बोने का ज्ञान तो हो किन्तु मक्का उगाहने का ज्ञान न हो। फसल के बदलने मे आवश्यक औजारों का न होना तथा बीज आदि का अभाव भी बाधा डाल सकता है। बिक्री का उचित प्रबन्ध न होने पर भी कभी-कभी परिवर्तन वर्जित हो जाता है। भूमि की गतिशीलता के मार्ग में जो बाधायें आती हैं, उनका प्रभाव धीरे-धीरे कम हो रहा है।

§ ३. श्रम की गतिशीलता

अर्थ और किस्में

श्रम की गतिशीलता का अर्थ श्रम की एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक पेशे से दूसरे पेशे को और एक वर्ग (grade) से दूसरे वर्ग को आने-जाने की योग्यता (ability) और तत्परता (willingness) से होता है। गतिशीलता के लाभों का वर्णन हम इस अध्याय के आरम्भ में ही कर चुके हैं। श्रम की गतिशीलता तीन प्रकार की होती है :

(१) **भौगोलिक या स्थान-गतिशीलता**—मजदूरों के एक स्थान से दूसरे स्थान को आने-जाने को भौगोलिक गतिशीलता (geographical mobility) या स्थान-गतिशीलता (place mobility) कहते हैं। यदि कोई मजदूर इलाहाबाद में काम छोड़कर कलकत्ते चला जाय, तो यह भौगोलिक गतिशीलता का एक उदाहरण होगा।

(२) **पेशेवार (Occupational) गतिशीलता**—यदि कोई मजदूर अपना पेशा बदल दे, तो उसकी गतिशीलता पेशेवार कहलाई जायगी। यदि कोई मोटर ड्राइवर क्लर्क हो जाय, तो यह पेशेवार गतिशीलता का उदाहरण होगा।

(३) **वर्गीय गतिशीलता**—मजदूरो के काम के एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आने जाने को ही वर्गीय गतिशीलता (grade mobility) कहते हैं। यदि श्रम की गतिशीलता उसी वर्ग मे हो तो उसे समवर्गीय गतिशीलता (horizontal mobility) कहते हैं, जैसे कि किसी कारखाने के फोरमेन का दूसरे कारखाने में फोरमैन हो जाना। यदि किसी मजदूर का तबादला एक वर्ग से किसी दूसरे वर्ग में हो जाय तो उसे भिन्न-वर्गीय गतिशीलता (vertical mobility) कहते हैं। सहकारी मैनेजर का मैनेजर बना दिया जाना भिन्न-वर्गीय गतिशीलता का एक

उदाहरण है'[1]। हम नीचे श्रम की गतिशीलता की क़िस्में चित्रित करते हैं :
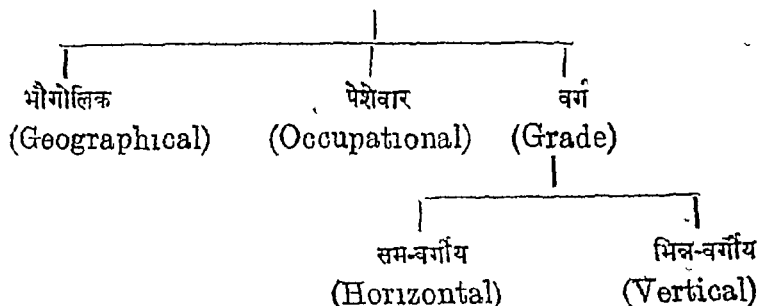
श्रम की गतिशीलता की उपरोक्त क़िस्में एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न नहीं, अर्थात् यह न समझना चाहिये कि गतिशीलता की एक किस्म केवल एक ही प्रकार की हो सकती है और दूसरे प्रकार की नहीं। इसके विपरीत गतिशीलता एक ही समय भौगोलिक, पेशेवार और वर्गीय, तीनों श्रेणियों में आ सकती है। मान लीजिये एक व्यक्ति इलाहाबाद में अकुशल श्रमिक की भाँति काम कर रहा है और वह कानपुर में बढई की भाँति काम करने लगता है, उसकी गतिशीलता भौगोलिक है क्योंकि उसने स्थान बदल दिया, पेशेवार है क्योंकि उसने पेशा बदल दिया, और वर्गीय भी है क्योंकि अब उसे उच्चवर्ग का काम मिल गया। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि समवर्गीय गतिशीलता तथा भिन्नवर्गीय गतिशीलता, वर्गीय गतिशीलता की ही दो क़िस्में हैं, अतः वे स्वाभाविक रूप से एक दूसरे से पूर्णतया अलग-अलग होती हैं। वर्गीय गतिशीलता या तो सम-वर्गीय हो सकती है और या भिन्न-वर्गीय, वह एक ही साथ दोनों प्रकार की नहीं हो सकती।

भौगोलिक गतिशीलता

संसार के प्रत्येक देशों में भौगोलिक गतिशीलता एक साधारण बात है। हमारे देश में इसका अभी बहुत महत्व नहीं, किन्तु इसका महत्व बढता निश्चय जा रहा है। भौगोलिक गतिशीलता स्थायी हो सकती है या अस्थायी। कभी-कभी मजदूर एक स्थान को सदैव के लिये छोड़ देते हैं और दूसरे स्थान में स्थायी रूप

---

[1] लेखकों ने गतिशीलता के विषय पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। खासकर वे श्रम की गतिशीलता का जो वर्गीकरण करते हैं वह बहुधा बहुत अस्पष्ट और भ्रमात्मक होता है। हमारे मत में हमने जो वर्गीकरण ऊपर किया है, वह निश्चित और स्पष्ट है।

से बस जाते हैं। ऐसा सामाजिक कारणों, जैसे जाति निकाले, से हो सकता है; या अन्य कारणों से, जैसे भूमि छिन जाने या दूसरे स्थान पर मजदूरी अधिक होने से; या धार्मिक कारणों से, जैसे हिन्दू-मुस्लिम झगडे के कारण।[1] हमारे देश में स्थायी गतिशीलता का इतना महत्व नहीं जितना कि अस्थायी गतिशीलता का है। जब खेतों पर कोई काम नहीं होता, तब किसान समीप के औद्योगिक शहरों में मजदूरी के लिये चले जाते हैं, और जब खेतो पर काम करने के दिन आते हैं तब वे वापस गाँव को लौट आते हैं। सरकारी दफ्तरो का गर्मियों पर पहाड चले जाना, सरकारी अफसरों का तबादला, और मनुष्यो का मेलों में बड़ी सख्या मे एकत्रित होना, ये अस्थायी गतिशीलता के उदाहरण हैं। नौकरी की कमी तथा जलवायु, राजनीति और शासन से सबध रखने वाले कारण अस्थायी गतिशीलता को प्रोत्साहित करते हैं।

श्रम की गतिशीलता में अन्य साधनो की अपेक्षा सब से अधिक कठिनाइयाँ आती हैं, अर्थात् श्रम की गतिशीलता सब साधनों से कम होती है। जब मजदूरो को गतिशीलता से लाभ भी होता है, तब भी वे व्यक्तिगत कारणों से गतिशील नहीं होते। किन्तु शिक्षा के विस्तार, दूसरे स्थानों पर नौकरी मिलने के सबध में ज्ञान की वृद्धि तथा जीवन के सघर्ष की बढती हुई तीव्रता के कारण, मजदूर स्थान-परिवर्तन पहले से अधिक करने लगे हैं।

पेशेवार गतिशीलता

जब किसी पेशे का सामान्य आकर्षण किसी दूसरे पेशे की अपेक्षा अधिक हो जाता है, तो मजदूर दूसरे पेशे को छोड़-छोड़ कर पहले पेशे में प्रवेश करने लगते हैं। किसी पेशे में मजदूरों के आकर्षित होने के कारण निम्नांकित होते हैं: (१) अधिक पुरस्कार—यदि अन्य बातें समान हो तो मजदूर उसी पेशे की ओर आकर्षित होगा जिसमें कि उसे पुरस्कार अधिक मिलेगा। (२) काम की अनुकूलता—काम की अनुकूलता मजदूरों को आकर्षित करती है और काम की प्रतिकूलता उन्हें दूर भगाती है। (३) काम सीखने मे आसानी—यदि काम आसानी से सीखा जा सकता हो तो श्रमिक उसकी ओर आकर्षित होता है, और यदि काम सीखने में कठिनाई हो, या अधिक व्यय करना पड़े, या बहुत दिनों तक शिष्यता करनी पड़े, तो मजदूर उससे दूर भागता है। (४) नौकरी का स्थायित्व तथा सुरक्षा—मजदूर वह काम अधिक पसन्द करते हैं जो स्थायी हो और जो उनसे छिन न जाय। (५) सफलता और उन्नति

[1] पारसी बम्बई में सब से पहले धार्मिक अत्याचार के कारण ही आये।

की सम्भावना—जिस पेशे में सफलता के अवसर अधिक होते हैं और जिसमें उन्नति का क्षेत्र पर्याप्त होता है, मजदूर उसे स्वाभाविक रूप से पसन्द करते हैं।

(६) मजदूर पर विश्वास करने की सीमा—यदि नौकरी में बहुत ईमानदारी तथा सचाई की आवश्यकता हो, तो उसका पुरस्कार भी बहुत होता है और वह सम्मानपूर्ण भी होता है। अतः ईमानदार और सच्चे व्यक्तियों के लिये वह आकर्षक हो जाता है, किन्तु जिसमें यह गुण नहीं होता वह ऐसा काम पसंद नहीं करता।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि यद्यपि पेशे की गतिशीलता पर उपरोक्त बातों का काफी प्रभाव पड़ता है, फिर भी इन सब में से मजदूर की दर का प्रभाव सब से अधिक होता है। अन्य बातें तो बहुत कुछ समान रहती हैं और उनमें परिवर्तन अधिक नहीं होता, इसलिये श्रम की गतिशीलता पर उनका प्रभाव भी अधिक नहीं होता।

श्रम की पेशेवार गतिशीलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि श्रम कुशल है या अकुशल। अकुशल मजदूरों को जो काम करना पड़ता है, उसमें किसी प्रकार की कुशलता या शिक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ती, चाहे पेशा कोई भी हो। इसलिये अकुशल मजदूर उस पेशे में आसानी से प्रवेश कर सकते हैं जिसमे कि उन्हें अधिक मजदूरी मिले। इसके विपरीत, कुशल श्रम विशिष्ट (special-ized) होती है। कुशल मजदूर किसी खास पेशे या काम के लिये विशेष प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर के ही कुशल बनते हैं, और जिन् काम के लिये वे शिक्षित होते हैं, वह काम तो वे अच्छी तरह कर सकते हैं किन्तु और किसी काम के लिये वे अकुशल होते हैं। अत. कुशल श्रम की पेशेवार गतिशीलता अधिक नहीं होती।

कुशल श्रम की पेशेवार गतिशीलता धीरे-धीरे बढ रही है। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता जा रहा है, वैसे ही वैसे ज्ञान और शिक्षा की कुछ शाखाओं से अधिकाश व्यक्ति परिचित होते जा रहे हैं, और कुशल तथा अकुशल श्रम का अन्तर भी कम हो रहा है। इसके अतिरिक्त यन्त्रों के लोकप्रिय हो जाने के कारण और श्रम-विभाग की वृद्धि के कारण प्रत्येक काम बहुत सादा होता जा रहा है, और इसलिये हर काम एक दूसरे से बहुत कुछ समान बनता जा रहा है।

भारतवर्ष में पेशेवार गतिशीलता कम होने के कारण शिक्षा का अभाव, यन्त्रों की कमी तथा मजदूरों का रूढिवाद है। हिन्दुओं मे प्रचलित जाति-पाँति ने इसे और भी कम कर दिया है। जाति के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति का पेशा उसके जन्म लेने पर ही निश्चित हो जाता है और यदि वह उस पेशे को बदले तो उसे

सामाजिक बुराई मिलती है और कभी-कभी तो उसे जाति से भी निकाल दिया जाता । उदाहरण के लिये, यदि कोई ग्वाला चमार का काम करने लगे, तो शायद वह जाति से अलग कर दिया जायगा। इसी प्रकार एक चमार मिठाई बेचने की बात नहीं सोचेगा क्योंकि इससे समाज में उसकी बदनामी होगी और दूसरों का धर्म बिगाड़ने के अपराध मे उसे नरक की यातना भोगनी पड़ेगी। जाति प्रथा से यह लाभ अवश्य होता है कि यह पैतृक कुशलता की रक्षा करती है और पारिवारिक शिष्यता (apprenticeship) की एक बहुत अच्छी व्यवस्था है। किन्तु इसको बहुत कड़ाई के साथ लागू करने में दोष उपस्थित हो जाते हैं। कम से कम निम्नलिखित दशाओ में पेशो का परिवर्तन करने की आज्ञा अवश्य मिलनी चाहिये (१) जब किसी पेशे में श्रम की कमी हो और उसमें मजदूरी की दर ऊंची हो, और (२) जब किसी का स्वभाव किसी दूसरे पेशे के अनुकूल हो। सौभाग्य से शिक्षा का प्रसार हो रहा है और जाति-पाँति के दोषो को भी अब समझा जाने लगा है, इसलिये अब यह प्रथा अशक्त होती जा रही है। मालूम यह पड़ता है कि कुछ ही वर्षो में यह काफी कमजोर हो जायगी।

वर्गीय गतिशीलता

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, वर्गीय गतिशीलता (grade mobility) या तो सम-वर्गीय होती है या भिन्न-वर्गीय।

सम-वर्गीय (Horizontal) गतिशीलता—यदि मजदूर एक पेशे या कारखाने को छोड़ कर दूसरा पेशा ग्रहण करले या दूसरे कारखाने मे नौकरी करले, किन्तु उसका वर्ग (grade) वही रहे, तो इसे समवर्गीय गतिशीलता कहेंगे। उदाहरण के लिये. यदि एक प्रूफरीडर एक प्रेस को छोड़ कर दूसरे प्रेस में नौकरी करले, तो यह वर्गीय गतिशीलता का उदाहरण होगा। उसी पेशे मे होनेवाली गतिशीलता का इतना महत्त्व नहीं जितना कि एक पेशे से दूसरे पेशे को होनेवाली गतिशीलता का। दूसरी दशा में वे ही समस्त रुकावटें सामने आती हैं जिनका हम पेशेवार गतिशीलता के सम्बन्ध में वर्णन कर चुके हैं।

भिन्न-वर्गीय (Vertical) गतिशीलता—यदि मजदूर किसी वर्ग से ऊंचे वर्ग में काम करने लगे या वह किसी वर्ग से नीचे वर्ग में उतार दिया जाय, तो इसे भिन्न-वर्गीय गतिशीलता कहेंगे। यह स्पष्ट है कि वर्ग उतरना आसान है किन्तु उच्च वर्ग प्राप्त करना कठिन होता है।

मजदूर ऊँचे वर्ग मे निम्नलिखित दशाओं में चढ़ता है: (१) यदि मजदूर शिक्षा और अनुभव द्वारा ऊंचे वर्ग के योग्य हो जाय, तो वह ऊँचा वर्ग प्राप्त कर

सकता है। (२) यदि किसी ऊँचे वर्ग में बहुत से स्थान रिक्त हो जाँय, तो उच्च-वर्गीय गतिशीलता के अवसर अधिक हो जायँगे। किसी उद्योग की वस्तुओं की माँग के बढ़ जाने से या किसी कारणवश उस वर्ग में काम करनेवालों की संख्या घट जाने से ऐसा हो सकता है। मजदूरों को नीचे वर्ग में तब आना पड़ता है जब या तो बेकारी का समय हो या जब उनकी कार्यक्षमता कम हो जाय।

भारत मे श्रम की गतिशीलता मे बाधायें

उत्पत्ति के समस्त साधकों की अपेक्षा श्रम की गतिशीलता सबसे कम होती है। श्रम और श्रमिक अभिन्न हैं। अतः ऐसे बहुत से व्यक्तिगत कारण जो मजदूरों की गतिशीलता में बाधक होते हैं, वे श्रम की गतिशीलता के बाधक हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से और दूसरे कारण भी मजदूरों और श्रम की गतिशीलता मे रूकावट डालते हैं। हमारे देश में श्रम की गतिशीलता में निम्नलिखित बाधाएं होती हैं:

(१) **घर, स्थान या पेशे का प्रेम**—घर का प्रेम, पारिवारिक स्नेह, किसी स्थान का स्नेह, और शहरी जीवन की अपेक्षा ग्रामीण जीवन को अच्छा समझना —ये मजदूरों की भौगोलिक या स्थानीय गतिशीलता में बाधक होते हैं। किसी खास पेशे मे रुचि होना या उसमें पारिवारिक अभिमान समझना, ये पेशेवार गतिशीलता को रोकते हैं। मनुष्य, जैसा कि उसका स्वभाव है, ऐसी व्यक्तिगत भावनाओं से हमेशा मुक्त नहीं हो पाता।

(२) **महत्वाकांक्षा का अभाव**—यदि मजदूर अपने भाग्य पर संतोष कर लेता है, तो उसमें उन्नति करने की महात्वाकांक्षा मर जाती है। पाश्चात्य देशों में मजदूर भौतिकवादी होते हैं और वे अपने रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के लिये चिन्तित रहते हैं। इसके विपरीत हमारे मजदूर भाग्यवादी होते हैं और वे आध्यात्मिक प्रकृति के होते हैं। वे समझते हैं कि उनकी आर्थिक दशा उनकी तकदीर निश्चित करती है और उसमें सुधार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त उन्हें परलोक की चिन्ता सदैव रहती है और इस लोक की कम, इसलिये वे धर्म को द्रव्य से अधिक महत्त्व देते हैं।

(३) **सामाजिक रीति-रिवाज**—भारतवर्ष की सामाजिक रीति-रिवाजें प्रगतिशील शक्तियों को सामान्यतया रोकती हैं, और वे श्रम की गतिशीलता के मार्ग में भी बाधक होती हैं। हमारी इन रिवाजों में से सबसे महत्त्वपूर्ण जाति-पाँति प्रणाली और संयुक्त परिवार प्रणाली हैं। हमने अभी ऊपर इस बात पर विचार किया है कि किस प्रकार जाति प्रथा गतिशीलता को रोकती है। संयुक्त परिवार

प्रणाली भी गतिशीलता के मार्ग मे इसी प्रकार बाधक होती है। पाश्चात्य देशों में एक परिवार पति, पत्नी और बच्चों को मिला कर बनता है किन्तु भारतवर्ष में परिवार में बहुत से सम्बन्धी शामिल होते हैं, और इसलिये परिवार सयुक्त कहलाता है। पिता, माता, चाचा, भाई, उन सब की स्त्रियाँ, और बच्चे—सब मिल कर एक ही परिवार में रह सकते हैं। इस प्रथा का यह लाभ तो होता है कि प्रत्येक सदस्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करता है और अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोग करता है और बुड्ढे, अपाहिज तथा बेकारो की उचित रीति से देख-रेख भी होती है, किन्तु यह पारिवारिक बन्धनो को सुदृढ कर देता है और भौगोलिक गतिशीलता में इस कारण रुकावट आती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की आय उसके काम के अनुपात में नहीं होती और इस कारण मनुष्य की महत्त्वाकाक्षा हतोत्साहित होती है, इसके परिणामस्वरुप पेशेवार और वर्गीय गतिशीलता में बाधा पड़ती है।

(४) पेशे का स्वभाव—कभी कभी पेशा इस स्वभाव का होता है कि उसके छोड़ देने से कार्य-क्षमता का ह्रास हो जाता है। विशेषतया खेती के विषय में ऐसा ही होता है। यदि किसान अपने गाँव को छोड़ कर दूसरे गाँव को चला जाय, तो वहाँ उसे अपरिचित जल-वायु, भूमि और फसलो से काम पड़ेगा। सम्भव है उसका पुराना ज्ञान बहुत कुछ बेकार हो जाय और उसे दोबारा शिक्षा और अनुभव प्राप्त करना पड़े। हमारे किसानों के गतिशील न होने का यह प्रधान कारण है। यह बात कारीगरो पर लागू नहीं होती और वे अपने औजारों का थैला लेकर चाहे गाँव-गाँव और शहर-शहर घूमें, उनका काम वही रहेगा।

(५) वातावरण मे अंतर—भारतवर्ष में भाषा, धर्म, सामाजिक रीतियाँ, जलवायु तथा रहन-सहन के तरीकों में बहुत अंतर पाया जाता है। इससे भौगोलिक गतिशीलता में बाधा पड़ती । अपरिचित भाषा बोलनेवाले, भिन्न सामाजिक जीवन व्यतीत करनेवाले, नई तरह का भोजन करनेवाले और नई तरह के कपड़े पहिननेवाले— ऐसे व्यक्तियों मे जीवन व्यतीत करना निश्चय ही कठिन हो जाता है।

(६) जन-साधारण की निर्धनता—हमारे देश के अधिकाश निवासी निर्धन हैं और यदि उन्हें दूसरी जगह अधिक रुपया कमाने का अवसर भी मिले, तो भी वे गरीबी के कारण वहाँ जाने और घर बसाने का खर्च सहन नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त गरीबी के कारण वह उचित शिक्षा और अनुभव भी नहीं प्राप्त कर सकते जिसके बिना उच्च-वर्गीय गतिशीलता असम्भव है।

(७) यातायात और सदेशवाहन के साधनों की कमी—हमारे देश मे यातायात और सदेशवाहन के साधन विस्तृत, सस्ते और आसान नहीं। इस

दिशा में होनेवाली प्रत्येक कठिनाई भौगोलिक गतिशीलता के मार्ग में रुकावट डालती है। अतीत मे यह बाधा बहुत अधिक थी किन्तु हाल में इसका महत्त्व कम हो गया है।

(८) अज्ञानता—किस स्थान पर और किस पेशे में मजदूरी अधिक मिल सकती है, इस बात की अज्ञानता भौगोलिक, पेशेवार तथा वर्गीय गतिशीलता में बाधक होती है। अधिकाश व्यक्तियो के अशिक्षित होने के कारण साधारण नौकरियों के विज्ञापन प्रकाशित नहीं किये जाते। मजदूरों को समाचार देनेवाले साधन भी हमारे देश में बहुत कम हैं। जहाँ इस प्रकार के समाचार मजदूरों को प्राप्त हो जाते हैं, वहां उनकी गतिशीलता भी अधिक दीख पड़ती है। उत्तर प्रदेश के बहुत से गाँवो के निवासी इसी प्रकार के समाचार पाकर बगाल और बिहार के कारखानो में काम करने के लिये गये हैं, और वहाँ से अधिक मजदूरी कमाने के जब समाचार भेजते हैं, तो और भी व्यक्ति वहाँ चले जाते हैं। हमारे देश में रोजगार के दफ्तर (Employment Exchanges) खुल जाने से अब मजदूरों को समाचार पाने का एक साधन प्राप्त हो गया है।

(९) काम करने की दशाएँ—देश में अधिकतर उत्पत्ति की पुरानी रीतियाँ काम में लाई जाती हैं। यन्त्रों का प्रयोग तथा श्रम का विभाजन अभी विस्तृत रूप से प्रचारित नहीं हुआ। अतः पेशेवार गतिशीलता के मार्ग में बाधाएँ आती हैं।

इन सब बाधाओं के कारण भारतीय मजदूर अपने घर पर ही रहते हैं और अपने पेशे और वर्ग से सन्तुष्ट रहते हैं। किन्तु भाग्यवश इन कारणों का महत्त्व अब घट रहा है। देश की प्रगति हो रही है और सामाजिक रीति-रिवाजों का बधन ढीला हो रहा है। जाति-पाँति की प्रणाली अब नष्ट-भ्रष्ट हो रही है। खासकर मोटरों के आगमन के कारण यातायात के साधन अब बढ रहे है। उत्पादन के पुराने तरीके बदल रहे हैं। हर दिशा में और हर काम के लिये बड़े पैमाने के उद्योग स्थापित हो रहे हैं। यन्त्रों का उपयोग और श्रम-विभाजन का प्रचार भी बढ रहा है।

§ ४. पूँजी की गतिशीलता

पूँजी की गतिशीलता से तात्पर्य उसकी एक स्थान या व्यवहार से दूसरे स्थान या व्यवहार में प्रयुक्त होने की योग्यता या तत्परता से होता है। पूँजी उत्पत्ति का सबसे अधिक गतिशील साधन है। पूँजी उसके स्वामी से अलग की जा सकती है, इसलिये बहुत सी व्यक्तिगत बातें परिवार का प्रेम, किसी विशेष वातावरण में अनु-

रक्ति इत्यादि जो श्रम की गतिशीलता पर अपना प्रभाव डालती हैं पूँजी को प्रभावित नहीं कर सकतीं। इसके अतिरिक्त पूँजी आसानी से और सस्ते तौर पर बहुत दूर-दूर भेजी जा सकती है जैसा कि मजदूरों के साथ नहीं हो सकता क्योंकि उनके यातायात के साधन इतने सरल नहीं हैं।

आजकल पूँजी का हस्तांतरण अधिकतर द्रव्य के माध्यम के द्वारा होता है। किसी राष्ट्र की आर्थिक यन्त्र-रचना सामान्य एजेन्सी होती है जिसके द्वारा पूँजी की बदली होती है। आनुधिक युग में (क) यदि कोई पूँजीपति किसी उद्योग में से—जैसे कपड़े की मिल में से—पूँजी निकालकर किसी दूसरे उद्योग में—जैसे लोहे के उद्योग में—लगाना चाहता है, तो वह स्टाक एक्सचेंज में कपड़े की कम्पनियों के शेयर बेचकर और लोहे की कम्पनियो के शेयर खरीद कर ऐसा कर सकता है। (ख) कुछ पूँजीपति अपनी पूँजी बैंक में जमा कर देते हैं और बैंक अपनी इच्छा के अनुसार पूँजी का विनियोग (investment) करता है। (ग) कुछ पूँजीपति स्वयं अपनी पूँजी उद्योग में लगाते हैं जिस पर कि उनका अपना नियत्रण होता है। उदाहरण के लिये कोई भी पूँजीपति चीनी का कारखाना खोल सकता है और उसमे अपनी पूँजी लगा सकता है।

पूँजी की गतिशीलता के निर्धारक

पूँजी की गतिशीलता के निर्धारण में सबसे सहायक बात सुरक्षा तथा लाभदायकता (profitability) (अर्थात् व्याज या लाभ की दर) होती है। जब क कि पूँजीपति को यह विश्वास न हो कि जिस काम में वह रुपया लगाना ाहता है वह सुरक्षित है, तब तक वह अपनी पूँजी जोखिम में डालना नहीं ाहेगा। यदि अन्य बातें समान हो तो पूँजीपति सुरक्षा के क्रम में अपनी पूँजी गायेगा। दूसरी महत्वपूर्ण बात है व्याज की दर। यदि विनियोग के दो मार्ग मान रूप से सुरक्षित हो, तो पूँजी उसमें लगाई जायगी जिसमें कि व्याज अधिक ाले। सुरक्षा और लाभदायकता—इन दोनो में से किस को अधिक महत्व दिया ाय, यह विनियोगक (investor) के स्वभाव पर निर्भर होता है। जो विनियोगक हुत सावधान होते हैं, वे सुरक्षा को अधिक महत्व देते हैं, और जो जुआरी स्वभाव ; होते हैं वे व्याज की दर पर अधिक जोर देते हैं।

पूँजी की गतिशीलता को निश्चय करने में जो अन्य बातें प्रभाव डालती हैं, निम्नलिखित हैं: (१) विनियोग के संतोषजनक और विभिन्न मार्गों का विद्यान होना, जो देश के आर्थिक उन्नति के सोपान पर निर्भर होता है, (२) सदेशाहन तथा पूँजी के भेजने के सुगम और शीघ्र साधनों का होना, (३) विनियोग

के भौगोलिक क्षेत्र में राजनीतिक स्थिरता, और (४) द्रव्य-सम्बन्धी संस्थाओं की उन्नति ।

पूँजी की गतिशीलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि वह तरल (liquid) है अथवा स्थिर (fixed)। तरल पूँजी, अर्थात् नकद रुपया और वह माल जो आसानी से नकद रुपये में परिवर्तित किया जा सकता है, बहुत गतिशील होती है। उदाहरण के लिये, जो सिक्योरिटी स्टाक एक्सचेंज में हमेशा खरीदी और बेची जाती हैं, उनमें लगाई पूँजी आसानी से निकाली जा सकती है। इसके विपरीत, स्थिर पूँजी इतनी गतिशील नहीं होती। इमारतों, मशीनों, आदि में फँसा हुआ रुपया आसानी से नहीं निकाला जा सकता। ऐसी वस्तुओं के बेचने में समय लगता है और बहुधा हानियाँ उठानी पड़ती है।

भारत मे पूँजी की गतिशीलता

हमारे देश में पूँजी अधिक गतिशील नहीं। (१) देश की आर्थिक उन्नति अभी आरम्भ ही हुई है। इसलिये यद्यपि कि नए-नए उद्योग आरम्भ किये जा रहे हैं, किन्तु उनकी सुरक्षा अभी निश्चित नहीं और उनसे कितना लाभ कमाया जा सकता है, यह बात भी स्पष्ट नहीं। अत. पूँजी की गतिशीलता अधिक नहीं हो सकती। (२) हमारी द्रव्य सम्बन्धी संस्थाएँ भी अधिक उन्नत नहीं। बैंकों ने अभी गावो में प्रवेश नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, उनकी किस्में बहुत थोड़ी हैं। इससे गतिशीलता मे रुकावट आती है। उदाहरण के लिये, यदि फ़तेपुर गाँव का कोई दूकानदार अपनी दूकान बेचकर बैंक में रुपया जमा करना चाहे, तो उसके गाँव में बैंक न होने के कारण वह ऐसा नहीं कर सकता। देश में स्टाक एक्सचेंज भी बहुत थोड़े हैं और केवल कुछ ही व्यक्ति उनसे लाभ उठा सकते हैं। (३) साहस की कमी—हमारे देश में विनियोग के मार्ग बहुत थोड़े हैं क्योंकि भारतवासियों में साहस की भावना बहुत कम है। उनमें नए-नए उद्योगों को चलाने की तथा जोखिम झेलने की भावना अभी पूरी तरह जाग्रत नहीं हुई। (४) व्यापारिक बेईमानी भी बाधक सिद्ध हुई है। कभी कभी झूठी मूठी कम्पनियाँ स्थापित कर दी जाती हैं और बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलाकर पूँजी एकत्रित कर ली जाती है, किन्तु अल्पकाल में ही ऊँची-ऊँची तनख्वाहों तथा अन्य प्रकार के पुरस्कारों में अधिकांश पूँजी व्यय कर दी जाती है और कम्पनी की इतिश्री हो जाती है। इसका विनियोगकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। (५) सरकार की औद्योगिक नीति भी अनुकूल नहीं रही। ब्रिटिश काल में सरकार सदैव उद्योगों के प्रति उदासीन ही नहीं प्रत्युत विरोधी रही और हमारे उद्योगों को संरक्षण न मिल

सका। भारत के स्वतंत्र हो जाने के बाद सरकार की औद्योगिक नीति पहले तो बड़ी अनिश्चित रही और बाद को उन्होंने दस साल के बाद राष्ट्रीकरण की बात जो देश के सामने रक्खी, उससे पूँजी घबड़ा गई है।

किन्तु अवस्था धीरे-धीरे अनुकूल होती जा रही है। नए-नए उद्योग स्थापित हो रहे हैं। बिजली के कारखाने, सीमेन्ट के कारखाने, मोटरों और जहाजों के कारखाने आदि स्थापित हो रहे हैं। बैंकों और स्टाक एक्सचेंजों की उन्नति हो रही है। कुछ काल में ही सरकार की औद्योगिक उन्नति में परिवर्तन होना भी निश्चय है।

§ ५. संगठन की गतिशीलता

सगठन के लक्षण उच्चवर्ग वाले श्रम के समान होते हैं। संगठन-कर्त्ता शिक्षाप्राप्त होते हैं और सामान्यतया प्रगतिशील होते हैं, इसलिये उनकी भौगोलिक गतिशीलता अधिक होती है। उनकी भिन्न-वर्गीय गतिशीलता भी काफी होती है। किन्तु उनकी पेशेवार गतिशीलता कम होती है क्योंकि प्रत्येक उद्योग की सगठन-सम्बंधी समस्यायें विशेष प्रकार की होती हैं।

६. साहस की गतिशीलता

साहस की गतिशीलता से हमारा आशय जोखिम झेलनेवालों के एक पेशे को छोड़ कर अधिक लाभवाले पेशों के ग्रहण कर लेने से है। हमारे देश में साहस की वृद्धि हो रही है। कुछ समय पूर्व इसकी गतिशीलता बहुत कम थी। हमारे साहसी व्यक्ति कम से कम जोखिम उठाना चाहते थे और वे ही कारखाने चलाते थे जिनमें कि लाभ होना निश्चित होता था। किन्तु शिक्षा के प्रसार, पाश्चात्य उद्योगवाद से निकट सबंध तथा देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ साहस की गतिशीलता बढ़ गई है। किन्तु इस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सरकार की नीति है जिसमें परिवर्तन शीघ्र होना चाहिये।

अभ्यास के प्रश्न

१. उत्पत्ति के साधन की गतिशीलता का अर्थ समझाइये। गतिशीलता के लाभ क्या हैं?

२. भूमि, संगठन तथा साहस की गतिशीलता पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये।

३. श्रम की गतिशीलता का अर्थ समझाइये तथा उसकी किस्मों की विवेचना कीजिये।

४. विशेषतया भारत के सन्दर्भ में श्रम की पेशेवार गतिशीलता पर एक निबन्ध लिखिये।

५. भौगोलिक गतिशीलता, समवर्गीय गतिशीलता तथा भिन्न-वर्गीय गतिशीलता पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये।

६. भारत में श्रम की गतिशीलता में क्या क्या बाधाएँ हैं ?

७. चल-पूँजी के कौन से स्रोत हैं ? पूँजी की गतिशीलता को जन्म देनेवाले तथ्यों की विवेचना कीजिए। भारत में पूँजी गतिशील क्यों नहीं है ?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. श्रम की गतिशीलता पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४१)

२. भारत के एक भाग से दूसरे भाग को श्रम की गतिशीलता में क्या बाधाएँ आती हैं ? यदि श्रम की गतिशीलता पूर्ण रूप मे उपस्थित हो, तो इसका ब्याज की दर पर क्या प्रभाव होगा ? (१९४७)

३. भारत में श्रम की गतिशीलता के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालिये। इसका मजदूरी पर क्या प्रभाव पड़ता है ? (१९४०)

४. पूँजी की गतिशीलता का क्या अर्थ है ? भारत में पूँजी की गतिशीलता में कौन सी बातें बाधा डालती हैं ? इनको दूर करने के उपाय बताइये। (१९३९)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

५. श्रम और पूँजी की गतिशीलता पर प्रभाव डालने वाली बातों की व्याख्या कीजिये। इन दोनों का सम्बन्ध भी स्पष्ट कीजिए। (१९३९, ३४)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

6 State and explain the obstacles to mobility of labour in India (1941)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

7 What do you understand by mobility of labour ? Explain its economic importance What are the factors that affect the mobility of labour in India ? (1948)

8 Write a short note on Mobility of Labour in India 1947)

9 What is the economic utility of the mobility of labour ? What factors retard it and what promote it ? (1945)

नागपुर, इन्टर कामर्स

१० भारत में श्रम की गतिशीलता पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४७, १९४९)

सागर, इन्टर आर्ट्स

10 What do you understand by mobility of labour ? What factors retard the mobility of labour in India ? (1949)

11 Write a short note on mobility of labour. (1949 Supp)

अध्याय ६०

लगान

§ १. लगान का अर्थ

लगान का आर्थिक मतलब

पिछले अध्याय में हमने बताया है कि राष्ट्रीय आय का जो भाग भूमिपतियों को मिलता है, वह लगान (rent) कहलाता है। अत हम कह सकते हैं कि लगान उस आय का नाम है जो भूमिपति को किसी प्राकृतिक साधन, जैसे भूमि, खान, आदि के स्वामित्व के कारण मिलती है। मार्शल के शब्दों में, भूमि तथा प्रकृति की अन्य भेंटो के स्वामित्व के कारण जो आय प्राप्त होती है, वह लगान कहलाती है[१]। साहसी के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि भूमि के उपभोग के लिये जो पुरस्कार दिया जाता है, वही लगान होता है।[२]

---

[१] Marshall, *Economics of Industry*, p. 52

[२] भूमि (तल) का लगान—यदि हम केवल भूमि (surface) को ही ध्यान में रखें, तो हमें पता चलेगा कि लगान तीन बातों पर निर्भर होता है

(१) भूमि की मौलिक उर्वरा शक्ति—यदि अन्य बातें समान हों तो जो भूमि जितनी अधिक उपजाऊ होगी, उसका उतना ही अधिक लगान होगा। किन्तु स्मरण रहे कि उर्वराशक्ति का महत्व केवल खेती की भूमि के ही लिये है, शहरी भूमि के लिये नहीं (देखिये Clay, *Economis for the General Reader*, pp 351-352)

(२) भूमि की स्थिति—अन्य बातें समान होने पर जिस भूमि की स्थिति जितनी अच्छी होगी, उतना ही उसका लगान अधिक होगा।

(३) भूमि में लगाई गई पुरानी पूँजी—कभी-कभी भूमि में जो पूँजी लगाई जाती है, वह बिलकुल भूमि की ही भाँति हो जाती है और उस पर वे सब आर्थिक नियम लागू होने लगते हैं जो भूमि पर लागू होते हैं। लगान इस प्रकार की पूँजी पर भी निर्भर होता है।

अत यदि हम भूमि (तल) के लगान की परिभाषा देना चाहें, तो यह परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है जो पुरस्कार भूमि की उर्वराशक्ति और स्थिति या केवल स्थिति के लिये तथा भूमि में लगाई गई पूँजी के लिये जिसे अब पूँजी न कहा जा सकता हो और जो भूमि-सम्बंधी आर्थिक नियमों की भागी हो, दिया जाता हो उसे लगान कहते हैं। (देखिये Thomas, *Elements of Economics*, p 243)

रिकार्डो की परिभाषा—रिकार्डो ने जो लगान की परिभाषा दी थी, वह अब भी बहुत सी पुस्तकों में उद्धृत की जाती है और विद्यार्थीगण उसे कण्ठस्थ भी करते हैं। रिकार्डो के अनुसार, "लगान भूमि की उत्पत्ति का वह भाग है जो भूमिपति को भूमि की **मौलिक और अनाशमान** शक्तियों के प्रयोग के उपलक्ष में मिलता है।" लगान की यह परिभाषा ठीक नहीं। इसमें निम्नांकित त्रुटियाँ हैं :

(१) रिकार्डो ने लगान शब्द का प्रयोग भूमि के लिये जो पुरस्कार दिया जाता है, उस तक ही सीमित रक्खा है। उन्होंने प्रकृति की अन्य भेंटें अपनी परिभाषा में शामिल नहीं कीं। अत. यह परिभाषा बहुत सकीर्ण है।

(२) "भूमि की मौलिक तथा अनाशमान शक्तियाँ"—यह वाक्यांश अच्छा नहीं। भूमि का लगान तीन बातों पर निर्भर होता है : (१) भूमि की मौलिक उर्वरा शक्ति जो नाशमान होती है। (२) भूमि की स्थिति जो किसी स्थान की आर्थिक उन्नति पर निर्भर होती है। यह अच्छी या खराब हो सकती है और मौलिक नहीं होती। (३) भूमि मे लगाई गई पूँजी जो भूमि का स्वभाव ग्रहण कर लेती है और भूमि के आर्थिक नियमों की भागी होती है। यह मौलिक नहीं होती और न अनाशमान ही होती है। इसलिये यह कहना कि लगान भूमि की मौलिक तथा अनाशमान शक्तियों का पुरस्कार होता है गलत है।

लगान का साधारण अर्थ

लगान का आर्थिक आशय उसके प्रतिदिन के व्यावहारिक अर्थ से भिन्न होता है। साधारण भाषा मे, किसी घर, या खेत, या जङ्गल, या खान आदि के उपयोग के लिये जो मासिक पुरस्कार दिया जाता है, उसे लगान या किराया कहते हैं। इस अर्थ में, लगान या किराये में भूमि का पुरस्कार तो शामिल होता ही है किन्तु उसके इमारतों में लगी हुई पूँजी, स्थिर पूँजी की घिसाई तथा लाभ भी शामिल होते हैं। उदाहरण के लिये, किरायेदार मकान मालिक को जो किराया देता है उसमें आर्थिक दृष्टि से हम जिसे लगान या किराया कहते हैं, वह तो शामिल होता ही है, पर उसके अतिरिक्त उसमें मकान बनवाने में विनियोजित पूँजी पर आँकी गई व्याज, उसकी साधारण घिसाई और जोखिम का पुरस्कार भी शामिल होता है। इसी प्रकार किसान अपने खेत का जो लगान देता है, उसमें शुद्ध लगान के अतिरिक्त खेत पर खड़ी हुई इमारत, नाले, आदि में लगाई गई पूँजी की व्याज भी सम्मिलित होती है तथा उसमें घिसाई और जोखिम का पुरस्कार भी शामिल होता है। पाठक को स्मरण रखना चाहिये कि हम "लगान" शब्द का प्रयोग

प्रतिदिन के अर्थ में नहीं करते।[४] अर्थशास्त्र की पुस्तक में पाठकों को जब भी लगान शब्द दीख पड़े, तो उन्हें समझ लेना चाहिये कि उसका प्रयोग वैज्ञानिक या आर्थिक दृष्टिकोण से हुआ है।

लगान या किराया और किरायेदार

यह सोचना गलत होगा कि लगान हमेशा किसी भूमिपति और किसी किरायेदार (Tenant) की सकेतक है। दूसरे शब्दों में, यह नहीं सोचना चाहिये कि प्रत्येक दशा मे भूमिपति एक व्यक्ति का होना और किरायेदार दूसरे व्यक्ति का होना आवश्यक है। भूमिपति भूमि का उपयोग दो प्रकार से कर सकता है: या तो वह किसी किरायेदार को उसे दे दे या उसका स्वय ही उपयोग करे। पहली दशा में उसे एक सामयिक (periodical) पुरस्कार मिलेगा जो लगान या किराया कहलाता है। दूसरी दशा में, उसे कोई किराया नही मिलेगा प्रत्युत वह अपना किरायेदार स्वय ही होगा और यह कहा जा सकता है कि वह अपने आप को ही लगान या किराया अदा करेगा।[५]

§ २. आर्थिक लगान और प्रसंविदा-संबंधी लगान

आर्थिक दृष्टि से, हम लगान के दो भाग कर सकते हैं—आर्थिक लगान और प्रसंविदा-सम्बन्धी लगान। इन दोनों के बीच का अन्तर बहुत महत्व का है।

आर्थिक लगान (Economic Rent)

भूमि की किस्म अलग अलग होती है। भूमि के कुछ टुकड़े बहुत उपजाऊ होते हैं और उनकी स्थिति भी बहुत अनुकूल होती है, किन्तु अन्य टुकड़े कम उपजाऊ होते हैं और उनकी स्थिति भी इतनी अच्छी नहीं होती। किसी खास समय कोई न कोई जोता जानेवाला भूमि का टुकड़ा ऐसा अवश्य होगा जो जोते जानेवाले सब टुकड़ों में सबसे कम उपजाऊ होगा या जिसकी स्थिति सबसे खराब होगी या जिसमें ये दोनों अवगुण होगे। ऐसी भूमि को लगानहीन भूमि (No-Rent Land) या सीमान्त भूमि (Marginal Land) कहते हैं। जोते जानेवाले प्रत्येक अन्य खेत की उपज लगानहीन खेत की उपज से अधिक होती है। अधि-सीमान्त (super-marginal) खेत पर होनेवाली अतिरिक्त उपज या विशेष लाभ (differential gain) ही आर्थिक लगान कहलाता है। मान लीजिये, किसी समय 'क', 'ख' और 'ग' नामक तीन खेत बोये गये हैं। इनमें से 'ग' लगानहीन खेत है और इसकी उपज १००० मन गेहूँ है। यदि समान मात्रा के उत्पत्ति के

---

[४] देखिये F M Taylor, *Readings in Economics*, p 18?

[५] देखिये Hunt, *Man and Wealth*, pp 30-31

साधन 'ख' खेत पर प्रयुक्त किये जायँ तो १५०० मन गेहूं उत्पन्न होता है और 'क' खेत पर २००० मन गेहूँ। तो 'ख' का आर्थिक लगान ५०० मन गेहूँ हुआ और 'क' का १००० मन गेहूँ। अतः हम कह सकते हैं कि आर्थिक लगान भूमिपति को मिलनेवाली वह अतिरिक्त उपज (या विशेष लाभ) है जो लगानहीन खेत की अपेक्षा उसके खेत की उर्वराशक्ति, या स्थिति, या दोनों के श्रेष्ठ होने के कारण उसे प्राप्त होती है।

प्रसविदा-संबंधी लागन (Contract Rent)

जो लगान किरायेदार भूमिपति को भूमि के प्रयोग के उपलक्ष्य मे वास्तव मे अदा करता है, उसे प्रसविदा-सबंधी लगान कहते हैं। ऐसा लगान भूमिपति और किरायेदार में प्रसविदे के द्वारा निर्धारित होता है, इसीलिये इसे प्रसविदा-सबंधी लगान कहते हैं। प्रसविदा-सबंधी लगान आर्थिक लगान के बराबर हो सकता है, या उससे अधिक, या उससे कम। स्वतत्र स्पर्द्धा के अतर्गत, प्रसविदा-सबंधी लगान आर्थिक लगान के बराबर होगा। यदि किरायेदारों की अपेक्षा भूमिपतियों मे स्पर्द्धा अधिक हो, या कुछ ऐसी रीति-रिवाज या कानून प्रचलित हो जो लगान को स्थिर रक्खे, तो प्रसविदा-सबंधी लगान आर्थिक लगान से कम हो सकता है। इसके विपरीत, यदि भूमिपतियों की अपेक्षा किरायेदारों मे स्पर्द्धा अधिक हो या कोई रिवाज या कानून किरायेदारों के प्रतिकूल हो तो प्रसविदा सबंधी लगान आर्थिक लगान से अधिक होगा।[६] जब प्रसविदा-सबंधी लगान आर्थिक लगान से अधिक होता है, तो इसे अत्यधिक लगान (Rack-Rent) कहते हैं।

§ ३. प्रसंविदा-संबंधी लगान का निर्धारण

प्रसविदा-सबंधी लगान उस मूल्य को कहते हैं जो भूमि के उपयोग के लिये दिया जाता है, और प्रत्येक वस्तु के मूल्य की भाँति, इसका निर्धारण माँग और पूर्ति की शक्तियाँ करती हैं।

भूमि के उपयोग की माँग—किसान किसी खेत के लिये लगान देने को इसलिये तैयार हो जाता है कि उसके विचार मे खेत जोतकर उसे इतनी उपज मिल जायगी कि जिससे वह खेती का व्यय अदा कर सके, अपने लिये कुछ आय ले सके, और अवशेष भाग लगान के रूप मे अदा कर सके। यह अवशेष भाग एक ऐसी अधिकतम रकम होती है कि जिससे अधिक वह भूमिपति को लगान के रूप मे अदा नहीं करेगा। यदि खेत अच्छा हुआ तो यह बचत (surplus) अधिक होती है और यदि खेत खराब हुआ तो यह बचत कम होती है, अतः किरा-

[६] देखिये A W Flux, *Economic Principles*, pp 102-3.

येदार जो अधिकतम रकम अदा कर सकता है, वह पहली दशा मे अधिक होगी और दूसरी मे कम। दूसरे शब्दों में, जो अधिकतम रकम किरायेदार देने को तैयार होता है, वह भूमि के स्वभाव, भूमि की स्थिति अर्थात् बाजार से निकटता, माल बेचने की सुविधायें, और उपज के मूल्य द्वारा निर्धारित होती है।[७]

भूमि के उपयोग की पूर्ति—भूमिपति या तो भूमि का उपयोग स्वयं करता है या उसे किराये पर दे देता है। पिछली दशा में भूमि के उपयोग की पूर्ति होती है। किराये पर देते समय भूमिपति इस बात का हिसाब लगा लेता है कि यदि वह स्वय खेत बोये, तो उसे कितनी बचत (surplus) होगी। वह अपनी भूमि का कम से कम लगान इस बचत के बराबर अवश्य लेगा। यदि उसे यह न्यूनतम रकम लगान के रूप मे न मिले, तो शायद वह खेत स्वय ही जोते या और किसी काम में लाये।

प्रसविदा-सबधी किराये का निर्धारण—प्रसविदा-सबधी किराये का निर्धारण भूमि के उपयोग की माँग तथा पूर्ति द्वारा होता है। माँग की तीव्रता पूर्ति की तीव्रता की अपेक्षा जितनी ही अधिक होगी और किरायेदारों मे स्पर्द्धा जितनी ही ज्यादा होगी, प्रसविदा-सबधी लगान के अधिकतम होने की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक होगी। इसके विपरीत पूर्ति की तीव्रता माँग की अपेक्षा जितनी ही अधिक होगी और भूमिपतियों में जितनी ही स्पर्द्धा ज्यादा होगी, प्रसविदा सबधी लगान की प्रवृत्ति न्यूनतम रकम की ओर उतनी ही अधिक होगी। सामान्यतया, नए देशो में भूमि की मात्रा बहुत अधिक होती है और भूमिपतियो मे स्पर्द्धा भी बहुत होती है, इसलिये वहाँ प्रसविदा-सबधी लगान कम होता है। किन्तु पुराने देशों मे, खासकर जब कि उनकी आबादी बहुत घनी होती है, किरायेदारों मे बहुत स्पर्द्धा होती है और तब प्रसविदा-सबधी लगान की प्रवृत्ति आर्थिक लगान के बराबर होने की होती है। यदि किरायेदारों में स्पर्द्धा बहुत अधिक हुई, जैसा कि कृषि के अतिरिक्त और कोई पेशा उनके लिये खुला न होने पर हो सकता है, तो प्रसविदा-सबधी लगान आर्थिक लगान से अधिक भी हो सकता है। इसे अत्यधिक लगान लेना (rack-renting) कहते हैं और हमारे देश में यह एक साधारण बात है।

---

[७] भूमि की उपयोगिता और सापेक्षिक उपयोगिता को निर्धारित करनेवाले कारणों की योग्य विवेचना के लिये देखिये Richard M Hurd, *Principles of City Land Values*

§ ४. आर्थिक लगान का निर्धारण : रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त

अब हम आर्थिक लगान के निर्धारण पर विचार करेंगे। आर्थिक लगान का सिद्धान्त वितरण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जब भी अर्थशास्त्र में "लगान" शब्द बिना किसी विशेषण के प्रयुक्त होता है, तो उसका आशय आर्थिक लगान से ही होता है।

आर्थिक लगान का सिद्धान्त सबसे पहले डेविड रिकार्डो (David Ricardo, 1773-1823) ने प्रतिपादित किया, इसलिये इसे रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में रिकार्डो ने खेती की भूमि को ही सामने रक्खा, और उनके बाद के अर्थशास्त्रियों ने भी ऐसा ही किया। अन्य प्राकृतिक साधन उनके इस सिद्धान्त के परे रक्खे गये हैं, किन्तु यह सिद्धान्त इन सब साधनों पर समान रूप से लागू होता है।

भूमि का स्वभाव

रिकार्डो का सिद्धान्त समझने के पहले हमें भूमि के कुछ मूलभूत लक्षणों को जान लेना आवश्यक है।

(१) भूमि की उर्वरा-शक्ति अलग-अलग होती है—भूमि के कुछ टुकडे दूसरे टुकड़ों की अपेक्षा अधिक उपजाऊ होते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि हम सब टुकड़ो पर श्रम और पूँजी आदि की समान मात्रा प्रयुक्त करें, तो किसी खेत की उपज अधिक होगी और किसी की कम। उर्वरा-शक्ति का यह अन्तर तथा स्थिति-सबधी अतर, अधि-सीमान्त (super-marginal) भूमि पर उपज की बचत या विशेप लाभ के कारण होते हैं। यह बचत (surplus) ही आर्थिक लगान कहलाती है।

(२) खेत जोतने में सीमान्त उपज के क्रमागत घटने का नियम लागू होता है। खेत में श्रम और पूँजी आदि की एक निश्चित मात्रा के प्रयोग के फल-स्वरूप जो उपज होती है, वह पिछली मात्रा की उपज की अपेक्षा कम होती है। अत सीमान्त मात्रा (dose) को छोडकर सब मात्राओ (doses) के द्वारा अतिरिक्त उपज या विशेष लाभ (differential gain) प्राप्त होता है। यह बचत (surplus) ही आर्थिक लगान कहलाती है।

(३) लगान भूमि की उर्वरा शक्ति तथा स्थिति पर निर्भर होता है—यदि अन्य बातें समान हो, तो भूमि जितनी ही उर्वरा होगी, उसका लगान उतना ही अधिक होगा। भूमि की स्थिति का प्रभाव भी लगान पर इसी प्रकार का होता है। स्थिति का आशय बाजार की निकटता, यातायात की सुविधा तथा

बाजार के मूल्य, आदि से होता है। लगान भूमि की उर्वरा-शक्ति तथा स्थिति के लिये अदा किया जाता है।

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त

रिकार्डो ने सबसे पहले एक नई विस्तीर्ण भूमि कि कल्पना की जिसमें कि थोड़े से ही व्यक्ति बसे हों। ऐसी दशा में भूमि बहुत होगी और बेकार पड़ी रहेगी, इसीलिये इसका उपयोग करने के लिये किसी को लगान देने की आवश्यकता नहीं होती। ऐसी अवस्था में लगान का उदय नहीं होगा। निवासी केवल सर्वश्रेष्ठ या पहली श्रेणी की भूमि को ही जोतेंगे, और स्पर्द्धा के कारण खेती के पदार्थों का मूल्य उत्पादन व्यय के बराबर ही होगा।

समय के बीतने के साथ-साथ जन्म तथा आवास (immigration) के द्वारा इस क्षेत्र की आबादी बढ़ जायगी। इसके फल-स्वरूप खेती के पदार्थों की माँग भी बढ़ेगी, और दूसरी श्रेणी की भूमि का जोतना शुरू हो जायगा। ऐसी दशा में श्रम और पूँजी आदि की समान मात्रा (dose) के लगाने से पहली श्रेणी की भूमि से अधिक उपज प्राप्त होगी और दूसरी श्रेणी की भूमि से कम। पहली श्रेणी की भूमि की उपज का दूसरी श्रेणी की भूमि की उपज से आधिक्य ही आर्थिक लगान होगा।

यदि आबादी बढ़ती ही चली जाय, तो और भी खराब भूमि—तीसरी श्रेणी की भूमि—खेती के लिये काम मे प्रयुक्त होने लगेगी, और इसके फलस्वरूप दूसरी श्रेणी की भूमि पर अब आर्थिक लगान प्रकट होने लगेगा और पहली श्रेणी की भूमि का लगान बढ़ जायगा। अधि-सीमांत (super-marginal) भूमि का लगान बढ़ना और अब तक जो सीमान्त भूमि थी उस पर लगान का प्रकट होना—यह कार्य-क्रम जैसे-जैसे आबादी बढ़ती जायगी और अनु-सीमान्त (sub-marginal) भूमि की जुताई होने लगेगी, जारी रहेगा।[८]

उदाहरण

मान लीजिये कि कल्पित उपनिवेश में चार श्रेणी की भूमि है। सबसे पहले पहली श्रेणी की भूमि की जुताई होती है, और पूँजी तथा श्रम की एक निश्चित मात्रा के उपयोग करने से ५० मन गेहू प्रति एकड़ उत्पन्न किया जाता है। कुछ समय पश्चात् दूसरी श्रेणी की भूमि भी खेती के लिये काम में आने लगती है। उतनी ही श्रम और पूँजी लगाने पर इस श्रेणी की भूमि से, मान लीजिये, हमें ४५

---

[८] देखिये Carver, *The Distribution of Wealth* pp 205-206,

मन गेहूं प्रति एकड़ मिला। इस प्रकार पहली श्रेणी की भूमि की अतिरिक्त उपज (५०—४५=) ५ मन गेहूं हो जायगी। यही इसका आर्थिक लगान हुआ।

इसके बाद आबादी और बढ़ेगी और तीसरी श्रेणी की भूमि भी खेती के काम आने लगेगी। इस भूमि पर निश्चित मात्रा की श्रम और पूंजी का उपयोग करने से हमें, मान लीजिये, ३५ मन प्रति एकड़ गेहूं मिलता है। अतः पहली श्रेणी की भूमि की अतिरिक्त उपज या आर्थिक लगान अब (५०—३५=) १५ मन हो जायगा, और दूसरी श्रेणी की भूमि भी (४५—३५=) १० मन के बराबर आर्थिक लगान देने लगेगी।

कुछ समय और बीतने पर चौथी श्रेणी की भूमि भी जोती जाने लगेगी। मान लीजिये, इसकी उपज केवल २० मन प्रति एकड़ है। अत पहली श्रेणी की भूमि का आर्थिक लगान बढ़कर (५०—२०=) ३० मन हो जायगा, दूसरी श्रेणी की भूमि का (४५—२०=) २५ मन, और तीसरी श्रेणी की भूमि अब (३५—२०=) १५ मन के बराबर आर्थिक लगान देने लगेगी।
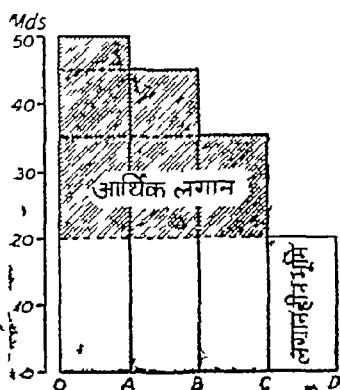
चित्र ३१—लगान का प्रकट होना।

ऊपर के चित्र में OA पहली श्रेणी की भूमि है, AB दूसरी श्रेणी की, BC तीसरी श्रेणी की और CD चौथी श्रेणी की। श्रम और पूंजी की समान मात्रा के उपयोग करने से जो उपज प्राप्त होती है वह उपरोक्त आधारों के ऊपर बनाये गये आयतों द्वारा दिखाई गई है। अत OA के ऊपर जो आयत बनाया गया है, वह इस भूमि की उपज को चित्रित करता है। CD लगानहीन (no-rent) भूमि है और यह कोई भी लगान नहीं देती। अन्य सब श्रेणियों की भूमि का आर्थिक लगान होता है जो कि उनके क्रमश. आयतों के लाइनदार भाग से दिखाया गया है।

सीमान्त या लगान-रहित भूमि

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि लगानहीन या सीमान्त भूमि का आर्थिक लगान के निर्धारण में बड़ा हाथ होता है। इसे लगान-हीन भूमि इस कारण कहते हैं कि (लगान को छोड़कर) इसका उत्पादन व्यय इसकी उपज के मूल्य के बराबर होता है, इसलिये यह आर्थिक लगान नहीं दे सकती। खेती की सीमा पर होने के

कारण इसे सीमान्त भूमि भी कहा जाता है। सीमान्त भूमि के सम्बन्ध में निम्न-लिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिये :

(१) इसका लगान पर निर्णयात्मक प्रभाव होता है। इसकी उपज के आधार पर ही अधि-सीमान्त (super-marginal) भूमि का लगान आँका जाता है।

(२) खेती की उपज का बाजारू मूल्य सीमान्त भूमि के उत्पादन-व्यय के बराबर होता है। मूल्य लागत से कम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर खेत जोता ही नहीं जायगा—सीमान्त भूमि बेकार पड़ी रहेगी। यह लागत से अधिक भी नहीं हो सकता, क्योंकि तब अनु-सीमान्त (sub-marginal) भूमि भी जोती जाने लगेगी और जिस भूमि को हम इस सन्दर्भ में सीमान्त कह रहे हैं, वह अधि-सीमान्त हो जायगी।

(३) सीमान्त भूमि स्थिर नहीं होती। खेती की वस्तुओं के मूल्य के परिवर्तन के साथ ही साथ सीमान्त भूमि भी बदलती रहती है। बाजारू मूल्य के बढ़ जाने पर जो भूमि अब तक सीमान्त थी वह अधि-सीमान्त हो जाती है और अनु सीमान्त भूमि सीमान्त हो जाती है। इसके विपरीत, यदि मूल्य कम हो गया, तो सीमान्त भूमि की खेती बन्द हो जायगी और जो भूमि अब तक अधि-सीमान्त थी, वह अब सीमान्त हो जायगी।

लगान का सिद्धान्त और गहरी खेती

हमने ऊपर लगान का सिद्धान्त विस्तृत खेती (extensive cultivation) के सम्बन्ध में समझाया है। यह सिद्धान्त उस भूमि पर भी लागू होता है जिसकी गहरी खेती (intensive cultivation) की जाती है। जब किसी भूमि की गहरी खती की जाती है तो श्रम और पूँजी की प्रत्येक अगली मात्रा (dose) के द्वारा जो उपज होती है, वह क्रमशः कम होती जाती है, और एक ऐसी अवस्था आती है जब कि अन्तिम मात्रा की लागत उस उपज के मूल्य के बराबर होती है जो इस मात्रा के द्वारा उत्पन्न होती है। ऐसी मात्रा लगानहीन मात्रा या सीमान्त मात्रा कहलाती है। प्रत्येक मात्रा द्वारा जो उपज प्राप्त की जाती है, वह सीमान्त मात्रा की उपज से अधिक होती है। इस प्रकार जो अतिरिक्त उपज या विशेष लाभ होता है, वही आर्थिक लगान है।

हमने जो चित्र ऊपर दिया है, उसको हम गहरी खेती के सम्बन्ध में लगान का सिद्धान्त स्पष्ट करने में प्रयुक्त कर सकते हैं। मान लीजिये, पहली मात्रा के उपयोग से हमें ५० मन गेहूँ मिलता है, यदि दूसरी मात्रा का प्रयोग और किया जाय, तो

उसकी उपज ४५ मन होती है, तीसरी मात्रा की उपज ३५ मन, तथा चौथी और अन्तिम मात्रा की उपज २० मन। चौथी मात्रा लगानहीन मात्रा है, और पहली तीन मात्राओं का आर्थिक लगान क्रमशः ३० मन, २५ मन और १५ मन है। चित्र ३१ में यही बात दिखाई गई है। OA, AB, BC और CD चार मात्राएँ हैं, और इनमें से प्रत्येक के आधार पर बना हुआ आयत उसकी उपज को चित्रित करता है। OA, AB और BC के आयतों का लकीरदार भाग आर्थिक लगान चित्रित करता है। इस बात को ध्यान से देखना चाहिये कि CD लगानहीन मात्रा है और इसका आर्थिक लगान शून्य है।

ऊपर की विवेचना से यह बात निकलती है कि यदि सारी भूमि एक ही प्रकार की हो, तो भी लगान अवश्य प्रकट होगा। ऐसी दशा में विस्तृत खेती होने पर लगान का प्रश्न नहीं उठेगा, किन्तु यदि आबादी का दबाव गहरी खेती आवश्यक कर दे, तो जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है लगान अवश्य प्रगट होगा।

सिद्धान्त की आलोचना

रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त की बहुत कड़ी आलोचना हुई है। यह आलोचना इस प्रकार है :

(१) रिकार्डो के मत में लगान "भूमि की मौलिक तथा अनाशमान शक्तियों के उपभोग" के लिये दिया जाता है। किन्तु भूमि की वे शक्तियाँ जिनके लिये लगान अदा किया जाता है सदैव मौलिक नहीं होती, कभी-कभी वे प्राप्त की जाती हैं। इसके अतिरिक्त, उर्वरा-शक्ति, जो भूमि की एक बहुत महत्त्वपूर्ण शक्ति है, नाशमान् है।[१]

(२) यह भी कहा जाता है कि इतिहास की दृष्टि से रिकार्डो का सिद्धान्त मिथ्या साबित होता है। उन्होंने बताया था कि सबसे पहले सर्वश्रेष्ठ भूमि की जुताई होती है और उसके पश्चात् श्रेष्ठता के क्रम में भूमि जोती जाती है। इस धारणा के विरुद्ध यह कहा जाता है कि वास्तव में जुताई का क्रम इसके विपरीत होता है : पहले खराब भूमि जोती जाती है और फिर अच्छी भूमि। किन्तु आलोचकों का यह मत सन्देहहीन नहीं। और यदि यह ठीक भी हो तो भी इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जुताई का ऐतिहासिक क्रम रिकार्डो के सिद्धान्त

---

[१] कुछ अर्थशास्त्री रिकार्डो की सफाई में यह कहते हैं कि उर्वरा-शक्ति को छोड़कर भूमि के अन्य सब गुण जैसे जलवायु, विस्तार आदि निश्चय ही अनाशमान हैं। यह कथन है तो ठीक, किन्तु यह उपरोक्त आलोचना का पर्याप्त समाधान नहीं करता।

का आवश्यक अंग नहीं। यह तो केवल एक उदाहरण भर है। रिकार्डो ने ऐतिहासिक उदाहरण लेकर जो बात स्पष्ट की वह यह थी कि भूमि के भिन्न-भिन्न टुकड़ों के भिन्न-भिन्न गुण होते हैं, और यह निर्विवाद है,

(३) रिकार्डो के सिद्धान्त की सबसे बड़ी आलोचना यह है कि यह सिद्धान्त पूर्णतया काल्पनिक एव अवास्तविक है। यह सिद्धान्त इस कल्पना पर आधारित है कि पूर्ण स्पर्द्धा विद्यमान है, किन्तु वास्तविक जीवन में, स्वतन्त्र स्पर्द्धा होती ही नहीं। इसलिये इस सिद्धान्त का अवास्तविक होना स्वाभाविक है।

(४) यह भी कहा जाता है कि लगानहीन भूमि हमेशा विद्यमान नहीं होती। यदि किसी देश की आबादी बहुत घनी हो, तो सबसे खराब भूमि भी कुछ न कुछ लगान अवश्य देने लगती है। कुछ सीमा तक तो यह ठीक है। किन्तु यदि बाजार की सीमा राष्ट्र की सीमा को पार कर जाय, तो लगानहीन भूमि उसी बाजार में माल बेचने वाले किसी अन्य देश में हो सकता है। यदि हम विवाद के लिये यह बात भी स्वीकार कर लें कि ससार में लगानहीन भूमि कहीं भी विद्यमान नहीं है, तो भी लगानहीन मात्रा (dose) तो कहीं न कहीं होगी ही, और हम कह सकते हैं कि यह लगान का निर्णय करती है।

अतः हमारा निष्कर्ष यह है कि यदि हम स्वतन्त्र स्पर्द्धा की कल्पना करें, तो रिकार्डो का सिद्धान्त यथार्थ मालूम होता है। किन्तु हम जैसे ही इस कल्पना को त्याग देते हैं, वैसे ही इस सिद्धान्त का लागू होना बन्द हो जाता है और प्रसविदा-सबधी लगान का सिद्धान्त घटने लगता है।

६ ५. लगान और खेती की वस्तुओं का मूल्य

अर्थशास्त्रियों ने लगान और मूल्य के सबध के वर्णन करने में बहुत रुचि दिखाई है। यह बहुधा पूछा जाता है कि भूमि पर जो लगान दिया जाता है उसका खेती की वस्तुओ के मूल्य पर कोई प्रभाव पड़ता है या नहीं, अत. यदि लगान बढ जाय या घट जाय तो इसका मूल्य पर कोई प्रभाव होगा या नहीं? रिकार्डो ने इस प्रश्न का उत्तर स्वय ही दे दिया था। उन्होंने बताया था कि लगान मूल्य को निर्धारित नहीं करता, प्रत्युत यह स्वय मूल्य द्वारा निर्धारित होता है।

लगान मूल्य निर्धारित नहीं करता

यदि हम दो मूलभूत तथ्यों को सामने रक्खें, तो हमे यह स्पष्ट हो जायगा कि लगान मूल्य को निर्धारित नहीं करता : (१) सीमान्त भूमि पर पैदा होनेवाली

वस्तुओं का मूल्य उत्पादन व्यय के बराबर होता है। यदि मूल्य उत्पादन व्यय से अधिक हो, तो अनु-सीमान्त भूमि भी जोती जाने लगेगी और वर्तमान सीमान्त भूमि अधि-सीमान्त हो जायगी। इसके विपरीत, यदि मूल्य उत्पादन व्यय से कम हो तो वर्तमान सीमान्त भूमि पर खेती करने में हानि होगी और खेती करना बन्द कर दिया जायगा। अत वह अनु-सीमान्त भूमि हो जायगी। इसलिये यह निश्चय है कि **खेती की वस्तुओं का मूल्य सीमान्त भूमि पर होनेवाले उत्पादन व्यय के बराबर होगा।** यह इससे अधिक या कम नहीं हो सकता। (२) सीमान्त भूमि (या सीमान्त मात्रा) लगान का साधन नहीं होती क्योंकि इसके द्वारा जो उपज होती है उसका मूल्य (लगान को छोड़कर) उत्पादन व्यय के बराबर होता है। इससे स्पष्ट है कि लगान सीमान्त भूमि के उत्पादन व्यय का अग नहीं होता।

इन दोनों बातों को मिलाकर हम कह सकते हैं कि खेती की वस्तुओं का मूल्य सीमान्त भूमि के उत्पादन व्यय के बराबर होता है जिसमें लगान शामिल नहीं किया जाता। स्पष्टतया खेती की वस्तुओं का मूल्य लगान द्वारा प्रभावित नहीं होता।

एक अवैज्ञानिक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि लगान मूल्य में शामिल होता है। हम कह सकते हैं कि क्योंकि अधि-सीमान्त खेतों के किसान जो लगान अदा करते हैं, वह उपज के मूल्य में से ही अदा किया जाता है, इसलिये लगान मूल्य का एक अग हुआ। किन्तु लगान मूल्य में शामिल इस अर्थ में नहीं होता कि वह मूल्य को निर्धारित करता है या खेती की वस्तु के पूर्ति-मूल्य को जो लागत निर्धारित करती है, उसका वह अग होता है।[१०]

मूल्य लगान निर्धारित करता है

सच बात तो यह है कि लगान स्वय खेती की वस्तुओं के मूल्य द्वारा निर्धारित होता है। यदि उपज का मूल्य बढ जाय, तो अनु-सीमान्त भूमि का जोतना सम्भव हो जाता है और खेती की सीमा (margin) नीची हो जाने के कारण, लगान बढ़ जाता है। उपज का मूल्य घट जाने पर, प्रभाव विपरीत होता है। इसके कारण सीमान्त भूमि की जुताई हानिकारक हो जाती है और उसकी जुताई बन्द कर दी जाती है तथा अधि-सीमान्त भूमि सीमान्त हो जाती है—खेती की सीमा ऊँची हो जाने के कारण, लगान गिर जाता है। इस प्रकार खेती की वस्तुओं के मूल्य में जैसा परिवर्तन होता है, लगान में भी वैसा ही परिवर्तन हो जाता है।

---

१० Thomas, *Elements of Economics*, p 25

लगान माफ का मूल्य पर प्रभाव

यदि यह बात ठीक है कि लगान का कृषि के पदार्थों के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं होता, तो यदि लगान कम भी कर दिया जाय तो इससे मूल्य में कमी नहीं होगी। यदि भूमिपति लगान लेना बिल्कुल बन्द भी कर दें, तब भी खेती की वस्तुओं का मूल्य स्थिर रहेगा। जब तक कि सीमान्त भूमि और उस भूमि का उत्पादन व्यय अपरिवर्तित रहेगा, तब तक मूल्य में भी परिवर्तन नहीं होगा।

इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि यदि लगान कई गुना बढा दिया जाय, तो भी मूल्य वही रहेगा। जैसा कि रिकार्डो ने कहा था : अनाज तेज इसलिये नहीं होता कि लगान अदा किया जाता है प्रत्युत लगान इसलिये देना पड़ता है कि अनाज तेज होता है। वस्तुओं के मूल्य की लागत का लगान एक अग नहीं होता।

अपवाद : लगान मूल्य पर कब प्रभाव डालता है ?

कुछ दशाओं में लगान खेती के पदार्थों के मूल्य पर प्रभाव अवश्य डालता है। साधारणतया लगान सीमान्त उत्पादन व्यय का अंग नहीं होता और इसलिये वह इन पदार्थों के मूल्य पर अपना प्रभाव भी नहीं डालता। किन्तु निम्नलिखित दशा में लगान सीमान्त उत्पादन व्यय का अग होता है और इसलिये वह मूल्य पर प्रभाव डालता है :

(१) यदि भूमि पर सरकार का या भूमिपतियों के एक सघ का एकाधिकार (monopoly) हो, तो वह सीमान्त भूमि पर भी किराया वसूल कर सकता है। ऐसी दशा में लगान सीमान्त उत्पादन व्यय का अंग हो जायगा और मूल्य को प्रभावित करेगा। कहा जाता है कि भारत में सरकार का समस्त भूमि पर एकाधिकार है और वह लगानहीन भूमि पर भी लगान वसूल करती है, अतः हमारे देश में लगान कृषि के पदार्थों के मूल्य को प्रभावित करता है।

(२) जब किसानों के पास खेती को छोड़कर और कोई पेशा नहीं होता, तब उनमें इतनी तीव्र स्पर्द्धा हो जाती है कि वे सीमान्त भूमि पर भी लगान देने लगते हैं। अत: लगान मूल्य पर अपना प्रभाव डालता है। यह बात हमारे देश पर लागू होती है।

(३) जब कोई भूमि किसी खास फसल के सम्बन्ध में अधि-सीमान्त (super-marginal) होती है किन्तु वह दूसरी फसल पैदा करने के लिये प्रयुक्त की जाती है, जिसके सम्बन्ध में सीमान्त हो जाती है, तब पुराना लगान ही अदा किया जाता है। उदाहरण के लिये, हो सकता है कि यदि किसी खेत पर

गेहूँ उत्पन्न किया जाय, तब वह अधि-सीमान्त हो और उस पर लगान प्रकट हो, किन्तु यदि उसी को बाजरा पैदा करने के लिये प्रयुक्त किया जाय तो वह कदाचित् सीमान्त हो जाय और कुछ भी लगान न दे सके। फिर भी उस पर पुराना लगान लगाया जा सकता है। ऐसी दशा में लगान सीमान्त उत्पादन व्यय का अंग हो जाता है और मूल्य को प्रभावित करता है।

§ ६. लगान पर प्रभाव डालनेवाली बातें

हम ऊपर देख चुके हैं कि मूल्य लगान को निश्चित करता है। अतः वे सब बातें जो खेती के पदार्थों के मूल्य पर प्रभाव डालती हैं, लगान को भी प्रभावित करती हैं। इनमें से यातायात के अच्छे साधन, खेती-सम्बन्धी सुधार, जन-संख्या की वृद्धि तथा सभ्यता का सामान्य विकास प्रमुख हैं।

अच्छे यातायात का प्रभाव

यदि यातायात के साधनों में उन्नति हो जाय, तो उसका कृषि के पदार्थों के मूल्य पर निश्चय ही प्रभाव पड़ेगा, और जिस क्षेत्र के साथ कोई खेत पहले से ही सम्बन्धित है या अब सम्बन्धित हो जाता है, उसके स्वभाव के अनुसार उस खेत का लगान भी बढ़ जायगा।

(क) यदि उस नये क्षेत्र में, जिसमें यातायात के साधनों की उन्नति के कारण अब पहुँच हो सकती है या अधिक सुविधा से पहुँच हो सकती है, कृषि के पदार्थों का मूल्य ऊँचा है, तो लगान की प्रवृत्ति बढ़ने की होगी। उदाहरण के लिये, उन्नीसवीं शताब्दी में जब यातायात के साधनों में क्रान्ति हुई, तब अमेरिका के किसान अपना गेहूँ इङ्गलैण्ड को भेजने लगे जहाँ कि वह बहुत ऊँचे मूल्य पर बिकने लगा। अत. अमेरिका में भूमि की माँग बढ़ गई, अनु-सीमान्त भूमि सीमान्त होने लगी, और लगान बराबर बढ़ने लगा।

(ख) यदि यातायात के साधनो की उन्नति होने के कारण जिस क्षेत्र में अब पहुँच हो सकती है उसमें कृषि के पदार्थों की दर सस्ती हो, तो लगान की प्रवृत्ति गिरने की होगी। उदाहरण के लिये, जब उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड में अमेरिका से सस्ता गेहूँ आने लगा, तो इंगलैंड में बहुत-सी भूमि का जोता जाना बन्द हो गया, जो भूमि पहले अधि-सीमान्त थी, वह सीमान्त हुई और फिर अनु-सीमान्त, और लगान बराबर गिरता गया।

कृषि की उन्नति का प्रभाव

कृषि की रीतियों में उन्नति होने से भूमि से फसलें अधिक मात्रा में उत्पन्न होने लगती हैं। यदि इन वस्तुओं की माँग अपरिवर्तित रहे तो उनका मूल्य स्पष्टतया

गिर जायगा। सीमान्त भूमि का जोता जाना बन्द हो जायगा, वह अनुसीमान्त हो जायगी, और सामान्यतया लगान कम हो जायँगे। उत्पत्ति के क्रमागत घटने के नियम के परिचालन के फल-स्वरूप लगान बढ जाता है, और यदि अन्य बातें स्थिर रहें तो उसके परिचालन को जो कोई बात रोकती है—जैसे कि कृषि की रीतियों में होनेवाली उन्नति—वह लगान घटाती है। यदि कृषि के पदार्थों के मूल्य कम हो जाने के कारण उनकी माँग बढ जाय, तो कालान्तर में लगान में जो कुछ कमी हुई हो उसका निवारण भी हो सकता है।

वास्तव में कृषि-सम्बन्धी उन्नति का लगान पर कैसा प्रभाव होगा, यह निश्चय-पूर्वक नहीं बताया जा सकता। कुछ अर्थशास्त्री कहते हैं कि इस उन्नति से खराब भूमि को लाभ अधिक होता है और अच्छी भूमि को कम, अच्छी भूमि पर फसल स्वय ही अच्छी होती है और उसकी उत्पत्ति बढने की प्रेरणा कम होती है, किन्तु खराब भूमि की फसल कम होने के कारण उसके बढने की प्रेरणा स्वाभाविक रूप से अधिक होती है। इस कारण कृषि की उन्नति खराब भूमि की उत्पत्ति बढाती है और विभिन्न श्रेणियों की भूमि की उत्पत्ति में समानता लाने की चेष्टा करती है। यदि यह मत ठीक है, तो लगान कम होगा। वास्तव में उन्नत रीतियों का प्रयोग कभी किया जाता है और कभी नहीं किया जाता, और इसका लगान पर विभिन्न प्रकार का असर होता है, इसलिये हम केवल मोटी-मोटी प्रवृत्तियों की ही ओर सकेत कर सकते हैं।[११]

जन-संख्या की वृद्धि का प्रभाव

जन-सख्या मे वृद्धि हो जाने के कारण लगान बढ जाता है। आबादी के बढने का मतलब है कृषि-सबधी पदार्थों की माँग का बढना, जिसको सतुष्ट करने के लिये हमें खेती की सीमा (margin) बढानी पड़ती है, दूसरे शब्दों में, हमें या तो अनु-सीमान्त भूमि को काम में लाना पड़ता है या उसी भूमि पर श्रम और पूँजी की अधिक मात्राएँ लगानी पड़ती हैं। ऐसी दशा में अधि-सीमान्त भूमि या अधि-सीमान्त मात्रा की अतिरिक्त उपज (या विशेष लाभ) अधिक हो जायगी और लगान बढ जायगा। फिर आबादी के बढने से घर, कारखाने आदि के बनाने के लिये भूमि की आवश्यकता होगी। इस कारण भी भूमि का लगान बढ जायगा।

सभ्यता की उन्नति का प्रभाव

सभ्यता की उन्नति के परिणाम उसी प्रकार के होते हैं जैसे जन-सख्या की

---

[११] Thomas, Elements of Economics, p 256

वृद्धि के, अर्थात् लगान में वृद्धि होने लगती है क्योंकि (१) रहन-सहन के स्तर के ऊँचे हो जाने से खाने-पीने तथा पहनने के लिये अधिक वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है और इस प्रकार खेती की भूमि की माँग बढ जाती है, और (२) खेती के अतिरिक्त अन्य कामों—जैसे पार्क, खेलने के मैदान आदि—के लिये भी भूमि की माँग बढ जाती है। अतः लगान भी बढ जाता है।

§ ७. इमारती भूमि, खानों और मत्स्य-क्षेत्र का लगान

इमारती भूमि का लगान

इमारती भूमि का लगान उसी प्रकार निश्चित होता है जैसे कि कृषि की भूमि का लगान। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कृषि की भूमि का लगान तो उसकी उर्वराशक्ति तथा स्थिति पर निर्भर करता है, किन्तु इमारती भूमि के लिये केवल स्थिति का ही महत्त्व होता है। रहने के लिये घर जिस भूमि पर बनाई जाती है, उसकी स्थिति ऐसी होनी चाहिये कि उसके आस-पास प्राकृतिक सौन्दर्य हो, क्षत्र साफ-सुथरा हो, आने-जाने और बाजार की सुविधायें हों, आदि। यदि इमारत व्यापार के लिये बनानी है, तो हमें उसके आकर्षण, ग्राहकों के वहाँ से गुजरने की संख्या, आस पास की दूकानें आदि पर ध्यान देना पडेगा। अत हम इमारत चाहे रहने के लिये बनवाये या व्यापार के लिये, हमें केवल स्थिति का ध्यान रखना पड़ता है और इनका लगान स्थिति-सबधी (situational) होता है।

किन्तु इस अन्तर का उस सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नहीं होता जिसके द्वारा लगान का निर्णय होता है। किसी खास समय एक ऐसा स्थान अवश्य होगा जो इमारत के लिये बेकार होगा और यह भूमि लगान-हीन होगी। अन्य टुकडे इमारत बनाने के लिये इससे अच्छे होंगे। अधि-सीमान्त इमारती भूमि का स्थिति सबधी अतिरिक्त लाभ ही उसका लगान होता है। इमारती भूमि का सबसे अधिक लगान या किराया शहर के बीचो-बीच होता है, और केन्द्र से जितनी दूरी बढती जाती है, किराया उतना ही कम होता जाता है।

खानों (Mines and Quarries) का किराया

खान के लिये किराये के रूप में जो भी रुपया अदा किया जाता है उसको दो भागों में बाँटा जा सकता है · (१) खनिज-पदार्थ, जिसका पुनर्स्थापन नहीं हो सकता। उसके पुरस्कार को अधिकार-शुल्क या रायल्टी (Royalty) कहते हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि कृषि-संबंधी भूम के लिये उर्वरा-शक्ति के लिये कुछ पुरस्कार नहीं देना पड़ता क्योंकि यदि भूमि का उपयोग सावधानी से किया

जाय तो यह शक्ति स्थायी हो सकती है। (२) असली लगान (Rent Proper) जो कि खान खोदने तथा स्थिति-सबंधी सुविधाओं के सबंध में अतिरिक्त लाभ के रूप में दिया जाता है। इसे खान का लगान (Mine Rent) कहते हैं।

अधिकार-शुल्क (या रायल्टी) की कृषि-सबंधी लगान से कोई समानता नहीं, वास्तव में खान का लगान कृषि के लगान से बहुत मिलता-जुलता है क्योंकि हम खान-खुदाई की सीमा विस्तृत रीति द्वारा (Extensively) खराब खानें खोदकर या गहरी रीति द्वारा (Intensively) खान खोदने के सुधरे हुए और अधिक कीमती तरीकों से, नीचे स्तरों में कर सकते हैं।'[१२] हर समय एक ऐसी खान अवश्य होगी जिसका खोदना इतना कठिन होगा या जिसकी स्थिति इतनी खराब होगी कि हम उसे सीमान्त खान या लगान-हीन खान कह सकते हैं। अन्य समस्त अधि-सीमान्त खान अतिरिक्त लाभ के बराबर लगान अदा करेंगी।[१३]

मत्स्य क्षेत्र (Fisheries) का लगान

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि यदि मत्स्य-क्षेत्रों (या मछली पकड़ने के स्थानों) का सावधानी से प्रयोग किया जाय तो मछलियों की पूर्ति स्थायी बनी रहेगी, जैसा कि कृषि की भूमि के सम्बन्ध में भी कहा जाता है। अत. कृषि की भूमि और मत्स्य-क्षेत्र में पूर्ण समानता होती है, और मत्स्य-क्षेत्र का लगान उसी सिद्धान्त के अनुसार निश्चित होता है जैसे कि कृषि की भूमि का लगान। लगान-हीन मत्स्य-क्षेत्र कोई लगान नहीं देता, समस्त अधि-सीमान्त मत्स्य-क्षेत्रों का अतिरिक्त लाभ ही उनका लगान होता है।

§ ८. अनुपार्जित वृद्धि

यदि भूमिपति भूमि में सुधार और उन्नति कर दे तो भूमि का मूल्य बढ जाता है। कभी-कभी भूमि का मूल्य भूमिपति की बिना किसी चेष्टा के, कुछ सामाजिक

[१२] Thomas, Op Cit, p. 259

[१३] यह मार्शल का मत है। उनसे इस बात में सहमत होना कठिन है कि रायल्टी कृषि के लगान के समान नहीं। यदि हम खाद तथा ऐसी ही वस्तुओं और उपायों का प्रयोग न करें, तो भूमि की उर्वरा-शक्ति अवश्य क्षीण हो जायगी। अतः कृषि के लगान और खान के कुल लगान (Gross Rent) में पूर्ण समता है। टासिग (Taussig) मार्शल के मत को नहीं मानते और लिखते हैं कि खान चाहे कितनी ही खराब क्यों न हो, फिर भी यदि उसमें से कुछ खनिज-पदार्थ निकाला जायगा, तो खान के स्वामी को कुछ न कुछ पुरस्कार अवश्य मिलेगा। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह मत उचित जान पड़ता है।

कारणों के फलस्वरूप, भी बढ जाता है। उदाहरण के लिये, यदि किसी भूमि के टुकड़े के आस-पास कोई शहर स्थापित हो जाय या वह किसी शहर के साथ यातायात के साधनों के द्वारा संयुक्त कर दिया जाय, तो भूमि का मूल्य अवश्य ही बढ जायगा। भूमि के मूल्य मे जो वृद्धि सामाजिक कारणो के फलस्वरूप और भूमि-पति की बिना किसी चेष्टा के होती है, उसे अनुपार्जित वृद्धि (Unearned Increment) कहते हैं।

अनुपार्जित वृद्धि भूमिपति के श्रम का परिणाम नहीं होती, यह कुछ सामाजिक कारणों का परिणाम होती है। अतः ऐसी वृद्धि को भूमिपति के पास नहीं छोड़ना चाहिये, प्रत्युत सरकार के माध्यम द्वारा उसे समाज के कल्याण के लिये व्यय करना चाहिये। इस वृद्धि को सरकार इन तरीकों से ले सकती है: (१) कर द्वारा—सरकार यह कानून बना सकती है कि भूमि के मूल्य में अनुपार्जित वृद्धि होने पर सरकार उसे कर के रूप में ले लेगी, या (२) भूमि के राष्ट्रीकरण द्वारा—सरकार समस्त भूमि का राष्ट्रीकरण (Nationalisation) कर सकती है, अर्थात् समस्त भूमि पर अपना स्वामित्व स्थापित कर सकती है जिससे कि अनुपार्जित वृद्धि होने पर वह अपने आप ही सरकारी कोष मे चली जाय। बहुत से अर्थशास्त्री इस मत को मानते हैं और समाजवादी इस पर बहुत जोर देते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१. लगान के आर्थिक अर्थ की व्याख्या कीजिए और इसके प्रचलित अर्थ से इसका अंतर स्पष्ट कीजिए। क्या बिना भूमिपति तथा किरायेदार के भी लगान का अस्तित्व हो सकता है?

२. आर्थिक लगान का अर्थ स्पष्टतया समझाइये। यह प्रसंविदा सम्बंधी लगान से किस प्रकार भिन्न है?

३. प्रसंविदा सम्बंधी लगान के निर्धारण की व्याख्या कीजिए।

४. रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की उसके विस्तृत तथा गहरे स्वरूपों में व्याख्या कीजिए। इसके विपक्ष में की जाने वाली आलोचनाओं की परीक्षा कीजिए।

५. क्या लगान मूल्य का निर्धारण करता है? अपने उत्तर के कारण दीजिए। क्या इसके कोई अपवाद भी हैं?

६. उन्नत यातायात, कृषि की उन्नति, जनसंख्या की वृद्धि तथा सभ्यता की उन्नति के लगान पर क्या प्रभाव पड़ते हैं?

७ मकानों, खानों तथा मत्स्य-क्षेत्रों के लगान का निर्धारण किस प्रकार होता है, लिखिये।

८. अनुपातित वृद्धि, सीमान्त भूमि तथा प्रसविदा सम्बधी लगान पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. लगान का सिद्धान्त बताइये। यह भारतीय दशाओं में किन परिस्थितियों (qualifications) में लागू होता है? (१६४७)

२. लगान उस उत्पादन व्यय का अंग नहीं होता जो मूल्य को प्रभावित करता है, इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिये। (१६४०)

३. खेती की भूमि पर लगान का उदय कैसे होता है? लगान पर खेती के तरीकों में सुधार होने का क्या प्रभाव पड़ता है? (१६४६)

४. आप इस कथन से क्या समझते हैं कि मूल्यों के ऊँचे होने के कारण लगान ऊँचे होते हैं किन्तु मूल्य इसलिये नहीं ऊँचे होते कि लगान अधिक होता है।" इस कथन को समझाइये। (१६४१)

५. लगान का अर्थ क्या है और यह कैसे निर्धारित होता है? आर्थिक लगान और प्रसविदे के लगान में क्या अन्तर है? (१६४४)

६. लगान के सिद्धात को समझा कर लिखिये। (१६४०)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

७. आर्थिक लगान और प्रसंविदा के लगान का भेद बताइये। किसी खेत का आर्थिक लगान किस प्रकार निधारित होता है? (१६४६)

८. आर्थिक लगान की परिभाषा दीजिये। कृषि के तरीकों में सुधार हो जाने से खेतों के लगान पर क्या प्रभाव पड़ता है? (१६४४)

९. "लगान इसलिये अधिक होता है कि मूल्य ऊँचे होते हैं किन्तु मूल्य इसलिये ऊँचे नहीं होते कि लगान अधिक होता है।" इस कथन को समझाइये। (१६४१)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

10 Consider the effect on agricultural rental in our villages of improvement of road communications (1948)

11. Describe the merits and note the drawbacks of the ryotwari system of land tenure (1948)

12 Write a short note on Permanent versus temporary settlements (1944)

13 Show how economic rent is determined under intensive

cultivation Does rent of agricultural land tend to be equal to economic rent in India ? (1943)

14 Explain the causes of rent Show how rent is affected by the following factors ?

Improved methods of cultivation

Improved means of transport, (1942)

15 Write a short note on permanent and temporary settlements (1942).

16 How is economic rent determined is the case of agricultural lands ? (1941)

17. Write a short note on zamindari and ryotwari systems of land tenure (1941)

18 What is permanent settlement ? Explain the advantages which it was hoped would follow the institution of 'Permanent Settlement' How far have they been realised ? (1940)

19. What do you understand by economic rent ? What is contract rent ? Does it exceed the amount of economic rent in India ? Give full reasons for your answer (1939)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

20 What do you understand by economic rent ? What is the cause which gives rise to it ? (1947)

21 Write a short note on economic rent (1946)

पटना, इन्टर आर्टस

22 Define economic rent How is it determined ? (1948)

पटना, इन्टर कामर्स

23 What do you mean by rent ? How is it determined ? (1949, 1947 Supp)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

24. Explain by means of an example how economic rent under extensive cultivation is determined. (1949)

25 Explain how economic rent arises in intensive cultivation of land. Point out the characterstic features of economic rent (1948)

26 What is economic rent and how does it differ from rent in the ordinary sense ? What is rack-renting ? Under what conditions is it possible ? (1947)

नागपुर, इन्टर कामर्स

२. भूमि का भाटक किस प्रकार निर्धारित होता है ? उसे देने की क्या आवश्यकता है ? (१६४६)

२८. क्या लगान भूमि की उत्पादकता पर निर्भर होता है ? कृषि की उपज का अर्द्धांश लगान के रूप में लेना कहाँ तक उचित होगा। (१६४८)

२६. आर्थिक लगान क्या है और यह साधारण लगान से किस प्रकार भिन्न है ? प्रसंविदा-लगान क्या है ? यह किन दशाओं में संभव है ? (१६४७)

३०. आर्थिक लगान पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१६४६)

सागर, इन्टर आर्ट्स

31 How is economic rent determined? "Rent does no form part of the expeness of production" Explain, (1949)

32 Write a short note on Contract Rent and Economic Rent (1949)

33 How is economic rent determined? How is the economic rent of a country affected by any one of the following: (at) development of transport facilities, (b) increase in population, (c) rise in the standard of living? (1949 Supp)

34. Define and explain Economic Rent How is it determined under intensive cultivation? (1948)

सागर, इन्टर कामर्स

35 Define economic rent How is it determined? Draw diagrams. (1949)

अध्याय ६१

भारतवर्ष में लगान

§ १. रिकार्डो के सिद्धान्त का भारतवर्ष में लागू होना

कभी-कभी रिकार्डो के सिद्धान्त के हमारे देश पर लागू होने के विषय में शंका की जाती है। वास्तव में, कुछ भारतीय अर्थशास्त्री यह विश्वास करते हैं कि यह सिद्धान्त हमारे देश पर लागू होता ही नहीं। वे कहते हैं कि किसान जमीदारों को जो लगान देते हैं वह रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त में जिस आर्थिक लगान की कल्पना की थी उसके बराबर नहीं होता। किसानों में इतनी स्पर्द्धा होती है और वैकल्पिक पेशों का इतना अभाव होता है कि किसान अधिकतर आर्थिक लगान से ज्यादा लगान ही अदा करता है। अत इससे वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सिद्धान्त भारतवर्ष पर लागू नहीं होता।

यह धारणा भ्रमपूर्ण है। रिकार्डो ने तो केवल इतना ही कहा था कि किसी भूमि का आर्थिक लगान उसकी उपज के सीमान्त-भूमि की उपज से आधिक्य द्वारा नापा जाता है, और स्वतत्र स्पर्द्धा के अन्तर्गत यह भूमिपति को मिलता है। भारतवर्ष में कोई न कोई लगानहीन भूमि अवश्य होगी। जो भी अधि-सीमान्त खेत जोते जाते हैं, उनकी उपज सीमान्त खेत की उपज से अवश्य ही अधिक होगी। यदि यह ठीक है, तो ऐसे खेतों की उपज का आधिक्य उनका आर्थिक लगान हुआ। भारतीय अवस्था में रिकार्डो का सिद्धान्त फिर कैसे लागू नहीं होता? यदि स्वतत्र स्पर्द्धा विद्यमान हो, जैसा कि वास्तव में होता नहीं है, तो यह आधिक्य भूमिपति को निश्चय ही मिलेगा।[१] यदि भारतवर्ष में प्रसविदा-संबंधी लगान आर्थिक लगान से अधिक होता है, तो इसका कारण यह है कि स्वतत्र स्पर्द्धा विद्यमान नहीं। किन्तु यह अवस्था रिकार्डो के सिद्धान्त के क्षेत्र के बाहर है, क्योंकि यह इसकी कल्पना के विरुद्ध है। सिद्धान्त के लिये कल्पना का वही महत्त्व है जो इमारत के लिये नींव का; यदि दोनों में से किसी का भी आधार हटा दिया जाय, तो सिद्धान्त या इमारत खड़ी नहीं रह सकती।

---

१ वास्तव में रिकार्डो का सिद्धान्त विश्वव्यापी सत्य है और ससार के समस्त देशों पर समान रूप से घटता है।

§ २. भारतवर्ष में प्रसंविदा-संबंधी लगान का निर्धारण

भारतवर्ष में प्रसंविदा-संबंधी लगान माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। इन शक्तियों की क्रिया और प्रतिक्रिया में **रीति-रिवाज, स्पर्द्धा, कानून तथा वैकल्पिक पेशों का अभाव** बहुत महत्त्व रखते हैं।

पुराने जमाने में हमारे देश में भूमि बहुत बड़ी मात्रा में खाली पड़ी रहती थी और लगान थोड़े थे। उन दिनों में भाईचारा और मित्रता का बहुत ध्यान रक्खा जाता था, और संगठन के बंधन चोरों और डाकुओं आदि के भय के कारण और भी सुदृढ़ बने हुए थे। भूमिपति और किरायेदारों का पारस्परिक संबंध बहुत मैत्री का था, और जो किराया लिया और दिया जाता था, उसका एक रिवाज-सा बन गया था। इसी रिवाज के अनुसार पीढ़ी दर पीढ़ी लगान दिया जाता था।

जब भारतवर्ष में बृटिश साम्राज्य स्थापित हुआ, तो देश में शान्ति की भी स्थापना हुई। आर्थिक उन्नति सवेग होने लगी। भूमि की माँग बढ़ गई और भूमिपतियों ने रिवाज के लगान से अधिक लगान लेना आरम्भ कर दिया। दूसरे शब्दों में, **स्पर्द्धा** का महत्त्व बढ़ने लगा। पाश्चात्य सभ्यता ने हमें व्यक्तिवाद सिखाया जिसके कारण स्पर्द्धा तीव्र हो गई और रीति-रिवाजें भंग होने लगीं।

ब्रिटिश साम्राज्य ने हमारे घरेलू उद्योगों तथा दस्तकारी का भी विनाश कर दिया। किसानों के पास **वैकल्पिक पेशे न रहे** और उन्होंने केवल कृषि पर निर्भर रहना आरम्भ कर दिया। अतः किसानों में स्पर्द्धा और भी तीव्र हो गई। उन्होंने आर्थिक लगान से अधिक लगान देना आरम्भ कर दिया क्योंकि उन्होंने खेती करके अध-भूखा रहना, खेती छोड़कर भूखे मरने की अपेक्षा, अधिक अच्छा समझा।

इसके कारण किसानों की आर्थिक अवस्था बहुत शोचनीय हो गई। इसने कृषि-संबंधी सुधारों के मार्ग में भी बाधा डाली : जब किसानों को यह मालूम हुआ कि उनके भूमि में सुधार करने से जब उसकी उपज बढ़ जाती है, तो उसे जमींदार लगान बढ़ाकर हजम करने की चेष्टा करते हैं, तो उन्होंने ऐसे सुधार में अपना रुपया, समय तथा शक्ति बरबाद करना बन्द कर दिया। इसको रोकने के लिये सरकार ने **लगान सम्बन्धी विधान** (Tenancy Legislation) बनाये जिनका उद्देश्य लगान को स्थिर करना और किसानों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करना है।

वर्तमान अवस्था में, रीति रिवाज, स्पर्द्धा, वैकल्पिक पेशों का अभाव तथा लगान-सबंधी विधान प्रसविदे के लगान को निर्धारित करते हैं। रीति-रिवाज अभी मरी नही, स्पर्द्धा का अभी विकास हो रहा है, वैकल्पिक पेशे अभी कम हैं, और इसलिये लगान-सम्बन्धी विधान बहुत प्रभावपूर्ण प्रमाणित नहीं हुए हैं।

§ ३. भारतवर्ष में मालगुजारी प्रथा

मालगुजारी प्रथा

भूमि का सबध तीन पक्षों से होता है . सरकार जोकि सबसे महान् जमीदार कही जा सकती है क्योंकि एक अर्थ में सारी भूमि उसी की है, भूमिपति या जमींदार जिनके कि भूमि में कुछ निश्चित अधिकार हैं जोकि उन्होंने सरकार से समझौता द्वारा प्राप्त किये हैं, और किसान जो भूमिपति[२] से भूमि लगान पर लेते हैं और भूमि जोतते हैं। मालगुजारी प्रथा (Land Tenure) उन शर्तों तथा नियमो को कहते हैं जिनके अनुसार एक पक्ष दूसरे से भूमि प्रयोग के लिये प्राप्त करता है। मालगुजारी प्रथा दो भागो मे बाँटी जा सकती है (क) स्वामित्व प्रथा (Proprietary Tenures) अर्थात् वे शर्तें जिन पर जमींदार सरकार से भूमि प्राप्त करता है, और (ख) जुताई प्रथा (Cultivating Tenures), अर्थात् वे शर्तें जिन पर कि किसान जमींदार से भूमि प्राप्त करता है।[३]

आदर्श मालगुजारी प्रथा

मालगुजारी प्रथा तब आदर्श मानी जाती है जब कि उसमें निम्नलिखित दो गुण हों : (१) **उचित लगान**—लगान उचित होने चाहिये। यदि लगान अनुचित हुआ, तो किसानों का शोषण होगा और कृषि-सम्बन्धी सुधारों के मार्ग में बाधा पड़ेगी। (२) **मालगुजारी की स्थिरता**—किसान को यह भी अश्वासन होना चाहिये कि भूमि कुछ समय तक उसी के हाथ में रहे। अन्यथा वह भूमि का स्थायी सुधार इस डर से नहीं करेगा कि कदाचित् वह अपने धन के विनयोग से पूर्ण लाभ उठाने के पहले ही भूमि पर से न हटा दिया जाय। इतना ही नहीं, यह भी संभव है कि वह यह सोचकर कि उसे भूमि केवल कुछ ही समय के लिये मिली है, इतनी निर्दयता से काम करे कि भूमि की उवर्रा-शक्ति शीघ्र ही क्षीण

---

[२] कभी-कभी किसान भूमि सीधे सरकार से ही प्राप्त करते हैं जैसे कि हमारे देश में रैयतवाड़ी प्रथा में होता है।

[३] या सरकार से, जैसा कि रैयतवाड़ी प्रथा में होता है।

हो जाय। अभाग्यवश हमारी मालगुजारी प्रथा इस आदर्श से बहुत दूर रही है। हाल में ही सरकार ने लगान-संबंधी विधान बनाकर इन दोषों को दूर करने की चेष्टा की है।

भारत मे मालगुजारी प्रथा

अब हम अपने देश के मालगुजारी की प्रथाओं का अध्ययन करेंगे। हम केवल स्वामित्व मालगुजारी प्रथाओं का ही वर्णन करेंगे, जुताई संबंधी प्रथाओं का नहीं क्योंकि ये प्रथायें लगभग अगणित हैं। स्वामित्व प्रथाओं की मुख्य किस्में निम्नलिखित हैं :

(१) जमींदारी प्रथा—इस प्रथा के अन्तर्गत, कुल मालगुजारी के भुगतान का उत्तरदायित्व एक जमींदार के ऊपर होता है। बन्दोबस्त स्थायी (Permanent Settlement) हो सकता है जिसे **स्थायी बन्दोबस्त** कहते हैं। बंगाल, बिहार, मद्रास के उत्तरी जिले और यू० पी० के बनारस डिवीजन में स्थायी बन्दोबस्त है, और जो मालगुजारी जमींदार को सरकारी खजाने में जमा करनी होती है, वह सदैव के लिये स्थिर कर दी गई है। बन्दोबस्त अस्थायी भी होता है और कुछ ही समय के बाद मालगुजारी की मात्रा बदली जा सकती है, इसे अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement) कहते हैं। अवध के तालुकेदारों के साथ अस्थायी बन्दोबस्त किया गया था।

(२) महलवारी या संयुक्त ग्रामीण प्रथा—इस प्रथा के अनुसार सरकार किसी जायदाद के सह भागियों (co-sharers) के साथ एक प्रसंविदा करती है जिसके अनुसार वे सब सामूहिक तथा व्यक्तिगत हैसियत में मालगुजारी अदा करने के उत्तरदायी हो जाते हैं। वास्तव में, प्रसंविदा लम्बरदार या मालगुजार के साथ किया जाता है जो गाँववालों का प्रतिनिधि होता है और मालगुजारी के भुगतान का पहला उत्तरदायित्व उसी का होता है। यह प्रथा उत्तरी भारत में बहुत प्रचलित है। इसके अन्तर्गत बन्दोबस्त अस्थायी होता है।

(३) रैयतवाड़ी प्रथा—इसके अनुसार किसान भूमि सीधे सरकार से लेते हैं और सरकार को ही सीधे लगान अदा करते हैं। सरकार और किसान के बीच में कोई मध्य-पुरुष नहीं आता। यह प्रथा दक्षिणी भारत में, विशेषतया बम्बई, मद्रास और बरार में, प्रचलित है। यह यू० पी० में नहीं पाई जाती।

बन्दोबस्त (Settlements)

मालगुजारी के बन्दोबस्त का अभिप्राय मालगुजारी की रकम, भुगतान के लिये उत्तरदायी व्यक्ति तथा भूमि में विद्यमान प्राइवेट अधिकारों एवं हितों के

निश्चय करने से है। जब मालगुजारी सदेव के लिये निश्चित कर दी जाती है, तो यह स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) कहलाता है, और जब यह कुछ ही समय के लिये निश्चित की जाती है, तब इसे अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement) कहते हैं। जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, हमारे देश में बगाल, उत्तरी मद्रास तथा बनारस डिवीजन की अधिकाश भूमि स्थायी बन्दोबस्त के अन्तगत आती है। शेप भागों में बन्दोबस्त अस्थायी है।

स्थायी बन्दोबस्त लार्ड कार्नवालिस ने सन् १७९५ में आरम्भ किया। उस समय मालगुजारी वसूल करने में बहुत सी कठिनाइयाँ होती थीं और सरकार को इसे सदेव के लिये निश्चित कर देने से बहुत सुविधा हुई। किन्तु कुछ काल बाद यह पता चला कि जमींदार किसानों से जितना भी लगान वसूल कर सकते थे, करते थे, किन्तु सरकार को वे इस लूट का केवल एक थोड़ा-सा भाग ही अदा करते थे। इसका मतलब यह हुआ कि एक ओर तो किसानों पर अत्याचार होता था और दूसरी ओर सरकार को लगान का नुकसान। इसीलिये इस प्रथा को अन्य भागो पर लागू नहीं किया गया।

§ ४. संयुक्त प्रांत मे मालगुजारी प्रथा

अब हम उत्तर प्रदेश की मालगुजारी प्रथाओं का वर्णन करेंगे।

स्वामित्ववाली मालगुजारी प्रथाएँ

हमने स्वामित्ववाली तीन मालगुजारी की प्रथाओ का ऊपर वर्णन किया है। इनमें से उत्तरप्रदेश मे जमींदारी तथा महलवारी प्रथाएँ प्रचलित हैं।

जमींदारी प्रथा

सयुक्त-प्रात में जमींदारी प्रथा के दो रूप हैं. (१) स्थायी बन्दोबस्त जोकि बनारस डिवीजन के जमींदारों के साथ किया गया, और (२) अस्थायी बन्दोबस्त जैसा कि अवध के तालुकदारों के साथ किया गया। उत्तर प्रदेश में केवल बनारस डिवीजन में ही स्थायी बन्दोबस्त है। सन् १७८५ में अग्रेजों को बनारस डिवीजन में उस समय भूमि की सयुक्त मालगुजारी की जो रिवाज थी उसका ज्ञान न था और वे बगालवाले स्थायी बन्दोबस्त को ही अन्य प्रांतों में स्थापित करना चाहते थे। अत उन्होंने कुछ व्यक्तियों को जमींदार बना दिया और बन्दोबस्त स्थायी रूप से कर दिया।

अवध में सरकार ने मालगुजारी के भुगतान के लिये तालुकदारो से अल्पकालीन या अस्थायी समझौते किये। तालुकदार जो कुछ भी लगान वसूल करते

हैं उसमें से सरकार वसूली की लागत तथा तालुकदारों के भरण-पोषण के लिये एक भाग घटाकर, शेष उनसे ले लेती है। बन्दोबस्त तीस साल के लिये किया जाता है। तालुकदार स्थायी बन्दोबस्त के जमींदार से अलग होता है क्योंकि उसके साथ बन्दोबस्त अस्थायी होता है और भूमि पर उसका स्वामित्व नहीं होता।

महलवारी या संयुक्त गाँवोंवाली प्रथा

लगभग समस्त आगरा प्रांत महलवारी प्रथा या संयुक्त गाँवोंवाली प्रथा के अन्तर्गत है। इसके अनुसार सरकार प्रत्येक जायदाद या गाँव के सह-भागियों (Co-sharers) के साथ एक समझौता करती है जिसके अनुसार वे मालगुजारी के भुगतान के लिये सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हो जाते हैं।

वास्तव में, गाँववालों के प्रतिनिधि के रूप में केवल लम्बरदार या मालगुजार ही अकेला सरकार से समझौता करता है। बन्दोबस्त बीस साल या तीस साल के लिये किया जाता है। जमींदार जो लगान वसूल करता है, उसका लगभग ५०% सरकार ले लेती है।

जुताई की मालगुजारी प्रथाएँ

अब हम उन शर्तों का अध्ययन करेंगे जिन पर कि वास्तविक किसान को जमींदारों से भूमि मिलती है। संयुक्त प्रांत के मालगुजारी कानून (Tenancy Act), १६३६, में निम्नलिखित प्रकार के किसानों को माना गया है : (१) स्थायी मध्यस्थ, (२) स्थिर लगान वाले किसान, (३) अवध में विशेष शर्तों पर भूमि लेनेवाले किसान, (४) पूर्व स्वामी किसान, (५) मौरूसी किसान, (६) पैतृक किसान, और (७) गैरमौरूसी किसान।

(१) स्थायी मध्यस्थ (Permanent Tenure Holders)—स्थायी मध्यस्थ उन्हें कहते हैं जिन्हें (क) स्थायी बन्दोबस्त के जमाने से, (ख) स्थायी बन्दोबस्तवाले जिले में, (ग) स्थायी पट्टे के अंतर्गत, (घ) उसी लगान पर, (ङ) स्थायी हस्तांतरणीय हित भूमि में प्राप्त है और (च) जो जमींदार तथा वास्तविक किसान के बीच में मध्यस्थ होते हैं। उनके अधिकार पीढ़ी पर पीढ़ी चलते हैं और उनका हस्तांतरण हो सकता है—वे अपनी जायदाद बेच सकते हैं या उसे गिरवी रख सकते हैं। जो मालगुजारी वे अदा करते हैं, वह सदैव के लिये स्थिर है। ऐसे मध्यस्थ अधिकतर बनारस, बलिया, गाजीपुर, गोरखपुर और आजमगढ़ के जिलों में पाये जाते हैं जिनका बन्दोबस्त स्थायी है।

(२) स्थायी मालगुजारीवाले किसान (Fixed-Rate Tenants)

—जिन किसानों के पास (क) स्थायी बन्दोबस्तवाले जिलों में भूमि है, (ख) और स्थायी बन्दोबस्त के समय से चली आई है और (ग) जिस पर वे पहले के बराबर ही लगान अदा करते हैं, वे स्थिर मालगुजारी वाले किसान कहलाते हैं। उनके अधिकार पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं और उनका हस्तातरण हो सकता है, तथा वे जो लगान अदा करते हैं, वह सदैव के लिये स्थिर होता है। अत इनमें तथा स्थायी मध्यस्थो में बहुत-कुछ समानता है। किन्तु दोनो का भेद ध्यान में रखना आवश्यक है। स्थायी मालगुजारी वाला किसान जमींदार और वास्तविक किसान के बीच में मध्यस्थ नहीं होता, किन्तु स्वय ही किसान के नीच होता है। स्थायी मध्यस्थ का भूमि मे स्थायी हस्तातरणीय हित होता है और उससे भूमि छीनी नहीं जा सकती, ये बातें स्थिर मालगुजारीवाले किसान पर लागू नहीं होतीं। स्थिर मालगुजारीवाले किसान का अधिकार पीढ़ो दर पीढ़ी चलता है और उसका हस्तातरण हो सकता है।

(३) **पूर्व स्वामित्ववाले किसान** (Ex-proprietary tenants) —जैसा कि इनके नाम से ही विदित है, यह किसान किसी समय भूमि के स्वामी थे, किन्तु क्योंकि उन्होंने अपना महल पूर्णतया अशतया किसी दूसरे को बेच दिया था, इसलिये अब उनका पद बदल गया है। ऐसा कर देने पर वे अपनी सीर तथा अपनी खुदकाश्त भूमि के जोकि वे तीन साल से अधिक समय से जोतते आये हैं, पूर्व स्वामित्ववाले किसान हो जाते हैं। ऐसे किसान लगान नीचे दर पर अदा करते हैं। उनका बनाना इस सिद्धान्त पर आवश्यक हुआ कि जो व्यक्ति एक समय धनामानी था, उसके बुरे दिन आने पर उसके साथ निर्दयता का व्यवहार नहीं करना चाहिये।

ऊपर के तीनों प्रकार के व्यक्तियों को बहुत सी सुविधायें तथा विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। स्थायी मध्यस्थ तथा स्थिर मालगुजारीवाले किसानों को एक निश्चित मालगुजारी ही अदा करनी पड़ती है, और आर्थिक लगान के बढ़ जाने पर भी उनका उत्तरदायित्व स्थिर रहा है। जहाँ तक पूर्व स्वामित्ववाले किसानों का सबध है, उनके लगान में लगभग २५% कमी कर दी जाती है जो कि काफी है।

(४) **अवध के विशेष शर्तों वाले किसान**—*अवध लगान एक्ट, १८८६*, के पास होने के पहले से ही जिन किसानों को किसी विशेष समझौते या कानूनी फैसले के अनुसार भूमि मिली हुई थी, वे विशेष शर्तवाले किसान कहलाते हैं। उनके वे ही अधिकार उत्तरदायित्व होते हैं जो कि अवध के मौरूसी किसानों के।

(५) **मौरूसी किसान**—यदि कोई किसान एक ही भूमि को लगातार बारह वर्ष तक जोतता रहे, तो वह मौरूसी किसान हो जाता है और उसे उससे भूमि छीनी नहीं जा सकती। ऐसे किसानों का अधिकार पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है किन्तु उसका हस्तांतरण नहीं हो सकता। उनका लगान भी नहीं बढ़ाया जा सकता, केवल दोनों पक्षों की राजी से या न्यायालय की आज्ञा से ही लगान बढ़ाया जा सकता है। बढ़ती रुपये में एक आने से अधिक नहीं हो सकती और दस साल में केवल एक ही बार यह वृद्धि की जा सकती है।

(६) **पैतृक किसान**—पैतृक (Hereditary Tenants) किसान नए एक्ट के अनुसार बने हैं और पुराने कानूनी किसान[६] (Statutory Tenants) का स्थान उन्होंने ले लिया है। पैतृक किसानों की तीन श्रेणियाँ हैं. (क) वे सब किसान जो संयुक्त प्रांत में जनवरी १, १९४० के पहले किसानी करते थे किन्तु जो उपरोक्त पाँच वर्गों में नहीं आते थे, (ख) वे सब व्यक्ति जो इस एक्ट के आरम्भ होने के पश्चात् सीर के किसान या उप-किसान के अतिरिक्त किसान मान लिये गये हैं, (ग) वे सब व्यक्ति जो नए एक्ट के अनुसार पैतृक अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। पैतृक किसान मौरूसी किसान से भिन्न होते हैं क्योंकि ये दोनों अलग-अलग दर पर लगान अदा करते हैं। इनमें से अधिकांश वे किसान हैं जो कानूनी किसान थे या कानूनी किसानों के उत्तराधिकारी हैं।

(७) **गैरमौरूसी किसान**—जो व्यक्ति ऊपर के किसी भी वर्ग में नहीं आते वे गैरमौरूसी किसान कहलाते हैं।

किसान सम्बन्धी कानून

देश की आर्थिक उन्नति का आधार किसान ही होते हैं, हमारे देश में किसान सम्बन्धी कानून इसी विश्वास पर आधारित हैं। सर जान शाइमन ने सन् १७८९ में लिखा था, "भूमि का लगान, चाहे वह सार्वजनिक खजाने में किसी भी स्रोत द्वारा आवे, किसानों या भूमि के जोतने वालों द्वारा ही अदा किया जाता है। उनकी अवस्था केवल इसी कारण नहीं वरन् बहुत निराशा और अत्याचार

---

[६] सन् १९२७ के आगरा मालगुजारी एक्ट ने कानूनी किसान बनाये। इसके अनुसार जिस किसी किसान ने कोई भी भूमि एक साल जोतली हो, वह उससे हटाया नहीं जा सकता जब तक कि वह जीवित है, यदि वह समय पर लगान न अदा करे, तो बात दूसरी है। एक निश्चित समय के भीतर बिना पर्याप्त कारण के लगान नहीं बढ़ाया जा सकता। उत्तराधिकारियों को किसान की मृत्यु से पाँच वर्ष तक जोतने का अधिकार प्राप्त हो जाता था।

के भय से प्रसित होने के कारण भी, शासकों के ध्यान और दिलचस्पी का स्वाभाविक रूप से विषय होनी चाहिये।" वास्तव में भूमिपतियों तथा किसानों का आपस का सम्बन्ध नियमित करने के लिये समय-समय पर प्रयत्न किये गये हैं। किसान-सम्बन्धी कानून का उद्देश्य होता है लगान की उपयुक्तता तथा किसान के पास भूमि का बने रहना।

संयुक्त प्रांत में १८वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में मालगुजारी सम्बन्धी कानून की आवश्यकता का अनुभव हुआ, और आगरा लगान एक्ट, १८८१, तथा अवध लगान एक्ट, १८८६, पास किये गये। आगरा लगान एक्ट का सन् १८६६ में सुधार हुआ और सन् १६०१ में उसका स्थान एक नए मालगुजारी एक्ट ने ले लिया। बाद को सन् १६२६ में आगरा मालगुजारी एक्ट बना। अवध लगान एक्ट में भी थोड़े बहुत सुधार होते रहे यहाँ तक कि इस एक्ट को फिर से बनाना पड़ा। ये दोनों एक्ट बाद को जब कांग्रेस की सरकार स्थापित हुई मिला दिये गये और इस प्रकार युक्त प्रांतीय मालगुजारी एक्ट १६३६ बना।

सन् १६३६ के कानून का उद्देश्य किसानों को कुछ सुविधायें देना था। इसके निम्नलिखित प्रमुख मसविदे हैं (१) अधिकांश किसानों को पैतृक किसान बना दिया गया है और उनकी भूमि पर जो वृक्ष खड़े हों उन पर भी उन्हें अधिकार दे दिया गया है, (२) लगान वसूल करने के मामले में भूमिपति पर काफी बन्धन लगा दिये गये हैं और यदि लगान की अदायगी के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हो, तो इसका भार भूमिपति पर रख दिया गया है, (३) यदि इस एक्ट के अनुसार भूमिपति काम न करें, तो उन्हें कड़ा दण्ड देने की आयोजना की गई है, (४) यदि किसान पर लगान बाकी है, तो वह स्वयं बन्दी नहीं किया जा सकता, (५) यदि किसान भूमि से हटाया जाता है, तो जो भी लगान बाकी है, वह देय नहीं रहता।

§ ५. जमींदारी प्रथा और उसका उन्मूलन

ब्रिटिश काल में सरकार ने मालगुजारी की वसूली आसान बनाने के लिये जमींदारों को नियुक्त किया था। ये जमींदार मध्यस्थ थे और वे किसानों से मनमाना लगान वसूल करते थे। सरकार को एक निश्चित रकम दे कर शेष वे अपने पास रखते थे। ब्रिटिश राज के अंतर्गत बिना काम किये वे लम्बी आमदनी कमाते थे। अतः वे ब्रिटिश सरकार के पोषक बन गये। किन्तु इस प्रथा से किसानों को बहुत हानि हुई। उन्हें बहुत अधिक लगान तो देना ही पड़ता था, साथ में उन्हें (मौरूसी किसान न होने पर) बेदखल भी किया जा सकता था। अतः वे भूमि

की उन्नति करने की चेष्टा नहीं करते थे। फिर जमींदार तरह-तरह के अधिकार अपने हाथ में रखता और किसानों को कहीं-कहीं दासों का सा जीवन व्यतीत करना पड़ता। उदाहरण के लिये, कहीं-कहीं किसान बिना जमींदार की आज्ञा के और बिना टैक्स दिये हुए अपने बच्चों की शादी नहीं कर सकते थे। इन बातों के कारण यह माना जाने लगा कि खेती और ग्रामीण जीवन में उन्नति करने के लिये जमींदारों का वर्ग समाप्त कर दिया जाय। किसान भूमि के स्वामी बना दिये जायँ और वे सरकारी खजाने में सीधे मालगुजारी दिया करें। कांग्रेस ने प्रतिज्ञा की थी कि मन्त्रित्व स्थापित करने पर वह जमींदारी प्रथा का अंत कर देगी। इस प्रतिज्ञा के अनुसार उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मद्रास की सरकार ने जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के लिये बिल तैयार किये हैं। इन बिलों में जमींदारों को मुआवजा या क्षतिपूर्ति (Compensation) देने का आयोजन किया गया है।

उत्तर प्रदेश का जमींदारी उन्मूलन बिल

उत्तर प्रदेश के जमींदारी उन्मूलन बिल के अनुसार, जमींदारों को वार्षिक आय का २ से २० गुना रुपया दे कर अधिकार-च्युत कर दिया जायगा। सबसे बड़े जमींदारों को वार्षिक आय का दुगना दिया जायगा और सबसे छोटे जमींदारों को बीस गुना।

जमींदारों को इतना रुपया दिया कहाँ से जायगा? इसके लिये सरकार ने एक जमींदारी उन्मूलन कोष (Z A.F.) कायम किया है। किसान वार्षिक लगान की दसगुनी रकम इस कोष में जमा करके अपना लगान आधा करा सकते हैं। साथ में उन्हें "भूमिधार" का पद भी प्राप्त हो जायगा। सरकार को यह लाभ होगा कि इस कोष के रुपये से वह जमींदारों का मुआवजा देकर अपने उत्तरदायित्व से उऋण हो जायगी।

इस बिल के अनुसार, मालगुजार प्रधानतया दो भाँति के होंगे, (१) **भूमिधार** जो कोष में रुपया जमा कर के यह पद प्राप्त करेंगे। आजकल के जमींदार अपनी सीर और खुदकाश्त भूमि में स्वय ही भूमिधारी अधिकार प्राप्त कर लेंगे। (२) **सीरदार** शेष किसानों को कहा जायगा जिनका खेत पर स्थायी और पीढ़ी दर पीढ़ी अधिकार होगा और जो खेत का मनचाहा प्रयोग कर सकते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१. क्या रिकार्डो का लगान सिद्धान्त भारत पर लागू होता है? क्या प्रसंविदा-लगान तथा आर्थिक लगान के अंतर का इस सिद्धान्त के लागू होने की दशा से कोई सम्बन्ध है?

२. इस देश में प्रसंविदा-लगान के निर्धारण में कौन से तथ्य प्रभाव डालते हैं ?

३. भारत में मालगुजारी प्रथा तथा बन्दोबस्तों पर एक निबंध लिखिये।

४. यू० पी० में प्रचलित स्वामित्व वाली प्रथाओं का निरूपण कीजिए।

५. यू० पी० टेनेन्सी एक्ट, १९२९, के अनुसार यू० पी० में पाये जानेवाले काश्तकारों के कौन से वर्ग हैं ?

६. काश्तकारी विधान के उद्देश्य क्या हैं ? उत्तर प्रदेश में काश्तकारी विधान के इतिहास का निरूपण कीजिए।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. जमींदारी प्रणाली पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये (१९४६)

२ मालगुजारी से आप क्या समझते हैं ? संयुक्त-प्रान्त की वर्तमान मालगुजारी प्रथा के प्रधान लक्षणों का वर्णन कीजिये। (१९४८, १९४०)

३. आजकल भारत में काश्तकारों के हितों की रक्षा करने के लिये यू० पी० सरकार ने क्या काम किये हैं ? (१९४२)

४. लगान का सिद्धान्त समझा कर लिखिये। यह भारत में कहाँ तक लागू होता है ? (१९४०)

५ निम्नलिखित का खेती की भूमि के लगान पर क्या प्रभाव होगा : (अ) खेती के श्रेष्ठ तरीकों का और (आ) यातायात के साधनों में सुधार होने का ? (१९३८)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

6 Write a short note on Zamindari and ryotwari Systems. (1943)

अध्याय ६२

मजदूरी

§ १. प्रारंभिक

मजदूरी का अर्थ

मजदूरी एक प्रकार के मूल्य को कहते हैं, यह वह मूल्य होता है जिसे मालिक मजदूर को उसके श्रम के उपलक्ष में देता है। अतः, हम कह सकते हैं कि जो पुरस्कार उत्पादन-कार्य में लगे हुए मजदूरों को उनके श्रम के लिये दिया जाता है, वह मजदूरी कहलाता है। यह भी कहा जा सकता है कि मजदूरी राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) का वह भाग है जो मजदूरों को मिलता है।[१]

मजदूरों की दो श्रेणियाँ ऐसी हैं कि जिनका पुरस्कार कुछ अर्थशास्त्री मजदूरी मानते हैं और कुछ नहीं। पहली श्रेणी उन साहसी व्यक्तियों की है जो व्यवसाय के निरीक्षण तथा प्रबन्ध में हाथ बटाते हैं। जिस सीमा तक व्यापार का निरीक्षण तथा प्रबन्ध वे स्वय करते हैं, वे उसके लिये वेतन पाने के अधिकारी हो जाते है। यदि वे स्वय इस काम को न करें, तो उन्हें एक प्रबन्ध-कर्त्ता रखना पडेगा और उसे पुरस्कार देना पडेगा। इसलिये ऐसे साहसी को जो पुरस्कार दिया जाता है, उसका स्वभाव मजदूरी की भाँति ही होता है। दूसरी श्रेणी स्वतत्र कर्मचारियों की है जैसे अध्यापक, डाक्टर और वकील। वे शारीरिक या मानसिक चेष्टा करते हैं और उन्हें अपने श्रम के उपलक्ष में पुरस्कार मिलता है जिसे फीस कहते हैं। कुछ अर्थशास्त्री कहते हैं कि इस पुरस्कार को हमें मजदूरी मानना चाहिये। किन्तु कुछ दूसरे अर्थशास्त्री इस राय को नहीं मानते क्योंकि ऐसे व्यक्ति जो सेवाएँ करते हैं वे सीधे उपभोक्ताओं को बेची जाती हैं, उत्पादकों को नहीं

---

[१] मजदूरी उसी श्रम के पुरस्कार को कहते हैं जो उपयोगिता का सृजन करती है। देखिये P H. Streightoff, *The Distribution of Incomes* किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री उसी मानवी चेष्टा को श्रम मानते हैं जो उपयोगिता सृजन करती है (Labour is wealth-creating effort—J B Clark, *Essentials of Economic Theory*, p 9) अत. श्रम का पुरस्कार मजदूरी कहलाता है।

जैसा कि श्रम के साथ होता है, इसलिये वे इनके पुरस्कार को लाभ की श्रेणी में परिगणित करते हैं। किन्तु यह अन्तर बेकार सा है।

मजदूरी और वेतन

मजदूरों को जो पुरस्कार दिया जाता है, वह उनके पद के अनुसार या तो मजदूरी कहा जाता है या वेतन।[२] वैसे मजदूरी या वेतन के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि वे दोनों ही श्रम करनेवालों को मिलते हैं। किन्तु श्रम करने वाले के सामाजिक पद तथा उसकी प्रतिष्ठा की दृष्टि से यह अन्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है। मजदूरी साधारण तथा अकुशल मजदूरों के सम्बन्ध में प्रयुक्त की जाती है जो समाज के नीचे स्तर में शामिल होते हैं। वेतन अध्यापक, सरकारी अफसर आदि को दिया जाता है जो समाज के उच्च स्तर में शामिल होते हैं। मजदूरी कम होती है, वेतन अधिक होता है। मजदूरी तथा वेतन में वर्तमान पूँजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत बहुत अन्तर होते हैं। इतने अन्तर को बुरा माना जाता है। समाजवाद का आन्दोलन इस बात की चेष्टा करता है कि मनुष्यों की आयों के अन्तरों को जितना भी कम किया जा सके, किया जाय।[3]

मजदूरी की समस्या

अर्थशास्त्र के सब विभागों में, वितरण सबसे कठिन और सबसे महत्त्वपूर्ण विभाग है, और वितरण की समस्याओं में सबसे कठिन और महत्त्वपूर्ण समस्या मजदूरी की है। यह समस्या सबसे कठिन इसलिये है कि श्रम श्रमिक से भिन्न नहीं होता और इसलिये हमें इस सबध मे बहुत से मानवीय विचारों और व्यवहारों को ध्यान मे रखना पड़ता है, तथा आर्थिक शक्तियो के परिचालन में अनार्थिक शक्तियाँ बाधा डालती हैं। यह हमारे अध्ययन का सबसे महत्वपूर्ण विषय इसलिये है कि इसका सबध समाज के उस वर्ग से है जिसकी सख्या सबसे अधिक है और जो समाज के वर्तमान आर्थिक सगठन से सबसे अधिक असतुष्ट है।

---

२ इस सन्दर्भ में हमने मजदूरी शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया है। विस्तृत अर्थ में वेतन भी मजदूरी के ही अन्तर्गत आता है।

3 आयों की असमानता का विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रारम्भिक और आसान विवेचना के लिये देखिये Olay, *Economics for General Reader* या Batson, *Political Economy* या A N Agarwala, *Socialism Without Prejudice*

§ २. मजदूरी का निर्धारण

हम ऊपर बता चुके हैं कि मजदूरी श्रम के मूल्य को कहते हैं। अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि श्रम का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। यदि हम श्रम को भी एक वस्तु मान लें, तो मूल्य का वही सिद्धांत जिसका अध्ययन हम पहले ही कर चुके हैं मजदूरी पर भी लागू होगा। किन्तु श्रम साधारण वस्तु से कई दिशाओं में भिन्न होता है, जिसके कारण हमें मूल्य के सिद्धान्त को मजदूरी के विषय में लागू करते समय कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।

श्रम की विशेषतायें

यदि हम श्रम को उत्पत्ति के एक साधन की दृष्टि से देखें, तो हमें उसमें निम्नलिखित विशेषतायें मालूम होंगी :

(१) **मजदूर अपना काम बेचता है किन्तु अपने आप का स्वयं स्वामी बना रहता है**—श्रम की पहली विशेषता यह है कि मजदूर मशीन आदि की भाँति खरीदे और बेचे नहीं जाते। मजदूर अपना श्रम तो बेचता है किन्तु वह अपने आप को नहीं बेचता, जो उसके पालन पोषण और शिक्षण के लिये व्यय करते हैं, उन्हें उसकी सेवाओं के लिये मिलनेवाले पुरस्कार का बहुत थोड़ा-सा भाग मिलता है। अतः, मजदूरों के पालन-पोषण और शिक्षण पर जिस पूँजी का विनियोग होता है, वह माता-पिता की आय, उनके भविष्य को पढ़ सकने की योग्यता और अपने बच्चों के हित के लिये अपने सुखों का बलिदान करने की तत्परता द्वारा सीमित होती है। उच्चवर्गीय मजदूरों को इतनी कठिनाई नहीं होती क्योंकि इस वर्ग के व्यक्ति भविष्य को महत्त्व देते हैं, उनके पास अपने बच्चों की शिक्षा के लिये पर्याप्त धन भी होता है और वे इस धन को उनकी शिक्षा के लिये व्यय करने के लिये भी तैयार होते हैं। किन्तु समाज के निम्नस्तरों में कठिनाइयाँ बहुत भीषण रूप धारण कर लेती हैं। क्योंकि इस वर्ग के माता-पिता के पास न धन होता है और न वे स्वयं ही शिक्षित होते हैं। वे भविष्य को पर्याप्त महत्व भी नहीं देते। इस कारण वे अपने बच्चों की शिक्षा में अधिक पूँजी का विनियोग नहीं कर पाते। अभाग्यवश यह दोष बढ़ता चला जाता है। एक पीढ़ी के बच्चों का भोजन आदि जितना ही खराब होगा, बड़े होने पर वे उतना ही कम कमायेंगे, और अपने बच्चों की आवश्यकताएँ वे उतनी ही कम सन्तुष्ट कर पायेंगे। यह भी सच बात है कि उनकी अपनी प्रतिभा जितनी कम विकसित होगी,

अपने बच्चों की प्रतिमा विकसित करने का वे उतना ही कम प्रयास करेंगे।[4]

(२) श्रम श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिये जहाँ भी श्रम की आवश्यकता होती है, श्रमिक को वहीं उपस्थित रहना पड़ता है। अन्य वस्तुओं के साथ ऐसी बात नहीं होती। भूमि को भूमिपति से, पूँजी को पूँजीपति से और वस्तुओं को उनके विक्रेताओं से अलग किया जा सकता है। किन्तु श्रम और श्रमिक के अभिन्न होने के कारण ऐसी बहुत सी व्यक्तिगत बातें जो श्रमिक पर प्रभाव डालती हैं, उनको मजदूरी पर विचार करते समय ध्यान में रखना पड़ता है—और इस कारण मजदूरी की समस्या बहुत कठिन हो जाती है। उदाहरण के लिये, श्रम उतना गतिशील नहीं होता जितनी कि पूँजी होती है क्योंकि श्रम की गतिशीलता श्रमिक की गतिशीलता पर निर्धारित है जो स्वय घर का स्नेह, मित्रों का मोह आदि व्यक्तिगत बाधाओं का शिकार होता है। ऐसी व्यक्तिगत रुकावटें उत्पत्ति के अन्य साधनों के सामने नहीं आतीं।

(३) श्रम शक्ति बहुत नाशमान होती है—यदि कोई विक्रेता अपनी वस्तु आज न बेचे, तो उसे यह आशा होती है कि वह उसे कल बेच लेगा। किन्तु यदि कोई मजदूर आज काम न करे, तो उसकी आज की श्रमशक्ति नष्ट हो जायगी और वह उसे फिर प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसलिये मजदूर जो भी मजदूरी उन्हे मिलती है उसे लेने को तैयार हो जाते हैं क्योंकि अगर वे काम न करें तो उस समय की श्रम शक्ति बेकार हो जायगी। इस कारण मजदूरों के सौदा करने की सामर्थ्य कमजोर हो जाती है और मजदूरी की दर नी होती है।

(४) श्रम की पूर्ति का घटना और बढ़ना धीरे धीरे होता है। यदि किसी साधारण वस्तु की माँग बढ़ जाय, तो उसका मूल्य बढ़ जायगा, इस कारण उसकी उत्पत्ति भी अधिक मात्रा में होने लगेगी। यह बात श्रम प लागू नहीं होती। यदि किसी प्रकार के श्रम की माँग बढ़ जाय, तो उसकी पूर्ति दो ही तरीकों से बढ़ सकती है (क) माता-पिता अपने बच्चों को वह काम करने के लिये शिक्षित करें। इसमें बहुत समय लगेगा और वृद्धि बहुत धीरे-धीरे होगी। (ख) अन्य स्थानों से और व्यापारों से मजदूर ऊँची मजदूरी देकर आकर्षित किये जायँ। इस मार्ग में भी कठिनाइयाँ हैं। श्रम की गतिशीलता बहुत कठिनता से होती है और यह शीघ्र नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त यदि श्रम गतिशील हो ही जाय, तो हो सकता है कि जिस वर्ग या पेशे से मजदूर आवें, वहाँ श्रम की कमी हो जाय।

4Marshall, *Principles of Economics* VI, iv 2

जो बात श्रम की पूर्ति की वृद्धि के विषय में कही गई है, वही उस पूर्ति की घटती पर भी लागू होती है। किसी वर्ग या उद्योग का श्रम या तो मजदूरों की मृत्यु द्वारा कम हो सकता है या उनके दूसरे वर्ग या उद्योग में चले जाने के कारण। इनमें से पहला तरीका समय लेता है और दूसरा तरीका धीमा है और विश्वासपात्र नहीं।

अतः, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रम की पूर्ति माँग के परिवर्तन मे समानता स्थापित करने में बहुत कठिनाइयों का सामना करती है।

(५) मजदूर की सौदा करने की सामर्थ्य मालिक से बहुत कम होती है। मजदूरी की दर मालिक और मजदूर में भाव-ताव द्वारा निर्धारित होती है। हम यह सोचते हैं कि दोनों ही अपने अपने आर्थिक हितों के अनुकूल काम करने में स्वतत्र होते हैं, किन्तु ससार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भाव-ताव में मालिक का स्थान बढ़ा-चढ़ा होता है और मजदूर इस मामले में बहुत अशक्त होता है। इसके कई कारण है. (क) जैसा कि बता चुके हैं, श्रम-शक्ति बहुत नाशमान होती है। मजदूर बेकार रहने और श्रम-शक्ति को नष्ट करने की अपेक्षा उस शक्ति को जो मूल्य मिले उसी पर बेचने को राजी हो जाता है।

(ख) मजदूर अधिकतर निर्धन होते हैं, और यदि वे मालिकों से भाव-ताव अनुकूल करने के लिये रुकना आवश्यक समझें, तो वे ऐसा नहीं कर सकते। वे आज की कमाई से कल पेट भरते हैं, और यदि वे किसी दिन मजदूरी न करें, तो दूसरे दिन उन्हें भूखों रहना पडे। मालिक इस बात को जानते हैं और इससे अनुचित लाभ उठाते हैं।

(ग) पुराने समय में यदि मजदूर नौकरी न करना चाहता, तो वह स्वयं माल बनाकर बाजार मे बेच सकता था। किन्तु कारखानों की स्पर्द्धा ने दस्तकारी को नष्ट कर दिया। इससे मजदूरों के भाव-ताव करने की शक्ति और भी कम हो गई है।

(घ) मजदूरों में सगठन नहीं होता। ट्रेड यूनियन बनने को तो बनी हैं, किन्तु उनमे बहुत से दोष और बहुत सी कमजोरियाँ हैं। इस कारण वे शोषण को रोकने में अब तक असफल रही हैं।

(ङ) कभी-कभी मजदूरी की मात्रा किसी पुरानी रिवाज के अनुसार निर्धारित होती है और बहुत कम होती है। किन्तु क्योंकि रीति-रिवाज आसानी से छोड़े नहीं जाते, इसलिये मजदूरी भी नहीं बढ़ती।

(च) यदि किसी स्थान या पेशे में अधिक मजदूरी मिलने का अवसर भी

हो, तो मजदूर को इस बात का समाचार ही नही मिलता। मजदूरी के बढ़ने में उनकी अज्ञानता बाधक होती है।

(छ) आबादी इस तेजी के साथ बढ़ रही है कि इसका परिणाम बेकारों की संख्या बढ़ाना होगा जिसके कारण मजदूरी का कम होना अवश्यम्भावी है।

मजदूरी का सिद्धान्त

मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त मूल्य के सिद्धान्त के समान है, केवल उसमें श्रम की विशेषताओं के अनुसार कुछ आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, श्रम की माँग और उसकी पूर्ति ही मजदूरी का निर्धारण करती है।[५]

श्रम की माँग—श्रम की माँग मालिक करते हैं जो मजदूरों से उत्पादन-क्रिया में काम कराते हैं। मजदूर को माल उत्पन्न करने के लिये रक्खा जाता है, और वह जितना माल उत्पन्न करता है, वह उसकी उत्पादकता (productivity) कहलाती है। यह उत्पादकता द्रव्य द्वारा नापी जा सकती है। जब तक कि प्रत्येक आगामी मजदूर की उत्पादकता उसकी मजदूरी से अधिक होती है, तब तक मालिक मजदूरों को रखता जाता है। किन्तु मजदूरों की संख्या जैसे जैसे बढ़ती जाती है, प्रत्येक आगामी मजदूर की उत्पादकता वैसे ही वैसे घटती जाती है[६], अतः श्रम

[५] जिस प्रकार कि मूल्य का निर्धारण माँग और पूर्ति द्वारा होता है, उसी प्रकार मजदूरी का भी निर्धारण होता है, यद्यपि मजदूरी का क्रय-विक्रय एक विशेष तरीके से किया जाता है। श्रम के मूल्य और मजदूरों की आमदनी में अन्तर होता है। किसी व्यक्ति की आय उसके श्रम के मूल्य पर तो निर्भर होती ही है, साथ में उसके श्रम की किस्म भी महत्त्व रखती।"—Batson, *Practical Economics*, p 27.

[६] नीचे के चित्र में श्रम पर लागू होनेवाले सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त
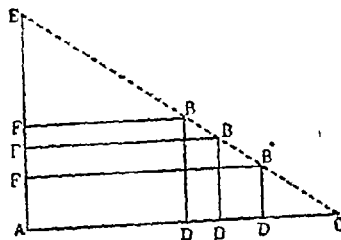
की उत्पादकता वस्तु की उपयोगिता से मिलती-जुलती है, क्योंकि उपयोगिता भी पूर्ति की वृद्धि के साथ-साथ कम होती जाती है।

कालान्तर में एक ऐसी अवस्था आयेगी जब कि सीमान्तर मजदूर की उत्पादकता उसकी मजदूरी के बराबर हो जायगी। ऐसा मजदूर नोकरी की सीमा पर होता है—अर्थात् उसको नौकर रखने या न रखने में मालिक के लिये कोई अन्तर नहीं होता। जितना माल वह उत्पन्न करता है, उतनी ही उसकी मजदूरी होती है, इसलिये उसके रखने या न रखने के मामले में मालिक उदासीन होता है। अत, उसे **सीमान्तर मजदूर** कहते हैं, और वह अन्तिम मजदूर होता है जिसको कि नौकर रखा जाता है। सीमान्त मजदूर की उत्पादकता ही **सीमान्त** उत्पादकता कहलाती है।

जो मजदूरी मालिक सीमान्त मजदूर को देने के लिये तत्पर होता है, वह सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। यह सीमान्त उत्पादकता से अधिक नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा होने से मालिक को नुकसान होगा।

जब हम बहुत से मजदूरों के विषय में सोचते हैं, तो हम यह मान लेते हैं कि सब मजदूरों में समान कार्य-क्षमता है और प्रत्येक मजदूर दूसरे का स्थानापन्न हो सकता है। अत उनमें से प्रत्येक को समान मजदूरी दी जायगी। यह मजदूरी वही होगी जो कि सीमान्त मजदूर को दी जायगी। हम यह बता ही चुके हैं कि सीमान्त मजदूर को जो मजदूरी दी जाती है वह सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सीमान्त उत्पादकता को श्रम का माँग मूल्य (Demand price) कहा जा सकता है। मालिक सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी नहीं देगा; यह उसकी **अधिकतम सीमा** होती है।

श्रम की पूर्ति—जिस प्रकार कि मालिक (या श्रम का खरीदार) एक अधिकतम सीमा निश्चित कर लेता है, उसी प्रकार मजदूर (या श्रम का विक्रेता) अपनी एक न्यूनतम सीमा निश्चित कर लेता है। मजदूर की न्यूनतम सीमा उसके

को दिखाया गया है। श्रम की मात्रा AC रेखा पर नापी गई है और श्रम की उत्पादकता AE रेखा पर और झुकती हुई EC रेखा श्रम की सीमान्त उत्पादकता का घटना दिखलाती है। यदि श्रम की मात्रा AD है, तो सीमान्त उत्पादकता BD या AF होगी। इसी प्रकार यदि श्रम की मात्रा AD' हो जाय, तो सीमान्त उत्पादकता घटकर D' B' या AF' रह जायगी। और यदि श्रम की मात्रा AD'' हो जाय तो सीमान्त उत्पादकता B'' D'' या AF'' हो जायगी। यदि श्रम की मात्रा AC के बराबर हो जाय तो सीमान्त उत्पादकता शून्य हो जायगी।

रहन-सहन के स्तर—अर्थात् आवश्यकता, आराम और विलासता की उन वस्तुओं की मात्रा के द्वारा जिनके उपभोग की उसे आदत पड जाती है और जिसके उपभोग किये बिना उसे बहुत कष्ट होता है—निर्धारित होती है। मजदूरी कम से कम मजदूर के रहन-सहन के स्तर की लागत के बराबर अवश्य होनी चाहिये, रहन-सहन की लागत से कम मजदूरी मजदूर स्वीकार नहीं करेगा। यदि मजदूर की चेष्टा के विरुद्ध उसे इससे कम मजदूरी दी जायगी, तो वह शादी देर में करके, या आजीवन अविवाहित रहकर या ऊँचे मजदूरीवाले पेशों में प्रवेश करके, या अधिक कार्य-क्षमता प्राप्त करके, या अन्य मजदूरों से मिलकर हड़ताल करके, या अन्य इसी प्रकार इस मजदूरी को प्राप्त करने का प्रयास करेगा। इन रीतियों का परिणाम स्पष्ट रूप से मजदूरी में वृद्धि करना होता है। इस प्रकार मजदूरों के रहन-सहन का स्तर वह न्यूनतम सीमा निश्चित करता है जिससे कम मजदूरी हो ही नहीं सकती।[७]

मॉग और पूर्ति की अतर्क्रिया—उपरोक्त दोनों सीमाओं के बीच में—सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित अधिकतम सीमा तथा रहन-सहन के स्तर द्वारा निर्धारित न्यूनतम सीमा के बीच में, मजदूरी मजदूर और मालिक की भाव-ताव करने की सापेक्षिक उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती है। व्यवहार में, मजदूर को भाव-ताव करने की शक्ति बहुत कमजोर होती है इसलिये मजदूरी सीमान्त उत्पादकता की अपेक्षा रहन-सहन के स्तर के ही अधिक समीप होती है।[८]

मजदूरी के पुराने सिद्धान्त

ऊपर हमने मजदूरी के जिस सिद्धान्त का विवेचन किया है, उसे मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त या मॉग और पूर्तिवाला सिद्धात कहते हैं। पुराने अर्थशास्त्रियों

७श्रम के सम्बन्ध में रहन-सहन के स्तर का वही स्थान होता है जो किसी साधारण वस्तु के सम्बन्ध में लागत का। देखिये Thoms, *Elements of Ecounmics*, p. 277

८साधारण वस्तु का दीर्घ-कालीन मूल्य उसकी लागत के बराबर होता है और अल्पकालीन मूल्य सीमान्त उपयोगिता के बराबर। इसी प्रकार कुछ अर्थशास्त्री कहते हैं कि मजदूरी अल्पकाल में रहन-सहन के स्तर के निकट होती है तथा दीर्घ-काल में सीमान्त उत्पादकता के निकट। किन्तु यह मत ठीक नहीं। साधारण वस्तु के सम्बन्ध में हम यह मान लेते हैं कि दोनों पक्षों के भाव ताव करने की योग्यता समान है। किन्तु श्रम के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना गलत होती है। इसलिये उपरोक्त मत निराधार है।

ने मजदूरी के कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं ; (१) मजदूरी का लौह सिद्धात (Iron Law) या जीवन-रक्षण सिद्धात, (२) मजदूरी कोष सिद्धात, (३) अवशेष दावेदारी का सिद्धान्त और (४) सीमान्त उत्पादकता का सिद्धात। अब यह सब सिद्धान्त त्याग दिये गये हैं और आधुनिक सिद्धान्त ही ठीक माना जाता है। किन्तु आधुनिक सिद्धान्त भी दोष हीन नहीं और अभी एक ऐसे सिद्धान्त की हमें आवश्यकता है जो पूर्णतया सन्तोष-जनक हो।

§ ३. मजदूरी, कार्य-क्षमता तथा रहन-सहन का स्तर

मजदूरी और रहन-सहन के स्तर में घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथा मजदूरों की कार्य क्षमता के माध्यम के द्वारा इनकी एक दूसरे पर क्रिया तथा प्रतिक्रिया होती रहती है।

(क) हम पहले रहन-सहन के स्तर को लेते हैं। मान लीजिये, मजदूरों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जाता है। अत, अब वे पहले से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे और पहले से अच्छी वस्तुओं का सेवन करेंगे। इससे उनकी शारीरिक एवं मानसिक कार्य-क्षमता बढ़ जायगी। इसके परिणाम स्वरूप उनकी उत्पादकता भी अवश्य बढ़ेगी। अत., मजदूरी जिस अधिकतम सीमा तक जा सकती है, वह ऊँची हो जायगी। इसी प्रकार रहन-सहन का स्तर वह न्यूनतम सीमा निश्चित करता है जिससे कम मजदूरी नहीं हो सकती। अत रहन-सहन के स्तर के ऊंचे होने का आशय मजदूरी की न्यूनतम सीमा का ऊँचा हो जाना हुआ इस प्रकार अधिकतम और न्यूनतम सीमाओं के बढ़ जाने के कारण, मजदूरी का बढ़ना भी निश्चित हो जाता है।

यदि रहन-सहन का स्तर नीचा हो जाय, तो परिणाम इसके विपरीत होगा। मजदूरों की कार्य-क्षमता कम हो जायगी। उनकी उत्पादकता भी घट जायगी। जिस अधिकतम सीमा तक मजदूरी जा सकती है, वह सीमा भी नीची हो जायगी। जिस न्यून-तम सीमा तक मजदूरी घट सकती है, वह भी नीची हो जायगी। इस प्रकार जब अधिकतम और न्यूनतम सीमाएँ घट जायँगी तो मजदूरी अवश्य घटेगी।

चित्र नं०—३२
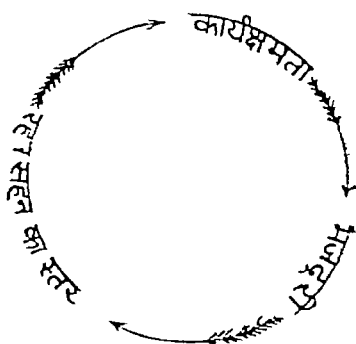
(ख) अब हम **मजदूरी के दृष्टिकोण से** उपरोक्त सम्बन्ध पर प्रकाश डालेंगे। यदि मजदूरी बढ जाती है, तो मजदूर अधिक आवश्यकताएँ सन्तुष्ट कर सकेंगे और उनकी कार्य-क्षमता बढ जायगी। अतः, उनकी उत्पादकता में भी वृद्धि होगी। मजदूरी की अधिकतम सीमा ऊँची हो जायगी। साथ ही साथ मजदूरी के बढ जाने से रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा हो जायगा, जिसके कारण मजदूरी की न्यूनतम सीमा ऊँची हो जायगी। अधिकतम और न्यूनतम सीमाओं के ऊँचे हो जाने के कारण, मजदूरी अवश्य बढ जायगी।

यदि मजदूरी कम हो जाय, तो परिणाम विपरीत होगा। कार्य-क्षमता गिर जायगी; इसके फलस्वरूप उत्पादकता भी घट जायगी। अत. मजदूरी की अधिकतम सीमा कम हो जायगी। इसके साथ ही साथ, रहन सहन का स्तर नीचा हो जायगा और मजदूरी की न्यूनतम सीमा भी घट जायगी। अत: मजदूरी कम हो जायगी।

(ग) अब हम **कार्यक्षमता की दृष्टि से** भी इस समस्या पर विचार कर ले। यदि किसी प्रकार मजदूरों की कार्य-क्षमत बढ जाय, तो उनकी उत्पादकता भी बढ जायगी। अत. उनकी मजदूरी भी बढेगी। इससे उनका रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा होगा। कार्य-क्षमता के कम हो जाने पर परिणाम विपरीत होगा।

उपरोक्त विवेचना से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला तो यह है कि यदि अन्य बाते समान रहे तो मजदूरी के बढने के फल-स्वरूप मजदूरों के रहन-सहन का स्तर या उनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है। दूसरा यह कि रहन-सहन के स्तर, या कार्य-क्षमता या मजदूरी के परिवर्तन का प्रभाव बढता जाता है। उदाहरण के लिये, यदि कार्य-क्षमता बढ जाय, तो मजदूरी बढ जायगी। इसके फलस्वरूप रहन-सहन का स्तर बढ जायगा। इसका परिणाम होगा कार्य-क्षमता में वृद्धि होना। यह चक्र लगातार इसी प्रकार चलता रहेगा।[१]

§ ४. असली और नकद मजदूरी

अर्थ

आधुनिक समय में मजदूरों को पुरस्कार द्रव्य के रूप में दिया जाता है।

---

१ देखिये A C Pigou, *Economics of Welfare* हमने इस बात की कल्पना कर ली है कि मजदूर व्यय बुद्धिमानी से करेंगे। किन्तु कभी-कभी मजदूर खर्च करने में असावधानी से काम लेते हैं। इसको रोकने के दो उपाय हैं: (१) उनकी मजदूरी को किसी गुप्त रीति से घटाना, जैसे (१) गेहूँ, (२) गेहूँ के मूल्य पर देना, (३) मजदूरी धीरे-धीरे बढाना और साथ में बुद्धिमानी से व्यय करने के लिये आवश्यक प्रचार करना।

द्रव्य के रूप में दी गई मजदूरी नकद मजदूरी (Money or Nominal Wage) कहते हैं।[१०]

मजदूरी की दृष्टि में रुपये का महत्त्व रुपये तक ही सीमित नहीं होता। उसके लिए असली महत्त्व आवश्यकता, आराम और विलासिता की उन वस्तुओं का होता है जो कि वह नकद मजदूरी के द्वारा खरीद सकता है। इसके अतिरिक्त, वह नकद मजदूरी के अलावा और रियायतों तथा लाभों को भी बहुत महत्त्व देता है। जैसे घर के नौकरों को रहने के लिए मुफ्त कोठरी मिल जाती है, पहनने को कपड़े और जूते, त्यौहारों पर इनाम तथा समय-समय पर कुछ न कुछ उसे मिलता ही रहता है। इसी प्रकार मिल में काम करनेवाले मजदूर को मिल में बननेवाली चीजें सस्ते दर पर मिल जाती हैं, उसे वाचनालय या खेलने या चिकित्सा के लिये भी कुछ नहीं देना पड़ता तथा उसे अन्य ऐसी ही सुविधायें मिल जाती हैं। नकद मजदूरी के द्वारा खरीदी जा सकनेवाली आवश्यकता, आराम तथा विलासिता की वस्तुओं, और मजदूर को मिलनेवाली अन्य रियायतें, सुविधायें और लाभ का सामूहिक नाम असली मजदूरी (Real Wage) है।[११]

नकद मजदूरी द्रव्य में व्यक्त की जाती है और असली मजदूरी वस्तुओं तथा सेवाओं के द्वारा। मजदूर नकद मजदूरी की उतनी परवाह नहीं करता जितनी कि असली मजदूरी की। हो सकता है कि गाँवों में मजदूरी आठ आने रोज हो और शहर में एक रुपये रोज, किन्तु गाँव की अपेक्षा शहर में हर वस्तु का मूल्य भी अधिक हो सकता है, अतः, सम्भव है कि गाँवों में असल मजदूरी शहर की अपेक्षा अधिक हो। अतएव यह जान लेना आवश्यक है कि असल मजदूरी का निर्णय किन बातों पर निर्भर होता है।

असली मजदूरी को प्रभावित करनेवाली बातें

(१) द्रव्य की क्रय-शक्ति—असली मजदूरी के निर्धारण में जिस बात का

---

[१०] कुछ लेखक लिखते हैं कि नकद मजदूरी वह मजदूरी है जिसको द्रव्य के रूप में व्यक्त किया जाता है। यह भाषा दूषित है। यदि पूरी असली मजदूरी का मूल्य (द्रव्य के रूप में) निकाल लिया जाय, तो शायद वह नकद मजदूरी न कहला सके। जो कुछ भी हो, ऐसा कथन विवाद-ग्रस्त है।

[११] नकद मजदूरी से आशय उन रुपयों से है जो मजदूर को मिलते हैं। असली मजदूरी से आशय रुपयों की संख्या से नहीं, किन्तु मजदूर को मिलनेवाली क्रय-शक्ति की मात्रा से है।—J. R. Turner, *Introduction to Economics*, p 458.

महत्त्व सबसे अधिक होता है, वह है द्रव्य की क्रय-शक्ति। किसी-किसी स्थान पर सामान्य मूल्य बहुत कम होते हैं जिससे कि द्रव्य की क्रय-शक्ति ऊँची होती है, इसके
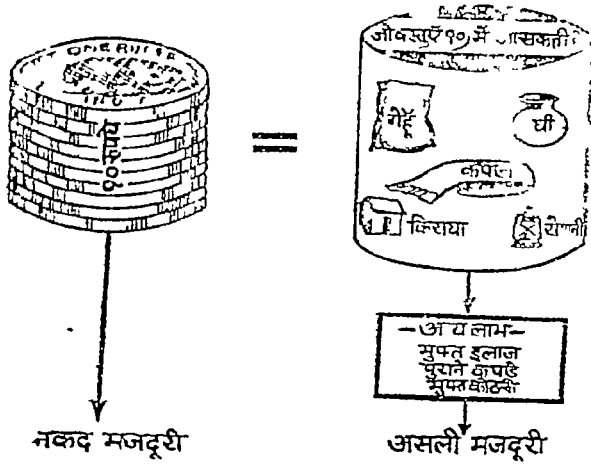
चित्र नं० ३३

विपरीत, दूसरी जगह मूल्य बहुत ऊँचे होते हैं जिससे कि द्रव्य की क्रय-शक्ति बहुत कम होती है। यदि ऐसे समस्त स्थानों में मजदूर को समान नकद मजदूरी मिले, तो वे पहलेवाले स्थान में काम करना अधिक पसन्द करेंगे। जैसे कि गाँवों में अनाज, जिनका कि मजदूर मुख्यतः उपभोग करता है, बहुत सस्ते होते हैं, समीप के किसी कस्बे में अनाज का मूल्य अधिक होता है, और किसी घने बसे हुए औद्योगिक शहर में, जैसे कानपुर, कलकत्ता या बम्बई में, अनाज और भी तेज होता है। यह एक प्रधान कारण है कि जिसके फलस्वरूप मजदूरी गाँवों में कम होती है, समीप के कस्बों में कुछ अधिक और औद्योगिक केन्द्रों में बहुत अधिक।[१२]

(२) साथ की सुविधायें—नकद मजदूरी के अतिरिक्त, मजदूरी को बहुत सी रियायतें और सुविधायें भी कभी-कभी प्राप्त होती हैं। खेतों पर काम करनेवाले मजदूरों को दूध और मट्ठा मुफ्त या कम दाम पर मिलता है और उन्हें रहने के लिये किराया भी नहीं देना पड़ता। साधारणतया बैंक के मैनेजर को रहने के लिये

[१२] यदि विभिन्न समय में नकद मजदूरी समान हो, तो असली मजदूरी उस समय सबसे अधिक होगी जबकि मूल्य सबसे कम होंगे।—Crew, *Economics for Commercial Students*, p. 93.

मुफ्त जगह मिलती है। अध्यापकों और सरकारी नौकरों को पेन्शन या प्राविडेन्ट फण्ड मिलता है। रेल के कर्मचारियो को मुफ्त टिकट मिलते हैं। असली मजदूरी के निर्धारण मे इस प्रकार की साथ की सुविधाओं का भी हाथ होता है।

(३) शिक्षा का समय और उसकी लागत—असली मजदूरी इस बात पर भी निर्भर होती है कि मजदूर को आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने के लिये कितना समय लगाना होगा और कितना रुपया खर्च करना पड़ेगा। कुछ ऐसे अकुशल पेशे होते हैं जिनमें शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं होती, जैसे मिट्टी खोदना या ईंटे उठाना। कोई भी व्यक्ति बिना शिक्षा प्राप्त किये अकुशल मजदूर बन सकता है। कुछ पेशे ऐसे होते हैं कि उनके लायक बनने के लिये थोड़े से ही समय और लागत की आवश्यकता होती है जैसे मोटर चलाना। किन्तु कुछ अन्य पेशों के लिये काफी समय तक और काफी धन व्यय करके शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है जैसे डाक्टरी के लिये। असली मजदूरी का अनुमान लगाते समय इन बातो पर भी ध्यान देना चाहिये। यदि किसी मोटर ड्राइवर को ३०) महीने मिलें और किसी बी० ए० पास अध्यापक को २५) महीने, तो अध्यापक की असली मजदूरी ड्राइवर से निश्चय ही कम है।

(४) व्यापारिक व्यय—कभी-कभी व्यापार या पेशा इस प्रकार का होता है कि मनुष्य को कुछ खर्च करना पड़ता है। जैसे कालेज के प्रोफेसर को कालेज आने-जाने के लिये टाँगा लेना पड़ता है तथा किताबों और समाचार पत्रों-पर भी धन व्यय करना पड़ता है। इसी प्रकार वकील को भी सवारी किराये पर लेनी होती है, क्लर्क रखना पड़ता है और पुस्तकें खरीदनी पड़ती हैं। असली मजदूरी का ठीक-ठीक अनुमान लगाने के लिये यह आवश्यक है कि नकद मजदूरी में से इस प्रकार के व्यापारिक व्यय घटा दिये जायँ।

(५) काम का स्वभाव—व्यापारिक व्यय के अतिरिक्त काम का स्वभाव भी बहुत महत्त्व का होता है। कुछ पेशे ऐसे होते हैं कि वे शरीर को थका देते हैं (जैसे लोहारगीरी) और जीवनकाल को छोटा कर देते हैं। कुछ अन्य पेशे खतरनाक होते हैं (जैसे कुछ रसायनों से काम करना) और वे कमाने की अवधि छोटी कर देते हैं। कुछ अन्य पेशे गन्दे और घृणित होते हैं जैसे भंगी या कसाई का काम। असली मजदूरी का अनुमान लगाते समय इन सब बातों पर विचार कर लेना चाहिये। कुछ पेशे, उपरोक्त पेशों के विपरीत बहुत अच्छे और सुखदायक होते हैं। जैसे अध्यापक या चित्रकार का काम। इस प्रकार की सुखदायकता असली मजदूरी बढ़ा देती है, और काम की थकावट आदि असली मजदूरी घटा देती है।

(६) **काम करने की अवधि**—पेशे के स्वाभाव के अतिरिक्त असली मजदूरी इस बात पर भी निर्भर होती है कि मजदूर को कितनी छुट्टियाँ मिलती हैं और उसे दिन में कितने घंटे काम करना पड़ता । इस बात का महत्त्व हमें बैंक के मैनेजर की, जिसे नौ बजे सुबह से ६ या ७ बजे शाम तक काम करना पड़ता है और बहुत कम छुट्टियाँ मिलती हैं, कालेज के प्रोफेसर से, जिसे प्रति सप्ताह थोड़े से ही घंटे पढ़ाना पड़ता है और काफी छुट्टियाँ मिलती हैं, तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है।

(७) **काम का स्थायी होना**—काम का स्थायी होना भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। कुछ काम अस्थायी होते हैं, जैसे बढ़ई। किसी बढ़ई को किसी जगह कुछ दिनों के लिये काम मिल जाता है और इसके बाद उसे कभी-कभी बहुत समय तक बेकार रहना पड़ता है। इस प्रकार चीनी के कारखाने केवल जाड़ों में ही चलते हैं और लगभग समस्त कर्मचारी गर्मियों में निकाल दिये जाते हैं। काम के अस्थायी होने से असली मजदूरी कम हो जाती है।

(८) **अतिरिक्त आय**—असली मजदूरी इस बात द्वारा भी प्रभावित होती है कि अतिरिक्त आय कमाने का अवसर है या नहीं। उदाहरण के लिये, बैंक का क्लर्क अपने खाली समय में बीमा कम्पनी के एजेन्ट की तरह काम कर सकता है। अध्यापक परीक्षक या लेखक हो सकता है। इस प्रकार के अवसर असली मजदूरी बढ़ा देते हैं।

(९) **आश्रितों को काम मिलना**—यदि मजदूर के परिवार के सदस्यों को काम मिलने के अवसर अधिक होते हैं, तो उसकी असली मजदूरी बढ़ जाती है। कुछ औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों की स्त्रियाँ तथा लड़के कुछ काम पा जाते हैं, किन्तु अन्य केन्द्रों में ऐसा नहीं होता।

(१०) **उन्नति की आशा**—ऊँचा पद पाने या मजदूरी में वृद्धि होने की आशा का भी असली मजदूरी पर असर होता है। मजदूर कभी-कभी ऐसी नौकरी स्वीकार नहीं करता जिसमें कि आरम्भ में तो मजदूरी अधिक मिले किन्तु बाद को उन्नति के अवसर बहुत कम हों, और ऐसी मजदूरी स्वीकार करना उचित समझता है जिसमें कि प्रारंभिक पुरस्कार तो कम हो किन्तु बाद को उन्नति के अवसर बहुत हों।

द्रव्य की अधिक क्रय-शक्ति, साथ के अन्य लाभ, शिक्षा के समय और लागत का कम होना, व्यापारिक व्यय का कम होना, काम का हलका और सुखदायी होना दिन में थोड़े समय काम करना, नौकरी का

स्थायी होना, अतिरिक्त आय, आश्रितों को नौकरी मिलना और उन्नति की आशा होना—ये सब असली मजदूरी को बढ़ाते हैं, और उनकी अनुपस्थिति असली मजदूरी को घटाती है।

§ ५. श्रम की नकद और असली लागत

जिस प्रकार कि मजदूर नकद मजदूरी तथा असली मजदूरी की तुलना करके विभिन्न पेशों मे भेद-भाव करता है, उसी प्रकार मालिक भी मजदूरों में उनकी नकद और असली लागत का मिलान करके भेद-भाव करता है। जो मजदूरी किसी मजदूर को दी जाती है, वह नकद लागत (Nominal or Money Cost) कहलाती है, और प्रति इकाई मजदूरी उसकी असली लागत (Real Cost) होती है। यदि दो सूत कातनेवाले आठ आने प्रति दिन पर रक्खे जायँ और उनमें से पहला व्यक्ति ८०० गज सूत काते और दूसरा केवल ४०० गज, तो दोनों की नकद लागत तो वही है किन्तु पहले की असली लगात $\frac{८}{८००}$ आने है और दूसरे की असली लागत $\frac{८}{४००}$ आने है—अर्थात् दूसरे की असली लागत पहले से आधा-दुगुनी है।

ऊँची मजदूरी सस्ती होती है

बहुत से भारतीय मालिक यह सोचते हैं कि वे कम मजदूरी के मजदूर को लगाकर किफायत से काम कर सकते हैं। किन्तु मजदूरी कम देने की नीति, जिसका परिणाम मजदूर के रहन-सहन के स्तर का नीचा होना और उसकी कार्यक्षमता का कम होना होता है, मालिक के दृष्टिकोण से हानिकारक होती है। अमेरिका में कारखाने का श्रम ससार में सबसे सस्ता होता है क्योंकि इस श्रम को ससार में सबसे अधिक मजदूरी मिलती है। जब मजदूरी अधिक होती है तो मजदूर के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है। स्तर ऊँचा होने से मजदूर मे शारीरिक शक्ति तो अधिक होती ही है, साथ में उसकी बुद्धि, आशा और आचरण में भी उन्नति होती है। एक सीमा तक कार्यक्षमता की वृद्धि मजदूरी के वृद्धि से अधिक अनुपात में होती है। यह बात हम ऊपरवाले उदाहरण को लेकर अच्छी तरह समझा सकते है। यदि मालिक दूसरे मजदूर को, जो एक दिन में ४०० गज सूत कातता है, ।।।) प्रतिदिन दे और ८०० गज सूत कातनेवाले को १=) प्रतिदिन, तो मजदूरी को देखने से तो यह मालूम पड़ता है कि पहलेवाला मजदूर सस्ता है। किन्तु वास्तव में बात उल्टी ही है। प्रति सौ गज सूत कातने की लागत पहले मजदूर के लगाने पर $\frac{१२ \times १००}{४००}$ = ३ आने होती है, और दूसरे मजदूर के लगाने पर

$\frac{१८ \times १००}{८००}$ =९ पैसे। इस प्रकार नकद लागत अधिक हो सकती है किन्तु असली लागत काम।

सस्ती मजदूरी महँगी पड़ती है

ऊपर के उदाहरण में, कम मजदूरी पानेवाले को लगाने से श्रम की लागत अधिक पड़ती है। अत., सस्ती मजदूरी मँहगी पड़ती है। मालिक अब इस बात को समझने लगे हैं कि सस्ते मजदूर रखने से उन्हें किफायत या लाभ नहीं होता। यदि मजदूरी बहुत कम हुई, तो मजदूर का रहन-सहन का दर्जा बहुत गिर जाता है और उसकी कार्यक्षमता अनुपात से अधिक मात्रा में गिर जाती है। अब प्रगतिशील उत्पादक इस बात को मानने लगे हैं कि "कार्य-क्षम मजदूरी" "Efficiency Wages" देनी चाहिये जिससे कि मजदूरों में कार्य-क्षमता बनी रहे और उनकी उत्पादकता ऊँची रहे।[१४]

अधिक समय तक काम कराना हानिकारक है

कुछ व्यक्तियों की यह गलत धारणा होती है कि यदि वे मजदूरों से अधिक समय तक काम करायेंगे, तो उनकी उत्पादकता अधिक होगी, और श्रम की लागत कम। वास्तव में काम का समय अधिक लम्बा होने से मजदूर की शक्ति इतनी जल्दी क्षीण हो जाती है कि उसकी कार्यक्षमता बहुत गिर जाती है और उसकी असली लागत ऊँची हो जाती है। प्रयोग द्वारा इस बात का पता लगाया गया है कि यदि काम करने का समय किसी सीमा तक घटा दिया जाय, तो कम समय में दो मजदूर लम्बे समय की अपेक्षा अधिक मात्रा में माल उत्पन्न करते हैं। हाँ, यदि उस मात्रा से अधिक समय घटाया गया, तो उत्पादकता निश्चय ही कम हो जायगी।

§ ६. मजदूरी की किस्में

मजदूरी की मात्रा के अतिरिक्त मजदूरी अदा करने की रीति भी बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। यदि मजदूरी देने की रीति दूषित हुई, तो नकद मजदूरी अधिक होने से भी मजदूरों को सम्भव है कोई विशेष लाभ न हो। मजदूरी अदा करने की दो प्रमुख रीतियाँ हैं—**समयानुसार मजदूरी (Time Wage) और कार्यानुसार मजदूरी (Piece Wage)**। साधारणतया समयानुसार मजदूरी दी जाती है। जो मजदूरी समय के हिसाब से दी जाती है, जैसे प्रतिदिन, प्रतिसप्ताह, प्रतिमास या प्रतिवर्ष, उसे समयानुसार मजदूरी कहते हैं। किन्तु

[१४]देखिये Tood, *Political Economy for Egyptian Students*, p 64.

यह तरीका सब दशाओं में ठीक नहीं पड़ता, इसलिये कभी-कभी मजदूरी कार्यानुसार भी दी जाती है। जो मजदूरी काम के हिसाब से दी जाती है, उसे कार्यानुसार मजदूरी कहते हैं। हम नीचे इन दोनों रीतियो के गुण और दोषों का वर्णन करेंगे।

समयानुसार मजदूरी के गुण अवगुण

समयानुसार मजदूरी के गुण तो इसी बात से स्पष्ट हैं कि अधिकतर इसी रीति का प्रयोग किया जाता है। यह रीति नौकरी स्थायी बना देती है। यदि मजदूर थोड़े दिनों के लिये बीमार पड़ जाय, या कारखाना ही मशीन के टूटने या अन्य किसी कारणवश बन्द हो जाय, तो समय के अनुसार मजदूरी में से कटौती नहीं की जाती। इसके अतिरिक्त, यह मजदूरो की शारीरिक शक्ति की रक्षा करती है। क्योंकि यह इन्हें सामर्थ्य से अधिक परिश्रम करने के लिये प्रोत्साहित नहीं करते। यदि किसी काम को करने लिये ऊँचे दर्जे की कारीगरी और बारीकी आवश्यक हो, तो यह रीति सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसके अन्तर्गत मजदूर को काम जल्दी जल्दी कर डालने के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं होता। अन्त में, जब काम ऐसा होता है, कि उनकी मात्रा का नापना असम्भव होता है, जैसे मैनेजर या निरीक्षक का काम, तब इस रीति का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है।

किन्तु इस रीति के कई दोष हैं। इसका सबसे बड़ा दोष तो यही है कि यह मजदूरों को अधिक होशियारी से और कार्य-क्षमता से काम करने के लिये प्रोत्साहित नहीं करती। उल्टे उन्हे एक निश्चित पुरस्कार मिलने का आश्वासन होता है और इसलिये वे सुस्त पड़ जाते हैं। इसी कारण उनके ऊपर देख-भाल करने के लिये निरीक्षक रखने पड़ते हैं, जिससे खर्चा बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त, इस रीति के अन्तर्गत कुशल और कम कुशल मजदूर में अन्तर करना कठिन हो जाता है। कुशल मजदूरों को अपनी कुशलता से कम अनुपात में मजदूरी मिलती है, और कम कुशल मजदूरों को, अधिक अनुपात मे।

कार्यानुसार मजदूरी के गुण और अवगुण

यह रीति उचित और न्याय-पूर्ण है। मजदूर जितना भी काम करता है, उसके अनुपात में उसे पुरस्कार मिलता है। मालिक को भी मजदूरी के बदले में पूरा प्रतिफल (consideration) प्राप्त हो जाता है। दूसरे, मजदूर जितना ही काम अधिक करता है, उतनी ही मजदूरी उसे ज्यादा मिलती है। अत: इसके अन्तर्गत मजदूर को उत्पत्ति बढ़ाने की प्रेरणा होती है। अधिक कुशल मजदूर को

अधिक मजदूरी मिलती है और कम कुशल मजदूर को कम। निरीक्षण का व्यय भी बहुत कम हो जाता है।

किन्तु इस प्रथा के बहुत से दोष भी हैं। मजदूरों को काम के हिसाब से पुरस्कार मिलने के कारण, वे शीघ्रता से काम करते हैं और अपनी सामर्थ्य के बाहर परिश्रम करते हैं। इसके फलस्वरूप उनका काम खराब होता है, और उनका स्वास्थ्य भी खराब हो जाता है और वे कम उम्र मे ही बुड्ढे हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, जब मजदूर बीमार पड़ता है, तो उसे मजदूरी नहीं मिलती, इससे उसे बहुत कठिनाई होती है। यह प्रथा मजदूरों मे जलन और स्पर्द्धा भी उत्पन्न कर देती है।

इन रीतियों का क्षेत्र

इन दोनों रीतियों के भेदों पर हमें आवश्यकता से अधिक जोर नहीं डालना चाहिये। अन्तिम विश्लेषण मे, दोनों रीतियों का एक दूसरे से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। कार्यानुसार मजदूरी स्थिर करते समय इस बात का पूरा ध्यान रक्खा जाता है कि उस काम के करने के लिये कितने समय की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, समयानुसार मजदूरी स्थिर करते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि किसी निश्चित समय के अन्दर कितना काम किया जा सकता है। उत्पादक जिस रीति से भी मजदूरी दे, उसकी चेष्टा सदैव यही रहती है कि वह अपने रुपये के बदले में समान श्रम कराये।[१४] इन दोनों रीतियों में से किसी एक के चुनने में दो मुख्य बातों पर ध्यान देना पड़ता है (१) कारीगरी की किस्म, और (२) काम का नापा जा सकना। यदि ऊँचे दर्जे की कारीगरी आवश्यक हुई या श्रम का नापना कठिन हुआ, तो मजदूरी समयानुसार दी जाती है, और विपरीत दशा में, मजदूरी कार्यानुसार दी जाती है। सामान्यतया पहली रीति अधिकतर काम में लाई जाती है।[१५]

§ ७. ट्रेड यूनियन या मजदूर सभा

हम ऊपर बता चुके हैं कि एक मजदूर की भाव-ताव करने की सामर्थ्य बहुत कम होती है। यदि वे मालिकों से सफलतापूर्वक स्पर्द्धा करना चाहते हैं, तो इसका केवल यही उपाय है कि वे एक दूसरे से मिलकर चलें और सामूहिक रूप से भाव-ताव करें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये, मजदूर अपने आपको ट्रेड यूनियन या

---

[१४] Clay, *Economics for the General Reader* p 297

[१५] अमेरिका में इन रीतियों के विस्तार के लिये देखिये *Final Report of the Industrial Commission* (1902), pp 735-736

मजदूर सभा के रूप में संगठित करते हैं। सिडनी वेब और बीअट्रिस वेब के शब्दों में, ट्रेड यूनियन मजदूरों की वह स्थायी सभा है जिसका उद्देश्य उनकी नौकरी सम्बन्धी अवस्थाओं को बनाये रखना या उनमें सुधार करना है।[१६]

मजदूर सभा के निम्नलिखित काम होते हैं: (१) मजदूरों के आम हितों पर जोर डालना और उनमें भ्रातृभाव उत्पन्न करना और इस प्रकार उनमें एकता और संगठन स्थापित करना। (२) मजदूरों ने जो सुविधायें और विशेष लाभ प्राप्त कर लिये हैं, उनको बनाये रखना। (३) मजदूरों की अवस्था में और सुधार करने की चेष्टा करना, मजदूरों के हितों के लिये लड़ना और महत्त्वपूर्ण पदों के लिये मजदूरों के हितैषियों को चुनना या नियुक्त कराना। इसी कारण इसे लड़नेवाला संगठन (Militant Organisation) कहते हैं। जिन विशेष लाभों के लिये ये सभायें लड़ती हैं, वे हैं मजदूरी में वृद्धि और काम के घंटों में कमी। (४) अपने सदस्यों को उनकी बीमारी या अन्य किसी आपत्ति के समय सहायता पहुँचाना और बेकारी के समय उनके भरण-पोषण की चिन्ता करना। इसी काम के कारण इसे सहायक संगठन (Ministrant Organisation) कहा ... (५) स्वास्थ्य-संबंधी प्रचार, शिक्षा का प्रचार, तथा अन्य रीतियों द्वारा मजदूरों की कार्य-क्षमता के बढ़ाने का प्रयत्न करना।

भारतवर्ष में मजदूर सभायें

पाश्चात्य ढंग की मजदूर सभायें हमारे देश में सन् १८८० से स्थापित होने लगीं। किन्तु इस आन्दोलन का वास्तविक आरम्भ सन् १९१८ में हुआ। इस वर्ष मूल्य बहुत बढ़ गये थे किन्तु मजदूरी उतनी न बढ़ी थी, इससे मजदूरों में अशान्ति थी। इसी समय देश में राजनीतिक हलचल भी मच गई। श्री बी० पी० वाडिया ने मद्रास में और लाला लाजपतराय ने पंजाब में कुछ मजदूर सभायें स्थापित कीं। आन्दोलन मद्रास से बम्बई को फैल गया और बम्बई अब इन सभाओं का केन्द्र हो गया है। मजदूर सभाओं को जनता से तथा सार्वजनिक संस्थाओं से जैसे कांग्रेस, होमरूल लीग और मुस्लिम लीग से बहुत सहानुभूति प्राप्त हुई। सन् १९२३ में मजदूरों की दशा काफी सुधर चुकी थी। मजदूर सभा के प्रारंभिक समय में मजदूरों की द्रव्य सम्बन्धी कठिनाइयाँ ही उन्हें एकता के सूत्र में बाँध सकती हैं और जब यह सूत्र ढीला हो जाता है, तो आन्दोलन अपनी शक्ति खो देता है। अतः इस समय सभाओं का काम धीमा पड़ गया।

---

[१६] ट्रेड यूनियम वह संस्था है जिसका उद्देश्य भाव-ताव के मामले में श्रम के विक्रेता को श्रम के खरीदार के बराबर शक्ति देना है।—Clay, Op. Cit, p 306.

ये प्रारंभिक मजदूर सभायें केवल हड़ताल करने की कमेटियाँ मात्र थीं जो कि हड़ताल के समय अस्थायी रूप में स्थापित कर दी जाती थीं और जब उद्देश्य पूरा हो जाता था या पूरा नहीं होता था तो वे भग कर दी जाती थीं। किन्तु सन् १६२६ में ट्रेड यूनियन एक्ट बना जिसने हमारे देश में मजदूर सभा के आन्दोलन का इतिहास ही बदल दिया। इस एक्ट के पूर्व मजदूर सभा सम्बन्धी कोई कानून नहीं था। पुराने सामान्य कानून के षड्यन्त्र के सिद्धान्त मजदूर सभाओ पर लागू किये जाते थे जो इनके लिये बहुत घातक होते थे। १६२६ के एक्ट ने रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियनों को बहुत-सी सुविधायें प्रदान कीं। यह कानून बना दिया गया कि यदि कोई मजदूर सभा या और कोई व्यक्ति औद्योगिक झगड़ो को प्रोत्साहित करने के लिये कोई काम करे, तो वह दंड का भागी नहीं होगा। इस एक्ट ने उस आन्दोलन को सुदृढ़ कर दिया।

यह एक्ट मजदूरों के आन्दोलन के लिये शक्ति और प्रोत्साहन का साधन सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त, आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस, जो सन् १६२० से काम कर रही है, मजदूरों के आन्दोलन की केन्द्र बन गई। सन् १६१६ में इस कांग्रेस में बहुत झगड़े हुए और ये बहुत से समुदायों में, जैसे कम्यूनिस्टो लिबरलो आदि में बट गई। सन् १६३८ में मतभेद पूर्णतया मिट गये और पूर्व की एकता फिर स्थापित हो गई। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O) के बन जाने से भी हमारे मजदूर आन्दोलन को बहुत शक्ति प्राप्त हुई और इस संगठन के द्वारा हमारे देश का मजदूर आन्दोलन अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन से संयुक्त हो गया।

आजकल सन् १६२६ के एक्ट के अन्तर्गत रजिस्ट्री की हुई लगभग २०० ट्रेड यूनियन हमारे देश में हैं जिनके लगभग दो लाख मजदूर सदस्य हैं। मजदूर स्त्रियाँ इन सभाओं की अधिक संख्या में अभी सदस्य नहीं हुई हैं। सारी सभाओं ने मिल कर एक आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस बनाई है।

भारतवर्ष में मजदूर सभाओं की कठिनाइयाँ

हमारे देश में मजदूर सभाओं की उन्नति अधिक नहीं हुई है, और जो हुई भी है उसमें बहुत-सी कमजोरियाँ हैं। इस आंदोलन की निम्नलिखित कठिनाइयाँ हैं जो मजदूर सभाओ की उन्नति में बाधा डालती हैं :

(१) **भारतीय श्रम की पर्यटनशीलता**—भारतीय मजदूर केवल कारखानों पर ही निर्भर नहीं रहते। इसके विपरीत वे औद्योगिक केन्द्रों में तभी काम करने को आते हैं जब खेतों पर कोई काम करना नहीं होता, और जब खेतों पर काम होता है तब वे कारखानों का काम छोड़कर गाँव वापस चले जाते हैं।

अतः उनका कारखाने मे अस्थायी सम्बन्ध होता है और इसलिये उन्हें स्थायी रूप से मजदूर सभाओं के आधार पर संगठित करना कठिन हो जाता है।

(२) भारतीय श्रम की भिन्नता—हमारे औद्योगिक केन्द्रों में विभिन्न प्रान्तों के मजदूर, जिनकी जात और जिनके धर्म अलग-अलग होते हैं, काम करने के लिये आते हैं। वे भिन्न-भिन्न भाषायें बोलते हैं और उनकी रीति-रिवाजें तथा रहन-सहन के तरीके अलग-अलग होते हैं। अतः वे एक दूसरे से स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं मिल पाते और उनमें एकता का बन्धन स्थापित नहीं हो पाता।

(३) अनुशासन का अभाव—भारतीय मजदूरों को पार्टी के अनुशासन (discipline) में रहने की आदत नहीं होती। उन्हें बहुधा मजदूर सभाओं के नियम और उपनियम खराब मालूम होते हैं और वे उनमें बँध जाना खराब समझते हैं।

(४) भारतीय मजदूरों की निर्धनता—हमारे मजदूर बहुत निर्धन हैं और वे मजदूर सभा का चंदा आसानी से अदा नहीं कर पाते। इसलिये उनमें से बहुत से किसी भी सभा के सदस्य नहीं बनते, और अगर सदस्य बन भी जाते हैं, तो वे बराबर चंदा दे नहीं पाते और अंत में उनका नाम रजिस्टर से काटना पड़ता है।

(५) अशिक्षा—हमारे मजदूर अशिक्षित भी होते हैं और इस कारण वे मजदूर सभा का वास्तविक उद्देश्य समझ नहीं पाते। वे इस बात का अनुभव नहीं करते कि यदि वे एक दूसरे से मिल जायँ तो मालिकों के खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा स्थापित कर सकते हैं और ऐसे बहुत से लाभ प्राप्त कर सकते हैं जो उन्हें अन्यथा न मिलते।

(६) मजदूर नेताओं की कमी—मजदूरों के अपने नेता नहीं होते। अधिकांश में जब राजनीतिज्ञ अपने दृष्टिकोण से मजदूरों में अशान्ति फैलाना ठीक समझते हैं, तब वे मजदूरों के नेता बन जाते हैं और जब उनका उद्देश्य पूरा हो जाता है या राजनीतिक आन्दोलन शिथिल हो जाता है तब वे भी अदृश्य हो जाते हैं। किन्तु कुछ राजनीतिज्ञों ने तथा वकीलों ने मजदूरों की वास्तविक सेवा की है। किन्तु फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि मजदूरों के लिये वे उतने उपयोगी नहीं हो सकते जितने कि मजदूर-वर्ग के नेता।

(७) मालिकों और निरीक्षकों का विरोध—मालिक कई रीतियों द्वारा मजदूर सभाओं का विरोध करते हैं, और उनकी भाव-ताव करने की सामर्थ्य सशक्त होने के कारण, वे इस विरोध में सफल भी हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त,

मजदूरों के निरीक्षक भी यह जानते हैं कि यदि मजदूर असंगठित हुये, तो वे उन पर अपना प्रभुत्व आसानी से जमा सकते हैं। इसलिये वे इन सभाओं का विरोध करते हैं।

समय के बीतने के साथ-साथ, जैसे-जैसे ये बाधायें कम होती जायेंगी, वैसे ही वैसे हमारे देश में मजदूर सभाओं का आन्दोलन भी जोर पकड़ता जायगा। किन्तु अभी से चेष्टा इस बात की होनी चाहिये कि इस आंदोलन की नींव सुदृढ़ हो और इसका काम उपयुक्त दिशा में हो।

§ ८. भारतवर्ष में मजदूरी

हमारे देश मजदूरी की दर बहुत कम है और इस कारण मजदूरों के रहन-सहन का स्तर तथा उनकी कार्य-क्षमता बहुत नीची है। गाँवों में शहरों और कस्बों की अपेक्षा मजदूरी और भी कम होती है। इसका कुछ सीमा तक कारण यह है कि रुपये की क्रय-शक्ति गाँवों में अधिक होती है और शहरो में कम। किन्तु वास्तविक अंतर इस तर्क से पूरी तरह स्पष्ट नहीं होता। गाँवो में मजदूरी बहुत कुछ रिवाज द्वारा स्थिर होती है। जहाँ तक स्पर्द्धा का मजदूरी पर प्रभाव होता है, वहाँ भी प्रवृत्ति मजदूरी के कम होने की ओर ही होती हैं, क्योंकि अधिकतर श्रम की पूर्ति उसकी माँग से अधिक होती है। इसके विपरीत शहरों में मजदूरी के निर्धारण में स्पर्द्धा का अधिक हाथ होता है और वहाँ श्रम की कमी होने के कारण मजदूरों को अधिक मजदूरी मिल जाती है। धीरे-धीरे गाँवों में भी स्पर्द्धा का प्रभाव बढ़ रहा है और गाँवों की मजदूरी और शहरों की मजदूरी का अन्तर कम हो रहा है।

मजदूरी की दर सामान्यतया हमारे देश में, और सच पूछिये तो संसार भर में, बढ़ रही है। विदेशों में और हमारे देश में भी प्रयोगो द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि कम मजदूरीवाला श्रम मँहगा पड़ता है। अधिक मजदूरी देने में फायदा रहता है क्योंकि इससे मजदूरों की उत्पादकता अनुपात से अधिक सीमा तक बढ़ जाती है। मजदूरों ने स्वयं इस बात का अनुभव करना आरम्भ कर दिया है कि यदि उनकी कार्य-क्षमता अधिक हुई, तो उनकी मजदूरी भी अधिक हो, जायगी। साथ में, मजदूर सभाओं का आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा है और मजदूरी ऊँची कराने में अधिकाधिक सफल हो रहा है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I L O) ने भी भारतीय मजदूरो की दशा सुधारने में बहुत श्रम किया है।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'मजदूरी' का अर्थ समझाइये। मजदूरी, तथा वेतन में क्या अन्तर है?

२. श्रम की विशेषतायें कौनी सी हैं? पूर्णतया समझाइये।

३. मजदूरी के सिद्धान्त के निर्धारण का स्पष्ट निरूपण कीजिए।

४. असली और नकद मजदूरी में क्या अंतर है? वास्तविक मजदूरी किन तथ्यों पर निर्भर होती है?

५. श्रम की नकद और असली लागत से आप क्या अर्थ समझते हैं? यह समझाइये कि किस प्रकार ऊँची मजदूरी सस्ती होती है और सस्ती मजदूरी मँहगी पड़ती है। क्या काम के समय में वृद्धि कर देना बुद्धिमत्तापूर्ण होगा?

६. मजदूरी की अदायगी की रीतियाँ कौन सी हैं? इन रीतियों के गुण तथा अवगुण बतलाइये।

७. ट्रेड यूनियन क्या हैं और उनके कार्य क्या हैं?

८. भारत में ट्रेड यूनियन के इतिहास का निरूपण कीजिए। इस देश में उनकी धीमी उन्नति के क्या कारण हैं?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. निम्नलिखित से मजदूरी किस प्रकार प्रभावित होती है —(क) रहन-सहन का स्तर (ख) जाति-प्रथा? (१९४८)

२. किसी एक स्थान में विभिन्न पेशों में मजदूरी की विभिन्न दरों, उसी स्थान में एक ही पेशे में विभिन्न दरों, और विभिन्न स्थानों में एक ही पेशे में विभिन्न दरों के होने के क्या कारण हैं? भारतीय उदाहरण देकर समझाइये। (१९४६)

३. मजदूरी किस प्रकार निर्धारित होती है? रहन-सहन के स्तर का मजदूरी पर क्या प्रभाव पड़ता है? (१९४४)

४. (अ) रहन-सहन के स्तर द्वारा, (आ) श्रम की गतिशीलता द्वारा तथा (इ) सामाजिक रीति-रिवाजों द्वारा मजदूरी किस प्रकार प्रभावित होती है? (१९४२)

५. मजदूरी श्रम की माँग तथा पूर्ति द्वारा किस प्रकार निर्धारित होती है? (१९४१)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

१. मजदूरी का निर्धारण कैसे होता है? नकद मजदूरी विभिन्न पेशों में इतनी विभिन्न क्यों होती है? (१९४७)

७. "आजकल भारत में नकद मजदूरी तो ऊँची है किन्तु असली मजदूरी कम है।" इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिये। (१९४४)

८ नकद मजदूरी और असली मजदूरी का भेद बतलाइये। मजदूरों के रहन-सहन के स्तर का मजदूरी पर क्या प्रभाव पड़ता है? (१९४०)

९. मजदूरी और काम के घंटे तथा दशाओं का श्रम की कार्यक्षमता पर क्या प्रभाव पड़ता है? (१९३६)

१०. मजदूरी किस प्रकार निर्धारित होती है? जीवन-रक्षा की मजदूरी (Living Wage) क्या होती है और यह कैसे मालूम की जाती है? (१९३२)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

11 Define 'rent' and explain how it is determined. (1949)

12 What are the chief defects of the Zamindari system? What measures have been suggested to remove them? Discuss fully (1949)

13 What is meant by the term 'Standard of Living'? How does a rise in the standard of living of workers affect their wages in the long run? (1949)

14 Write a short note on Real and Money wages. (1949)

15 Explain 'Minimnm Wage' Would you prescribe such a wage for unskilled workers in our towns? Give reasons for your answer. (1948)

17. Compare and contrast the respective merits of time wages against piece wages (1948)

19 Write a short note on Real and Nominal wages. (1944, 1943)

21. (*a*) Do wages tend to be equal to marginal net product of labour? Explain your answer.

(*b*) Indicate the influence of the development of the means of transport on wages in India (1942)

22 How do you account for the existence of different rates of wages in different occupations in the same place and in the same occupation in different places? Illustrate your answer from Indian conditions (1941)

23 Distinguish between 'Real wages' and 'Nominal wages'. Illustrate your answer from Indian condition. (1940)

24. Explain the term 'wages', and show how they are determined (1939)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

25. How does the standard of living affect wages? Can you get higher wages by raising your standard of living? (1949)

26 What do you understand by marginal productivity of labour? How does it help to determine the rate of wages? (1948)

27. Write a short note on Nominal and Real Wages. (1947)

28 Explain fully the difference between 'Nominal' and 'Real' wages (1946)

29 Write a short note on Time and Piece Wages (1946)

पटना, इन्टर आर्ट्स

30. Distinguish real from nominal wages Discuss the factors which determine real wages (949)

31 How do you account for the different rates of wages in different occupations? (1947 Supp,)

32 What are the factors which determine the high or low level of the wages of any class of workers? (1946)

33 Describe the position of the worker in the present economic system How can it be improved? (1945)

पटना, इन्टर कामर्स

34 What do you mean by Demand for Labour? On what factors does the demand for labour depend? (1948 Supp.)

35. Explain why there are differences in the wages of the same class of workers in different places, and of different classes of workers in the same place. (1948)

36 Why is a professor paid a higher salary than a college peon? (1947 Supp.)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

37 Explain how the wages of a given class of workmen are determined at a given time in a country (1949)

38 Clearly explain the idea of real wages Why do they differ in different trades ? (1948)

39 Discuss the main causes of the difference in wages. Why does an I C S officer get Rs 3,000 per month, while his chaprasi gets only Rs 20 per month ? (1947)

40 Write brief explanatory notes on real wages and time and piece wages (1947)

41 How are wages determined ? How will you explain inequalities of wages ? (1945)

42. Explain the functions and importance of trade unions (1945)

नागपुर, इन्टर कामर्स

४३. भिन्न-भिन्न व्यवसायों और देशों में भृत्ति (wages) कम और अधिक क्यों होती है ? स्पष्ट कीजिये। (१९४९)

४४. मजदूरी के अंतरों के मुख्य कारणों की व्याख्या कीजिए। एक आई० सी० एस० का अफसर क्यों ३०००) प्रतिमास वेतन पाता है, जबकि उसके चपरासी को केवल २०) प्रति मास मिलता है ? (१९४७)

४५. निम्नलिखित पर संक्षिप्त व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ लिखिये : वास्तविक मजदूरी, ऊँची मजदूरी तथा सस्ती मजदूरी। (१९४७)

४६. आप असली मजदूरी तथा नकद मजदूरी से क्या समझते हैं, समझाइये। मजदूरी किस प्रकार निर्धारित होती है ? (१९४६)

४७. मजदूर विभिन्न पेशों में मजदूरी की विभिन्न दरें पाते हैं यद्यपि वे एक ही शहर में रहते हैं। क्यों ? (१९४९)

सागर, इन्टर आर्ट्स

48 Distinguish between real and nominal wages What factors govern the real wages. (1949)

49 What factors determine the rate of wages ? Why are wages of women workers ordinarily lower than those of male workers ? (1949 Supp)

50 Write a short note on Time and Piece Wages (1949 Supp)

51 Explain fully the difference between Time Wages and Piece Wages Describe their relative merits and demerits (1948)

सागर, इन्टर कामर्स

52 What is a Trade Union? What are its objects? Describe the functions performed by Trade Unions (1948)

53. Write a short note on Time and Piece Wages (1948)

अध्याय ६३

ब्याज

§ १. प्रारंभिक

ब्याज का अर्थ

ब्याज शब्द प्रतिदिन की भाषा में बहुधा काम में लाया जाता है और निश्चय ही पाठक इससे परिचित होंगे। इस शब्द का आर्थिक मतलब इसके साधारण मतलब से भिन्न नहीं होता। जो पुरस्कार ऋणी ऋणदाता को उसकी पूँजी के उपभोग करने के उपलक्ष में देता है, उसे उसी का ब्याज (Interest) कहते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि ब्याज राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो कि पूँजीपति को मिलता है। अधिकतर पूँजी रुपये के स्वरूप में उधार दी जाती है और ब्याज भी इसी स्वरूप में अदा किया जाता है। इसको प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है और इसकी गणना वार्षिक आधार पर की जाती है।

ब्याज पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। उधार लेनेवाले की दृष्टि से पूँजी धनोपार्जन में सहायक होती है, दूसरे शब्दों में, इसमें उत्पादकता होती है। क्योंकि पूँजी कुछ अर्थ (value) उत्पन्न करती है, इसीलिये उधार लेने वाले के लिये उसके प्रयोग के प्रतिफल में ब्याज देना संभव होता है। ऋणदाता के दृष्टिकोण से, पूँजी के एकत्रित होने के लिये और उसे ऋण के रूप में देने के लिये यह आवश्यक है कि तत्कालिक उपभोग के लिये उसका प्रयोग न किया जाय, और ब्याज इसी संयम (abstinence) का पुरस्कार होता है। अतः हम ब्याज की इस प्रकार परिभाषा दे सकते हैं : जो पुरस्कार पूँजी का उधार लेने वाला उसकी उत्पादकता के उपलक्ष में उसके स्वामी को संयम के बदले में देता है उसी को ब्याज कहते हैं।[१]

ब्याज की समस्या

ब्याज की समस्या तीन प्रमुख प्रश्नों में विभाजित की जा सकती है :

(१) नैतिक दृष्टि से ब्याज दी जानी चाहिये अथवा नहीं ?

---

[१] ब्याज पूँजीपति को पूँजी से मिलने वाली आय को कहते हैं चाहे यह आय उसे स्वयं पूँजी के इस्तेमाल से मिले या किसी को पूँजी उधार देकर। यह आय २ तरह

(२) ब्याज क्यों दी जाती है और क्यों ली जाती है ? यह प्रश्न पहले प्रश्न से इस अर्थ में भिन्न है कि यह प्रश्न एक आर्थिक प्रश्न है और पहला प्रश्न नैतिक।

(३) ब्याज की दर कैसे निर्धारित होती है ?

इन तीनों प्रश्नों में से पहला प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है और हम इसकी व्याख्या § २ मे करेंगे। पहले दोनों प्रश्नों का उत्तर नीचे दिया जाता है :

१ क्या ब्याज अदा करनी चाहिए ?

यह प्रश्न कि नैतिक दृष्टि से ब्याज अदा करना उचित है अथवा अनुचित, अर्थशास्त्रियो के क्षेत्र से परे है। किन्तु अन्य नैतिक समस्याओं की भाँति इसका भी एक आर्थिक पहलू है, और इसलिये हम इसकी व्याख्या नीचे करते हैं।

प्राचीन काल मे ब्याज की निन्दा—प्राचीन काल और मध्यकाल में ब्याज का लेना देना निन्दा की बात समझी जाती थी। चर्च ने रुपये को ब्याज पर उधार देने का निषेध कर दिया था। प्लैटो सूदखोरी को घृणित वस्तु समझते थे; और अरस्तू (Aristotle) ने सूदखोरी की कड़ी आलोचना की और भावी पीढ़ियों को यह सुप्रसिद्ध वाक्य दिया—"द्रव्य अनुपजाऊ होता है, यह द्रव्य उत्पन्न नहीं कर सकता।" इस्लाम में भी सूद लेने की कड़ी मुमानियत की गई है। ब्याज के विरुद्ध इस प्रकार की ससार-व्यापी भावना का कारण यह था कि उस समय में समाज की औद्योगिक और व्यापारिक उन्नति अधिक नहीं हुई थी। साधारणतया मनुष्य या तो सकट के समय ऋण लिया करते थे या फिजूलखर्ची के लिये। अतः (१) ऋणदाता उधार लेनेवालों से ऊँची दर की ब्याज वसूल कर सकते थे जिससे कि कभी-कभी ऋणी का सत्यानाश भी हो जाया

प्राप्त की जा सकती है: (१) धन उधार देकर—उधार में द्रव्य दिया जा सकता है या द्रव्य का कोई स्थानपन्न जैसे साख-पत्र, (२) पूँजी की कुछ वस्तुएँ जैसे इमारत या मशीन किराये पर देकर ; (३) स्वयं पूँजी पति के व्यवसाय में इस्तेमाल करके। आम बोलचाल में केवल पहली तरह की आमदनी ही ब्याज कहलाती है; दूसरी प्रकार की आय किराया या ब्याज कहलाती है, और तीसरी तरह की आय लाभ या ब्याज कहलाती है। किन्तु इन में से हर आमदनी पूँजी के स्वामित्व द्वारा प्राप्त होती है; अतः अर्थशास्त्र उसे केवल एक ही नाम (ब्याज) से पुकारते हैं। किराया शब्द केवल भूमि के स्वमित्व द्वारा प्राप्त होने वाली आय के लिये और लाभ व्यवसायी के विशिष्ट कार्य के लिये प्राप्त होने वाली आय के लिये प्रयुक्त किया जाता है। देखिये Carver *Distribution of Wealth*, pp. 213-214

करता था, और (२) क्योंकि पूँजी का उत्पादक कार्यो के लिये प्रयोग नहीं किया जाता था, इसलिये अरस्तू के समान महान् व्यक्ति भी इस भ्रान्ति का कथन कर सकते थे कि पूँजी द्रव्य उत्पन्न नहीं करती और इसलिये ब्याज लेना अनुचित है। ऐसे दृष्टि कोण का एक और कारण यह भी था कि योरुप के अधिकाश ऋण-दाता यहूदी थे और उनके ईसाई न होने के कारण, वे ईसाइयों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे।

यह बात ध्यान देने की है कि भारतवर्ष में मनु ने अपनी "स्मृति" में ब्याज का निषेध नहीं किया। इससे पता चलता है कि मनु तथा भारत के अन्य प्राचीन विद्वान् बहुत उन्नति कर चुके थे और उन्होंने इस समस्या का सब पहलुओं से मनन किया था। साथ में यह बात भी थी कि उन दिनों में हमारा देश औद्योगिक और व्यापारिक उन्नति के शिखर पर था तथा पूँजी की उत्पादकता हमारे देश में अच्छी तरह समझी जाती थी।[२]

इसका आधुनिक औचित्य—धीरे-धीरे ससार औद्योगिक और व्यापारिक पिछड़ेपन के गर्त से बाहर निकला। विभिन्न क्षेत्रों में अविष्कार हुये जिनके कारण मनुष्यों के दृष्टि-कोण में एक नवीनता आ गई। माल बनाने के यत्र बड़ी मात्रा में काम में लाये जाने लगे। यातायात और सदेशवाहन के साधन तेजी से बढ़ने लगे। राष्ट्रीय तथा अतर्राष्ट्रीय व्यापार दिन-दूना और रात चौगुना बढने लगा। ऐसी अवस्था पूँजी की उत्पादकता स्पष्ट रूप में मनुष्यों के सामने आई। इस बात का अनुभव किया जाने लगा कि उधार लेनेवाला पूँजी से लाभ उठाता है; इसलिये यह उचित है कि वह इस लाभ का एक भाग पूँजीपति को दे दे। साथ में इस बात का भी अनुभव किया जाने लगा कि पूँजीपति को पूँजी एकत्रित करने के लिये वर्त्तमान आवश्यकताओं को सतुष्टि को तिलाञ्जलि देनी पड़ती है, इसमें उसे कष्ट का सामना करना पड़ता है और बिना किसी पुरस्कार वह इस कष्ट को नहीं उठायेगा। ऐसे कारणों ने ब्याज लेने के निषेध को इतिहास का विषय बना दिया, और आजकल यह केवल भूतकाल की वस्तु हो गई है। दृष्टिकोण का यह परिवर्तन हमें बताता है कि अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र (Ethics) पर किस प्रकार प्रभाव डालता है।

ब्याज और सूदखोरी (Usury)—आजकल ब्याज को साधारणतया

---

२ ब्याज के प्रारम्भिक इतिहास की सुन्दर व्याख्या के लिये देखिये Irving Fisher, *The Rate of Interest*, pp. 4 7, और देखिये H S Gaur, *The History and Law of Interest.*

सभी (केवल समाजवादियों को छोड़कर) उचित समझते हैं; किन्तु सूदखोरी को सभी बुरा मानते हैं। सूदखोरी ब्याज से इस बात में भिन्न होती है कि वह ब्याज से अधिक होती है और इसलिये अन्यायपूर्ण होती है। हम इसे अत्यधिक ब्याज कहकर परिभाषित कर सकते हैं।[३] वह अत्यधिक लगान (Rack-renting) से बहुत मिलती-जुलती है। किन्हीं विशेष दशाओं में भूमिपति आर्थिक लगान से अधिक लगान वसूल कर सकता है; इसे **अत्यधिक लगान वसूल करना (Rack-renting)** कहते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी पूँजीपति भी उचित दर से अधिक ब्याज वसूल कर सकता है, अत्यधिक ब्याज वसूल करना **सूदखोरी** कहलाता है। सूदखोरी को नैतिक दृष्टि से निकृष्ट माना जाता है, सामजिक दृष्टि से इसे घृणित समझा जाता है, और विधान में बहुधा इसका निषेध कर दिया जाता है।[४]

२ ब्याज क्यों ली और दी जाती है?

अब हम उन आर्थिक दशाओं पर प्रकाश डालेंगे जिनके कारण उधार लेने-वाला ब्याज देता है और ऋणदाता ब्याज वसूल करता है।

उधार लेनेवाला ब्याज इसलिये अदा करता है कि वह जानता है कि पूँजी उत्पादक होती है और इस कारण पूँजीपति को ब्याज के रूप में वह कुछ रुपया दे सकता है। उदाहरण के लिये, किसी गाँव का एक साधारण टोपी बनाने वाला, जो बिना मशीन के काम करता है, ३०) महीने कमा सकता है। यदि उसे एक मशीन मिल जाय, तो वह अधिक टोपियाँ तैयार कर सकेगा और तब शायद उसकी आमदनी ६०) मासिक हो जाय। अतः मशीन की उत्पादकता ३०) मासिक हुई। यदि उसको मशीन खरीदने के लिये कोई रुपया उधार दे और उसे ब्याज के रूप में १५) महीने देना पड़े, तो वह इसके लिये तुरन्त राजी हो जायगा। ऋण लेने से उसकी आमदनी ३०) महीने बढ़ जायगी जिसमें से उसे केवल १५) महीने ही ब्याज के रूप में देने पड़ेंगे।

---

३ "सूदखोरी" शब्द ब्याज से भिन्न होता है और इसका संकेत उस ब्याज की तरफ है जिसकी दर उस दर से अधिक होती है जिसे विधान उचित मानता है—H S Gaur, Op Cit, p 135

४ ब्याज की दर पूर्ति और माँग द्वारा निर्धारित होती है...किन्तु ऋणदाता को चाहिये कि माँग को देखते हुए जो दर उचित हो, उससे अधिक ब्याज वसूल न करे। कभी-कभी कानून द्वारा वह दर निश्चित कर दी जाती है जिस पर कि रुपया उधार दिया जा सकता है—Crump, *A First Book of Economics*, p. 99.

ऋण लेनेवाले को ब्याज इसलिये भी देनी पड़ती है कि **पूँजीपति को पूँजी बचाने में कष्ट होता है।** उसे बहुत सी वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि से बरी रहना पड़ता है और वर्तमान सुख का बलिदान करके ही वह पूँजी बचा पाता है। यही नहीं, वह बचाई हुई पूँजी का स्वयं उत्पादक प्रयोग नहीं करता वरन् ऐसे प्रयोग के लिये पूँजी उधार लेनेवाले को दे देता है। इस संयम या बलिदान के लिये उसे पुरस्कार मिलना ही चाहिये। जब तक उसे पुरस्कार नहीं मिलेगा, वह पूँजी उधार नहीं देगा। इसलिये उधार लेनेवाले को ब्याज देना आवश्यक हो जाता है। पूँजी की उत्पादकता उधार लेने वाले को ब्याज अदा करने के योग्य बनाती है और पूँजी उधार देने में जिस संयम या बलिदान की आवश्यकता पड़ती है वह उसे ब्याज देने पर मजबूर कर देता है।[१]

इन्हीं बातों को पूँजीपति भी सोचता है और इसीलिये वह ब्याज भी वसूल करता है। वह जानता है कि पूँजी उत्पादक होती है, और यदि वह उसकी उत्पादकता से स्वयं लाभ न उठाकर दूसरे को उसका लाभ उठाने दे, तो यह उचित ही है कि इसके लिये उसे कुछ ब्याज मिले। साथ में ही, पूँजी एकत्रित करने में उसे संयम या बलिदान करना पड़ता है और इसके लिये वह पुरस्कार की आशा करता है।

अतः पूँजी की उत्पादकता तथा उसके संचय करने में संयम या बलिदान की जरूरत—ये ही ब्याज के लिये और दिये जाने के प्रधान कारण हैं।

§ २. ब्याज का नियम

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि ब्याज की दर कैसे निर्धारित होती है। आदिकाल से ही अर्थशास्त्री इस विषय पर विचार करते आये हैं और उन्होंने ब्याज के कई नियम प्रतिपादित किये हैं। इनमें से मुख्य नियम निम्नलिखित हैं: (१) उत्पादकता का नियम (The Productivity Theory), (२) संयम का नियम (The Abstinence Theory), और (३) आस्ट्रियन नियम (The Austrian Theory)।

इनमें से प्रत्येक नियम में सत्य का एक अंश अवश्य विद्यमान है किन्तु इनमें से कोई भी नियम संपूर्ण नहीं और वह पर्याप्त रूप से इस बात की पूरी व्याख्या नहीं करता कि ब्याज कैसे निर्धारित होती है। बहुधा समस्या के एक पहलू पर

---

[१] देखिये Bohm-Bawerk *Capital and Interest*, pp VII.XVII.

ही वे प्रकाश डालते हैं। अतः इन नियमों का स्थान ब्याज के आधुनिक नियम या माँग और पूर्तिवाले नियम ने ले लिया है। यह नियम आजकल सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसके अनुसार, पूँजी की माँग और पूँजी की पूर्ति ही ब्याज की दर निर्धारित करती है। ब्याज वह सतुलन बिन्दु (Point of Equilibrium) है जिस पर कि पूँजी की मांग और पूँजी की पूर्ति एक दूसरे के बराबर होती है।

१ पूँजी की मांग

पूँजी की माँग वे ही लोग करते हैं जो इसका उत्पत्ति के लिये प्रयोग करना चाहते हैं, जैसे व्यापारी, पक्का माल बनानेवाले और किसान। कभी कभी सरकार भी जल-विद्युत उत्पन्न करने के लिये, सदेश-वाहन तथा यातायात के साधन बनाने के लिये तथा अन्य इसी प्रकार के उत्पादक कार्यों के लिये रुपया उधार लेती है।

उत्पादक पूँजी की माँग उसके उत्पादक होने के कारण ही करता है, और यदि अन्य सब बातें स्थिर हैं तो पूँजी की प्रत्येक अगली इकाई की उत्पादकता (या पूँजी की सीमान्त-उत्पादकता) क्रमश. घटती जाती है और कालान्तर में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब कि पूँजी की अन्तिम इकाई की उत्पादकता उस ब्याज के बराबर होती है जो उसके उधार लेने के लिये देनी पड़ती है। उधार लेनेवाला ऐसे बिन्दु पर रुक जायगा और वह अधिक पूँजी उधार नहीं लेगा। पूँजी की आखिरी इकाई को अन्तिम इकाई (Final Unit) इसलिये कहते हैं कि वह पूँजी की आखिरी इकाई होती है जिसे उत्पादक प्रयुक्त करता है या करेगा। इसे सीमान्त इकाई (Marginal Unit) भी कहा जाता है क्योंकि यह इकाई प्रयुक्त की जाने या न की जाने की सीमा पर होती है, उत्पादक चाहे उसका प्रयोग करे या न करे, इसका उसकी दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पड़ता। पूँजी की अन्तिम या सीमान्त उत्पादकता को पूँजी की अन्तिम या सीमान्त उत्पादकता (Final or Marginal Productivity) कहते हैं।[१]

---

[१] पूँजी पर लागू होनेवाला सीमान्त उत्पादकता का नियम नीचे के रेखा-चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

AC रेखा के सहारे पूँजी की मात्रा नापी गई है; और AE रेखा के सहारे पूँजी की उत्पादकता। EO रेखा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के घटने की दर दिखाती है। यदि पूँजी की मात्रा AD हो, तो सीमान्त उत्पादक BD या AF होगी। यदि पूँजी की मात्रा AD' हो, तो अन्य बातों के स्थिर रहने पर सीमान्त उत्पादकता

उधार लेनेवाला पूँजी की सीमान्त इकाई के लिये अधिक से अधिक उसकी उत्पादकता दे सकता है: इससे अधिक वह दे ही नहीं सकता। इसके साथ ही साथ यह बात भी है कि पूँजी की सभी इकाइयाँ एक सी होती हैं, और जो वह एक इकाई के लिये देगा, वही वह किसी दूसरी इकाई के लिये भी देगा। इससे निष्कर्ष निकलता है कि पूँजी के उपयोग के उपलक्ष में उत्पादक उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक देने के लिये तत्पर नहीं होगा।

पूँजी की पूर्ति

पूँजी का सचय संयम या बलिदान के द्वारा किया जाता है, और जब तक इसके लिये पुरस्कार नहीं मिलेगा, तब तक पूँजीपति पूँजी उधार न देगा। पूँजी देने में जिस सयम या बलिदान की आवश्यकता होती है, उसका द्रव्य-सम्बंधी माप वह न्यूनतम सीमा में जिससे कम ब्याज की दर गिर नहीं सकती। हम इसे पूँजी की लागत (cost) कह सकते हैं, और जिस प्रकार कि किसी वस्तु की लागत उसके मूल्य की न्यूनतम सीमा होती है, उसी प्रकार पूँजी की लागत ब्याज की दर की न्यूनतम सीमा होती है।

ब्याज की दर का निर्धारण

इस प्रकार पूंजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निश्चय होने वाली अधिकतम सीमा और पूँजी के देने में आवश्यक सयम या बलिदान द्वारा निश्चित न्यूनतम सीमा के बीच में ही रहती है, और उसकी वास्तविक स्थिति उधार लेने-

---

B'D' या AF' होगी, और यदि पूँजी की मात्रा AD' हो, तो सीमान्त उत्पादकता
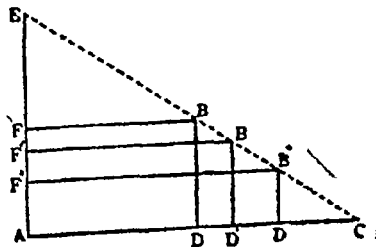
B" D" या AF" होगी। यदि पूँजी की मात्रा बढ़ते बढ़ते AC हो जाय, तो पूँजी की सीमान्त उत्पादक शून्य हो जायगी—Carver, . *Op Cit*, p. 223

वाले और ऋणदाताओं के मोल-भाव द्वारा माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों के अनुसार निर्धारित होती है। नये देशों में, जिनमें कि मनुष्य आर्थिक उन्नति की ओर प्रगतिशील होते हैं, पूँजी की माँग अधिक होती है, और इसलिये ब्याज की दर भी ऊँची होती है। जैसे-जैसे देश की उन्नति होती जाती है, वैसे ही वैसे पूँजी की मात्रा बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि वह मान से अधिक हो जाती है और तब ब्याज की दर घट जाती है।

§ ३. वास्तविक (Net) और कुल (Gross) ब्याज

अर्थ

जो रकम केवल पूँजी के उपयोग के बदले में अदा की जाती है वह वास्तविक ब्याज कहलाती है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि जोखिम-रहित, असुविधा-रहित और प्रबन्ध की आवश्यकता-रहित विषय में पूँजी का विनियोग (investment) करने से जो आय प्राप्त होती है, उसे वास्तविक ब्याज कहते हैं। जो रकम उधार लेनेवाला पूँजीपति को पूँजी के उपयोग के बदले में अदा करता है, उसे कुल ब्याज (Gross Interest) कहते हैं। कुल ब्याज में, वास्तविक ब्याज के अतिरिक्त, निम्नलिखित अंशों में से सब या कुछ शामिल होते हैं :

(१) **जोखिम के लिये पुरस्कार**—जब कोई व्यक्ति अपनी पूँजी किसी दूसरे को कुछ समय के लिये सौंप देता है, तो उसे यह जोखिम झेलनी पड़ती है कि कदाचित् उधार लेनेवाला अयोग्यता के कारण या बेईमानी के कारण ऋण न चुकावे। इस जोखिम के कारण वह कुछ रकम वसूल करता है जिसे वह वास्तविक ब्याज में जोड़ देता है।

ये जोखिम दो प्रकार की होती है : (क) **व्यापारिक जोखिम**—ऋण लेनेवाला जो व्यापार करता है वह सुरक्षित हो सकता है या उसमें जोखिम हो सकती है। उदाहरण के लिये, प्रकाशक के व्यापार में इतनी जोखिम नहीं होती जितनी कि सट्टेबाज के काम में होती है। अतः पूँजी उधार देनेवाला प्रकाशक कम ब्याज लेगा और सट्टेबाज से अधिक। उधार लेनेवाले के व्यापार में जो जोखिम होती है, वह उसकी ऋण अदा करने की योग्यता निर्धारित करती । (ख) **व्यक्तिगत जोखिम**—यह हो सकता है कि एक व्यक्ति ऋण चुकाने के योग्य तो हो किन्तु वह ऐसा करने का इच्छुक न हो। वह बेईमान स्वभाव का हो सकता है। ऐसे व्यक्ति से निश्चय ही बहुत अधिक ब्याज ली जायगी। जो ऋण

लेनेवाला अपनी ईमानदारी के लिये प्रसिद्ध होगा और शीघ्र से शीघ्र ऋण चुका देने में अच्छाई समझेगा, उससे कम ब्याज ली जायगी।

(२) असुविधाओं के लिये पुरस्कार—पूँजी के कुछ विनियोग ऐसे होते हैं कि उनमें असुविधाये बहुत होती हैं। कुछ दशाओं में ऋण किसी भी समय वापस चुकाया जा सकता है, और हो सकता है कि जब उसे रुपये की जरूरत न हो तब वह ऋण वापस कर दे, कुछ दूसरी दशाओं में ऋण कुछ लम्बे समय के बाद ही देय होता है। कभी-कभी रुपये का विनियोग बड़ी मात्रा में करना पड़ता है जैसे १००) वाले १०००) वाले शेयर खरीदने में, और कभी छोटी-छोटी रकम का भी विनियोग किया जा सकता है जैसे सेविंग्स बैंक एकाउंट में। इस प्रकार की असुविधाओं के लिये पूँजीपति कुछ रकम वसूल करता है। पठान लोग जो इतनी ऊँची दर वसूल करते हैं उसका एक प्रधान कारण यह है कि उन्हें ऋण वसूल करने में बहुत असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। आदर्श विनियोग वह होता है जिसमें कि रुपया किसी भी समय और किसी भी मात्रा में लगाया जा सकता है और जब चाहे तब निकाला जा सकता है। ऐसे विनियोग में कुछ भी असुविधा नहीं होती और असुविधा के लिये कोई पुरस्कार वसूल नहीं किया जाता।

(३) प्रबन्ध के लिये पुरस्कार—ऋणदाता को विनियोग के प्रबन्ध करने में धन और शक्ति का प्रयोग करना पड़ता हैं। उसे इस बात का पता लगाना पड़ता है कि रुपया कौन उधार लेना चाहता है और उसे इस बात का अनुमान लगाना पड़ता है कि उनमें से किसको रुपया उधार देना अच्छा होगा। उसे फिर ब्याज की दर उनसे ते करनी पड़ती है। आवश्यक वैधानिक कार्रवाई भी करनी पड़ती है। उचित हिसाब-किताब भी रखना पड़ता है। उधार लेनेवाले समय पर ऋण नहीं चुकाते, और उन्हे बराबर पत्र भेजने पड़ते हैं। ऐसे प्रबन्ध के लिये पूँजीपति कुछ रकम वसूल करता है जो वास्तविक ब्याज में जोड़ दी जाती है। हमारे गाँव में महाजन और पठान जो ऋण देते हैं, उसका प्रबन्ध करने के लिये बहुत से श्रम और सचेष्ट प्रबन्ध की बहुत आवश्यकता पड़ती है। ऋण छोटी-छोटी किस्तों में वापस मिलता है और प्रत्येक किस्त के वसूल करने में बहुत चेष्टा करनी पड़ती है। गाँवों में ब्याज की दर ऊँची होने का यह एक मुख्य कारण है।

कुल ब्याज में अन्तर

साधारणतया वास्तविक ब्याज की दर सब जगह लगभग एक ही होती है: रुपया उधार देनेवालों तथा लेनेवालों की स्पर्धा इसे एक ही स्तर पर ला देती है।

किन्तु ऋण-सम्बन्धी जोखिम, विनियोग में असुविधाओं और प्रबन्ध की आवश्यकताओं में अन्तर होने के कारण कुल व्याज (जिसे प्रतिदिन की भाषा में व्याज कहते हैं पर अर्थशास्त्र में नहीं) में बहुत अन्तर दीख पड़ते हैं। सरकारी सिक्योरिटी में विनियोग सुरक्षित होता है, उसमें असुविधा भी नहीं होती और न उसके प्रबन्ध में कष्ट ही होता है। वास्तव में, इससे जो व्याज मिलती है वह क्रियात्मक जीवन-क्षेत्र में वास्तविक व्याज का निकटतम रूप है। सुदृढ और सुप्रसिद्ध बैंक भी बहुत कम व्याज लेते हैं। शहर के व्यापारी तथा कारखाने वाले जोखिम, असुविधा और प्रबन्ध-सम्बन्धी कष्ट के अनुपात में सरकार से अधिक व्याज लेते हैं। गाँवों में व्याज की दर और भी अधिक होती है। इसका एक कारण यह होता है कि किसानों को जो ऋण दिया जाता है उसमें जोखिम बहुत होती है। किसान कितने ही सच्चे दिल से यह चाहे कि वह ऋण चुका दे, किन्तु हो सकता है कि उसके पास ऋण चुकाने लायक रुपया ही इकट्ठा न हो। साहूकारों का यह अनुभव है कि किसान ऋण को बहुत धीरे-धीरे चुकाते हैं। इसके अतिरिक्त, ऐसे ऋण में असुविधा भी बहुत होती है क्योंकि ऋण की अदायगी का समय, अदा की जानेवाली रकम और ऋण की अदायगी होगी या नहीं, ये सब बातें अनिश्चित होती हैं। साथ में प्रबन्ध में कष्ट भी बहुत होता है, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं।

व्याज की दर प्रत्येक देश मे अलग-अलग होती है। इसका कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजी गतिशील नहीं होती। जो लोग विदेशों में पूँजी लगाना चाहते हैं, उन्हें यह डर होता है कि यदि विदेशी ऋणी ऋण न चुकाये, तो उस पर अभियोग चलाने में बहुत कष्ट होगा और इसका व्यय भी बहुत होगा। साथ में, हो सकता है कि विदेशी न्यायालय उसके साथ उचित न्याय न करे। यह भी सम्भव है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध छिड़ जाय, तो विदेशी सरकार पूँजी हजम कर जाय और वापस न लौटाने दे। ऊपर बताये हुए कारणों के अतिरिक्त, ये कारण भी देश देश में व्याज की दर अलग होने के लिये उत्तरदायी हैं।

६ ४. व्याज का उन्नति और लगान से सम्बन्ध

उन्नति का व्याज की दर पर प्रभाव

समाज की जैसे-जैसे उन्नति होती जाती है, पूँजी की माँग उतनी ही बढती जाती है। पहली बात तो यह होती है कि यन्त्र का उपयोग बढ जाता है। यन्त्रीकरण (Mechanisation) का जहाँ एक बार प्रारम्भ हुआ, फिर उसका प्रसार गतिपूर्वक बढता जाता है। उत्पत्ति का पैमाना और व्यापार विस्तृत होता

जाता है। अतः पूँजी की माँग बहुत बढ़ जाती है। दूसरी बात यह है कि आधुनिक सरकार जन-साधारण के हितवर्धन के लिये बहुत से औद्योगिक, कृषि-सम्बन्धी, शक्ति सम्बन्धी तथा अन्य इसी प्रकार के काम करने लगे हैं, इसके लिये पूँजी की आवश्यकता होती है जो वे ऋण उगाहकर प्राप्त करती हैं। अन्त में युद्ध, प्राकृतिक सकट आदि द्वारा बहुत सी पूँजी का विनाश हो जाता है और बहुधा नई पूँजी की इस कारण भी आवश्यकता पड़ जाती है। यद्यपि कि ये सब कारण पूँजी की माँग बढ़ा देते हैं, किन्तु पूँजी की मात्रा इससे भी अधिक तेजी से बढ़ती है। उत्पत्ति की रीतियों में सुधार होने के कारण और औद्योगिक सगठन की कार्य-क्षमता बढ़ जाने के कारण प्रति वर्ष उत्पन्न होने वाले धन की मात्रा भी बढ़ जाती है। जैसे-जैसे मनुष्यों को आपत्ति काल के लिये रुपया बचाने की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है, वैसे-वैसे बचत की मात्रा भी बढ़ती जाती है। अतः समाज की उन्नति के साथ-साथ पूँजी की मात्रा पूँजी की माँग से कहीं अधिक बढ़ जाती है और इसके परिणाम-स्वरूप ब्याज की दर घट जाती है। आधुनिक समय का इतिहास इस बात का साक्षी है[१]।

ब्याज की शून्य दर—कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि ब्याज की दर घटने की प्रवृत्ति दिन पर दिन तीव्र होती जायगी और एक समय ऐसा आवेगा जब कि यह शून्य हो जायगी। इस दृष्टिकोण से सहमत होना कठिन है। इस मत का यह भावार्थ हुआ कि कुछ काल बाद ऐसी दशा उपस्थित होगी जब कि हमारी समस्त आवश्यकतायें सन्तुष्ट हो जायँगी और हमें अधिक उत्पत्ति करने के लिये अधिक पूँजी की जरूरत नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता शून्य हो जायगी। किन्तु हम जानते हैं कि मानवीय आवश्यकतायें अगणित हैं, और जैसे ही एक आवश्यकता सन्तुष्ट होती है, वैसे ही दूसरी आवश्यकता आ उपस्थित होती है। जब तक ऐसा होता रहेगा, तब तक पूँजी के विनियोग करने के साधन भी अगणित होते रहेंगे। इसके अतिरिक्त, ब्याज की दर शून्य तभी हो सकती है जब कि मनुष्य बिना किसी पुरस्कार की आशा के भी रुपया बचाने के इच्छुक हों, अन्य शब्दों में, जब वे इतने ज्ञानी हो जायँ जब कि वे रुपये की भावी उपयोगिता का इतने पूर्ण रूप से अनुभव करने लगें कि उन्हे बचाने में कोई कष्ट न हो। किन्तु मनुष्य में पूर्ण ज्ञान विद्यमान होने की कल्पना करना अनुचित है क्योंकि इस अपूर्ण संसार में मनुष्य भी अपूर्ण होता है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि यह सोचना कि भविष्य में कभी ब्याज की दर शून्य हो जायगी, त्रुटिपूर्ण है।

---

[१] देखिये A N Agarwala, *Insurance Finance*, p 43.

लगान और व्याज

व्याज राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो पूँजीपति को मिलता है और लगान उस आय का वह भाग है जो भूमिपति को मिलता है। अल्प-काल में, व्याज और लगान दोनों ही समान होते हैं। पूँजी अल्पकाल में नहीं बढाई जा सकती, और न भूमि ही बढाई जा सकती है। यही कारण है कि पूँजीवाले माल (capital goods), जो अल्पकाल में सीमित होते हैं, उनकी आय को अर्द्ध-लगान (quasi-rent) कहते हैं। किन्तु दीर्घ-काल में उनका वास्तविक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। पूँजी की पूर्ति दीर्घ-काल में बढाई जा सकती है, इसके विपरीत, भूमि की पूर्ति सर्वदा के लिये स्थिर होती है। इसलिये समाज की उन्नति के साथ-साथ पूँजी और भूमि, दोनों की ही माँग बढती है किन्तु इसके फलस्वरूप व्याज की दर घटती है और लगान की दर बढ़ती है। इसके अतिरिक्त, व्याज की वास्तविक दर सब जगह समान होती है, परन्तु उपजाऊपन या स्थिति या दोनों में अन्तर होने के कारण, लगान हर स्थान पर अलग होता है। साथ में यह भी बात है कि किसी भूमि का लगान उसकी उत्पादकता के सीमान्त भूमि की उत्पादकता से आधिक्य द्वारा नापी जाती है किन्तु व्याज इस प्रकार नहीं नापी जाती , वास्तव में कोई भी पूँजी ऐसी नहीं होती जिस पर कि व्याज न ली-दी जाती हो।

§ ५. भारतवर्ष में व्याज

भारतवर्ष में व्याज की दर के ये तीन प्रमुख लक्षण हैं: (१) यह बहुत ऊँची है। (२) यह स्थान-स्थान पर भिन्न होती है। (३) इसमें मौसमी अंतर (Seasonal Variations) होते हैं।

भारत में व्याज की ऊँची दर

हमारे देश में अन्य देशों की अपेक्षा व्याज की दर बहुत ऊँची है। ऐसा होने के कारण हमारी औद्योगिक और आर्थिक उन्नति के मार्ग में बाधा पड़ती है। व्याज की दर ऊँची होने के निम्नलिखित कारण हैं :

(१) पूँजी की माँग का अधिक होना—भारतवर्ष का आर्थिक विकास बहुत कम हुआ है किन्तु इसकी उन्नति अब गतिपूर्वक हो रही है। अतः पूँजी की माँग बहुत अधिक है। हमें लोहे, सीमेंट, कागज, कपडे आदि के कारखाने खोलने के लिये बहुत सी पूँजी चाहिये। खेती में स्थायी सुधार, यन्त्रीकरण आदि भी बिना पूँजी के नहीं हो सकते। पानी से बिजली पैदा करने के लिये, सिंचाई के साधन बनाने के लिये, यातायात के साधन तैयार करने के लिये तथा अन्य ऐसे

ही कामों के लिये भी सरकार ऋण लेती है और लेगी। पूँजी की माँग इतनी अधिक होने के कारण, अन्य बातें समान रहने पर, ब्याज की दर अवश्य ही ऊँची होगी।

(२) पूँजी की कमी—हमने देश में पूँजी के सचय की व्याख्या करने के समय यह बताया था कि हमारे देशवासियों की पूँजी बचाने की योग्यता और इच्छा बहुत कम है। स्वाभाविक रूप से, पूँजी की माँग की अपेक्षा पूँजी की पूर्ति कम है। जन-साधारण आय का जो भाग खर्च नहीं करते उसे दबाकर रखते हैं, किसी बैंक में जमा नहीं करते या उत्पादक रीति से उसे प्रयुक्त नहीं करते और इसलिये पूँजी एकत्रित नहीं होती।

(३) दोषपूर्ण बैंकिंग सगठन—बैंकिंग प्रणाली ही ऋण लेने और देने वालों को सयुक्त करती है, किन्तु हमारे देश में यह बहुत असगठित और दोषयुक्त है। बैंकों की सख्या हमारे देश में बहुत कम है और इसलिये रुपये जमा करने और ऋण लेने में बहुत सी कठिनाइयाँ सामने आती हैं। इसके अतिरिक्त हमारे हाथ हर प्रकार के बैंक अभी स्थापित नहीं हुए और कई प्रकार के साख (Credit) मिल ही नहीं सकते। इन कारणों से ब्याज की दर ऊँची हो जाती है।

(४) सूदखोरी—उपरोक्त दशाओं में गाँव का महाजन सूदखोरी करता है। उसका गाँव में एकाधिकार होता है और उसे बहुधा अपर्याप्त जमानत पर या बिना किसी जमानत पर ऋण देना होता है। उसे यह भी निश्चय नहीं होता कि ऋणी ऋण वापस कर भी सकेगा अथवा नहीं।

(५) उपभोग के लिये ऋण—ऋण लेनेवाले अपनी इच्छानुसार रुपये का उपयोग उत्पादक और अनुत्पादक दोनों ही प्रकार के कामों के लिये करते हैं। उत्पादक ऋण तो ठीक होते हैं क्योंकि वे धन उत्पन्न करने के काम में आते हैं और उस धन से ऋण की अदायगी की जा सकती है। अनुत्पादक ऋणों पर यह बात लागू नहीं होती। अतः अनुत्पादक कामों के लिये ऋण का प्रयोग करने के बाद ब्याज की दर बढ जाती है।

ब्याज का स्थानीय अतर

भारतवर्ष में ब्याज का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि ब्याज की दर स्थान-स्थान पर अलग-अलग होती है। शहरों और गाँवों में यह अतर विशेष रूप से मार्के का होता है। इसका कारण यह है कि हमारे देश में द्रव्य के दो बाजार हैं, शहरी और ग्रामीण। शहरी द्रव्य बाजार सुसंगठित है और यहाँ

ब्याज की दर कम और सामान होती है। किन्तु ग्रामीण द्रव्य बाजार असंगठित है और यहाँ ब्याज की दर ऊँची तथा परिवर्तनशील होती है।

ब्याज की दर में मौसमी अंतर

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है, और इसलिये जब फसलें काटी जाती हैं और बाजार में लाई जाती है तब रुपये की माँग बढ़ जाती है, और इसके बाद रुपये की माग कम हो जाती है। हमारे देश में रबी और खरीफ, ये दो फसलें होती हैं। अप्रैल और मई तथा अक्टूबर और नवम्बर के महीनों में रुपये की माँग बहुत अधिक होती है। इसी समय विवाह शादी भी बहुत होते हैं, और इस कारण रुपये की माँग और भी बढ़ जाती है। इसलिये इन महीनों में ब्याज की दर ऊँची होती है। किन्तु दूसरे महीनों मे माँग घट जाती है और इसलिये ब्याज की दर भी कम हो जाती है। यदि रिजर्व बैंक माँग के महीनों में अधिक रुपया चलन में रख दे और बाद को रुपया खींच ले, तो यह दोष दूर हो सकता है। किन्तु अब तक यह ऐसा नहीं कर सका है।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'ब्याज' का अर्थ बताइये और इसकी किस्मों का उल्लेख कीजिए।

२. ब्याज की समस्या क्या है? क्या ब्याज अदा किया जाना चाहिए।

३. ब्याज तथा सूदखोरी का अंतर स्पष्ट कीजिए। क्या धार्मिक ग्रंथों के अनुसार ब्याज वर्जित है? आप इस विषय में धार्मिक उपदेशों से कहाँ तक सहमत हैं?

४. ब्याज क्यों लिया जाता है और अदा किया जाता है, इसकी व्याख्या कीजिए।

५. ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त क्या है? इसकी पूर्ण व्याख्या कीजिए।

६. वास्तविक तथा कुल ब्याज का अन्तर स्पष्ट कीजिए। कुल ब्याज के अंग कौन हैं?

७. ब्याज की दरों में इतना अधिक अन्तर क्यों हो जाता है? वास्तविक तथा कुल ब्याज का अंतर स्पष्ट कीजिए।

८ ब्याज का उन्नति तथा लगान से सम्बन्ध का निर्देश कीजिए।

९. भारत में ब्याज की विशेषताएँ क्या हैं? प्रत्येक विशेषता की पूर्ण व्याख्या कीजिए।

परीक्षा प्रश्न

संयुक्त प्रान्त, इन्टर आर्ट्स

१. "ब्याज की दर किसी देश में विद्यमान पूँजी की माँग और पूर्ति पर निर्भर

होती है।" पूर्णरूप से समझाइये कि देश में किन कारणों से माँग और पूर्ति होती है। (१९४९)

२. कुल (पूर्ण) और वास्तविक ब्याज पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (१९४६)

३. ब्याज की परिभाषा कीजिए। इसका निर्धारण कैसे होता है? ब्याज की दर विभिन्न श्रेणियों से अलग-अलग क्यों ली जाती है? (१९४५)

४. ब्याज की परिभाषा कीजिए तथा कुल ब्याज और वास्तविक ब्याज का अंतर स्पष्ट कीजिए। (१९४२)

५. ब्याज की दर, साधारणतया क्यों स्थान-स्थान पर, समय-समय पर तथा विभिन्न व्यक्तियों से भिन्न होती है? (१९४१)

६. ब्याज की दर पूँजी की माँग और पूर्ति पर निर्भर होती है। माँग और पूर्ति किन बातों पर निर्भर होती है, समझा कर लिखिये। (१९३९)

७. नकद और असली ब्याज का अंतर बताइये। ब्याज की दर भारत के गाँवों में इतनी अधिक क्यों है? गाँवों में ब्याज की दर घटाने के लिये उपाय बतलाइये। (१९३७)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

८. ब्याज किसे कहते हैं? क्या ब्याज लेना क्षम्य है? प्रमाणित कीजिये कि ब्याज की ऊँची दर पूँजी बढ़ाती है और इसकी नीची दर पूँजी घटाती है। (१९४८)

९. ब्याज की दर किस प्रकार निर्धारित होती है? यदि ब्याज की दर शून्य हो जाय, तो क्या पूँजी बचाई जायगी। (१९४४)

१०. ब्याज और लाभ का अंतर बताइये। ब्याज की दर किन बातों पर निर्भर होती है? (१९३५)

११. ब्याज का सिद्धांत बताइये। ब्याज और सूदखोरी का अंतर बताइये। (१९३३)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

12 Distinguish between 'gross' and 'net' interest and point out the factors which determine the rate of interest in a country (1949)

13 What is Capital? Discuss the factors responsible for the accumulation of capital (1948)

14 How is interest determined by the interaction of demand and supply ? Show how is it possible for co operative credit societies to advance loans to agricultural classes at much lower rate of interest than village money lenders (1943)

15 Write a short note on Gross and Net Interest. (1943)

16 Why is interest paid ? Account for the fact that the Government of India is able to borrow at a much lower rate of interest than businessmen (1942)

17 Distinguish between gross interest and net interest and account for the prevalence of high rates of interest in Indian villages (1941)

18 Explain the factors on which accumulation of capital in a country depends, pointing out which of these operate in India (1941)

19 What is interest ? Why is it paid ? Explain how rate of interest is determined ? (1940)

20 Distinguish between 'net interest' and 'gross interest,' and explain why the rate of interest paid by a cultivator in India is very high (1939)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

21. What do you understand by the term 'Capital' ? Indicate the conditions that determine its supply, and examine to what extent these are fulfilled in our country ? (1949)

Write a short note on Gross and Net interest (1949)

23. Why is interest paid ? Account for the fact that the Government is able to borrow money at a much lower rate of interest than businessmen can borrow. (1946)

पटना, इन्टर आर्ट्स

24 Distinguish between gross and net interest Will savings be completely stopped if rate of interest is reduced to zero ? (1949 Supp.)

25. Examine the causes of the difference in the rates of interest. Illustrate by means of examples. (1949)

26 What do you understand by the employer's demand for capital ? Explain how the employer determines his demand for capital. (1948)

नागपुर; इन्टर आर्ट्स

27. A borrower borrowed Rs 10 from a Kabuli on 1st January and had to return Rs 13.12.0 on first July of the same year The Government of India pays 3% per cent annum on loans given to it How do you account for the difference in the rates charged and paid ? (1947)

28 Describe the nature and uses of capital with reference to the capital of a cotton spinning and weaving mill. How is the capital acquired ? (1945)

29. How is interest determined ? Distinguish between gross and net interest. (1945)

नागपुर, इन्टर कामर्स

३०. स्थिर तथा चल-पूँजी (Fixed and Circulating Capital) का अंतर स्पष्ट कीजिए और बताइये कि पूँजी-सचयन वृद्धि के अर्थ पर कहाँ तक निर्भर है ? (१६४४)

३१. एक ऋणी ने एक काबुली से १ जनवरी को १०) उधार लिया और उसी वर्ष के १ जुलाई को उसे १३।।।) देने पड़े। भारत सरकार ३% प्रति वर्ष ऋण पर लिये ब्याज देती है। ब्याज की दर के इस अंतर का कौन सा कारण है। (१६४७)

३२. पूँजी का उदय किस प्रकार होता है ? भारत से उदाहरण प्रस्तुत कीजिए। (१६४६)

३३. कुल ब्याज से आप क्या अर्थ समझते हैं ? वह वास्तविक ब्याज से किस प्रकार भिन्न होती है ? इस देश के लोगों के जीवन से उदाहरण देकर इसे समझाइये। (१६४१)

सागर, इंटर आर्ट्स

34 Explain the determination of interest Why are there differences in the rate of interest ? (1948)

सागर, इन्टर कामर्स

35 Write a short note on Gross and Net interest (1949)

अध्याय ६४

लाभ (Profits)

§ १, प्रारम्भिक

लाभ का अर्थ

लाभ उस पुरस्कार को कहते हैं जो साहसी या जोखिम झेलनेवाले को जोखिम झेलने के उपलक्ष में मिलता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आय (National Dividend) का वह भाग जो साहसी या जोखिम झेलनेवालों को मिलता है, लाभ कहलाता है। अर्थशास्त्रियों मे इस विषय पर मतभेद है कि लाभ के अग (constituents) क्या-क्या होते हैं और लाभ किस प्रकार निर्धारित होता है। वास्तव मे, इस विषय पर बहुत मतभेद है और इस कारण इसके प्रारम्भिक विद्यार्थी घबड़ा जाते हैं। बहुधा उनके विचार बहुत अस्पष्ट और उलझे हुए होते हैं। अत' हम इस विषय पर केवल वे ही विचार प्रकट करेंगे जो सबसे उचित और तर्कपूर्ण कहे जा सकते हैं।

लाभ, एक अवशेष भाग (Residuum)

हम पहले यह बता दें कि व्यावहारिक जीवन में लाभ की गणना किस प्रकार की जाती है। साहसी भावी माँग का अनुमान लगाता है और इस बात का भी अन्दाज करता है कि भविष्य में माल का मूल्य क्या होगा। इस अनुमान के आधार पर वह भूमिपति, पूँजीपति, मजदूर और संगठन-कर्ता से अलग-अलग प्रसंविदे करता है, और उत्पत्ति आरभ कर दी जाती है। साहसी प्रसंविदे के अनुसार उत्पत्ति के विभिन्न साधकों (agents) को भुगतान कर देता है। इन सब साधकों के भुगतान के पश्चात यदि उसकी आय में से कुछ भाग अवशेष रहता है, तो वही उसका लाभ होता है। इसके विपरीत, यदि उसकी आय भुगतान की रकम से कम हुई, तो उसे हानि उठानी पड़ती है। अत' लाभ उद्योग की उत्पत्ति का अवशेष भाग होता है।

ऊपर की विवेचना से यह न समझना चाहिये कि लगान, व्याज, मजदूरी और वेतन अपने-अपने विशिष्ट नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं, और इनकी अदायगी के पश्चात् जो आय बच रहती है, उसी को लाभ कहते हैं, तथा लाभ किसी विशिष्ट नियम द्वारा निर्धारित नहीं होता। वास्तव मे, लाभ भी एक अलग

नियम के अनुसार निर्धारित होता है। लाभ अवशेष भाग इसी व्यावहारिक (practical) अर्थ में है कि उत्पत्ति के समस्त साधकों को पुरस्कार दे चुकने के बाद जो बच रहता है, उसको ही लाभ कहते है।[१]

§ २. कुल (Gross) और वास्तविक (Net) लाभ

अर्थ

प्रतिदिन की भाषा में, साहसी के पास किराये पर ली हुई भूमि, उधार ली हुई पूँजी, और श्रम एव सगठन का पुरस्कार अदा कर देने के बाद जो कुछ बच जाता है, इसी को लाभ कहते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि हम किसी व्यापारी की आय में से उसके व्यय घटा दें, तो लाभ बाकी बचेगा। अर्थशास्त्र में इसे कुल लाभ (Gross Profit) कहते हैं।

वास्तविक लाभ का क्षेत्र इससे सकीर्ण होता है। जो पुरस्कार साहसी को केवल जोखिम झेलने तथा मोल-भाव करने की चतुराई के लिये मिलता है, उसी को वास्तविक लाभ (Net Profit) कहते हैं।

कुल लाभ के अग

कुल लाभ के कई अग होते हैं, जिनमें से वास्तविक लाभ भी एक है। अतः कुल लाभ के अन्य अगों का अध्ययन निश्चय ही शिक्षाप्रद होगा। कुल लाभ में जो-जो अग शामिल होते हैं, उनका वर्णन नीचे किया जाता है :

(१) स्वयं साहसी के साधनों का पुरस्कार—बहुत से व्यवसायों में स्वय साहसी उत्पत्ति के कई साधन अपने पास से देता है। इनके लिये उसे किसी बाहरी व्यक्ति को कुछ भी अदा नहीं करना पड़ता, और अधिकतर वह स्वय ही इनका कुछ पुरस्कार अलग से नहीं लेता। साधारणतया ऐसे साधनों का पुरस्कार कुल लाभ में शामिल रहता है। अतः वास्तविक लाभ की गणना करते समय हमें उन साधनों का पुरस्कार कुल लाभ में से अवश्य ही घटा देना चाहिये। ये पुरस्कार निम्नलिखित हो सकते हैं : (अ) भूमि का लगान—यदि साहसी ने अपनी भूमि का प्रयोग किया हो, तो उसका लगान कुल लाभ में से घटा देना चाहिये। (आ) पूँजी पर ब्याज—बहुधा यह देखा जाता है कि साहसी थोड़ी-बहुत पूँजी अवश्य लगाता है। जब तक वह व्यवसाय में स्वय अपनी पूँजी नहीं लगायेगा, तब तक उसे दूसरों से पूँजी मिलने में बहुत कठिनता होगी। (इ) श्रम की मजदूरी—कभी-कभी साहसी स्वयं मजदूर की भाँति काम करता है जैसा कि

---

[१] देखिये Carver, *Distribution of Wealth.*

भारतीय किसानों के विषय में कहा जा सकता है। ऐसी दशा में उसकी मजदूरी कुल लाभ में से घटा देनी चाहिये। (ई) **संगठन के लिये वेतन**—जब साहसी कुछ प्रबन्ध-सम्बन्धी काम करता है, तो वह वेतन का भागी हो जाता है, और कुल लाभ में से बिना ऐसे वेतन घटाये वास्तविक लाभ मालूम नहीं किया जा सकता।

(२) **सरक्षा (Maintenance) का व्यय**—(अ) **घिसाई कोष**—उत्पत्ति के लिये हमें जिन यन्त्रों और औजारों का प्रयोग करना पड़ता है, वे धीरे-धीरे घिस जाते हैं, और उनके प्रतिस्थापन (replacement) या सरक्षा (maintenance) के लिये कुछ आयोजन अवश्य होना चाहिये। इसके लिये प्रति वर्ष कुछ धन एक कोष में जमा किया जाता रहता है और इसे **घिसाई कोष** (Depreciation Fund) कहते हैं। घिसाई की रकम (Depreciation Charge) व्यय की रकम होती है, और वास्तविक लाभ मालूम करने के लिये इसे कुल लाभ में से घटाना आवश्यक है। (आ) **बीमा का व्यय**—सावधान व्यापारी सकट से सरक्षा प्राप्त करने के लिये बीमा भी करते हैं। बीमा के लिये जो भी खर्च किया जाय, उसे कुल लाभ में से घटाने पर ही हमें वास्तविक लाभ मालूम हो सकेगा।

(३) **अव्यक्तिगत लाभ** (Extra-Personal Gains)—उपरोक्त रकमें घटा देने पर भी हमें वास्तविक लाभ मालूम नहीं हो सकेगा। हमें कुल लाभ में से अव्यक्तिगत लाभ—अर्थात् वह लाभ जो साहसी की कार्य-क्षमता या योग्यता का परिणाम नहीं होता—घटाने पर ही वास्तविक लाभ मालूम हो सकता है। अव्यक्तिगत लाभ दो प्रकार के होते हैं: (अ) **एकाधिकार सम्बन्धी लाभ** (Monopoly Gains)—कभी-कभी व्यापारी को एकाधिकार प्राप्त होता है: जिस वस्तु का वह विक्रय करता है, उसकी पूर्ति पर उसका प्रभावपूर्ण अधिकार होता है। ऐसी दशा में उसे काफी लाभ हो सकता है किन्तु यह लाभ उसकी कार्यक्षमता का परिणाम नहीं होगा। अत एकाधिकार सम्बन्धी लाभ कुल लाभ में से घटा देना चाहिये। (आ) **आकस्मिक लाभ** (Chance Gains)—कभी-कभी कुछ ऐसी अनुकूल परिस्थिति उपस्थित हो जाती है कि जिससे कि व्यापारी को बहुत लाभ होता है। उदाहरण के लिये, जब कोई महान व्यक्ति मर जाता है तो शोक प्रदर्शन के माल की माँग अकस्मात ही बढ़ जाती है, और उनके व्यापारी बहुत लाभ कमाते हैं। इसी प्रकार युद्ध छिड़ जाने पर अस्त्र-शस्त्र बेचनेवाले बहुत लाभ कमाते हैं। इस प्रकार के आकस्मिक लाभ को वास्तविक नहीं कहा जा सकता, और उन्हें कुल लाभ में से घटा देने पर ही वास्तविक मालूम किया जा सकता है।

(४) वास्तविक (Net) या शुद्ध (Pure) लाभ—जब कुल लाभ में से उपरोक्त समस्त रकमें घटा दी जाती हैं तो अवशेष रकम वास्तविक या शुद्ध लाभ कहलाती है। यह दो प्रधान कार्यों का पुरस्कार होता है :
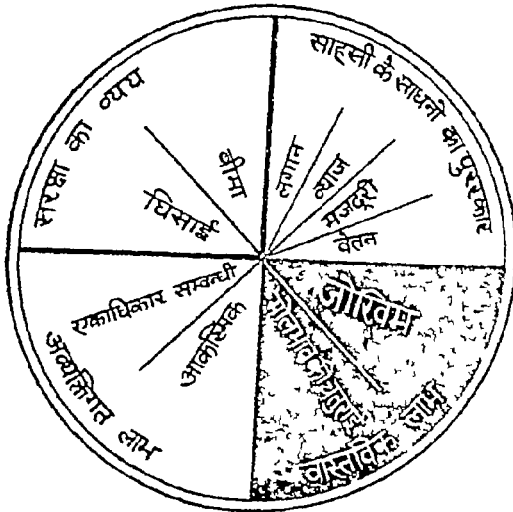
चित्र न० ३४—कुल लाभ के अंग

(अ) जोखिम झेलने का पुरस्कार—साहसी भावी मूल्य और माँग की मात्रा का अनुमान लगाता है और इसी आधार पर वह उत्पत्ति के विभिन्न साधकों को पुरस्कार देता है। यदि उसका अनुमान गलत हुआ तो हो सकता है कि उसे हानि उठानी पड़े। यही जोखिम वह झेलता है। यदि वह माल अनुमानित मूल्य से ऊँचे मूल्य पर बेच पाता है, तो उसे लाभ होता है। यदि भविष्य में मूल्य अनुमानित मूल्य से कम होता है, तो उसे हानि होती है। "यह बात कि व्यापार के स्वामी ही जोखिम झेलते हैं हमें तब स्पष्ट होती है जब कि हम यह स्मरण रक्खें कि वे वस्तु के बनने के पूर्व ही, बहुधा वस्तु का मूल्य पता लगने के पहले ही श्रम और पूँजी और भूमि को पुरस्कार देते हैं, और यदि बनी हुई वस्तु की माँग न हो और वह बिक न पावे, तो वह रकम जो मजदूरी, ब्याज और लगान के रूप में दे दी गई है, वे वापस नहीं पाते।"[२] (अ) मोल भाव की चतुराई—उत्पत्ति के विभिन्न साधकों से प्रसंविदा (Contract) करते समय साहसी इस बात की चेष्टा

[२] Henry Clay, *Economics for the General Reader*, p 337

करता है कि उसे न्यूनतम पुरस्कार देना पड़े। उसकी सफलता की मात्रा उसकी मोल-भाव करने की चतुराई पर निर्भर होती है। जोखिम झेलने और मोल-भाव करने की चतुराई के उपलक्ष में जो पुरस्कार प्राप्त होता है उसी को वास्तविक लाभ कहते हैं।[3] नीचे के चार्ट में कुल लाभ के विभिन्न अंग दिखाये जाते हैं :
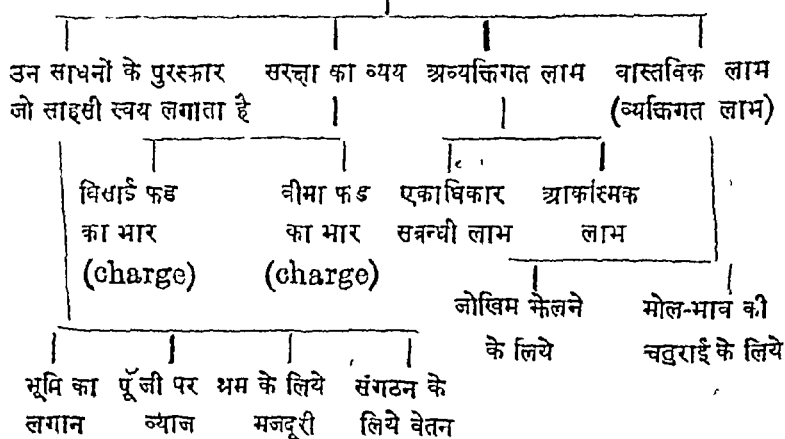
वास्तविक लाभ पर विचार

ऊपर की विवेचना के अनुसार, वास्तविक लाभ जोखिम झेलने तथा मोल-भाव करने की चतुराई का पुरस्कार होता है। यह अमरीका के अर्थशास्त्रियों का मत है। पुराने अर्थशास्त्री इस भ्रम पूर्ण मत के पोषक थे कि वास्तविक लाभ में उस पूँजी पर व्याज भी शामिल होती है, जो साहसी स्वय लगाता है। उन दिनों में, व्यापारिक सगठन का रूप आदिकालीन (primitive) था। व्यक्तिगत व्यापार तथा साझेदारी आम रिवाज था। जोखिम झेलनेवाला स्वय सम्पूर्ण पूँजी लगाता था। इस दशा में उनकी यह धारणा कि जोखिम झेलनेवाले को पूजीपति होना आवश्यक है तथा वास्तविक लाभ में व्याज भी शामिल रहता है, उनके समय के अनुसार गलत नहीं थी। आज-कल पूजी लगानेवाले व्यक्तियों से जोखिम झेलनेवाले व्यक्ति बिल्कुल भिन्न हुआ करते हैं। अत यह दृष्टिकोण हम लोगों के समय के लिये ठीक नहीं। एफ० ए० वाकर, जोकि एक अमेरिकन अर्थशास्त्री थे, पहले व्यक्ति थे जिन्होंने जोखिम झेलनेवाले तथा पूजीपति के कर्त्तव्यों

[3] देखिये Carver, *Distribution of Wealth*, pp 296-7

के अन्तर को स्पष्ट किया। उन्होंने यह दिखलाया कि जोखिम झेलनेवाले को किसी प्रकार की पूँजी लगाने की आवश्यकता नहीं यद्यपि वह साधारणतया उसका एक महत्त्वपूर्ण भाग लगाता है। यह दृष्टिकोण आजकल अर्थशास्त्रियों को सामान्यतया मान्य है।

मार्शल तथा उनके अंग्रेजी अनुगामी इस बात को मानते हैं कि साहसी संगठनकर्त्ता का भी काम करता है और वास्तविक लाभ में संगठन का पुरस्कार भी सम्मिलित होता है। किन्तु यह मत अब समयानुकूल नहीं रहा। यह कोई आवश्यक नहीं कि साहसी स्वयं ही संगठन-कर्त्ता का भी काम करे। यदि हम एक औसत संयुक्त पूँजीवाली कम्पनी को लें तो हमें मालूम होगा कि संगठन का काम वेतन पानेवाले मैनेजर करते हैं। संगठन का काम साहसी के काम से पूर्णतया अलग है। इसलिये यह आवश्यक है कि हम संगठन तथा साहस को उत्पत्ति के दो अलग-अलग साधन मानें।[४]

§ ३. लाभ किस प्रकार निर्धारित होता है ?

अर्थशास्त्री इस बात पर एकमत नहीं कि लाभ किस प्रकार निर्धारित होता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस विषय पर अलग-अलग मत प्रदर्शित किये हैं। हम नीचे वह मत देंगे जो सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। यदि विद्यार्थी इस विषय पर अर्थशास्त्र की और पुस्तकें पढ़े तो उन्हें मालूम होगा कि लेखकों ने कुल लाभ का अलग-अलग विश्लेषण (analysis) किया है और लाभ का निर्धारण भी अलग-अलग रीति द्वारा समझाया है। मतों में इतने अंतर से विद्यार्थियों को घबड़ाना नहीं चाहिये। उन्हें चाहिये कि वे केवल एक ही मत सबसे पहले अच्छी तरह समझें, और यदि उससे उन्हें संतोष हो और कोई आपत्ति न हो, तो वे उसी मत को मानें।

लाभ की प्रसामान्य (Normal) दर

आरम्भ में ही हम यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जब तक साहसी को कोई पुरस्कार नहीं मिलेगा, तब तक वह जोखिम झेलने को तैयार न होगा। अल्पकाल में वह हानि सह सकता है, किन्तु वह फिर भी व्यापार में इस आशा से लगा रहेगा कि शायद भविष्य में उसे लाभ हो। किन्तु दीर्घ-काल में उसे जोखिम झेलने और मोल-भाव करने की चतुराई के लिये उचित पुरस्कार मिलना ही

---

[४] हमारे मत में, तर्क और वास्तविक सचाई की दृष्टि से उपरोक्त अन्तर नितांत आवश्यक तथा अपरिहार्य है। मार्शल का मत आजकल के समय पर लागू नहीं होता।

चाहिये। ऐसे उचित लाभ को जो साहसी को, जोखिम झेलने के लिये तैयार करने के लिये आवश्यक है, प्रसामान्य लाभ (Normal Profit) कहते हैं, और यह उत्पादन व्यय (expenses of production) में शामिल होता है। यह बात बहुत महत्त्व की है और इसे सदैव ध्यान में रखना चाहिये।

लाभ का निर्धारण

यह तो हम बता ही चुके हैं कि लाभ साहसी के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर होता है। विभिन्न साहसियों की व्यक्तिगत योग्यता अलग-अलग मात्रा और प्रकार की होती है। जो साहसी जितना अधिक योग्य होता है, उसे उतना ही अधिक लाभ भी होता है। कुछ साहसी बहुत योग्य होते हैं और उन्हें शानदार लाभ प्राप्त होता है। दूसरे छोर पर वे अभागे साहसी होते हैं जिनकी आय उनके व्यय (जिसमें प्रसामान्य लाभ शामिल होता है) भर अदा करने के लिये पर्याप्त होती है। "ऐसी दशा में, जबकि सफलता विफलता से शायद ही श्रेष्ठ होती हो, लाभ न्यूनतम होता है, वास्तव में हम ऐसे व्यापारी को सीमान्त साहसी मान सकते हैं और हम लाभ को इस नीचे बिन्दु से ऊपर की ओर नापते हैं। जैसे-जैसे साहसी की योग्यता, दूरदर्शिता और हिम्मत अधिक होता जाती है, वैसे ही वैसे उसका लाभ के रूप में पुरस्कार बढ़ता जाता है, और किसी विशेष समय लाभ की रकम सीमान्त साहसी की अपेक्षा उतनी ही अधिक होती है जितनी कि अधिक गुणवान साहसी की योग्यता की श्रेष्ठता।[५]

योग्यता का लगान (Rent of Ability)—पाठक को कुछ आभास हुआ होगा कि लाभ उसी प्रकार निर्धारित होता है जिस प्रकार कि लगान निर्धारित होता है। अधिसीमान्त भूमि की सीमान्त भूमि से श्रेष्ठता ही लगान निर्धारित करती है, इसी प्रकार किसी विशेष साहसी की अपेक्षा योग्यता ही उसका लाभ निर्धारित करती है। इसीलिये कभी-कभी कहा जाता है कि लाभ योग्यता का लगान होता है[६]।

---

[५] Thomas, *Elements of Economics*, p 331

[६] पाठक यह कह सकते हैं कि ऊपर की विवेचना में इस बात पर प्रकाश नहीं डाला गया कि प्रसामान्य लाभ (normal profit) कैसे निर्धारित होता है। यह आसान है। यह साहस की माँग तथा उसकी पूर्ति पर निर्भर होता है। यदि माँग पूर्ति से अधिक हुई, तो प्रसामान्य लाभ की दर ऊँची होगी, और विपरीत अवस्था में, परिणाम भी विपरीत होगा। किसी खास समय लाभ की दर वह संतुलन बिंदु (Equilibrium Point) होता है जिस पर कि साहस की माँग और पूर्ति एक दूसरे के बराबर होते हैं।

§ ४. लाभ की गणना

वार्षिक लाभ

साधारणतया लाभ को वर्ष में प्रयुक्त की जानेवाली पूँजी के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। मान लीजिये सन् १९४९ में किसी व्यापारी ने १०००) की पूँजी लगाई और उसे १२०) लाभ हुआ। तो उसके लाभ की दर हुई $\frac{१२० \times १००}{१०००} = १२\%$।

बिक्री की रकम (Turnover) पर लाभ

जब किसी व्यापारी की बिक्री की रकम उसके व्यापार में संलग्न पूँजी के बराबर होती है, तो कहा जाता है कि पूँजी की एक बार फिरती (Turnover) हुई। साल मे यदि कुल बिक्री पूँजी से चार गुनी हो, तो कहा जायगा कि पूँजी की चार बार फिरती हुई।

कभी-कभी लाभ को कुल बिक्री की रकम के प्रतिशत के रूप में भी व्यक्त किया जाता है, तब उसे **बिक्री की रकम पर लाभ** कहा जाता है। ऊपर के उदाहरण में हमने माना था कि १०००) की पूँजी पर १२% लाभ होता है। यदि साल में पूँजी की फिरती चार बार हुई हो (अर्थात् सालभर में ४०००) की बिक्री हुई हो), तो बिक्री की रकम पर लाभ की दर केवल ३% होगी। यदि पूँजी की फिरती दो ही बार होती तो कुल बिक्री पर लाभ की दर ६% हुई।

यदि कोई व्यापारी बिक्री की रकम पर कम लाभ ले, तो वह कम मूल्य वसूल करेगा, इसके फलस्वरूप उसकी बिक्री बढ जायगी और उसका कुल लाभ भी बढ जायगा। यदि वह बिक्री पर अधिक लाभ वसूल करेगा, तो उसे मूल्य ऊँचा रखना पडेगा, इस कारण बिक्री कम हो जायगी और लाभ भी घट जायगा। अब लाभ प्रतिशत तथा बिक्री पर निर्भर होता है, और यदि इन दोनों मे से एक को बढ़ा दिया जाय, तो दूसरा घट जाता है। व्यापारी के सामने यह समस्या आती है कि वह लाभ की कम प्रतिशत स्थिर करके अधिक माल बेचे, या कम प्रतिशत लाभ लेकर अधिक बिक्री करे, इन दोनों में से वह उसी को चुनता है जिससे कि वह अधिकतम लाभ पाने की आशा करता है।

§ ५. लाभ के घटने की प्रवृत्ति

समाज की जैसे जैसे उन्नति होती जाती है वैसे ही वैसे लाभ घटता जाता है क्योंकि साहस की पूर्ति उसकी माँग से बढती जाती है। इस दशा में लाभ ब्याज

से मिलता-जुलता है। यह इस बात में लगान से भिन्न है क्योंकि उन्नति के साथ-साथ भूमि की पूर्ति स्थिर रहने के कारण लगान बढ़ता जाता है।

जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है और समाज के अधिकाधिक व्यक्ति पढ़े-लिखे होने लगते हैं, जैसे-जैसे आविष्कारों की संख्या बढ़ती जाती है और अधिकाधिक उत्पादक उनका प्रयोग करने लगते हैं, और जैसे-जैसे शिक्षा और अनुभव के साधन बढ़ते जाते हैं और समाज के अधिकाधिक व्यक्ति विशिष्ट योग्यता प्राप्त करने लगते हैं, वैसे ही वैसे आकस्मिक लाभ कमाने के अवसर कम होते जाते हैं और लाभ की दर घटती जाती है। साथ मे यह अवश्य होता है कि नई-नई आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये नए-नए कारखानों की माँग होने लगती है और साहस की माँग इस प्रकार बढ़ती जाती है। किन्तु माँग की वृद्धि पूर्ति की वृद्धि से कम होती है और इसलिये लाभ घट जाता है।

§ ६. भारतवर्ष में लाभ

हमारे देश में लाभ का स्तर बहुत से कारणों के फल-स्वरूप काफी नीचा है।

कृषि मे लाभ

बहुत समय से भारतीय किसान हानि सहन करते चले आये हैं। वे लगान बहुत अधिक अदा करते हैं। जन-संख्या के अधिकांश भाग को कृषि पर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि उन्हें और कोई पेशा खुला नहीं दीखता। अतः भूमि की माँग इतनी अधिक है कि भूमिपति अत्यधिक लगान वसूल करते हैं। गाँवों में व्याज की दर बहुत ऊँची होती है, जिसके कारणों का हम पहले ही अध्ययन कर चुके हैं। अधिकतर किसानों को केवल व्याज और लगान ही अदा करना पड़ता है, और श्रम, संगठन एवं साहस वे स्वयं लगाते हैं। लगान और व्याज या तो रीति-रिवाज के अनुसार दिये जाते हैं या दीर्घकालीन प्रसंविदों (Contract) के अनुसार, अतः उनकी दर स्थिर रहती है। किन्तु इधर कुछ सालों को छोड़कर कृषि के पदार्थों का मूल्य गिरता रहा है, जिसके कारण पैदावार बेचकर किसान को जो आय मिलती है, वह लगान और व्याज से थोड़ी सी ही अधिक होती है, और किसान अपना काम नहीं चला पाता। यह तो हुई कुल लाभ (Gross Profit) की बात। यदि हम वास्तविक लाभ की गणना करें और जो श्रम, संगठन और साहस किसान स्वयं लगाता है उनके उचित पुरस्कार को भी हिसाब में ले, तो हमें पता चलेगा कि किसान भूतकाल में हानि उठाकर खेती करता रहा है। हाल में युद्ध के समय से किसानों की अवस्था में काफी सुधार

हुआ है। कृषि के पदार्थों के मूल्य बहुत बढ गये हैं और लागत उतनी नहीं बढी। इससे किसानों को काफी लाभ हुआ है।

बड़े-बड़े कारखानों का लाभ

बडे-बडे कारखानों की अवस्था उतनी बुरी नहीं जितनी कि कृषि की रही है। कारखानेवाले लाभ कमाते हैं, किन्तु लाभवाले उद्योग थोडे से ही हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी स्पर्द्धा, ऊँचे कर एव हड़ताल आदि के कारण उनके लाभ कम हो चले हैं। यदि सरकार कर की दर घटा दे, हड़तालों को रोके और उद्योगो के राष्ट्रीयकरण (Nationalisasion) के सम्बन्ध में उदार रीति अपनाये, तो इस अवस्था से छुटकारा मिल सकता है।

घरेलू उद्योगों मे लाभ

प्रचीन काल में भारतवर्ष की कारीगरी ससार भर में प्रसिद्ध थी और यहाँ के कारीगर बहुत लाभ कमाते थे। किन्तु जब विदेशों से कारखानों का बना माल आने लगा और हमारे देश में ही कारखाने खुल गये, तो इन उद्योगों को बहुत धक्का लगा। दिन प्रति दिन इनकी दशा बिगड़ती ही गई और इनके लाभ भी घटते गये। हाल में ही सरकार ने इनकी उन्नति का प्रयत्न किया है, और भी ऐसे प्रयत्न किये जा रहे हैं। ये प्रयत्न निश्चय ही सफल होंगे और उस दशा में इन उद्योगों में भी लाभ होने की आशा की जा सकती है।

व्यापारियों को लाभ

इस स्थान पर हम व्यापारियों के लाभ का भी जिक्र करना आवश्यक समझते हैं। इनकी अवस्था बहुत परिवर्तनशील होती है, व्यापारियों की दशाओ में इतना अन्तर होता है कि उनके सम्बन्ध में कोई सामान्य कथन करना भ्रम से खाली नहीं। किन्तु वैसे व्यापारी लोग अच्छा लाभ कमाते रहे हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१ लाभ का अर्थ समझाइये। यह समझाइये कि लाभ किस प्रकार किसी उद्योग का एक अवशेष भाग है।

२ कुल तथा वास्तविक लाभ का अन्तर स्पष्ट कीजिए। कुल लाभ के अंग कौन से हैं? पूर्णतया समझाइये।

३ लाभ का निर्धारण किस प्रकार होता है? सच्चे लाभ के निर्धारण में असामान्य लाभ का महत्व बतलाइये।

४ लाभ की गणना किस प्रकार की जाती है? क्या समाज की उन्नति के साथ-साथ लाभ की प्रवृत्ति गिरने की होती है?

७ 'भारत में लाभ' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१. "लाभ साहस का पारितोषक है।" इस वाक्य को संक्षेप में समझाइये। भारत में आजकल साहस का क्षेत्र बताइये। (१९४९)

२ 'लाभ' से आप क्या अर्थ समझते हैं? आधुनिक समय में क्या भारत में खेती के साहस का कोई विस्तार हुआ है? उदाहरण सहित समझाइये। (१९४८)

३ लगान और लाभ में अन्तर बताइये। इन दोनों की समानताओं पर भी प्रकाश डालिये। (१९४५)

४ लाभ से आप क्या समझते हैं? क्या भारत में आजकल साहस के क्षेत्र का अधिक विस्तार हुआ है? अपने उत्तर के उदाहरण दीजिये। (१९४१)

५ लाभ का उदय किस प्रकार होता है? कुल और वास्तविक लाभ का अंतर बताइये। (१९४६)

६. लाभ के विभिन्न अंग बताइये। लाभ का क्या काम होता? (१९३४)

यू० पी०, इन्टर कामर्स

७ लाभ क्या होता है? इसका उदय किस प्रकार होता है? क्या उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक है? (१९४७)

८ साहसी को जो आय प्राप्त होती है वह बाजार की दशाओं का परिणाम होता है। इस कथन को स्पष्ट कीजिये। (१९३२)

राजपूताना, इन्टर आर्ट्स

9. Write a short note on Normal Profits and Surplus Profits (1949)

10 Analyze Profits. Explain how you will estimate the amount of net profits of a cotton textile mill in India earned by it during a certain period (1939)

राजपूताना, इन्टर कामर्स

11 Analyze 'Profit' and explain how each part is determined? (1948)

पटना, इन्टर आर्ट्स

12. What do you understand by profits? How far can you justify the payment of profits? (1947 Supp)

पटना, इंटर कामर्स

13. What do you mean by profits ? Should they be paid ? (1949 Supp)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

14 Profits are said to be the normal renumeration of an enterpriser Do you agree ? Give reasons How are they determined ? (1949)

15 Write a short note on Necessity of profits in economic sense (1948)

नागपुर, इन्टर कामर्स

१६. कुल लाभ तथा वास्तविक लाभ का अंतर स्पष्ट कीजिये। वास्तविक लाभ किन दशाओं में उपार्जित किया जाता है ? उदाहरण प्रस्तुत कीजिए। (१६४८)

सागर, इंटर आर्ट्स

17 Analyse Gross Profits What are net profits ? (1949)

18 "Profit is the rent of ability" Explain this statement and describe how profit is determined (1949 Supp)

सागर, इंटर कामर्स

19 What are the elements included in Gross Profits ? Explain surplus profits Are the latter obtained by the marginal organiser ? (1948)

अध्याय ६५

भारतवर्ष में साहस का क्षेत्र

हमारे देश में साहस की काफी कमी रही है। हमारे देश में उत्पत्ति के साधन प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। (क) प्राकृतिक साधन—प्राकृति ने हमें अमूल्य उपहार भेंट किये हैं। भारत की विभिन्न जलवायु और तरह-तरह की मिट्टी में प्राय हर प्रकार की खाद्य-सामग्री तथा कच्चा माल पैदा होता है जो बहुत बड़ी आबादी और औद्योगिक यन्त्र के लिये पर्याप्त है। पृथ्वी के गर्भ में बड़ी मात्रा में धातुएँ छिपी हुई हैं जो बहुमूल्य हैं। हमारे यहाँ घने और अच्छे वन हैं और मछली पकड़ने के अच्छे स्थान भी हैं। (ख) श्रम—भारतवर्ष बहुत घना बसा हुआ है और उसमें मानवीय श्रम बड़ी मात्रा में विद्यमान है। हमारे देशवासियों का रहन-सहन का दर्जा नीचा होने के कारण मजदूरी की दर भी नीची है। यह सत्य है कि भारतीय मजदूर कुशल नहीं होते क्योंकि उन्हें किसी प्रकार की सामान्य या विशिष्ट शिक्षा नहीं मिलती। किन्तु उनका मस्तिष्क सचेत और सक्रिय होता है और उन्हे जो भी काम समझाया जाता है उसे वे तुरन्त समझ जाते हैं। अतः यदि देश की आर्थिक प्रणाली का ढग से विकास किया जाय, तो श्रम की कमी इसमें बाधक नहीं होगी। (ग) पूँजी—हमारी पूँजी भी दिन पर दिन बढ रही है। प्राचीन काल से ही हमारे देश मे सोना और चाँदी आता रहा है, और यद्यपि कुछ वर्ष हुए हमारा बहुत सा सोना विदेशों को चला गया, किन्तु फिर भी बहुत कुछ देश में अब भी अवशेष है। यदि हमारे देश में पूँजी की मात्रा अधिक नहीं तो इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि बहुत सा सोना आभूषणों के रूप में और रुपया गाढकर रक्खा जाता है: और यदि यही उत्पादक कार्यों में लगा दिया जाय, तो यह पूँजी का रूप ले लेगा। यदि व्याज की दर ऊँची कर दी जाय, शिक्षा का प्रसार किया जाय और प्रोपेगंडा किया जाय तो बहुत सी पूँजी प्राप्त की जा सकती है। (घ) संगठन—हमारे देश में थोड़े से व्यक्तियों में ही सगठन की योग्यता पाई जाती है। हमें प्रबन्ध के लिये विदेशों से दक्ष पुरुष मँगवाने पड़ते हैं। किन्तु अब भारतीय शिक्षा और अनुभव के लिये बाहर जाने लगे हैं और आशा है कि यह कमी शीघ्र ही दूर हो जायगी। (ङ) साहस—उत्पत्ति के उपरोक्त सब साधन प्रचुर मात्रा में विद्यमान होने पर भी हमारी उत्पत्ति बहुत थोड़ी है और हमारे अधिकाश देशवासी निर्धन हैं। इसका

एक कारण यह भी है कि हमारे यहाँ साहस की कमी है। यदि कुछ लोग उत्पत्ति-सम्बन्धी जोखिम को झेलने के लिये उठ खड़े हों, तो हमारी राष्ट्रीय आय अवश्य बढेगी और जन-साधारण के रहन सहन का स्तर निश्चय ही ऊँचा हो सकेगा।

साहस की कमी के कारण

साहस की कमी का यह कारण बताया जाता है कि हमारे देशवासी डरपोक हैं। यह भूतकाल में तो अवश्य ठीक था किन्तु अब यह उतना ठीक नहीं। जहाँ भी व्यावहारिक सफलता का तनिक भी आश्वासन होता है, वहाँ साहस की कमी नहीं रहती। जैसे ही सन् १९३२ में चीनी के उद्योग को संरक्षण (protection) मिला, वैसे ही एक मिल के बाद दूसरी मिल खुलने लगी और तीन या चार साल में ही देश चीनी के मामले में आत्मनिर्भर (Self-Sufficient) हो गया।

ब्रिटिश काल में सरकार का रुख औद्योगीकरण के विपरीत था। जो भी व्यापारी किसी उद्योग को चलाने की बात सोचता, उसके सामने तरह तरह की कठिनाइयाँ आने लगतीं। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी देश का आर्थिक विकास तभी हो सकता है जब कि सरकार उस विकास में शुरू मे सहायता दे। किन्तु ब्रिटिश काल में सहायता देना तो दूर, सरकार इस मार्ग में बाधक ही होती थी। इसलिये साहस की हमारे देश मे कमी रही। १५ अगस्त १९४७ के बाद, अर्थात् स्वतंत्र होने के पश्चात्, यह आशा की जाती थी कि अब साहस को अच्छा क्षेत्र मिलेगा। किन्तु तब से सरकार बहुत से राजनीतिक मामलों में उलझी रही। साथ में सरकार ने उद्योगो के राष्ट्रीयकरण की नीति को भी आवश्यकता से शीघ्र अपनाया। इससे साहसियों को भय हो गया। साथ में ही हड़ताल का डर तथा करों की ऊँची दर ने उनको और भी भयभीत कर दिया। अत साहस की कमी अब पहले से भी अधिक हो गई है। किन्तु यह एक अल्पकालीन पहलू है। सरकार ने इस बात का अनुभव कर लिया है और आशा है कि ऐसी अवस्था शीघ्र ही उत्पन्न होगी कि जिसमें साहस को पूरा क्षेत्र मिले।

साहस का क्षेत्र

हमारा देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। उत्पत्ति का कोई ऐसा पहलू नहीं जो कि उचित रीति से विकसित हो। हर ओर ही साहस के लिये बड़ा क्षेत्र दीख पड़ता है। हम इसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत देते हैं : (१) प्रारम्भिक उद्योगों (Extractive Industries) में क्षेत्र, (२) पक्के माल के उद्योगों में क्षेत्र, (३) वन प्रबन्ध सम्बधी व्यवसायों में क्षेत्र, और (४) यातायात मे क्षेत्र।

§ १. प्रारंभिक उद्योगों में क्षेत्र

खेती

भारतवर्ष प्रधानतया एक खेतिहर देश है। पाकिस्तान बन जाने के कारण हमारी आर्थिक प्रणाली में खेती का वह महत्त्व नहीं रहा जो पहले था, किन्तु फिर भी इसका महत्त्व बहुत है। खेती पर निर्भर रहनेवाली जन संख्या बहुत ज्यादा है; और किसानों की आय बहुत थोड़ी है। इससे यह समझा जाता है कि कृषि में साहस के लिये कोई क्षेत्र नहीं। खासकर हमारे नवयुवक यह सोचते हैं कि कृषि में उन्नति के लिये गुञ्जायश नहीं। किन्तु यह धारणा निर्मूल है। आजकल खेती अनपढ़ और गरीब किसानों के हाथ में है और इसके तरीके पुराने तथा खराब हैं। यदि पढ़े-लिखे लोग खेती करें, उसमें पूँजी लगावें, वैज्ञानिक रीतियों का प्रयोग करें तथा प्रगतिशील संगठन स्थापित करें, तो निश्चय ही खेती से बहुत लाभ कमाया जा सकता है।

काम के लिये तीन दिशाओं में काफी स्थान है: (क) हमारे किसान बहुत पुराने तरीकों को काम में लाते हैं, कुछ तो अपनी निर्धनता के कारण किन्तु मुख्यतया अपनी अज्ञानता और रूढ़िवाद के कारण। यदि धनी और पढ़े-लिखे लोग कृषि की तरफ आकर्षित हों तो विज्ञान और पूँजी दोनों से लाभ उठाया जा सकता है। (ख) विस्तृत (extensive) खेती के लिये भी क्षेत्र है। दल-दलों को भर कर तथा झाड़ियों और जंगलों को साफ करके उपयुक्त भूमि निकाली जा सकती है। यदि सिंचाई के साधन प्राप्त हो सकें, तो बहुत सी समतल भूमि भी खेती के काम लाई जा सकती है। (ग) पाश्चात्य देशों में गहरी (intensive) खेती होती है जिसका हमारे देश में भी प्रयोग किया जा सकता है। अभी खेती में मशीनों का प्रयोग नहीं होता और दूसरे देशों में वैज्ञानिकों ने जिन उपयोगी यन्त्रों का आविष्कार किया है, हम अभी उनके लाभ से वंचित हैं। बड़े पैमाने की खेती, मोटर के हल, ट्रैक्टर आदि का प्रयोग हमारे यहाँ अभी नहीं होता। इस दिशा में जो व्यक्ति सबसे पहले आगे बढ़ेंगे उन्हें निश्चय ही काफी लाभ होगा।

वन-व्यवसाय

हमारे वनों में बहुत से बहुमूल्य कच्चे पदार्थ मिलते हैं। वनों की छोटी और बड़ी वस्तुएँ अनेक उद्योगों की आधार हो सकती हैं। उदाहरण के लिये, भाबर और सबाई घास तथा बाँस से कागज उत्पन्न किया जा सकता है। लाख और रबर के उद्योग भी चलाये जा सकते हैं। ताड़पीन, चन्दन की लकड़ी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ भी जंगल से मिलती हैं। किन्तु बहुत सी बाधाओं के कारण,

जिनका ब्यौरा हम पहले ही दे चुके हैं, हमारे वन-सम्बन्धी उद्योगों का अभी विकास नहीं हुआ।

मछली पकड़ने के व्यवसाय तथा खान खोदने के व्यवसाय आदि में भी साहस के लिये बड़ा क्षेत्र है। परिश्रमी और दूरदर्शी साहसी इनसे बहुत लाभ कमा सकते हैं।

§ २, पक्के माल के उद्योगों में क्षेत्र

साहस के लिये सबसे अधिक क्षेत्र पक्के माल बनाने वाले उद्योगों में है। हमारे उद्योग तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं : (१) वे उद्योग जो हमारी राष्ट्रीय माँग पूर्ण-रूप से सन्तुष्ट नहीं करते, (२) वे उद्योग जो हमारी राष्ट्रीय माँग तो सन्तुष्ट कर देते हैं पर जिनके लिये विदेशी बाजार प्राप्त नहीं, और (३) वे उद्योग जो प्रधानतया विदेशी बाजारों पर निर्भर हैं। इन तीनों वर्गों मे साहस के लिये काफी क्षेत्र है।

(१) वे उद्योग जो राष्ट्रीय माँग पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं करते

हमारी औद्योगिक उन्नति इतनी सीमित हुई है कि बहुत से उद्योग हमारी राष्ट्रीय माँग का केवल एक भाग ही सतुष्ट कर पाते हैं और हमें विदेशों से माल मँगवाना पड़ता है। ऐसे सब उद्योग इतनी उन्नति और कर सकते हैं कि वे राष्ट्रीय माँग को पूर्णयता सतुष्ट कर सकें।

(क) **लोहे और स्पात का उद्योग**—हमारा मुख्य मूल उद्योग (Key Industry) लोहे और स्पात का है। इस उद्योग ने हमारे देश में काफी उन्नति की है, किन्तु इस दिशा मेंऔर उन्नति की जा सकती है। हम विभिन्न प्रकार की मशीनों तथा और लोहे के सामान के लिये विदेशों पर अब भी निर्भर हैं। यदि कोई साहस करके लोहे और स्पात का कारखाना खोले और परिश्रम तथा लगन से उसे सफल बना ले, तो उसे बहुत लाभ हो। लोहे और स्पात की वस्तुओ की माँग अब भी बहुत अधिक है, और जैसे-जैसे हमारी औद्योगिक उन्नति होती जायगी, वैसे ही वैसे इन वस्तुओं की माँग बढती जायगी।

(ख) **रसायनिक (Chemical) उद्योग**—रसायनिक उद्योग भी मूल उद्योग माने जाते हैं। अभाग्यवश हमारे रसायनिक उद्योगों की उन्नति तनिक भी नहीं हुई,और हमें आवश्यक रसायनों के लिये विदेशों का मुँह ताकना पड़ता है। इन उद्योगों को जिन कच्चे मालों की आवश्यकता होती है, वे हमारे देश में

प्राप्त हैं, तथा अन्य सुविधायें भी विद्यमान हैं। पहले महायुद्ध के समय में मित्र-राष्ट्रों की सहायता के लिये हमारे देश में इन उद्योगों की अच्छी उन्नति हुई; युद्ध के बाद सरकार का सहारा हट जाने के कारण यह उन्नति समाप्त हो गई। द्वितीय महायुद्ध के समय मे भी ऐसे उद्योगों ने काफी उन्नति की है और आशा है कि यह उन्नति दिन प्रति दिन बढ़ती जायगी।

(ग) **सूती कपड़ों का उद्योग**—सूती कपड़ों का उद्योग हमारे देश के प्रधान उद्योगों में गिना जाता है। भारतीय मिलें तथा करघे हमारी कुल माग का केवल तीन-चौथाई भाग ही सतुष्ट कर पाते हैं, शेष माँग हम विदेशी कपड़ों से संतुष्ट करते हैं। हम इस उद्योग को इतना और बढ़ा सकते हैं कि यह हमारी पूरी माँग सतुष्ट करने लगे। हमें आस-पास के देशों में सूती कपड़े के लिये अच्छे बाजार भी मिल सकते हैं।

(घ) **चमड़े का उद्योग**—देश की कृषि सबधी प्रणाली मे पशुओं का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। इसलिये खालों की पूर्ति काफी होती है। यह एक बड़े चमड़े के उद्योग का आधार हो सकती है। आजकल यह उद्योग अधिकतर अनपढ़ चमारो के हाथ मे है। वे कच्ची खालें या अधपकी खालें विदेशों को भेजते हैं, वहाँ वे वैज्ञानिक रीति से पक्की की जाती हैं, और तब हम उनका फिर आयात करते हैं। हम चमड़े के सामान भी विदेशों से मँगाते हैं। यदि चमड़े पक्का करने और चमड़े के सामान बनाने के कारखाने काफी सख्या में स्थापित हो जायें, तो हमारा बहुत सा धन विदेशों को जाने से रुक जाय।

(ङ) **कागज का उद्योग**—हम विदेशों से कागज का भी आयात बड़ी मात्रा मे करते हैं। देश में कुछ कागज के कारखाने हाल में ही खुले हैं और उन्हें अच्छी सफलता मिली है। और बहुत से कारखाने भारत में खोलने की आवश्यकता है। हमारे यहाँ कागज बनाने के लिये घास और बाँस प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं; और कागज की माँग शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ निश्चय ही बढ़ेगी। अत कागज के उद्योग मे बहुत लाभ होने की आशा की जा सकती है।

(२) वे उद्योग जो हमारी राष्ट्रीय माँग पूरी पूरी सतुष्ट करते हैं पर जिनके पास विदेशी बाजार नहीं

ऐसे उद्योग बहुत थोड़े हैं। इनमे चीनी का उद्योग प्रधान है। चीनी के उद्योग को सन् १९३२ में सरक्षण (protection) मिला, और सन् १९३६ में यह हमारी लगभग सम्पूर्ण राष्ट्रीय माँग सतुष्ट करने लगा। इस उद्योग की उन्नति और भी हो रही थी और यह विदेशों को चीनी भेजने का उपक्रम कर रहा

'था कि अभाग्यवश भारत सरकार ने एक ऐसा समझौता कर लिया कि जिसके अनुसार भारतवर्ष को चीनी के निर्यात करने की मनाही हो गई। किन्तु अब हम स्वतंत्र हैं और निर्यात के लिये सुविधायें अब हमें मिल सकती हैं। अतः इस उद्योग को उन्नति का भी क्षेत्र काफी है।

(३) माल निर्यात करनेवाले उद्योग

जूट का उद्योग ही अकेला महत्वपूर्ण उद्योग है जो मुख्यत. विदेशी बाजारों पर निर्भर है। पहले तो हम ससार में कच्चा जूट उत्पन्न करनेवाले अकेले देश थे और हम पक्का माल भी जूट का बड़ा मात्रा में बना देते किन्तु अब कच्चा जूट पैदा करनेवाला भाग पाकिस्तान में चला गया है, और अधिकाश जूट की मिलें हमारे देश में हैं। इससे इस उद्योग के सामने अब एक नई समस्या आ गई है।

§ ३. वित्त सम्बन्धी व्यवसायों में क्षेत्र

हमारी आर्थिक व्यवस्था के वित्त सम्बधी (financial) क्षेत्र में भी वृद्धि के लिये काफी स्थान है। इस विभाग मे बैंकिंग और बीमा कम्पनिया मुख्य हैं।

बीमा व्यवसाय

हमारे देश में बीमा बहुत लोक-प्रिय हो रहा है और स्त्री-पुरुष इसकी उपयोगिता का जितना ही अधिक अनुभव करेंगे यह उतना ही और भी लोक-प्रिय बनेगा। हमारे देश में अब भी बहुत सी विदेशी बीमा-कम्पनियाँ काम कर रही हैं और अच्छा लाभ कमा रही हैं। यदि भारतीय कम्पनियाँ खुल जायें तो यह व्यवसाय उनके हाथों में आ सकता है। इसके अतिरिक्त बीमा की माँग बढ रही है और इस बढ़ती हुई माँग को सन्तुष्ट करने के लिये भी कम्पनियों की आवश्यकता है। बहुत सी भारतीय कम्पनियों ने सुदूरपूर्व, अफ्रीका, लका आदि में अपना काम फैला रक्खा है और यह काम बढ़ाया जा सकता है।

बैंकिंग व्यवसाय

बैंकिंग में भी नये साहस के लिये काफी क्षेत्र है। हमारा विदेशी विनिमय (foreign exchange) का काम अधिकतर विदेशी बैंकों के हाथ में है। हमारे यहाँ औद्योगिक बैंक तथा भूमि बधक बैंक भी बहुत थोड़े हैं। गावों में व्यापारिक बैंक अभी पहुँचे ही नहीं। इन सब दिशाओं में नए बैंकों के लिये अच्छा क्षेत्र है।

§ ४. यातायात में क्षेत्र

रेलें

हमारे देश में यातायात की सुविधायें पर्याप्त नहीं। हमारे यातायात की सबसे प्रमुख साधन रेलें हैं जो बहुत कम हैं। देश का भीतरी भाग अभी रेलों से दूर है। रेलों की काफी उन्नति की जा सकती है और करने की आवश्यकता है।

मोटर यातायात

मोटर यातायात की वृद्धि हो जाने के कारण रेलों की कमी उतनी नहीं खटकती। मोटर यातायात हाल में ही बहुत तरक्की कर गया है दूर-दूर छिटके छोटे-छोटे गाँवों तथा शहरों को संयुक्त करने के लिये मोटरें बहुत सुविधा-जनक और सस्ती होंगी। प्राकृतिक साधनों का शोषण करने एवं तैयार माल को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने में भी उनकी सहायता बहुत होती है। इसलिये मोटर यातायात के लिये काफी क्षेत्र है। मोटरों के बनाने का उद्योग भी बहुत फायदे का है।

सामुद्रिक यातायात

सामुद्रिक यातायात के क्षेत्र में भारतीय साहस ने अभी तक काफी उन्नति नहीं की है। सन् १९२४ में भारतवर्ष के तटीय व्यापार का केवल १३% भाग और विदेशी व्यापार का केवल ½% भाग भारतीय जहाजों के द्वारा होता था। अब भारतीय तटीय व्यापार का २५% भाग भारतीय जहाजों के द्वारा होने लगा है, किन्तु अवस्था में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु अब हमारी राष्ट्रीय सरकार इस बात की पूरी चेष्टा कर रही है कि भारतीय जहाजी बेड़ा बड़ा और शक्तिशाली बने। अतः इस दिशा में साहस के लिये बहुत बड़ा क्षेत्र उपस्थित हो गया है।

अभ्यास के प्रश्न

१. 'भारत उत्पादक शक्तियों से सपन्न है, परन्तु उसके निवासी निर्धन हैं'। इस कथन की विवेचना कीजिये। ऐसा क्यों है ?

२. इस देश में साहस क्यों लज्जाशील है ? पूर्ण विवेचना कीजिए।

३. इस देश में साहस के लिये कितना क्षेत्र है ? पूर्ण विवेचना कीजिए।

४. भारत के माल तैयार करने वाले कारखानों में साहस के लिये कितना क्षेत्र है

५ क्या इस देश में प्रारम्भिक उद्योगों, धन-प्रबन्ध सम्बन्धी उद्योगों तथा यातायात में कोई क्षेत्र है ?

६ आजकल की आर्थिक व्यवस्था में दामों की अदायगी क्यों आवश्यक है ?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इन्टर आर्ट्स

१ लाभ का क्या अर्थ है ? क्या हाल में साहस के क्षेत्र का भारत में अधिक विस्तार हुआ है ? (१९४१)

२ "भारत में साहस का क्षेत्र बड़ा है किन्तु साहस धीरे-धीरे बाहर आ रहा है ।" ऐसा क्यों हुआ है ? इसका क्या उपाय है ?

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

3. Analyse carefully the differences between agriculture and industry (1945)

राजस्व (Public Finance)

राजस्व कोरा अंकगणित नहीं, राजस्व एक महान् नीति है।
बिना अच्छे राजस्व के अच्छा शासन सम्भव
नहीं, बिना अच्छे शासन के अच्छा
राजस्व असम्भव है।

—विल्सन

[अध्याय : ६६ राजस्व और कर। ६७. भारतवर्ष मे केन्द्रीय राजस्व। ६८ भारतवर्ष मे प्रांतीय राजस्व। ६६ भारतवर्ष मे स्थानीय राजस्व।]

अध्याय ६६

राजस्व और कर

§ १. राजस्व के विभाग

राजस्व का अर्थ

प्रत्येक प्रगतिशील समाज में किसी न किसी रूप में सरकारी संगठन विद्यमान होता है सरकार के कुछ विशेष कर्त्तव्य होते हैं। इन कर्त्तव्यों को दो वर्गों में बाँटा जाता है—आवश्यक कर्त्तव्य और वैकल्पिक कर्त्तव्य। देश की विदेशी आक्रमण से रक्षा करना और देश के अन्दर शान्ति और विधान की मान्यता स्थापित रखना, ये सरकार के आवश्यक कार्य हैं। जो काम सरकार एक केन्द्रीय संस्था होने और बहुत बड़े पूँजीपति होने के कारण सम्पन्न करने के लिये बहुत उपयुक्त होती है, वे काम वैकल्पिक कार्य कहलाते हैं। सरकार अच्छी चलन प्रणाली स्थापित करती है, नाप-तौल की एक सी प्रणाली स्थापित करती है, अच्छी सड़कें और रेलें बनवाती है तथा डाक और तार का प्रबन्ध करती है। सरकार शिक्षक का काम जितना अधिक करती है, उतने ही अधिक उसके वैकल्पिक कार्य हो जाते हैं। उपरोक्त समस्त कार्यों को करने के लिये रुपया व्यय करना पड़ता है, और इसीलिये सरकार को रुपये की आवश्यकता होती है। अतः इसे कहीं न कहीं से आय एकत्रित करनी पड़ती है। जो विज्ञान सरकार की धन प्राप्त करने तथा धन व्यय करने की क्रियाओं का अध्ययन करता है, उसे राजस्व कहते हैं।[१]

राजस्व के विभाग

सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure) और सार्वजनिक आय (Public Revenue) राजस्व के दो विभाग हैं, यह उपरोक्त परिभाषा से स्वयं ही स्पष्ट है। कभी-कभी सरकार की आय उसके खर्च से कम पाई जाती है, और तब सरकार को ऋण लेना पड़ता है। सार्वजनिक ऋण (Public Debt)

---

[१] राजस्व वह विज्ञान है जो यह बताता है कि सरकार आय कैसे प्राप्त करती है और उसे कैसे खर्च करती है।—Findlay Shirras, *The Science of Public Finance*, Vol. I.

की समस्या इतनी महत्वपूर्ण है कि इसे राजस्व का एक अलग विभाग बना दिया गया है। राजस्व में धन-सम्बन्धी शासन, जैसे बजट बनाने, हिसाब जाँचने आदि की समस्याओं का भी अध्ययन करना पड़ता है। अतः धन-सम्बन्धी शासन (Financial Administration) राजस्व का चौथा विभाग माना जाता है। सार्वजनिक आय, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण तथा धन-सम्बन्धी शासन—ये राजस्व के चार विभाग हैं।

सार्वजनिक व्यय

उन्नीसवीं शताब्दी में सार्वजनिक व्यय पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। आधुनिक काल में जन-संख्या के बढ़ जाने से, युद्धों की संख्या तथा उनके व्यय में वृद्धि होने के कारण तथा ऐसे ही अन्य कारणों से सरकारी व्यय बहुत बढ़ गया है, और इस कारण सार्वजनिक व्यय एक महत्वपूर्ण विभाग माना जाने लगा है।

सार्वजनिक और व्यक्तिगत व्यय—सार्वजनिक व्यय और किसी व्यक्ति के अपने निजी व्यय में बहुत से अन्तर होते हैं : (१) व्यक्ति की आय थोड़ी-बहुत स्थिर होती है और उसे इसी हिसाब से व्यय करना पड़ता है। इसके विपरीत सरकार पहले इस बात का अनुमान लगाती है कि आगामी वर्ष में सार्वजनिक व्यय कितना होगा, और फिर उतनी ही आय प्राप्त करने के वह साधन खोजती है। (२) व्यक्ति इस बात को बुद्धिमानी का चिन्ह समझता है कि उसकी आय उसके व्यय से अधिक हो, क्योंकि आपत्तिकाल में बचाया हुआ धन ही काम आता है। किन्तु राजस्व में आधिक्य (surplus) बुरा समझा जाता है क्योंकि इसका यह अर्थ होता है कि देशवासियों पर बेकार ही कर लगाया गया, और आधिक्य होने से सरकारी अफसर खर्चे में असावधान भी हो जाते हैं। राजस्व का आदर्श यह है कि बजट में थोड़ी सी कमी (deficit) रहे जिससे कि सरकारी अफसर सावधानी से व्यय करें। (३) सार्वजनिक व्यय अनिवार्य होता है। उदाहरण के लिये, देश की रक्षा के लिये व्यय अवश्य ही करना पड़ता है तथा ऋण पर ब्याज देना भी उतना ही अनिवार्य है। किन्तु एक व्यक्ति का व्यय बहुत कुछ उसकी इच्छा द्वारा निर्धारित होता है।

सार्वजनिक आय (Public Revenue)

राजस्व के विशेषज्ञों ने सार्वजनिक आय का कई प्रकार से वर्गीकरण किया है। किन्तु हम नीचे आय के कुछ मुख्य साधन बताते हैं :

(१) सार्वजनिक सम्पत्ति (Public Domain)—सरकार कुछ भूमि, वनों तथा खानों की स्वामी होती है, और इनसे आय प्राप्त करती है।

(२) दण्ड और भेंट (Fines and Gifts)—कभी-कभी सरकार दोषियों से दण्ड वसूल करती है। दण्ड या जुर्माना प्रधानतया आय कमाने की दृष्टि से नहीं दिया या किया जाता। फिर भी उनसे आय तो प्राप्त होती ही है। कभी-कभी कुछ धनी व्यक्ति स्वेच्छा से सरकार को कुछ रुपया भेंट करते हैं जिससे कि वह जन-साधारण के हित के लिये खर्च किया जा सके।

(३) दर (Rate) या मूल्य (Price)—आधुनिक सरकार कुछ व्यवसाय भी करती है। जैसे डाक, तार और रेल का व्यवसाय। इन व्यवसायों के द्वारा सरकार जनता को माल या सेवा बेचती है, और जो रुपया आता है वह सरकार की आय होती है। जब आप एक पोस्टकार्ड खरीदते हैं, तो आप दो पैसा उसके मूल्य के रूप में देते हैं। दर या मूल्य उस रुपये को कहते हैं जो कोई व्यक्ति सरकार को किसी सेवा या वस्तु के बदले में देता है।

(४) कर (Tax), फीस और विशेष उगाही (Special Assessment)—उपरोक्त साधनों से पर्याप्त आय प्राप्त नहीं होती। सरकारी आय के मुख्य साधन कर, फीस और विशेष उगाही होते हैं।

कर सरकार को दिये जानेवाले उस अनिवार्य शुल्क (Compulsory Contribution) को कहते हैं जो सबके सामान्य व्यय के लिये किये जानेवाले खर्चे के भुगतान के लिये अदा किया जाता है और जिसका किसी विशेष लाभ से सम्बन्ध नहीं होता। कर और मूल्य में यह अन्तर होता है कि कर अनिवार्य होता है और मूल्य वैकल्पिक, तथा मूल्य का देनेवाला उससे प्रत्यक्ष (direct) लाभ उठाता है किन्तु करदाता उससे प्रत्यक्ष तथा अनुपातिक लाभ नहीं उठाता। यदि कोई धनी व्यक्ति ५,०००) प्रति मास कर देता है, तो हो सकता है कि उसे जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा के रूप में केवल थोड़ा सा ही लाभ प्राप्त होता हो और उसका शेष रुपया जन-साधारण के लाभ के निमित्त खर्च होता हो। पर यदि वह उतने ही रुपये के टिकट और लिफाफे खरीदे, तो उसे पूरा प्रतिफल मिलेगा। प्रोफेसर टाजिग (Taussig) लिखते हैं कि "करदाता तथा सरकार के बीच में प्रत्यक्ष प्रतिफल का अभाव ही कर की असलियत है।"

हम सरकार को कभी-कभी फीस भी देते हैं जैसे कोर्ट फीस, स्टाम्प फीस आदि। फीस उस रकम को कहते हैं जो सरकार द्वारा की गई आवर्तक (Recurring) सेवा की लागत अदा करने के लिये दी जाती है, जो सेवा प्रधानतया जनता के हित के लिये की जाती है किन्तु जो फीस देनेवाले को विशेष लाभ पहुँचाती है।

कभी-कभी सरकार जनता के लाभ के लिये कुछ सुधार करती है; किन्तु उससे कुछ व्यक्तियों को प्रत्यक्ष (direct) लाभ होता है। ऐसे व्यक्तियों से विशेष लाभ के अनुपात में एक रकम वसूल कर ली जाती है। उदाहरण के लिये, यदि सरकार कोई सड़क बनवाये तो उस सड़क के किनारे जितने मकान या दुकानें होंगी उन सब का मूल्य बढ़ जायगा। इस कारण उनसे विशेष उगाही ली जा सकती है। विशेष उगाही उस अनिवार्य शुल्क को कहते हैं जो विशेष लाभ के अनुपात में वसूल की जाती है और जिसका उद्देश्य जनता के हित में सम्पत्ति में सार्वजनिक सुधार करने की लागत अदा करना होता है।

§ २. कर के सिद्धान्त

कर राजस्व विज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। सरकार की आय के बहुत से सूत्रों में से कर भी एक है और इस प्रकार इसका अध्ययन समस्त विज्ञान का एक अंग मात्र है।

कर की प्रणाली के वाञ्छनीय गुणों को एडम स्मिथ ने चार सिद्धान्तों के रूप में प्रतिपादित किया है।[२] बाद के लेखकों ने साधारणतया उन्हीं का अनुसरण किया है तथा उन्हें स्वीकार कर लिया है और अब वे सर्वमान्य हो गये हैं। वे निम्नलिखित हैं :

(१) समानता (Equality) या न्याय (Equity) का सिद्धान्त— "प्रत्येक राष्ट्र के सदस्यों को सरकार की सहायता के लिये यथासम्भव अपनी क्रमशः सामर्थ्य (abilities) के अनुपात में, अर्थात् उस आय के अनुपात में जो वे क्रमशः सरकार की सुरक्षा में प्राप्त करते हैं, धन देना चाहिये।" इस सिद्धान्त का अनुगमन करने से कर की समानता प्राप्त की जा सकती है।

यह सिद्धान्त, जिसे न्याय का सिद्धान्त कहते हैं, न्याय-पूर्वक कर लगाने की दिशाओं की ओर संकेत करता है। यह तो सर्वमान्य है ही कि सरकार को सदस्यों से इतना कर वसूल करना चाहिये कि प्रत्येक सदस्य सरकार के लिये समान बलिदान करे। एडम स्मिथ के मत में यदि कर सदस्यों की आय के अनुपात में वसूल किया जाय, तो समान बलिदान के सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप मिल जायगा। ऐसे कर को **अनुपातिक कर** (proportional taxation) कहते हैं। आजकल एडम स्मिथ के समर्थक केवल इने-गिने हैं। आधुनिक अर्थ

[२] Adam Smith, *Wealth of Nations*, Book II, Chap. II, Sec.

शास्त्री इस मत के हैं कि यदि हमें सबसे समान बलिदान कराना है तो हमें धनी व्यक्तियों से उनकी आय के अनुपात से अधिक कर वसूल करना चाहिये और निर्धनों से अनुपात से कम। ऐसे कर को प्रगतिशील कर (progressive taxation) कहते हैं और यह अब संसार भर में मान्य और लोकप्रिय हो गया है।

(२) निश्चितता (Certainty) का सिद्धान्त—प्रत्येक व्यक्ति को जो भी कर देना हो वह निश्चित होना चाहिये यह किसी की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं होना चाहिये। अदायगी का समय, अदायगी की रीति, कर की मात्रा आदि करदाता तथा अन्य व्यक्तियों को स्पष्ट होनी चाहिये। उपरोक्त कथन इतना स्पष्ट है कि इसे समझाने की आवश्यकता नहीं। निश्चितता का केन्द्रीय आशय यह है कि सरकार के राजस्व मे किसी प्रकार का खयाली अंश शामिल न हो और कर वसूल करने वालो की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियाँ हतोत्साहित हों।[3]

(३) सुविधा (Convenience) का सिद्धान्त—प्रत्येक कर ऐसे समय और ऐसी रीति द्वारा वसूल करना चाहिये कि वह करदाता को सबसे अधिक सुविधापूर्ण हो। भूमि या घरों के किराये पर लगाया गया कर यदि उस समय वसूल किया जाय जब कि किराया मकान मालिक को अदा किया जाता है, तो करदाता को इसके देने में बहुत सुविधा होगी। करदाता को जितनी अधिक सुविधा होती है उतना ही कम समय और धन कर वसूल करने में व्यय करना पड़ता है। वस्तुओं पर लगाया गया कर अर्थात् परोक्षकर (Indirect taxes) बहुत सुविधापूर्ण होते हैं क्योंकि उपभोक्ताओं को जिस रूप में उन्हें देना पड़ता है वह बहुत सुविधाजनक होती है। जैसे-जैसे वह धीरे-धीरे वस्तुएं खरीदता है, वैसे ही वैसे थोड़ा-थोड़ा करके वह कर अदा करता है।

(४) मितव्ययता (Economy) का सिद्धान्त—प्रत्येक कर इस प्रकार वसूल होना चाहिये कि उसके द्वारा सार्वजनिक कोष में जितना द्रव्य आये उससे बहुत अधिक मात्रा में द्रव्य जनता की जेबों से न निकाला जाय, और जनता द्वारा दिये जानेवाले कर का सरकारी कोष में आने वाली रकम से अधिक

[3] एडम स्मिथ ने लिखा था कि "कर के मामले में किसी व्यक्ति को जो रकम अदा करनी है उसकी निश्चितता इतने महत्व की बात है कि मुझे विश्वास है कि समस्त देशों के अनुभव के अनुसार असमानता काफी बड़ी मात्रा की इतनी भयानक नहीं जितनी कि अनिश्चितता बहुत थोड़ी मात्रा की।"

न्यूनतम हो। इस सिद्धान्त का खास अर्थ यह है कि ऐसे करो को अच्छा समझना चाहिये जिनके वसूल करने की लागत उनकी आय के अनुपात से कम होती है और जो करदाताओं के आर्थिक हितो को कम से कम हानि पहुँचावे हैं। उदाहरण के लिये, यदि किसी कर के वसूल करने के लिये बहुत से अफसरों की आवश्यकता पडे और उनकी जाँच-पड़ताल आदि के कारण करदाताओं को कुछ समय तक अपना व्यापार बन्द रखना पड़े, तो सरकार को बहुत व्यय करना पडेगा और जनता के आर्थिक हितों को भी बहुत हानि पहुँचेगी। यह मितव्ययता के सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा।

कुछ आधुनिक सिद्धान्त—उपरोक्त चार सिद्धान्तों को आधुनिक अर्थ-शास्त्री मानते हैं किन्तु उन्होंने तीन और नए सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया है :

(५) उत्पादकता (Productivity) का सिद्धान्त—इसके अनुसार कर द्वारा प्राप्त होनेवाली आय पर्याप्त होने चाहिये। थोड़ी-थोड़ी आय देनेवाले अनेक कर लगाने से जनता को बहुत कष्ट और असुविधा होती है। इसके बजाय अधिक आय देनेवाला केवल एक कर लगाना कहीं अच्छा होगा।

(६) लोच (Elasticity) का सिद्धान्त—एक आदर्श कर-प्रणाली में कुछ ऐसे कर भी होने चाहिये जो धन और जन संख्या की वृद्धि के साथ-साथ अधिक आय लावे या आकस्मिक आवश्यकता के समय जिनके द्वारा अधिक आय प्राप्त की जा सके। इस दृष्टि से आय-कर (income tax) बहुत श्रेष्ठ है।

(७) सरलता का सिद्धान्त—कर प्रणाली सरल, और स्पष्ट होनी चाहिये और जन साधारण को बोधगम्य (intelligible) होनी चाहिये।

§ ३. प्रत्यक्ष (Direct) और परोक्ष (Indirect) कर

अर्थ

कर या तो प्रत्यक्ष होते हैं या परोक्ष। प्रत्यक्ष कर वह कर कहलाता है जो उस व्यक्ति से माँगा जाता है जिससे कि यह आशा की जाती है कि वह अपने पास से उसे अदा करेगा। आयकर प्रत्यक्ष कर है : यह एक न्यूनतम आय से अधिक आय कमानेवालों से वसूल किया जाता है और वे इसकी अदायगी का भार किसी दूसरे व्यक्ति पर नहीं हटा सकते। इसी प्रकार उत्तराधिकार कर (inheritance tax) उत्तराधिकारी से उस समय वसूल किया जाता है जब कि उसे सम्पत्ति मिलती है और वह इसका भार किसी दूसरे पर नहीं हटा सकता।

परोक्ष कर वे होते हैं जो किसी व्यक्ति से इस आशा मे वसूल किये जाते हैं कि वह उनका भार किसी दूसरे व्यक्ति पर हटा देगा, अर्थात् वह किसी दूसरे व्यक्ति से उस कर को वसूल कर लेगा। उदाहरण के लिये, सिगरेट का आयात करनेवाला आयात-कर (import duty) अदा करता है। किन्तु सरकार का यह उद्देश्य नहीं होता कि वह स्वय इस कर का भार सहन करे, प्रत्युत आशा यह की जाती है कि वह सिगरेटों का मूल्य बढाकर उपभोक्ताओं से कर वसूल कर लेगा।

कभी-कभी प्रत्यक्ष कर भी दूसरे व्यक्तियो पर हटा (shift) दिया जाता है। आय-कर अदा करनेवाला व्यापारी उस कर को वसूल करने के लिये अपने माल का मूल्य बढा सकता है। किन्तु इस कारण यह कर परोक्ष कर नहीं हो जायगा। कर प्रत्यक्ष है या परोक्ष, इसका निर्णय सरकार का उद्देश्य करता है, आय-कर के विषय में सरकार का यह उद्देश्य होता है कि करदाता स्वयं कर अदा करे, इसलिये यह प्रत्यक्ष कर है।

प्रत्यक्ष कर के लाभ

प्रत्यक्ष कर के जैसे आय-कर, उत्तराधिकार-कर, भूमि-कर इत्यादि के लाभ निम्नलिखित हैं. (१) **वे मितव्ययतापूर्ण होते है**—प्रत्यक्ष कर अन्तिम करदाता द्वारा सरकार को दिया जाता है और इस प्रकार वसूल करने का खर्च थोड़ा होता है। (२) **उनमें निश्चयात्मकता होती है**—करदाता यह जानता है कि उसे निश्चित रूप में कितना देना है और सरकार के अधिकारी गण भी यह निश्चित रूप से जानते हैं कि उन्हें कितना पाना है। (३) **वे न्यायपूर्ण होते है**—जिस व्यक्ति के ऊपर अदायगी का अन्तिम भार पड़ता है उसका ठीक-ठीक निर्णय किया जा सकता है, और कर की दर ऐसे अनुपात में निश्चित की जा सकती है कि प्रत्येक व्यक्ति के त्याग की मात्रा में समानता हो। (४) **वे लोचदार होते हैं**—सरकार के ऊपर कोई विशेष आर्थिक आपत्ति आ जाने पर प्रत्यक्ष करों की दर आसानी से बढायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे धन और आबादी बढती है, वैसे ही वैसे इन करों की आय अपने आप ही बढती जाती है। भारत सरकार की धन सम्बन्धी आवश्यकता के अनुसार भारतीय आय-कर में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं, जो इस बात को भली भाँति स्पष्ट करते हैं।

(५) **वे नागरिक चेतना को जागृत करते हैं**—प्रत्यक्ष अदा करते समय करदाता इस बात का अनुभव करता है कि वह सरकार के पोषण के लिये कर

दे रहा है और वह फिर इस बात के समझने की चेष्टा करता है कि सरकार रुपया ठीक तरह व्यय कर रही है अथवा नहीं।

प्रत्यक्ष कर की हानियाँ

(१) कभी-कभी ये बहुत असुविधापूर्ण होते हैं—उदाहरण के लिये, आय-कर के देनेवाले को अपना हिसाब-किताब विशेष प्रकार से रखना पड़ता है और एक बड़ा लेखा (Statement) भी भरकर देना पड़ता है, और इन दोनों बातों में उसे बहुत असुविधा होती है। कभी-कभी अदायगी का समय भी अनुकूल नहीं होता। (२) इनसे बचने की भी चेष्टा की जाती है—आय-कर का देनेवाला कर से बचने के लिये, गलत लेखा देता है। ऐसे दृष्टान्त हमें प्राय: प्रत्येक दिन मिल सकते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि प्रत्यक्ष कर ईमानदारी पर लगाये जाते हैं। (३) जिस आधार पर इन करों की मात्रा निश्चित की जाती है वे स्वेच्छाचारितापूर्ण होते हैं और इसलिये देश के किसी विभाग के साथ अन्याय होने की सम्भावना बहुत होती है।

परोक्ष करों के लाभ

परोक्ष करों के निम्नलिखित लाभ होते हैं: (१) ये बहुत सुविधाजनक होते हैं। ये वस्तुओं के मूल्य में शामिल होते हैं और इसलिये खरीदार यह अनुभव नहीं करते कि वे कर अदा कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे माल खरीदा जाता है, वैसे ही वैसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ये कर भी अदा किये जाते हैं। फिर यह भी बात है कि किसी माल को खरीदना या न खरीदना खरीदार की इच्छा की बात है; और यदि वह कर न अदा करना चाहे तो वह माल न खरीदे। (२) **ऐसे कर निर्धनों से भी वसूल किये जा सकते हैं।** राजनीति का यह सिद्धान्त है कि राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य से सरकार चलाने के लिये कुछ न कुछ रुपया अवश्य लेना चाहिये, यह रकम चाहे कितनी ही थोड़ी क्यों न हो। ऐसा परोक्ष करों द्वारा ही हो सकता है। (३) **कुछ परोक्ष कर लोचदार होते हैं।** आवश्यक आवश्यकताओं के पदार्थों पर जो कर लगाये जाते हैं वे बहुत लोचदार होते हैं, कर लगाने से इन चीजों का मूल्य बढ़ जाने पर भी इनकी माँग लगभग उतनी ही होती है जितनी कि पहले, इसलिये कर की दर बढ़ा देने से कर की आय बढ़ जाती है। किन्तु जिस वस्तु पर कर लगाया जाता है यदि उसकी माँग की लोच अधिक हुई तो कर लगाने से उसकी आय घट जायगी। (४) **इनसे आसानी से बचा नहीं जा सकता।** क्योंकि ये वस्तुओं के मूल्य में शामिल रहते हैं और बिना मूल्य अदा किये वस्तुएं खरीदी

नहीं जा सकतीं, इसलिये इनसे बचने का प्रश्न ही नहीं उठता। (५) कभी-कभी ये नशीली वस्तुओं पर भी लगाए जाते हैं और ऐसी वस्तुओं का उपयोग घटाकर ये समाज की बहुत सेवा करते हैं।

परोक्ष करों की हानियाँ

(१) **ये न्यायहीन होते हैं।** खरीदार चाहे धनी हो या निर्धन, उसे उतना ही कर देना पड़ता है। अतः निर्धन धनी की अपेक्षा अधिक त्याग करता है। (२) **ये मितव्ययतापूर्ण नहीं होते।** साधारणतया सरकार और अन्तिम उपभोक्ता के बीच में कई मध्यस्थ आ जाते हैं और वे वस्तु के मूल्य को कर की मात्रा से अधिक बढ़ा देते हैं। (३) क्योंकि परोक्ष करदाता कर देने का अनुभव नहीं करता, इसलिये उसकी नागरिक भावना जागृत नहीं होती, अतः वह सरकार के मामलों में अधिक दिलचस्पी नहीं लेता। (४) **ये कर अनिश्चित होते हैं।** उपभोग की मात्रा का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन होता है और इसलिये कर की आय का अनुमान लगाना भी आसान नहीं होता। (५) जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, कुछ परोक्ष कर **बेलोचदार होते हैं।**

प्रत्यक्ष कर बनाम परोक्ष कर

कभी-कभी प्रत्यक्ष और परोक्ष करों के गुण और दोषों की तुलना की जाती है और यह निर्णय करने की चेष्टा की जाती है कि इन दोनों में से कौन सा श्रेष्ठ है। ऐसी चेष्टाओं का कोई खास क्रियात्मक मूल्य नहीं। प्रत्येक के कुछ गुण और कुछ दोष होते हैं, और उन्हे तराजू में तौलकर यह नहीं कहा जा सकता कि गुण दोष से कितनी मात्रा में अधिक हैं। करों की प्रत्येक प्रणाली में दोनों ही प्रकार के कर आवश्यक होते हैं, ये मनुष्य के दो पैरों की भाँति हैं जो चलाने के लिये समान रूप से आवश्यक हैं।

भारत की दशा—यदि हम इस प्रश्न को कुछ बदलकर रक्खें, तब यह अधिक उचित हो जाता है। हम पूँछ सकते हैं कि किसी खास देश को अपनी कर-प्रणाली न्यायपूर्ण बनाने के लिए प्रत्यक्ष कर लगाने चाहिये या परोक्ष कर—इसका उत्तर स्वाभाविक रूप से देश की उपस्थित अवस्था पर निभर होगा। भारत को ही ले लीजिये। हमारी कर-प्रणाली ठीक प्रकार से सन्तुलित नहीं। यह परोक्ष करों पर अधिक अवलम्बित है क्योंकि करदाता ऐसे करों का अनुभव नहीं करते। किन्तु परोक्ष कर धनी की अपेक्षा निर्धन से अधिक त्याग कराते हैं। हमारे बहुत से महत्त्वपूर्ण आय के साधन परोक्ष कर हैं जैसे आयात-निर्यात कर (customs duties), उत्पत्ति कर (excise duties), आदि। केवल

आय-कर ही महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष कर है। अत अपनी प्रणाली सतुलित और न्याय-पूर्ण बनाने के लिये हमें अधिक प्रत्यक्ष कर लगाने चाहिये।

अभ्यास के प्रश्न

१ सार्वजनिक राजस्व के अर्थ की व्याख्या कीजिए। इस विज्ञान के विभाग कौन से हैं?

२ सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत व्यय की तुलना कीजिए। सार्वजनिक आय के मुख्य स्रोतों की विवेचना कीजिए।

३. कर के सिद्धांत क्या है? पूर्ण व्याख्या कीजिए।

४ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों का अन्तर स्पष्ट कीजिए। प्रत्येक के लाभ तथा हानि की विवेचना कीजिए।

५ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों के लाभ तथा हानियों की तुलना कीजिए। उनमें से कौन दूसरे से श्रेष्ठ है? भारत के विशेष संबंध में इसकी विवेचना कीजिए।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी०, इंटर आर्ट्स

१. प्रत्यक्ष और परोक्ष करों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (१९४६)

२. प्रत्यक्ष करों के लाभों तथा हानियों को स्पष्ट रूप में बतलाइये। (१९४२)

पटना, इन्टर आर्ट्स

3 How do you distinguish direct taxes from indirect taxes? Discuss their relative merits (1949)

4 What are the canons of taxation? How far can you justify the Sale Tax in India? (1947 Supp)

5. What are the relative merits of direct and indirect taxes? (1945)

नागपुर, इन्टर आर्ट्स

6 Explain the canon of equality in taxation How far does it apply to the Indian Income Tax? (1948)

7. Explain clearly with examples the main characteristics of direct and indirect taxes Give a list of all the direct taxes in India Why are direct taxes unpopular? (1947)

8 Explain Adam Smith's canons of taxation (1945)

नागपुर, इन्टर कामर्स

९. 'कर-पद्धति न्यायोचित होना चाहिये'—इससे आप क्या समझते हैं ? क्या भारत की कर-पद्धति न्याय-संगत है ? (१९४९)

१०. आदम स्मिथ के कर सिद्धांत का निरूपण कीजिए। भारत इन सिद्धांतों का कहां तक अनुगमन करता है ? (१९४८)

११. प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों के मुख्य लक्षणों की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। भारत के समस्त प्रत्यक्ष करों की एक सूची प्रस्तुत कीजिए। प्रत्यक्ष कर क्यों लोकप्रिय नहीं हैं ? (१९४७)

सागर, इन्टर आर्ट्स

12, What are direct and indirect taxes ? Give their merits and demerits (1949)

13 Describe the chief principles of taxation (1949 Supp,)

14 Explain clearly Adam Smith's canons of Taxation, (1948)

सागर, इन्टर कामर्स

15 State and explain Adam Smith's Canons of Taxation. (1949)

16 What are direct and indirect taxes ? Explain the merits and demerits of each. Name two direct and two indirect taxes in India (1943)

अध्याय ६७

भारत में केन्द्रीय राजस्व

१. भारतीय राजस्व

भारतीय राजस्व को हम तीन विभागों में बाँट सकते हैं : (१) भारत सरकार का राजस्व, जिसे केन्द्रीय राजस्व कहा जाता है. (२) प्रान्तीय सरकारों का राजस्व, जिसे प्रान्तीय राजस्व कहा जाता है, और (३) स्थानीय संस्थाओं जैसे म्युनिसिपल बोर्ड आदि का राजस्व, जिसे स्थानीय राजस्व कहा जाता है।

पाकिस्तान के बनने के पहले भारत सरकार का व्यय और उसकी आय प्रसामान्य काल में लगभग १२० करोड रुपये होती थी। समस्त प्रान्तीय सरकारों का कुल आय-व्यय १०० करोड़ रुपये होता था। स्थानीय संस्थाओं का कुल आय-व्यय ६० करोड़ रुपये होता था। किन्तु अब पाकिस्तान के बन जाने से अवस्था में बहुत परिवर्तन हो गया है। इसके अतिरिक्त, पाकिस्तान बनने के पूर्व ही, द्वितीय महायुद्ध ने भारतीय राजस्व की रकमों में बहुत वृद्धि कर दी थी। युद्ध के पश्चात् चलनाधिक्य (inflation) के कारण खर्चा और भी बढ गया। अभी अवस्था में स्थायित्व नहीं आया है क्योंकि अभी प्रसामान्यकाल स्थापित नहीं हुआ है। हम नीचे नए भारत के केन्द्रीय तथा प्रातीय बजटों का सन् १९४८-४९ का व्यौरा देते हैं :

(करोड़ रुपयों में)

	आय	व्यय	अन्तर
भारत सरकार	२३०.५२	२५७.३७	—२६.८५
आसाम	१३ १२	१४ ६१	— १.४९
बिहार	२१.५७	२०.०९	— १.४८
बम्बई	४१ ३८	४४.०२	— ३ २४
मध्य प्रान्त	१५ ७५	१५ ७४	— ०१
पूर्वी पंजाब	११ १३	१७ ८९	— ६.६६
मद्रास	५५ ९४	५५.९४	
उड़ीसा	६ ८२	७.५२	— .६१
संयुक्त-प्रान्त	४५ ८७	५०.५७	—४.७
पश्चिमी बंगाल	३१ १९	३१.९७	— .७

§ २. केन्द्रीय आय

भारत सरकार की आय के हम प्रधान शीर्षक नीचे देते है.

(१) आयात-निर्यात कर (Customs Duties)—जो कर देश से बाहर जाने वाले माल पर तथा देश के अन्दर आने वाले माल पर लगाया जाता है, उसे क्रमशः निर्यात-कर तथा आयात-कर कहते हैं। ऐसे करों की सूची को टैरिफ (tariff) या आयात-निर्यात-कर सूची कहते हैं।

युद्ध के पहले भारत सरकार को लगभग ५५ करोड़ रुपया प्रति वर्ष इस कर से मिलता था और यह रकम सरकार की कुल आय का लगभग आधा भाग होती थी। किन्तु अब पाकिस्तान बन जाने पर भी इस कर से भारत सरकार को सन् १६४८-४६ में लगभग ८१.७५ करोड रुपये मिलने की आशा थी और यह कुल आय का लगभग एक तिहाई भाग है।

प्रथम महायुद्ध के पहले, हमारी टैरिफ नीति **स्वतंत्र व्यापार के सिद्धान्त** (Free Trade Theory) पर आधारित थी अर्थात् सरकार बाधा-हीन आयात और निर्यात की नीति को मानती थी और आयात-निर्यात कर इतने कम होते थे कि इससे व्यापार में रुकावट नहीं आती थी। ऐसे करों को केवल आय प्राप्त करने के लिये लगाया जाता था। ऐसे कर आय-निमित्त-कर (Revenue Duties) कहलाते हैं। प्रथम महायुद्ध के समय में और उसके बाद भी, सरकार को धन की बहुत आवश्यकता पड़ी, और इसलिये इन करों की दर बहुत बढा दी गई। इसके पश्चात् सरकार ने अपनी टैरिफ नीति स्वतत्र व्यापार के सिद्धान्त के आधार के बजाय संरक्षण (protection) के आधार पर निश्चित की। इसके अनुसार भारतीय उद्योगों की विदेशी स्पर्धा से रक्षा करने के लिये ऊंचे दर के आयात-निर्यात-कर लगाये जाने लगे। ऐसे करों को संरक्षण कर (protective duties) कहते हैं। इस नीति के परिणामस्वरूप बहुत से करों की दर बढा दी गई और इससे बहुत अधिक आय होने लगी।

आयात-निर्यात कर **मूल्य के अनुसार** (Ad valorem) लगाये जा सकते हैं या **परिमाण के अनुसार** (Specific), मूल्य के अनुसार लगाया जानेवाला कर मूल्य के एक प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। इसके विपरीत, परिमाण के अनुसार लगाया जानेवाला कर सख्या, बोझ या नाप के अनुसार वसूल किया जाता है। हमारे देश में अधिकाश आयात-निर्यात कर **मूल्य के** अनुसार लगाये जाते हैं।

(२) आय-कर (Income-tax)—आय-कर भारत सरकार की आय का दूसरा मुख्य साधन है। युद्ध के पहले इस कर से लगभग १५ या २० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष मिलता था। किन्तु अब, पाकिस्तान बन जाने पर भी, सन् १६४८-४६ में सरकार ने इस कर से ६० करोड़ रुपये से अधिक आय आँकी। यह कर हिन्दुस्तान में सबसे पहले सन् १८६० में लगाया गया जब कि सरकार को १८५७ की क्रान्ति दबाने के लिये काफी खर्चा करना पड़ा। आजकल आय-कर की दर इस प्रकार है :

कुल आय के पहले १,५००) पर	...	कुछ नहीं
कुल आय के अगले ३,५००) पर	...	६ पाई फी रुपया
कुल आय के अगले ५,०००) पर	...	१ आ० ६ पाई ,, ,,
कुल आय के अगले ५,०००) पर	..	३ आ० ६ पाई ,, ,,
कुल आय के शेष पर	..	५ आ० ,, ,,

आय-कर प्रत्यक्ष कर है और उसमें ऐसे कर के सब गुण और दोष मौजूद हैं। इसके लाभ कई हैं। यह निश्चित रूप से मालूम हो जाता है कि इस कर का अन्तिम भार (incidence) किस व्यक्ति पर पड़ेगा और इसलिये इसे न्याय-पूर्वक लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह कर लोचदार होता है और इसकी आय देश की जन-संख्या और धन की वृद्धि के साथ-साथ स्वतः ही बढ़ती जाती है। यह निश्चित और मितव्ययता-पूर्ण होता है तथा यह नागरिक चेतना जाग्रत करता है। इसके दोष भी स्पष्ट हैं। यह ईमानदारी पर लगाया हुआ कर माना जाता है और करदाता झूठे हिसाब-किताब रख कर या अन्य रीति से इससे बचने की चेष्टा करते हैं। यह असुविधा-जनक भी होता है क्योंकि हिसाब-किताब रखने तथा फार्म भरने आदि में बहुत कठिनाई होती है। यह कर निर्धन व्यक्ति अदा नहीं करते, और यदि इसकी दर बहुत अधिक बढ़ा दी जाय, तो यह बचत को हतोत्साहित करता है।

भारतीय आय-कर की आलोचना में यह कहा जाता है कि यह परिवार की साइज को ध्यान में नहीं देता, कई प्रान्तों में कृषि द्वारा प्राप्त की गई आय पर यह कर नहीं लगाया जाता, और यह उपार्जित और अनुपार्जित वृद्धि (earned and unearned increments) में पर्याप्त अन्तर नहीं करता।

(३) नमक-कर (Salt Tax)—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इस कर से भारत सरकार को लगभग ८ करोड़ रुपया प्रति वर्ष मिलता था। किन्तु यह कर बहुत खराब माना जाता था। अंग्रेजों ने यह कर चालू किया हो, ऐसी बात नहीं।

उनके पहले से ही यह कर चलता चला आया है। इस कर से जनता इतनी असन्तुष्ट थी कि महात्मा गांधी ने सन् १९३१ में नमक-कर तोड़ने का आन्दोलन चलाया। अतः जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो भारत सरकार ने इस कर की इतिश्री कर दी। अब नमक बनाने के लिये न किसी लाइसेन्स की जरूरत है और न उस पर कोई कर ही देना होता है।

नमक-कर के विरुद्ध निम्नलिखित धारणाएँ थीं (१) नमक जीवन-रक्षा के लिये आवश्यक है और ऐसी वस्तु पर कर सैद्धान्तिक दृष्टि से बुरा है। यह कर मनुष्य तथा पशुओं के नमक के उपभोग को कम करता था और इससे उनके स्वास्थ्य को हानि होती थी। (२) यह कर निर्धन व्यक्तियों को भी देना पड़ता था और उन्हे यह बहुत भार प्रतीत होता था। क्योंकि उन्हे और भी कई कर देने पड़ते थे, इसलिये नमक-कर का भार उन्हें और भी अधिक महसूस होता था। (३) यह कर न्याय-शून्य था। निर्धन नमक का उपभोग धनी व्यक्तियों से अधिक करते हैं, और इसलिये उन्हें यह अधिक मात्रा में देना पड़ता था। (४) यह कर जन-समाज की इच्छा के विरुद्ध लगाया जाता था और ऐसा कर सदैव निकृष्ट माना जाता है।

इस प्रकार के पक्ष में भारत सरकार निम्नलिखित धारणाएँ देती थी (१) यह राजनीति का एक माना हुआ सिद्धांत है कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को थोड़ा-बहुत सरकारी कोष में अवश्य देना चाहिये। भारत ऐसे गरीब देश में नमक कर के अतिरिक्त निर्धनों से रुपया लेने का और कोई साधन नहीं। (२) यह परोक्ष कर था और ऐसे कर देना करदाता अनुभव नहीं करते। (३) यह प्राचीन कर था और यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि पुराना कर कोई कर नहीं। इस कर को देने की मनुष्यों को आदत थी और वे उसे महसूस नहीं करते थे। (४) इस कर का भार बहुत कम था। ८ करोड़ रुपया ३५ करोड़ से अधिक व्यक्तियों से वसूल किया जाता था, अर्थात् प्रति व्यक्ति लगभग ≈) प्रति वर्ष देता था। (५) धन के अभाव के कारण सरकार को यह कर हटाना सम्भव नहीं था।

(४) अफीम (Opium)—अफीम उत्पन्न करना और बेचना प्राचीन काल से ही सरकारी एकाधिकार रहा है। कुछ समय हुआ जब कि भारत से चीन को बड़ी मात्रा में अफीम भेजी जाती थी और सरकार को प्रति वर्ष लगभग २५ करोड़ रुपया प्राप्त होता था। किन्तु अब चीन को अफीम का जाना बन्द हो गया है। अब अफीम के निर्यात से हमें बहुत थोड़ा रुपया मिलता है। सन् १९०८ में ब्रिटेन के निवासियों ने ऐसा मत प्रकाशित किया कि भारतवर्ष के लिये यह अनुचित था कि चीन-निवासियों के चरित्र के मूल्य पर अपना खजाना भरे। अब

भारत सरकार ने चीन को जानेवाली अफीम की मात्रा धीरे-धीरे घटाई और सन् १६१७ में यह शून्य हो गई। अब अफीम का निर्यात केवल चिकित्सा-सम्बन्धी तथा प्रयोग-सम्बन्धी उद्देश्य से ही किया जाता है।

(५) चीनी और दियासलाई पर उपात्दन-कर (Excise Duties)—देश में वस्तुओं के उत्पन्न करने पर जो कर लगाया जाता है, उसे उत्पादन-कर कहते हैं। भारत सरकार ने देश में कड़ी वस्तुओं के उत्पन्न करने पर ब्रिटिश-काल में ही कर लगाये और इसके लिये उनकी कड़ी आलोचना भी हुई। एक बार उन्होंने सूती कपडे उत्पन्न करने पर उत्पादन कर लगाया जिसके कारण उनकी इतनी कड़ी आलोचना और निन्दा हुई कि उन्हे यह कर हटाना पड़ा। आजकल यह कर चीनी और दियासलाइयों के उत्पन्न करने पर लगाया जाता है। सन् १६४८-४६ में भारत सरकार ने इस कर से १४ करोड़ रुपया प्राप्त करने का अनुमान लगाया।

सरकारी व्यवसाय—भारत सरकार के कई व्यवसाय भी हैं जैसे रेल, डाक और तार, और सिंचाई। सन् १६४८-४६ में भारत सरकार को यह आशा थी कि चलन और टकसाल से उसे लगभग ६ करोड़ रुपये का लाभ होगा और डाक व तार विभाग से लगभग ३७ लाख रुपये का।

§ ३. केन्द्रीय व्यय

भारत सरकार के व्यय के मुख्य मदों का वर्णन हम नीचे करते हैं :

(१) रक्षा-सम्बन्धी व्यय—सन् १६४८-४६ के बजट में रक्षा अर्थात् फौज के ऊपर **१२१** करोड़ रुपये व्यय करने के लिये रक्खे गये। इसके अतिरिक्त भूमि, समुद्र तथा वायु की सेनाओं की उन्नति के लिये १५ करोड़ रुपये का और आयोजन किया गया। १६४८-४६ के बजट के अनुसार कुल व्यय २५७-३७ करोड़ रुपया था, जिसमें से लगभग १३६ करोड़ केवल रक्षा पर व्यय करने का आयोजन किया गया था। अन्य शब्दों में, केन्द्रीय सरकार रक्षा पर जितना व्यय कर रही है, उतना अन्य सब मदों पर मिलाकर व्यय किया जा रहा है।

ब्रिटिश काल से ही फौज पर हम बहुत खर्च करते रहे हैं। ब्रिटिश काल में प्रसामान्य वर्षों में सरकार की लगभग आधी आय फौज पर खर्च की जाती थी। यह व्यय लगभग ५० या ६० करोड़ रुपये हुआ करता था। सर वाल्टर लेटन ने लिखा था कि भारतवर्ष के राजस्व का एक प्रमुख लक्षण यह है कि आय का एक बहुत बड़ा भाग फौज पर खर्च किया जाता है—वास्तव में संसार के किसी भी देश में आय का इतना बड़ा प्रतिशत फौज पर खर्च नहीं किया जाता यदि हम

भारत सरकार तथा समस्त प्रान्तीय सरकारों की आय को लें, तब भी फौज पर आय का एक बहुत बड़ा प्रतिशत खर्च किया जाता है। सर वाल्टर के मत में फौजी खर्च भारतवर्ष की राजस्व सम्बन्धी स्थिति में सबसे महत्वपूर्ण बात है।

ब्रिटिश काल से ही हमारे अर्थशास्त्री तथा राजनीतिज्ञ इस बात की माँग करते रहे हैं कि इस खर्चे में कमी होनी चाहिये। भारत ऐसे निर्धन देश के लिये फौज पर इतना खर्च करना सामर्थ्य के प्रतिकूल है। वे यह भी कहते थे कि इस दिशा में मितव्ययता के लिये भी काफी स्थान है, और फौज में अंग्रेजी सिपाहियों की संख्या कम करके तथा वेतनों को भारतीय स्टैंडर्ड पर आधारित करके तथा अन्य रीतियों से खर्च कम किया जा सकता है और इससे देश की रक्षा में किसी प्रकार की कमजोरी नहीं होगी। किन्तु अब स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् अवस्था में परिवर्तन हो गया है। द्वितीय महायुद्ध अभी समाप्त हो ही चुका है कि युद्ध के बादल फिर मंडराने लगे हैं। खासकर हमारे देश को युद्ध का भय और भी अधिक है। यदि एक और युद्ध छिड़ गया तो हमें अपने बल पर भरोसा करना पड़ेगा। अतः आगामी वर्षों में फौज पर काफी रुपया खर्च करना पड़ेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर हमारे सामने अब केवल काश्मीर की समस्या बाकी रह गई है, और वहाँ भी अब फिलहाल तो शान्ति है ही। इस कारण इस खर्चे में अब कमी हो जायगी। उसके बाद हम कितना खर्च फौज पर करते हैं, यह बहुत कुछ अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर निर्भर होगा। नीचे के कोष्ठक में हम केन्द्रीय सरकार द्वारा किये गये फौजी खर्चों के आँकड़े देते हैं :

वर्ष	करोड़ रुपये
१९४०-४१	७३
१९४१-४२	१०४
१९४२-४३	१९०
१९४३-४४	२६३
१९४४-४५	३९७
१९४५-४६	३६०
१९४६-४७	२१८ (संशोधित अनुमान)
१९४७-४८	१८९ (बजट अनुमान)
१९४८-४९	१२१[१]

ऊपर के आँकड़ों से स्पष्ट है कि युद्ध के समय में हमारा फौजी खर्च बहुत बढ़

[१] इसमें १५ करोड़ रुपया, जो स्थाई उन्नति के लिये आयोजित हुआ है, वह शामिल नहीं।

गया यहाँ तक की सरकार अन्य सब मदों पर फौजी खर्च का केवल एक तिहाई या चौथाई भाग ही खर्च करती थी।

(२) अनाज और शरणार्थियों का बसाना—पाकिस्तान बन जाने के कारण भारत सरकार के ऊपर दो खर्चे और लद गये। हमारा देश पहले से ही विदेशों से अनाज आयात करता था। पर पाकिस्तान बन जाने से हमारा बहुत सा अनाज उत्पन्न करनेवाला भाग पाकिस्तान में चला गया और अब हमें अनाज की कमी और भी अधिक हो गई है। हमें उसके केन्द्रीय सरकार को अनाज पर लगभग २० करोड़ रुपये व्यय करने पड़ते हैं। पाकिस्तान से जो शरणार्थी भाग कर आये हैं और जिनके बसाने का अब प्रयत्न किया जा रहा है, उन पर भारत सरकार १० या १५ करोड़ प्रतिवर्ष व्यय करती है।

(३) केन्द्रीय व्यवसाय—रेल, डाक व तार तथा टकसाल आदि पर भी केन्द्रीय सरकार को खर्च करना पड़ता है। इन सब मदों को व्यापारिक सेवायें कहा जाता है। इनमें से रेल का बजट अलग होता है। सन् १६४८ और ४६ में रेलों से कुछ लाभ हुआ। डाक व तार का काम इस प्रकार किया जाता है कि आय लागत के बराबर हो और उससे लाभ या हानि न हो। सन् १६४८-४६ में सरकार ने टकसालों पर और नासिक के प्रेस पर लगभग दो करोड़ रुपये खर्च किये।

(४) ऋण-सम्बन्धी व्यय—भारत सरकार ने जो ऋण लिये हैं उन पर उसे ब्याज देनी पड़ती है तथा उनके भुगतान के लिये कुछ रुपया अलग कोष में रखना पड़ता है। सन् १६४८-४६ में इस मद पर (पेन्शनों को मिलाकर) सरकार ने लगभग ४४ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन किया। द्वितीय महायुद्ध के पहले हम लगभग १५ करोड़ रुपये ऋण-सम्बन्धी सेवाओं के लिये भारत सरकार के खजाने से अदा करते थे और यह केन्द्रीय व्यय का १०% होता था। यह रुपया ब्याज के रूप में खर्च किया जाता था तथा ऋण के अदायगी के लिये भी काम में लाया जाता था। यह व्यय वैसे तो काफी है किन्तु यह चिन्ता का विषय नहीं। हमारा अधिकांश ऋण उत्पादक है और इसलिये हम जितनी ब्याज अदा करते हैं उससे अधिक हमें इस ऋण के द्वारा आय प्राप्त हो जाती है।

शासन-सम्बन्धी व्यय—युद्ध के पहले शासन (Civil administration) पर लगभग ८ करोड़ रुपया व्यय किया जाता था। इसमें जेल, पुलिस, अदालत आदि के सब खर्चे शामिल होते थे। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् इस व्यय में बहुत वृद्धि हो गई। सन् १६४८-४६ में इस मद पर २४ करोड़ रुपया व्यय करने का आयोजन किया गया। यह रकम गैर-फौजी कामों पर

व्यय की जानेवाली कुल रकम का १८% है। ब्रिटिश-काल में भी इस बात की बहुत शिकायत थी कि शासन पर बहुत रुपया खर्च किया जाता है। पर स्वतन्त्र भारत में अब यह खर्च और भी बढ़ गया है। स्वतन्त्रता के साथ-साथ हमारे ऊपर नये-नये उत्तरदायित्व आ गये हैं और इसी से इस खर्चे में इतनी वृद्धि हुई है।

(६) राष्ट्र-निर्माणक व्यय (Nation-building Expenditure)—जो धन शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, उद्योग आदि पर किया जाता है, वह सब राष्ट्र-निर्माणक व्यय के अन्तर्गत आता है। ब्रिटिश काल में भारत सरकार इन बातों पर केवल दो या तीन करोड़ रुपया प्रति वर्ष खर्च किया करती थी जो बहुत थोड़ा था। इससे चौगुना रुपया शासन पर व्यय किया जाता था। किन्तु अब स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् भारत सरकार इस ओर अधिक ध्यान दे रही है। सन् १९४८-४९ के बजट में इन कामों पर व्यय करने के लिये लगभग २१ करोड़ रुपये रक्खे गये। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने योजना और उन्नति के लिये लगभग ३ करोड़ रुपयों का और भी आयोजन किया।

(७) कर वसूल करने का व्यय—विभिन्न प्रकार के कर वसूल करने के लिये खर्च करना पड़ता है। १९४८-४९ के बजट में इसके लिये लगभग ९ करोड़ रुपये रक्खे गये। यह व्यय अपरिहार्य है किन्तु इसमें जितनी भी कमी हो सके, करनी चाहिये।

अभ्यास के प्रश्न

१. भारत में सार्वजनिक राजस्व के प्रत्येक विभाग के विभागों तथा सीमाओं की एक रूप रेखा प्रस्तुत कीजिए।

२. भारत सरकार की आय के प्रधान मदों की विवेचना कीजिए। तथा प्रत्येक की समीक्षा कीजिए।

३. भारत सरकार के व्यय के प्रधान विभागों की विवेचना कीजिये तथा प्रत्येक की समीक्षा कीजिए।

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी० इन्टर आर्ट्स

१. भारत सरकार के आय तथा व्यय के महत्वपूर्ण मद कौन से हैं? इस सम्बन्ध में सुधार की उचित विधियाँ बतलाइये। (१९४८)

२. भारत सरकार की आय और व्यय के मदों का संक्षिप्त ब्यौरा दीजिए। द्वितीय महायुद्ध में आय और व्यय के किन मदों पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा? (१९४९)

३. भारत सरकार या अपने जिलाबोर्ड की आय के प्रधान स्रोतों को बताइये और उन पर टिप्पणी लिखिये। इनकी आय पर द्वितीय महायुद्ध का क्या प्रभाव पड़ा ? (१६४४)

४. भारत सरकार की आय तथा व्यय के मदों के मुख्य स्रोत बतलाइये और उनकी समीक्षा कीजिये। (१६४८)

राजपुताना, इन्टर आर्ट्‌स

5 What are the main heads of income and expenditure of the Government of the Union of India ? Comment briefly on each (1949)

6 Argue for and against the retention of the Excise Duty, (1948)

नागपुर, इन्टर आर्ट्‌स

7 Enumerate the taxes in India and classify them under direct and indirect taxes (1949)

अध्याय ६८

भारत में प्रान्तीय राजस्व

हमारे नये विधान के अनुसार प्रान्तों को राजस्व के मामले में स्वतन्त्रता प्राप्त है। प्रान्तों की आय के कुछ साधन अलग से दिये गये हैं और कुछ मदों पर व्यय करने की पूरी जिम्मेदारी भी उनको सौंप दी गई है। आय के साधन तथा व्यय के मद के बाटने में केन्द्रीय सरकार की तरफदारी की गई है। भारत सरकार को आय के ऐसे साधन दिये गये हैं जो लोचदार हैं अर्थात् जो अधिक आय लाते या ला सकते हैं, किन्तु उसे खर्चे के ऐसे मद सौंपे गये हैं जो स्थिर (inelastic) हैं। इसके विपरीत प्रान्तों को आय के साधन ऐसे दिये गये हैं जो अधिक आय नहीं दे सकते जैसे मालगुजारी, स्टाम्प, जगल आदि, किन्तु उन्हें सिंचाई खेती, उद्योग तथा अन्य राष्ट्र-निर्माण व्यय मद सौंपे गये हैं जो किसी भी सीमा तक बढाये जा सकते हैं। यह विधान की एक कमी है।

प्रान्तीय राजस्व का अध्ययन करते समय हमे दो बातें अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये। पहली बात तो यह कि युद्ध अभी समाप्त हो कर ही चुका है तथा युद्धोपरात घटनाएँ युद्ध सम्बन्धी घटनाओं से कम असाधारण सिद्ध नहीं हुई हैं। दूसरे, पाकिस्तान बन जाने के कारण बहुत सा भाग अब हमारे हाथ से निकल गया है। कुछ समय बीत जाने के पश्चात् ही अवस्था प्रसामान्य होगी।

§ १. प्रान्तीय सरकारों की आय और व्यय

प्रान्तीय सरकारों की आय के प्रमुख साधन निम्नलिखित हैं: (१) मालगुजारी, (२) उत्पादन कर (excise), (३) स्टाम्प, (४) वन, (५) रजिस्ट्री, (६) सिंचाई, (७) शासन, (८) अन्य। इन मदों का हर प्रान्त में अलग-अलग महत्त्व है।

इन सरकारों के व्यय के प्रमुख मद इस प्रकार हैं. (१) नागरिक शासन (२) नागरिक निर्माण, (३) आय पर प्रयत्न माँग, (४) सिंचाई, (५) शिक्षा तथा अन्य राष्टनिर्माणक मद।

§ २. उत्तर प्रदेश का बजट

इन आय के साधनों और व्यय के मदों का हर प्रान्त में अलग-अलग सापेक्षिक महत्त्व है। हम नीचे उत्तर प्रदेश के सन् १९४८-४९ के बजट का साराश देते हैं जिससे इस प्रान्त के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त हो सके:

उत्तर प्रदेश की आय और व्यय
(सन् १९४८-४९ के बजट के अनुमान)

आय	रुपया (लाख)	व्यय	रुपया (लाख)
आय कर	७,१९	शिक्षा	५,१२
मालगुजारी	६,७३	कर की वसूली	३,९६
सिंचाई	२,०८	शासन	३,३०
स्टाम्प	२,११	जेल और पुलिस	७,८०
उत्पादन-कर	६,०३	सिंचाई	२,०२
युद्धोपरान्त उन्नति के लिये केन्द्र से सहायता	६,२५	खेती	२,४२
वन	१,७५	अदालत	१,१२
गैर-फौजी व्यवसाय या काम	३५	चिकित्सा आदि	२,८०
जेल और पुलिस	१,०४	उद्योग और सहकारिता	१,५६
शिक्षा	२३	गैर-फौजी व्यवसाय और सड़कें	७,७३
खेती	५९		
अन्य-कर	३,२०		
अदालत	२७		
उद्योग और सहकारिता	५६		
रजिस्ट्री	२४		
चकित्सा	२२		
कुल आय	४५,८७	कुल व्यय	५०,५७

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि सन् १९४८-४९ के अनुमानित बजट के अनुसार हमारी प्रान्तीय सरकार की आमदनी ४६ करोड़ और खर्च ५१ करोड़ रुपये था, और अनुमान था कि सरकार को ५ करोड़ रुपये का घाटा होगा।

उत्तर प्रदेश की आय—उत्तर-प्रदेश की सरकार का सबसे बड़ा साधन आय-कर (Income-tax) है। इससे सरकार को ७ करोड़ रुपये के लगभग मिलते हैं। यह कर अब तक शहर वालों पर ही लगता था पर अब यह खेती करने वालों पर भी लगने लगा है। आमदनी का दूसरा साधन मालगुजारी है जिससे लगभग ७ करोड़ रुपये वार्षिक मिलते हैं। आमदनी का तीसरा साधन उत्पादन-कर (Excise) है।जिससे लगभग ६ करोड़ रुपया वार्षिक मिलता है और जो शराब, ताड़ी, गाँजा आदि उत्पन्न करने पर देना होता है। सरकार स्टाम्प (जो व्यापारिक रुक्कों पर लगाये जाते हैं और कोर्ट फीस के रूप में काम आते हैं)

बेच कर २ करोड़ रुपये वार्षिक प्राप्त करती है। जंगलों की लकड़ी तथा वस्तुएं बेच कर, जानवर चराने और लकड़ी काटने की फीस के रूप में सरकार को लगभग २ करोड़ रुपये प्रति वर्ष मिलते हैं। उत्तर प्रदेश की सरकार ने हाल मे बिक्री-कर, मनोरंजन कर आदि भी लगाये हैं जिनसे साल में ३ करोड़ रुपये मिलते हैं। भारत सरकार उत्तर प्रदेश की सरकार को विकास-सम्बन्धी कार्यों के लिये ६ करोड़ रुपये वार्षिक देती है। इस प्रकार कुल मिला कर प्रान्तीय सरकार को साल में लगभग ४६ करोड़ रुपये मिलते हैं।

उत्तर प्रदेश का व्यय

इस आमदनी में से १६ करोड़ रुपये शासन पर खर्च होते हैं। शासन के अंतर्गत जेल, अदालत, पुलिस आदि भी आते हैं। देश में शान्ति रखना सरकार का प्रमुख काम है। अतः इस मद पर इतना व्यय होना स्वाभाविक है। सरकार पुलिस पर ७ करोड़ रुपया, साधारण शासन पर ४ करोड़ रुपया, अदालतों पर १ करोड़ रुपया और जेलों पर १ करोड़ रुपया खर्च करती है। शासन के बाद सरकार ऐसी बातों पर व्यय करती है जिससे देश का विकास हो और शिक्षा, खेती तथा उद्योग-धंधे बढे। इन्हे राष्ट्र-निर्माणक कार्य कहा जाता है और इन पर उत्तर प्रदेश की सरकार १३ करोड़ प्रति वर्ष व्यय करती है। इसमें से ५ करोड़ शिक्षा, २ करोड़ खेती, ३ करोड़ स्वास्थ्य और चिकित्सा पर और १ करोड़ उद्योग-धंधो पर खर्च होता है। आमदनी वसूल करने में ४ करोड़ रुपया खर्च हो जाता है और सरकारी इमारतें तथा सड़कें आदि बनाने में ८ करोड़ रुपया। इस प्रकार कुल मिला कर उत्तर प्रदेश की सरकार साल में लगभग ५१ करोड़ रुपये खर्च करती है।

§ ३. प्रान्तीय आय के प्रमुख साधन

अब हम प्रान्तीय सरकारों की आय के प्रमुख साधनों का वर्णन करेंगे और हर साधन पर संक्षिप्त टिप्पणी देंगे।

(१) **मालगुजारी**—मालगुजारी प्रान्तों की आय का महत्त्वपूर्ण साधन है और केवल यही प्रत्यक्ष कर उन्हें प्राप्त है। यह उत्तर प्रदेश, और मध्य प्रान्त में आय का मुख्य साधन है किन्तु पश्चिमी बंगाल में, जहाँ कि यह स्थायी रूप से स्थिर है, यह आय का प्रधान साधन नहीं। उत्तर प्रदेश में कुल आय का लगभग ४१% इस साधन द्वारा प्राप्त होता था। किन्तु अब यह केवल १५% है।

मालगुजारी को यदि हम कर के रूप में देखें, तो हमें प्रतीत होगा कि यह

अच्छे कर के समस्त सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। यह लोचहीन या स्थिर कर है; अन्य शब्दों में, इसकी आय में अधिक परिवर्तन नहीं होता। सन् १९१३-१४ में इसकी भारतवर्ष भर में कुल आय ३२ करोड़ रुपये थी; और सन् १९३६-३७ में भी इतनी ही थी। दूसरे, यह बहुत असुविधाजनक होती है और बहुत कड़ाई के साथ वसूल किया जाता है। जब सफल खराब हो जाती है, तब किसानों को लगान माफ कर के कुछ छूट अवश्य दी जाती है, किन्तु यह बात मानी हुई है कि मालगुजारी के कड़ाई से वसूल किये जाने के कारण बहुत से किसानों को साहूकारों की शरण लेनी पड़ती है। बन्दोबस्त में बहुत समय लगता है और बहुत से अफसर तरह-तरह की जाँच-पड़ताल करते हैं, जिससे बहुत असुविधा होती है। तीसरे, यह मितव्ययताशून्य है। भारतवर्ष में मालगुजारी की जाँच (Revenue Survey) संसार भर में सबसे बड़ी और जटिल होती है और उसमें बहुत सा रुपया व्यय करना पड़ता है। अन्त में, जैसा डाक्टर अंगरी ने कहा है, मालगुजारी वस्तुओं पर नहीं, मनुष्यों पर कर है; अतः चाहे व्यक्ति धनी हो या निर्धन उसे बराबर मालगुजारी देनी पड़ती है। इस कारण इसके भुगतान करने में धनी की अपेक्षा निर्धन को अधिक बलिदान करना पड़ता है।

(२) उत्पादन-कर (excise)—प्रान्तों में उत्पादन-कर शराब, अफीम तथा अन्य नशीली वस्तुओं की उत्पत्ति तथा बिक्री पर लगाया जाता है। नशीली वस्तुओं की उत्पत्ति पर कर लगाया जाता है और उनकी बिक्री के लिये लाइसेन्स दिये जाते हैं जिन्हें फीस लेकर दिया जाता है। देश में यह सामान्य मत है कि शराबखोरी को घटाने के लिये इन करों की दर बहुत ऊँची रखनी चाहिये। साइमन कमीशन ने कहा था कि प्रान्तों में अधिकतम आय और न्यूनतम उपभोग के सिद्धान्त को समस्त प्रान्तों में माना जाता है। किन्तु इस अवस्था को ठीक-ठीक प्राप्त करना आसान नहीं, और उत्पादन-कर की आय केवल मद्य-निषेध (Prohibition) और प्रोपेगैंडा द्वारा ही नहीं प्रत्युत प्रवचन (Evasion) द्वारा भी घट सकती है। हाल में इस कर की आय काफी घट गई है। जब सबसे पहले कांग्रेस सरकार ने मन्त्रित्व स्थापित किया, तब मद्य-निषेध की नीति को अपनाया गया। अतः इसकी आय और घट गई।

उत्तर प्रदेश में उत्पादन-कर की आय कुल आय की लगभग १३% है। मद्य-निषेध से बहुत सी आय समाप्त हो जाती है, इस लिये युद्धोपरान्त कांग्रेस सरकारों ने इस नीति को पूर्णतया नहीं अपनाया। उत्तर प्रदेश में कानपुर और उन्नाव के जिलों में अप्रैल १, १९४८ से पूर्ण मद्य-निषेध जारी है और कुछ जिले में बाद को जारी किया गया।

(३) स्टाम्प—प्रान्तीय सरकारों को स्टाम्प बेचने से भी आय होती है। यह स्टाम्प डाक के स्टाम्प नहीं होते वरन् यह दो प्रकार के होते हैं: (१) वे स्टाम्प जो व्यापारिक रुक्कों पर लगाये जाते हैं और (२) वे स्टाम्प जो कोर्ट फीस के रूप में काम आते हैं। उत्तर प्रदेश में स्टाम्प से केवल दो करोड़ रुपये ति वर्ष मिलते हैं जो कि कुल आय का ५% के लगभग होता है।

(४) सिंचाई—नहरें प्रान्तीय सरकार के अधिकार में हैं। किसान नहरों से सिंचाई के लिये पानी लेते हैं और सरकार उनसे इसके लिये कुछ फीस लेती है। इससे कुल आय लगभग १ करोड़ रुपये वार्षिक होती है जो कुल आय का लगभग ५% होता है।

(५) वन—प्रान्तीय सरकार को लकड़ी तथा अन्य वन-संबंधी पदार्थों को बेचकर, पशु चराने की फीस के रूप में तथा लकड़ी काटने के लाइसेंस की फीस के रूप में काफी आय होती है। यह आय अभी अधिक तो नहीं किन्तु यदि वनों की व्यवस्थित रूप से उन्नति की जाय, तो यह आय बढ़ाई जा सकती है। उत्तर प्रदेश में इस साधन से लगभग १·७५ करोड़ वार्षिक प्राप्त होता है।

(६) रजिस्ट्री—कानूनी रुक्कों की रजिस्ट्री कराने के लिये तथा उनकी नकल लेने के लिये सरकार कुछ फीस वसूल करती है। उत्तर प्रदेश में इस साधन से केवल २४ लाख रुपया वार्षिक मिलता है। अतः आय का यह कोई महत्वपूर्ण साधन नहीं।

(७) आय कर—आय-कर केन्द्रीय सरकार वसूल करती है और इसका ०% भाग प्रान्तों में विभाजित होने का आयोजन है। यह निर्णय करने के लिये यह भाग विभिन्न प्रान्तों में किस अनुपात में बाटा जाय, सर देशमुख ने अपनी रिपोर्ट दी जिस को सरकार ने मान लिया है। उत्तर प्रदेश को सन् १९४८-४९ लगभग ७-१९ लाख रुपया मिलने की आशा थी, जोकि कुल आय का लगभग १५% होता है।

(८) केन्द्रीय सरकार से युद्धोपरान्त उन्नति के लिये सहायता—केन्द्रीय सरकार प्रान्तों को युद्धोपरान्त उन्नति के लिये कुछ सहायता प्रति वर्ष दिया करती है। उत्तर प्रदेश को सन् १९४७-४८ में ६ करोड़ रुपये मिले।

(९) अन्य कर—कुछ कर ऐसे हैं जिनको कि यदि प्रान्तीय सरकार चाहे लगा सकती है। इन्हें सूची-बद्ध कर (Sheduled Taxes) कहते हैं। युद्ध में धन की अधिक आवश्यकता पड़ने के कारण प्रान्तों में इन करों का अच्छा प्रयोग हुआ है: (क) मनोरंजन कर (Entertainment Tax)—

यह कर उत्तर प्रदेश में कांग्रेस मन्त्रित्व ने लगाया जब कि उन्होंने सरकार की बागडोर पहली बार सभाली। इस कर के लाभ निम्नलिखित हैं। यह कर न्याय-पूर्ण है इसे अधिकतर धनी व्यक्ति अदा करते हैं जिनको कर देने की सामर्थ्य होती है। दूसरे, इसे आसानी से वसूल किया जा सकता है। सिनेमा के प्रति टिकट पर कुछ कर लगा दिया जाता है और वह आसानी से वसूल हो जाता है। तीसरे, आजकल की धन-सम्बन्धी कठिनाइयों में यह सरकारी आय बढ़ाने का अच्छा साधन है। इसके कुछ दोष भी हैं। पहले, वह निश्चत नहीं। दूसरे, यह बहुत लोचदार नहीं। तीसरे, यह असुविधाजनक भी होता है। अन्त में, जब यह निर्धनों पर लगाया जाता है, तब यह उन पर वास्तव में बहुत अन्यायपूर्ण हो जाता है। (ख) बिक्री-कर (Sales Tax)—सन् १९४८-४९ में उत्तर प्रदेश में जब बजट में कमी हुई, तब सरकार ने बिक्री कर लगाया। इससे उत्तर प्रदेश में चार करोड़ रुपये की आय होने की आशा की गई। आजकल बिक्री कर बहुत से प्रान्तों में लगा हुआ है। हर प्रान्त में इस कर की दर तथा कर देने वाली वस्तुओं की सूची अलग-अलग है। अतः इस बात की चेष्टा की जा रही है कि सब प्रान्तों में एक से ही कर हों। (ग) कृषि आय-कर—अब तक आय-कर कृषि से प्राप्त की जाने वाली आय पर नहीं लगाया जाता था। किन्तु अब उत्तर प्रदेश की सरकार ने इस पर कर लगाने का निश्चय कर लिया है। कुछ प्रान्तों में यह कर पहले से ही लगा हुआ था। अब यह उत्तर प्रदेश में भी लगाया जायगा।

§ ४. प्रान्तीय व्यय के मद

व्यय के मदों का सापेक्षिक महत्त्व हर प्रान्त में अलग-अलग है। यहाँ हम उत्तर प्रदेश के सरकारी व्यय का संक्षिप्त ब्यौरा देते हैं।

(१) नागरिक शासन (Civil Administration)—उत्तर प्रदेश के सरकारी व्यय का यह सबसे प्रधान मद है। सन् १९४८-४९ में इस मद पर १६ करोड़ रुपये व्यय किये गये जब कि कुल आय ४६ करोड़ रुपये थी। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल आय का ३५% नागरिक शासन पर व्यय होता है।

नागरिक शासन को दो भागों में बाँटा जाता है: (१) अदालत, जेल, पुलिस और साधारण शासन पर व्यय, और (२) राष्ट्र-निर्माण पर व्यय। युद्ध काल से पहले सामान्य शासन पर अधिकतर रुपया व्यय किया जाता था और राष्ट्र निर्माण पर कम। सामान्य शासन पर इतना व्यय किया जाता था कि राष्ट्र-निर्माण के विषयों की उपेक्षा करनी पड़ती थी। इस बात पर जोर दिया जाता था कि सरकार को सामान्य शासन पर कम खर्च करना चाहिये और मितव्ययता से काम

लेना चाहिये। किन्तु अब स्वतन्त्रता के पश्चात् इस दिशा में काफी परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के लिये, उत्तर प्रदेश मे सन् १९४७-४८ में लगभग ९ करोड रुपये सामान्य शासन पर व्यय हुआ और ११ करोड़ रुपया राष्ट्र-निर्माण पर जैसे शिक्षा, चिकित्सा, खेती, सहकारिता आदि पर व्यय किया गया। सन् १९४८-४९ में रकमे क्रमशः १६ करोड और १३ करोड थीं।

(२) आय पर प्रत्यक्ष माँग (Direct Demand on Revenue)—इस मद का दूसरा नाम करकी वसूली है। इसका आशय मालगुजारी, उत्पादन-कर तथा अन्य कर वसूल करने में होने वाले व्यय से है। उत्तर प्रदेश में सन् १९४८-४९ मे इस मद पर ४ करोड़ रुपया व्यय किया गया जो कुल व्यय का ९% है।

(३) सिचाई—इस मद पर सन् १९४८-४९ में उत्तर-प्रदेश लगभग २ करोड रुपया व्यय किया गया। इसमे से १½ करोड रुपये से अधिक उस मूल धन पर ब्याज के रूप में दिया गया जो नहर आदि बनाने के लिये उधार लिया गया था।

(४) सार्वजनिक निर्माण (Public Works)—सार्वजनिक निर्माण पर उत्तर प्रदेश में सन् १९४८-४९ में ८ करोड़ रुपये से अधिक व्यय किए गये। यह रुपया सडकें बनवाने, सार्वजनिक इमारतों आदि पर व्यय किया गया।

(५) युद्धोपरान्त उन्नति—युद्धोपरान्त उन्नति पर सरकार ने केवल २५ लाख रुपया १९४८-४९ में व्यय किया।

(६) ऋण सेवाएँ (Debt Services)—उत्तर प्रदेश की सरकार ने जो ऋण लिया था, उसकी ब्याज तथा उसके भुगतान के लिये सरकार ने १९४८-४९ मे लगभग १ करोड रुपया खर्च किया।

अभ्यास के प्रश्न

१ इस देश में प्रान्तीय सरकारों की आय के प्रधान साधनों की विवेचना कीजिए और प्रत्येक की समीक्षा कीजिए।

२. इस देश में प्रान्तीय सरकारों के प्रधान मदों की आलोचना कीजिए तथा प्रत्येक की समीक्षा कीजिए।

३. क्या प्रान्तीय सरकारों की आय के साधन लोचदार हैं? इस दृष्टिकोण से प्रान्तीय सरकारों की आर्थिक दशा की उन्नति के लिये आप कौन से सुझाव प्रस्तुत करेंगे?

परीक्षा-प्रश्न

यू० पी० इंटर आर्ट्स

१. उत्तर प्रदेश की सरकार की आय और व्यय के प्रधान साधन क्या हैं? बढ़ते हुए प्रान्तीय खर्चे के लिये यह आय कहाँ तक पर्याप्त है? अवस्था सुधारने के लिये अपने सुझाव दीजिये। (१९४७)

२. भारत सरकार की आय के महत्वपूर्ण स्रोतों को अपनी आलोचनाओं सहित बतलाइये। क्या ये सरकार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त हैं? (१९४५) (१९४१)

राजपुताना, इन्टर आर्ट्स

3. Argue for and against the retention of the Excise Duty. (1948)

अध्याय ६९

भारत में स्थानीय राजस्व

स्थानीय शासन में सन् १९१९ के भारत सरकार के विधान ने बहुत से परिवर्तन कर दिये। प्रधान स्थानीय संस्थाएँ म्यूनिसिपलिटी और जिला बोर्ड हैं। इनमें से म्यूनिसिपलटियाँ शहरों में होती हैं और जिला बोर्ड ग्रामीण प्रदेशों में। इन संस्थाओं की आय के साधन तथा व्यय के मद केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों से भिन्न होते हैं।

§ १. म्यूनिसिपलिटियों का राजस्व

पाकिस्तान बनने के पहले, भारतवर्ष में ८१२ म्यूनिसिपलिटियाँ थीं। सन् १९३९-४० में, इनके क्षेत्र में दो करोड़ १० लाख व्यक्ति रहते थे। नीचे के कोष्ठक में इनकी उन्नति तथा राजस्व सम्बन्धी अवस्था दिखाई गई है।

भारत में म्यूनिसिपलिटिया

वर्ष	म्यूनिसिपलिटियों की संख्या	आय (लाख रुपये)	व्यय (लाख रुपये)	प्रति व्यक्ति कर भार
				रु० आ० पा०
१९३१-३४	७९४	३६,७०	३६,१८	५-१०-५
१९३४-३५	७९८	३८,०८	३७,६०	५-१२-०
१९३५-३६	८१२	४१,२१	४१,२१	५-१४-९
१९३६-३७	८१२	४२,००	३९,५६	५ १४-२
१९३९-४०	८१२	४४,११	४२,१२	५-१४-२

म्यूनिसिपल आमदनी के स्रोत

जैसा कि ऊपर के कोष्टक से विदित है, भारतवर्ष के कुल म्यूनिसिपल बोर्डों की कुल आय लगभग ४० करोड़ रुपये वार्षिक होती है इसमें से लगभग दो-तिहाई कर या टैक्स द्वारा प्राप्त की जाती है और शेष एक तिहाई इन बोर्डों की [illegible] से, प्रान्तीय सरकार से तथा फुटकर स्रोतों से।

(१) व्यापार पर कर (Taxes on Trade)—म्यूनिसिपल बोर्ड व्यापार पर कई कर लगाते हैं जैसे चुंगी (Octroi Duty), सीमा कर, राहदारी महसूल, आदि। इनमें से चुंगी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो माल बाहर से म्यूनिसिपल बोर्ड की सीमा के अन्दर आता है, उस पर चुंगी लगाई जाती है। म्यूनिसिपल बोर्ड की दृष्टि में चुंगी आय का अच्छा स्रोत होती है। इसके कई कारण हैं। इसका कर-भार (incidence) आसानी से हटाया जा सकता है और यह निश्चय करना बड़ा कठिन होता है कि इस कर का भार अन्त में कौन सहन करता है। इसके अतिरिक्त, यह रेल के द्वारा आसानी से वसूल की जा सकती है और इस प्रकार इस प्रणाली में जो शासन-सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं उनसे छुटकारा पाया जा सकता है। किन्तु जनता में इसके विरुद्ध बहुत गहरी भावना है। यह कर के सब गुणों से शून्य है। इसका कर-भार बहुत अनिश्चित होता है। इसके वसूल करने तथा इसकी वापसी (refund) की प्रणाली करदाता को बहुत कष्ट-प्रद प्रतीत होती है। जब चुंगी जीवन-रक्षक पदार्थ पर लगाई जाती है, जैसा कि साधारणतया होता है, तब इसका भार करदाताओं की आर्थिक अवस्था के अनुपात में नहीं होता। अन्त में इसके वसूल करने का व्यय बहुत होता है तथा इससे कपट-पूर्वक बचने के अवसर भी बहुत होते हैं। इन समस्त दोषों के कारण चुंगी के स्थान पर सीमा कर (Terminal Tax) तथा राहदारी महसूल (Tolls) लगाये जाने लगे हैं। सीमा कर उस माल पर लगाया जाता है जो रेल द्वारा आता है और इसे रेल के अधिकारी वसूल करते हैं। राहदारी महसूल उस माल पर लगाया जाता है जो सड़क द्वारा आता है।

(२) सम्पत्ति पर कर (Taxes on Property)—म्यूनिसिपल बोर्ड सम्पत्ति पर भी कर लगाते हैं जैसे मकानों पर या उस भूमि पर जिस पर कि वे बने होते हैं। भारतीय कर-जाँच कमेटी ने यह सुझाव रक्खा था कि जब म्यूनिसिपलिटी के कार्यों से शहर की किसी जायदाद को कुछ विशेष लाभ हो, तो उससे अधिक कर वसूल करना चाहिये। अधिकांश शहरों में मकान की जमीन पर कर नहीं लगाया जाता। किन्तु इससे अच्छी आय हो सकती है।

(३) व्यक्तियों पर कर—ऐसे करों के निम्नलिखित उदाहरण हैं : (अ) हैसियत कर, (आ) यात्री कर, (द) यात्रियों पर सीमा कर और (ई) नौकरों पर कर।

(४) फीस और लाइसेंस—म्यूनिसिपल बोर्ड जब कोई निश्चित सेवा करते हैं, तब वे फीस वसूल करते हैं जैसे सफाई की फीस (Scavenging fee)